TEXT DARK AND LIGHT

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182660

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4[illegible]

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801.9 S53H Accession No. 13410

Author शर्मा, शमाधार

Title हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्ष

This book should be returned on or before the date last marked below.

सागर विश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद् के तत्वावधान में

हिन्दी
की
सैद्धान्तिक समीक्षा

सागर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि
के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

●

डा० रामाधार शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०

●

प्रकाशक



अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

मूल्य सोलह रुपये

प्रकाशक :
अनुसन्धान-प्रकाशन
८७/२५९, आचार्यनगर, कानपुर

प्रकाशन तिथि :
१५ अक्टूबर १९६२

आवरण शिल्पी
बसन्त कुमार डे

मुद्रक :
अनुपम प्रेस, देवनगर, कानपुर ।

प्रारम्भिक वक्तव्य

सागर विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत पी-एच. डी. का शोधकार्य पिछले दस वर्षों से नियमित रूप से चल रहा है, और इस समय तक प्रायः दो दर्जन शोध-कर्ता उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। आरम्भ में, कतिपय विशिष्ट कवियों और साहित्य पुरस्कर्ताओं पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने का क्रम चला था। इस विषय में एक प्रमुख कठिनाई प्रामाणिक जीवन के अभाव की उपस्थित हुई। स्वतन्त्र जीवनी-लेखन का कार्य अब तक हिन्दी में गम्भीरतापूर्वक नहीं अपनाया गया, जिसका मुख्य, कारण उपजीव्य सामग्री की विरलता ही कहा जायगा। यद्यपि हमारा शोध-कार्य कवि-कर्त्तृत्व पर ही केन्द्रित रह कर सम्पन्न हो सकता था, परन्तु प्रामाणिक जीव-नियों के अभाव में वह यथेष्ट फलप्रद नहीं हो सकता था। अतएव, हमें आंशिक रूप से अपनी शोध-दिशा बदलनी पड़ी। कुछ प्रबन्ध युगीन भूमिकाओं पर भी लिखे गये हैं, जिनमें युग-विशेष के साहित्य-स्रष्टाओं की कृतियों का विवेचन किया गया और उनके साहित्यिक और कलात्मक प्रदेय प्रकाश में लाये गये। यद्यपि यह काम हिन्दी के आरम्भिक साहित्यिक आकलन के लिए आवश्यक और उपयोगी रहा है, पर इतने से ही सन्तोष करना हमारे लिए उचित और सम्भव न था। तब हमने आधुनिक युग के विविध साहित्यिक आन्दोलनों और उनसे निसृत कला-शैलियों में से प्रत्येक को इकाई मानकर शोध-कार्य का तृतीय अध्याय आरम्भ किया। इस संदर्भ में, स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक आन्दोलन से सम्बन्धित साहित्यिक विकास पर प्रायः आधे दर्जन शोध-विषय दिये गये, जिनमें से अधिकांश का कार्य सम्पन्न हो गया और कुछ का शेष है। स्वच्छन्दतावादी काव्य, कथा-साहित्य, नाट्य-कृतियाँ, समीक्षा तथा स्वच्छन्दतावाद के सैद्धान्तिक आधारों पर हमारे विभाग द्वारा अनेक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं और अब भी उसके कुछ पक्षों पर कार्य किया जा रहा है। विशुद्ध वैचारिक, सैद्धान्तिक और कला शास्त्रीय तथ्यों के अनुशीलन के लिए भी हमारी शोध-योजना में स्थान रहा है, और कुछ विशिष्ट शोध-कर्ता इस कार्य में भी संलग्न हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र और कला-विवेचन के सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग शोध कृतियाँ प्रस्तुत करने की दिशा में भी हम अग्रसर हो रहे हैं, क्योंकि हमें ज्ञात है कि भारतीय कला या साहित्यशास्त्र का अनुशीलन अब भी परंपरागत प्रणालियों से ही हो रहा है। इसमें नवीन चिन्तन और आधु-निक वैज्ञानिक उद्भावनाओं का सम्यक् योग नहीं हो पाया है। हमारी पारिभाषिक शब्दावली भी इस क्षेत्र में अद्यतन नहीं है। प्राचीन साहित्य-चिन्तन को नया स्वरूप

और नयी शब्दावली देने की आवश्यकता है। इन सबके अतिरिक्त, कतिपय सांप्रतिक साहित्यिक समस्याओं और प्रश्नों पर भी संतुलित विचारणा की आवश्यकता है, जिन पर पी-एच० डी० के शोध-कार्य लाभप्रद हो सकते हैं, उनकी ओर भी हमारी दृष्टि गई है और कुछ कार्य आरम्भ किया गया है।

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में डी० लिट्० के शोध सम्बन्धी कुछ विषय भी निर्धारित किये गये हैं। इसमें स्वभावतः अधिक व्यापकता और अधिक प्रशस्त विवेचन और आकलन की आवश्यकता प्रतीत हुई है। डी० लिट्० सम्बन्धी यह शोधकार्य कुछ ही समय में एक स्पष्ट रूपरेखा ग्रहण करेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्फुट और सहसा प्रत्यागत विषयों पर आनुसंगिक कार्य करने की अपेक्षा विशिष्ट योजना के अनुसार, सुसम्बद्ध और समग्र भूमिकाओं पर शोध-कार्य करने में हमारी अधिक रुचि है और इस रुचि को साकार रूप देने और फलप्रद बनाने में हम पिछले कुछ समय से संलग्न हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के रूप में डा० रामाधार शर्मा का इसी विषय का शोध-प्रबंध किंचित परिवर्तन के साथ प्रकाशित हो रहा है। इस शोध-प्रबंध पर इसी वर्ष डा० शर्मा को पी-एच० डी० की उपाधि दी गयी है। यद्यपि हिन्दी-समीक्षा के विकास से सम्बन्धित अन्य कतिपय शोध प्रबंध और पुस्तकें उपलब्ध हैं, परन्तु डा० रामाधार शर्मा ने समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष पर केन्द्रित रहकर यह कार्य सम्पन्न किया है। उन्होंने एक गतिशील भूमिका पर हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक स्वरूप को उद्घाटित किया है। इस प्रबन्ध में मूलतः भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों को आधार बनाकर उन पर पड़ने वाले नये देशी-विदेशी प्रभावों का आकलन किया गया है। अतएव, इसे हम भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों का अद्यतन स्वरूप भी कह सकते हैं। जहाँ समीक्षकों द्वारा विदेशी मत और विचार आतिशयिक रूप से अपनाये गये हैं, वहाँ शोध-कर्ता ने सचेत होकर और ठहर कर विदेशी प्रभाव का ऊहापोह किया है और उसको भारतीय समीक्षा के विकास का एक चिन्ता प्रकरण बनाकर विवेचना की है। डा० शर्मा ने समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास में राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय परम्परा पर यथेष्ट आग्रह किया है, जो विदेशी प्रभावों को, समय की शक्तियों को विज्ञान की उद्भावनाओं और निष्पत्तियों को ग्रहण करती हुई भी अपनी स्वतन्त्र स्थिति को नहीं छोड़ती है। डा० शर्मा की यह सम्पूर्ण आधार-भूमि विवादास्पद हो सकती है, परन्तु अनुपयोगी नहीं। बल्कि, कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-समीक्षा जिस नये चौराहे पर आकर खड़ी है, इसे जिस दिशा-दर्शन की आवश्यकता है, वह दिशा-दर्शन डा० शर्मा ने प्रस्तुत पुस्तक में देने का प्रयत्न किया है। अतएव, यह पुस्तक मेरी दृष्टि में समस्त हिन्दी-भाषी समाज के लिए स्वागत-योग्य और पठनीय है। अपने विषय को अधिक स्पष्ट और ग्राह्य बनाने के लिए डा० रामाधार शर्मा ने विभिन्न धाराओं के प्रमुख समीक्षकों को व्यक्तिशः अपने विवेचन का विषय बनाया

है। उनकी यह प्रणाली भी सर्वसम्मत नहीं होगी; परन्तु इसकी अपनी विशेषतायें भी हैं, जो किसी दूसरी प्रणाली को ग्रहण करने पर शायद इस मात्रा में नहीं आ सकती थीं। यों तो कोई भी विचारणा या रचना-विधि एकदम दोष-रहित नहीं हो सकती, परन्तु हमें विशेष परिस्थिति में विशेष परिपाटी से प्रस्तुत की गयी कृति का मूल्य और महत्व समझना पड़ता है। इसी आधार पर, हम डा० रामाधार शर्मा की पुस्तक का स्वागत करते हैं और इसे हिन्दी के सुधी पाठकों के हाथों में रखते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

हिन्दी-परिषद्
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म०प्र०)

—नन्ददुलारे वाजपेयी

भूमिका

साहित्य के समान ही समीक्षा का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है एवं समग्र समीक्षा पर एक ही प्रबन्ध में उसके विभिन्न पक्षों की सामग्री का संकलन करते हुए चिन्तन-मनन का अवकाश भी निकाल लेना कठिन है। विषय की गुरुता एवं अपने अज्ञान का बोध मुझे आरम्भ में ही था, परन्तु इस सम्बन्ध में मैंने गुरु–आज्ञा का पालन अधिक श्रेयस्कर समझा।

इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले दो शोध–प्रबन्ध हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं—(१) हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास–डा० भगीरथ मिश्र, (२) हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास–डा० भगवत्स्वरूप मिश्र। डा० भगीरथ मिश्र का उपर्युक्त प्रबन्ध प्राचीन सामग्री के वस्तुमुखी अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें मिश्र जी ने प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं से लेकर द्विवेदी–युग तक आलोचना शास्त्र का क्रमिक विकास दिखलाया है। रीति–युग की शास्त्रीय सामग्री का इस ग्रंथ में विशेष मनोयोग और विस्तार से अध्ययन हुआ है। लगभग दो सौ पृष्ठों में यह विषय यहां फैलाया गया है। स्वभावतः इस ग्रंथ में आधुनिक समीक्षा के लिए कम स्थान मिला। इस ग्रंथ का महत्व इस बात में है कि इसमें प्राचीन हिन्दी की शास्त्रीय सामग्री बड़े श्रम पूर्वक संगृहीत की गई है और इस ग्रंथ की सीमा यह है कि इसमें आज की समीक्षा पर सामग्री पर्याप्त नहीं है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र का "हिन्दी–आलोचना : उद्भव और विकास" इस दिशा का दूसरा प्रयास है। इस दूसरे प्रबन्ध में डा० भगवत्स्वरूप ने संस्कृत के साहित्य-शास्त्र की, प्रबन्ध की सीमाओं में, एक विस्तृत भूमिका भी दी है, जो पहले ग्रंथ में आवश्यक विस्तार के साथ नही दी गई थी। हिन्दी के रीति–ग्रन्थों पर भी इस प्रबन्ध में विस्तारपूर्वक चर्चा हो गई है। इस प्रबन्ध की विशेषता यह है कि इसमें आधुनिक समीक्षा पर भी लेखक ने यथेष्ट सामग्री दी है। इसी दृष्टि से यह पहले कार्य को आगे बढ़ाने में सहायक हुआ है। परन्तु शुक्ल जी के उपरान्त इस ग्रन्थ में अध्ययन प्रमुखतः प्रवृत्तिगत किया गया है, स्वच्छंदतावादी समीक्षा का स्वरूप विशेष रूप से कवियों की मान्यताओं पर ही निर्णीत हुआ है और किसी एक सिद्धान्त को आधार न मानकर समीक्षा–शैलियों को विवेचन का आधार बनाया गया है। इस ग्रन्थ में भी आधुनिक समीक्षा पर सामग्री पर्याप्त नहीं है और विशेषकर स्वच्छंदता-वादी समीक्षा का अध्ययन अधूरा है।

हिन्दी के कवियों ने भी साहित्य के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं और उनका भी आधुनिक समीक्षा–दृष्टि के निर्माण में पर्याप्त योग है। इस विषय पर

'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धांत' नामक डा० सुरेशचंद्र गुप्त का एक विस्तृत शोध-प्रबंध हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उपर्युक्त दो प्रबंधों में भी इस विषय की थोड़ी-बहुत चर्चा हुई है। परन्तु डा० गुप्त ने भारतेन्दु-युग के कवियों से लेकर प्रयोग-वादी कवियों तक की समस्त वैचारिक सामग्री का संकलन कर दिया है। इसलिए इस दिशा में मेरे लिये कुछ शेष नहीं था। इस प्रबंध में पुनरावृत्ति से बचने का सदैव प्रयास किया गया है। जिन विषयों पर इसके पूर्व पर्याप्त चर्चा हो चुकी है, उनकी यहाँ चर्चा नहीं की गई और यदि की भी गई है, तो वह कम है अथवा सैद्धान्तिक समीक्षा के विकास-क्रम को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है। हिन्दी-समीक्षा पर जितना कार्य हो चुका है, उसके आगे इस प्रबन्ध में विशेष प्रयास किया गया है।

इस प्रबंध में प्रमुख रूप से व्यक्तिगत अध्ययन की परिपाटी अपनाई गई है। इससे एक स्पष्ट लाभ यह है, कि एक व्यक्ति का समस्त चिन्तन, उसकी सम्पूर्ण सैद्धान्तिक समीक्षा-देन एक ही स्थान पर प्रस्तुत की जा सकी एवं उसके मूल्यांकन में सुविधा हुई। परन्तु इस परिपाटी में एक कठिनाई उत्पन्न हुई। एक ही व्यक्ति पर विस्तार से चर्चा करनी पड़ी। परिणामस्वरूप अन्त में अध्ययन प्रतिनिधि व्यक्तियों का ही हो सका। प्रगतिवादी समीक्षा में केवल डा० रामविलास शर्मा एवं प्रयोगवादी या मनोविश्लेषणवादी समीक्षा में केवल श्री अज्ञेय को ही लिया जा सका। परन्तु इससे प्रबंध के उद्देश्य में कोई बाधा नहीं आई है, ऐसा विश्वास है। अधिकांश नई समीक्षा इस प्रबन्ध के विषय की स्वीकृत सीमा के बाहर भी है। मुझे इस प्रबन्ध में सन् १९०० से १९५० तक हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा की ही चर्चा करनी थी। इस प्रबन्ध में दो सीमायें हैं—विषय-संबंधी और समय-संबंधी। इसमें समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष ही लिया गया है, उसका शास्त्रीय विवरण एवं पद्धतियों का अध्ययन यहाँ स्थान नहीं पा सका।

इस प्रबन्ध में समीक्षकों की सैद्धान्तिक मान्यताओं का तो अध्ययन हुआ ही है, परन्तु समग्र हिन्दी-समीक्षा को एक विकास-मूलक भूमिका पर भी रखने का प्रयास किया गया है। यह भूमिका रस-सिद्धांत की है। इस प्रकार यहां यदि हिन्दी की समग्र समीक्षा में एकता स्थापित करने वाला एक सूत्र भी स्पष्ट हो गया हो, तो इस पंच-वर्षीय योजना को मैं सफल समझूंगा। रस-सिद्धान्त के साथ ही इस प्रबंध में समीक्षा के भीतर राष्ट्रीयता के विकास को भी देखने का प्रयास किया गया है एवं रस- सिद्धांत की राष्ट्रीय भूमि पर प्रतिष्ठा को मनोयोग पूर्वक स्पष्ट किया गया है। इस प्रबन्ध में स्वच्छंदतावादी समीक्षकों की विस्तार सहित चर्चा की गई है और यही इसका महत्वपूर्ण अंश भी है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा पर इतने विस्तार से हिन्दी में इसके पहले चर्चा नहीं हुई है, इसलिए हिन्दी की समीक्षा के संबंध में आए दिन निराशामूलक उद्गार पढ़ने-सुनने को मिला करते हैं। आचार्य शुक्ल के उपरांत भी इस क्षेत्र में कितना महत्वपूर्ण कार्य हुआ है और उससे शुक्ल जी का कार्य कितना आगे बढ़ा है तथा हिन्दी की समीक्षा कितनी प्रौढ़ और व्यापक भूमियों

पर पहुंच गई है, इन बातों का थोड़ा-बहुत आभास इस प्रबन्ध से हो सकता है। मुझे लगता है, कि यही इस प्रबन्ध की, जितनी भी हो, उपलब्धि कही जा सकती है। एक तो समीक्षा, उसमें भी उसका सिद्धांत-पक्ष मुझे जैसे अल्प-बुद्धि के विद्यार्थी के लिए तो अगम्य ही था, यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ। राम-कथा में बतलाया गया है कि बन्दरों ने समुद्र पर पत्थर तैरा दिए और पार निकल गए। मेरी बुद्धि भी पत्थर से कम नहीं है और समीक्षा समुद्र से। परन्तु आज मैं समुद्र के इस पार हूँ। वहां यह राम-प्रताप से संभव हुआ था और यहां गुरु-प्रताप से। इस प्रबन्ध की जितनी प्राप्ति है, वह सब पूज्य गुरुवर आचार्य श्री नंददुलारे जी वाजपेयी का प्रसाद है और इसकी अनेक त्रुटियां मेरा श्रम-फल है।

—रामाधार शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : भारतेन्दु-युग

अध्याय १

भारतेन्दु-युग के समीक्षक — १
१–परिस्थितियाँ — १
२–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — १५
३–पं० बालकृष्ण भट्ट — १६
४–प्रेमघन — १८
५–पं० प्रतापनारायण मिश्र — २३

द्वितीय खण्ड : द्विवेदी-युग

अध्याय २

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी — २९

अध्याय ३

नवरीतिवादी समीक्षक — ५९
१–मिश्र-बन्धु — ५९
२–पं० पद्मसिंह शर्मा — ६५
३–पं० कृष्ण बिहारी मिश्र — ६८
४–लाला भगवानदीन — ७२

अध्याय ४

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल — ७३
१–सिद्धान्त-रस — ७३
२–साहित्य और जीवन — ९४
३–जीवन-सिद्धान्त — ९८

४–काव्य — १०२
५–उद्देश्य — १०३
६–कसौटी — १०५
७–विषय — १०६
८–काव्य-तत्व — १०८
९–भाषा — १११
१०–सौन्दर्य — ११७
११–साहित्य-रूप — ११९
१२–शब्द-शक्ति — १२४

अध्याय ५

शुक्ल परम्परा के समीक्षक — १२७
१–श्री चंद्रबली पाण्डेय — १२७
२–डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल — १३२
३–श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र — १३४
४–डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा — १४४

अध्याय ६

द्विवेदी-शुक्ल-युग की समीक्षा-दृष्टि — १४९

तृतीय खण्ड : स्वच्छंदतावादी समीक्षा

अध्याय ७

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी — १६१
१–काव्य-सिद्धान्त-रस (काव्य-संवेदन) — १६१
२–साहित्य और जीवन — १८६
३–राष्ट्रीयता — १८८
४–तत्व — १९८
५–तत्व — २०२
६–साहित्य का स्वरूप — २०९
७–परिभाषा — २१२
८–साहित्य का वर्गीकरण — २१८
९–साहित्य-रूप — २२२
१०–काव्य — २२३

११–उपन्यास और कहानी — २२७
१२–नाटक — २२६
१३–विविधवाद — २३१
१४–व्यावहारिक समीक्षा — २३६

अध्याय ८

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी — २४१
१–मानवतावाद — २४१
२–सिद्धान्त–मानवतावाद — २४८
३–साहित्य और जीवन — २५३
४–राष्ट्रीयता — २५६
५–साहित्य — २५६
६–तत्व — १६६
७–साहित्य-रूप — २७८
८–विविधवाद — २८२

अध्याय ९

डा० नगेन्द्र — २८६
१–सिद्धान्त–आत्माभिव्यक्ति — २८६
२–आत्मा का स्वरूप — २६३
३–रस — २६५
४–नीति और उपयोगिता — ३०५
५–साहित्य और जीवन — ३०७
६–तत्व — ३०६
७–काव्य-हेतु — ३१७
८–विविध साहित्य–रूप — ३१८
६–विविधवाद — ३२०
१०–व्यावहारिक समीक्षा — ३२४

अध्याय १०

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी — ३३१

अध्याय ११

स्वच्छंदतावादी समीक्षा-दृष्टि — ३३७

चतुर्थ खण्ड : प्रगतिवादी समीक्षा

अध्याय १२

डा० रामविलास शर्मा	—	३४७
१–सिद्धान्त–मार्क्सवाद	—	३४७
२–प्रगतिशील साहित्य	—	३५७
३–साहित्य	—	३६५
४–उद्देश्य	—	३६८
५–तत्व	—	३६८
६–व्यावहारिक समीक्षा	—	३७४

पञ्चम खण्ड : प्रयोगवादी समीक्षा

अध्याय १३

श्री अज्ञेय	—	३८३

अध्याय १४

उपसंहार	—	४१८
सहायक ग्रन्थों की सूची	—	४२२

प्रथम खण्ड

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग के समीक्षक

"साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानवी-सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुप्त रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की आलोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।"

—पं० बालकृष्ण भट्ट

परिस्थितियां

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश के राजनीतिक जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना सन् १८५७ की राज्य-क्रांति थी। देश के समग्र जीवन पर इसका प्रभाव पड़ा। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम का यह प्रथम प्रयास था। यह असफल हुआ और अंग्रेजों का अकंटक शासन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक स्थापित हो गया। दूसरी, राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण घटना सन् १८८५ में 'नेशनल कांग्रेस' की स्थापना कही जा सकती है, जिसमें देश की राजनीतिक चेतना केन्द्रित हुई। देश के इतिहास का यह समय भयंकर दरिद्रता से भरा हुआ है। इस दरिद्रता के कई कारण थे। कम्पनी-शासन का इंगलैन्ड के मन्त्रि-मण्डल से जो आर्थिक समझौता हुआ था उसका भार भारतवर्ष पर पड़ा। इस ऋण को यह देश स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक चुकाता रहा है। अंग्रेजों ने इस देश में और बाहर (मिश्र, अबीसीनिया, अफगानिस्तान, बर्मा आदि में) अनेक युद्ध किये और उनका भार इस देश पर पड़ा। अंग्रेजों ने व्यापारिक और सैनिक दृष्टि से रेलों का खूब विस्तार किया, परन्तु उससे देश-वासियों को अधिक लाभ नहीं हुआ। अनेक प्रान्तीय कर लगाये गए और इन सबके साथ ही इस देश पर बार-बार दैव का प्रकोप भी होता रहा। अंग्रजों की नीति ने यहां के सारे उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये। आर्थिक दृष्टि से देश कंगाल हो गया राजनीतिक दमन और आर्थिक शोषण ने सारे देश को विक्षुब्ध कर दिया। देश की इस मनःस्थिति की इस युग के साहित्य पर छाया पड़ी है। साहित्यिक चिंतन को भी इस परिस्थिति ने कुछ दूर तक प्रभावित किया है। साहित्य की राष्ट्रीय उपयोगिता के अत्यन्त आरम्भिक सूत्र भी हमें इसी समय दिखलाई पड़ने लगते हैं जिन्हें हम उपर्युक्त परिस्थितियों के परिणाम कह सकते हैं। इस युग में नवीन शिक्षा-पद्धति का भी प्रचार हुआ। पश्चिमी

विचार-धारा से हमारा परिचय होने लगा और इसने हमारे जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया। रेल, तार, डाक, प्रेस आदि ने पश्चिमी सम्पर्क को और भी अधिक सुगम बना दिया। पश्चिम की वैज्ञानिक-प्रगति को, वहां के आचार-विचारों को निकट से देखने का, समझने-बूझने का हमारे नेताओं को अवसर मिला और देश के जीवन में एक नई चेतना का संचार होने लगा। हमने अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर नए ढंग से सोचना आरम्भ कर दिया। हमें अपनी शताब्दियों पुरानी अनेक रीति-नीतियों की व्यर्थता दिखलाई पड़ने लगी। उनके विरोध में आवाज उठाई गई। सन् १८४९ में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह के सम्बन्ध में आन्दोलन किया और सन् १९५६ में यह कानून पास हो गया। सन् १८९१ का सहवास-कानून और १९१४ का शारदा बिल तथा हिन्दू कोड बिल इसी परम्परा की वस्तुयें हैं। राजा राममोहनराय अंग्रेजी शिक्षा और उसके लाभों से बहुत अधिक प्रभावित थे। वे पाश्चात्य साहित्य और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रचार से इस देश के सामाजिक जीवन में सुधार लाना चाहते थे। ईसाई मिशनरियां भी अपने धर्म प्रचार के लिए इस नवीन शिक्षा-प्रणाली के प्रचार में पूरा योग दे रही थीं। अंग्रेज शासकों को भी राज्य-कार्य के लिए कार्यालयों में थोड़ी बहुत अंग्रेजी जानने वाले बाबुओं की आवश्यकता थी। सन् १८४४ में हार्डिन्ज के घोषणा-पत्र के अनुसार अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही सरकारी नौकरियां मिल सकती थीं। इस नीति ने भी नई शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन दिया। इसके परिणाम-स्वरूप इस देश में एक नव-शिक्षित नए समाज का जन्म हुआ। हिन्दू-जाति की नव-जात चेतना के मूल में वैधानिक साधन तथा नवशिक्षा ये दो प्रधान कारण बतलाए गए हैं [१]। इस पाश्चात्य शिक्षा और अंग्रेजों के सम्पर्क ने भारत में नवीन बौद्धिक जाग्रति ला दी और उन्हें समाज-सुधार तथा देश की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रेरित किया [२]। परन्तु इस नई शिक्षा प्रणाली से कितनी हानि हुई है, यह बात भी आज किसी से छिपी नहीं है। इस शिक्षा-प्रणाली से बौद्धिक जाग्रति तो नहीं हुई, बुद्धि कुण्ठित अवश्य हो गई। इसने देश में दास मनोवृत्ति वालों की एक जमात उत्पन्न कर दी। इससे समाज-सुधार जितना भी हुआ हो, परन्तु उससे कहीं अधिक समाज का संतुलन बिगड़ा है। भारत की परम्परागत आध्यात्मिकता के स्थान पर इसने भौतिकता की प्रतिष्ठा की है, सामाजिकता अथवा पारिवारिकता के स्थान पर इससे व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला है। पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात 'ब्रह्म समाज' (सन् १८२८) द्वारा हो चुका था। इसने देश की अनेक सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक अन्ध-विश्वासों का तीव्रता के साथ खंडन किया। देश के शिक्षित समाज पर इसका व्यापक प्रभाव भी पड़ा। परन्तु इस पर पश्चिमी रंग उत्तरोत्तर गाढ़ा होता गया। इसलिए इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और लोगों का ध्यान भारत के प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट हुआ। इन्हीं प्रवृत्तियों से पुनरुत्थानवादी युग का आरम्भ हुआ है। स्वामी दयानंद

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, : पृष्ठ ८४

२ हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास—भगवत्स्वरूप मिश्र, पृष्ठ २२६

सरस्वती के आर्य समाज (सन् १८७७) ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिये बड़े प्रयत्न किए 'आर्य-समाज' का प्रभाव शिक्षित और अशिक्षित दोनों प्रकार के लोगों पर पड़ा। यह पश्चिमी प्रभाव से मुक्त था तथा प्राचीन आर्य-गौरव का प्रशंसक था। इसने वैदिक जीवन के कर्मप्रधान आदर्श को सामने रखा तथा अनेक सामाजिक सुधारों में भी सहयोग दिया। आर्य-समाज ने अनेक हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचाया। आर्य समाज भी एक सुधारवादी आन्दोलन ही था। इसने देश की अनेक कुरीतियों को सुधारा तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवकों के मन में स्वदेश-प्रेम की, आत्म-गौरव की भावनाएं भी जगाने का प्रयत्न किया। आर्य-समाज का देश के जीवन और साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस आन्दोलन से भी देश में एक जागरण की लहर फैली। यह जागरण अथवा परिवर्तन किसी एक कारण से नहीं हुआ है। समस्त कारणों ने एक साथ मिल कर यह कार्य सम्पन्न किया है। 'हमारी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याएं ऐसी संवादिनी हैं कि एक पर उंगली रखते ही दूसरे के तार अपने आप झंकृत हो उठते हैं[१]।' परन्तु भारतीय इतिहास की यह अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण घटना बतलाई गई है कि यहां राजनीतिक परिवर्तन सदा धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के अनुगामी रहे हैं[२]। राजनीति के क्षेत्र में मुसलमानों की सत्ता समाप्त हुई और अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। इससे देश में परिस्थितियां ही बदल गई। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता ने हमें एक बौद्धिक तथा भौतिक दृष्टि दी। इसकी प्रतिक्रिया अनुकूल भी हुई और प्रतिकूल भी, इससे हमें कुछ लाभ भी हुए और कुछ हानियां भी। उन्नीसवी शताब्दी वस्तुतः दो संस्कृतियों के संपर्क की शताब्दी है और बीसवीं शताब्दी समन्वय की। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे मन में हमारी प्राचीन रूढ़ि-ग्रस्त संस्कृति के प्रति एक शंका उत्पन्न हो गई, परन्तु पश्चिमी सभ्यता के प्रति भी हम पूर्ण आश्वस्त नहीं हो सके। प्रचीन और नवीन में, पूर्व और पश्चिम में हमें क्या और कितना ग्रहण करना है और कितना छोड़ देना है, यह उस समय स्पष्ट नहीं था। इसलिए जीवन तथा उसके प्रत्येक क्षेत्र में, अतः साहित्य में भी, प्राचीन और नवीन दोनों एक साथ चल रहे थे। भारतेन्दु-युग इन्हीं परिस्थितियों की देन है।

रीतिकालीन परम्परा

भारतेन्दु-युग में प्राचीन रीति-परंपरा के अनुसार अनेक ग्रंथों की रचना की गई और यह स्वाभाविक भी था। शताब्दियों की बद्धमूल साहित्यिक मान्यताएं और पद्धतियां एकदम कैसे समाप्त हो जाती। इनमें नवीन दृष्टि का अभाव है। रीतिकालीन ग्रंथों में और इनमें कोई तात्विक अन्तर नहीं है। इन ग्रंथों की नवीनता केवल उनके गद्य -प्रयोग में ही देखी जा सकती है। इन ग्रंथों के विषय और उनकी मान्यताएं तथा धारणायें

१ आधुनिक काव्य-धारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृष्ठ २४
२ आधुनिक काव्य धारा-डा० केसरी नारायण शुक्ल " १९

रीति–युगीन ही है[1] । यह रीति –परंपरा भारतेन्दु–युग में नहीं समाप्त हो गई। इसका आगे भी विस्तार हुआ। हिन्दी का नवीन सैद्धान्तिक विवेचन इस परंपरा से प्रभावित नहीं हुआ है। इसके ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी, आधुनिक समीक्षा के सैद्धान्तिक विवेचन में इसका कोई उपयोग प्रतीत नहीं होता। यह परंपरा रूढ़ है, नवीन जीवन–दृष्टि से असंपृक्त है और एकदम शास्त्रीय है। नई परिस्थितियों में उत्पन्न आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में इसका उपयोग नहीं हो सकता। डा० भगीरथ मिश्र ने अपने 'हिन्दी-काव्य –शास्त्र का इतिहास' नामक शोध–प्रबंध में निम्नलिखित ग्रंथों की चर्चा की है—राम –दास—कवि-कल्पद्रुम (सं० १९०१), चन्द्रशेखर वाजपेयी—रसिक-विनोद (सं० १९०३) ग्वाल कवि—रसिकानंद (सं०१८७९), कवि–दर्पण, अलंकार-भूम-भंजन (सं० १९२२), रस–रंग (सं० १९०४), सेवक–वाग्विलास, लछिराम–महेश्वर विलास, रामचंद्र भूषण, रावणेश्वर कल्पतरु, कविराजा मुरारिदान जसवन्त भूषण (सं० १९०५), महराजा प्रताप–नरायनसिंह–रसकुसुमाकर (सं० १९५१), कन्हैयालाल पोद्दार–रसमंजरी, अलंकार मंजरी जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—काव्यप्रभाकर (सं० १९६७), भगवानदीन—अलंकार-मंजूषा (सं० १९७३), डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'–अलंकार पीयूष, सीताराम शास्त्री—साहित्य-सिद्धान्त (सं० १९८०), अर्जुनदास केडिया–भारती भूषण, हरिऔध–रसकलस (सं० १९८८) बिहारीलाल भट्ट–साहित्य सागर (सं० १९९४), मिश्रबन्धु—साहित्य-पारिजात (सं० १९९७), ब्रजेश-रसरसांग निर्णय (सं० १९९३), विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—काव्यांग कौमुदी।

अंग्रेज समीक्षक

सर्वप्रथम हिन्दी पर व्यवस्थित समीक्षाएं अंग्रेजों की ही उपलब्ध होती है। हिन्दी-समीक्षा के आरम्भ में जार्ज ग्रियर्सन, एफ० एस० ग्राडज् जैसे अंग्रेज समीक्षकों के नाम दिखाई पड़ते हैं। इनके उपरांत भी अनेक अंग्रेज समीक्षकों ने हिन्दी कवियों पर अपनी सम्मितियां दी हैं। कारपेन्टर, फरकुहर, जे० एम० मेकफी, आर० डब्ल्यू० फ्रेंजर, एफ० ई० की आदि अंग्रेज विद्वानों और गार्सां द तासी फ्रान्सीसी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के पास एक समृद्ध समीक्षा-साहित्य था और उनकी समीक्षा-दृष्टि पर्याप्त विकसित थी। हिन्दी कवियों पर विचार करते समय उन्होंने अपने प्रतिमानों का प्रयोग कर बहुत कुछ हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को प्रभावित भी किया। समीक्षा के अवरुद्ध द्वार को खोलने का बहुत कुछ श्रेय इन अंग्रेज समीक्षकों को भी दिया गया है।

इनकी समीक्षा-दृष्टि क्या थी ? ये समीक्षक उस साहित्य के प्रशंसक थे जो विद्वानों की ही वस्तु न होकर जनता के हृदयतल तक पहुंचता है और जिसका संरक्षण तथा पोषण जन-वाणी की अवाध धारा में हुआ करता है, जिसमें कृत्रिमता नहीं होती और जो जीवन के सत्य और सौन्दर्य से युक्त होता है। इसकी नींव जीवन और जगत की अनुभूतियों पर

१ हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ १७६

होती हैं[१] । इन अंग्रेज समीक्षकों ने जीवन के उच्च आदर्शों का समर्थन किया है और वे उदारता, सहानुभूति जैसे मानवीय सद्गुणों की प्रशंसा करते हैं[२] । काव्य की श्रेष्ठता के लिए वे उसके व्यापक प्रभाव की ओर इंगित करते हैं । जनता में उसका कितना सम्मान है और उसकी बातें कहां तक मान्य हुई हैं आदि बातें भी उनके लिए बड़े महत्व की है[३] । ये उसी साहित्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जो जनता का हृदय-हार बन जाता है । साहित्य में यह गुण तभी आता है जब उसमें जन-जन की आशा-अभिलाषा और आदर्शों का चित्रण हो । इस प्रकार वे साहित्य में जीवन और उसके आदर्शों की प्रतिष्ठा चाहते हैं ।

काव्य के नैतिक मूल्यों को इन समीक्षकों ने सर्वोपरि माना है । भावों की पवित्रता, चरित्र की शालीनता उनके लिये बहुत बड़ी बात हैं । इसलिये ये लेखक तुलसी की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं और उनके आगे सूर को अधिक महत्व नहीं देते[४] । सूर की कल्पनाओं में इन्हे ऐन्द्रिकता का आभास मिलता है और कृष्ण-काव्य की उद्दाम भावुकता को वे परवर्ती साहित्यिक पतन का कारण मानते हैं । काव्य के भाव-सौन्दर्य में ही उन्हें रमणीयता मिल जाती है । इसके लिये वे उसके अन्य तत्वों की उपेक्षा भी कर सकते हैं । साथ ही वे काव्य के कलात्मक सौन्दर्य पर भी मुग्ध होते हैं । इस प्रकार काव्य के दोनों पक्षों को वे समान महत्व देते हैं[५] । ये समीक्षक मानते हैं कि सच्चा काव्य मानव मात्र को प्रभावित करने की क्षमता रखता है । वह शाश्वत और सार्वभौमिक होता है । देश और काल के स्थूल बंधन उसे नहीं बांध पाते ।[६] कवियों के विचार एक देशीय और सामयिक होते हुए भी न तो देश की दीवारों में बंद होते हैं और न समय की सीमा को मानते । उनका स्फुरण कवि और जनता में समान रूप से हुआ करता है ।[७] साहित्य को ये समीक्षक मानवीय भूमिकाओं पर देखना चाहते थे । वे उनमें अलौकिक पात्रों और उनके कार्यों के वर्णन से संतुष्ट न थे और न उन्हें उसमें मानवेतर तत्वों की अपेक्षा ही थी । वे उसमें मानवीय मर्म-स्पर्शिता चाहते थे । वे साहित्य को जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-शोक, विरह-मिलन आदि से अनुप्राणित देखना चाहते थे । आध्यात्मिक भूमिकाओं में विचरण करने वाले को कबीर मनुष्य की पृथ्वी पर खड़ा देखकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की है ।[८] अंग्रेज समीक्षक जहां एक

---

१ Modern Vernacular Literature of Hindustan by Grierson
भूमिका पृष्ठ ११

२ देखिए—वही भूमिका पृष्ठ १८

३ वही भूमिका पृष्ठ २०

4. The Ramayan of Tulsidas : F. S. Crowse Bhumika P. 13
5. A History of Hindi Literature-F. E. Keay, P. 53-54--80
6. .. .. do .. ..
7. The Ramayan of Tulsidas or the Bible of Northern India I. M. Macfic, Bhumika P. 25
8. One hundred poems of Kabir by Tagore Intro. by Underhill

ओर काव्य के कला-तत्वों को महत्व देता था, वहीं दूसरी ओर उसकी दृष्टि काव्य में व्यक्त समाज के भाव और विचारों पर भी लगी रहती थी ।[१] वह काव्य में जीवन के किसी न किसी अंग का चित्रण चाहता था और उसमें जीनन की अनेकरूपता का पक्षपाती था[२] । जीवन के नैतिक मूल्यों को महत्व देते हुए भी उनके लिए काव्य में मानवीय मूल्य ही सर्वोपरि थे । कवि के लिए वे जीवन के व्यापक अनुभवों की अत्यन्त आवश्यकता समझते हैं और काव्य को वे जन-जन की वस्तु मानते हैं ।[३] ऊपर संकेत किया जा चुका है कि उन समीक्षकों ने काव्य में अलौकिक तत्वों का आदर नहीं किया । वे जीवन की स्वाभाविकता और तज्जन्य सौन्दर्य का सम्मान करते हैं ।[४] अंग्रेज समीक्षकों ने उपयोगितावादी तत्वों पर भी ध्यान दिया है । वे साहित्य की सामाजिक उपयोगिता का विचार करते हैं । जीवन के नैतिक मूल्यों की चिन्ता में इसी बात की झलक मिलेगी । कृष्ण-काव्य की उद्दाम भावुकता और असंयत प्रेम-गाथाओं को वे तुलसी की शालीन और संयत रास-कथा के आगे महत्व नहीं देते ।[५] कारपेन्टर ने तो तुलसी के काव्य में ईसाई मत के प्रचार की उपयोगिता भी देखी है । पाश्चात्य समीक्षक ने काव्य में असंयत भावावेगों की प्रशंसा नहीं की और न नैतिक दृष्टि होने के कारण नग्न शृंगारिकता का ही समर्थन किया १४ । वह साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब मानता और साहित्य की जीवन–सापेक्ष्य सत्ता को स्वीकार करता है[६] । प्रत्येक मनुष्य अपने समय की उपज हुआ करता है । अतएव साहित्यकार को समझने के लिये उसके समय की परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है। वह मानता है कि देश की विविध परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव पड़ता है । राजनीतिक परिस्थितियां साहित्य का नियंत्रण करती है[७] । अंग्रेज समीक्षकों ने ही भक्ति–आन्दोलन के मूल में राजनीतिक प्रभावो का संकेत किया था । आगे चलकर उसी संकेत का हिन्दी के समीक्षकों ने प्रयोग किया है । अंग्रेज समीक्षकों ने ही इस बात का भी संकेत दिया था कि जयदेव का काव्य परवर्ती घोर शृंगारिकता का कारण है[८] । काव्य के बहिरंग की उपेक्षा न करते हुए भी अंग्रेज समीक्षकों ने उसके अंतरंग तत्वों को ही अधिक महत्व दिया है । वे भाषा, शैली आदि के परिष्कार को देखते हैं और उन्हें कान्य–कला की भी चिन्ता है, पर काव्य की शक्ति को वे सबसे ऊपर बतलाते हैं । तीव्र अनुभूति काव्य में शक्ति लाती है[९] । ये समीक्षक काव्य की निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार नहीं करते । वे काव्य–सृजन में ही

---

1. Some Bhojpuri Folk Songs—G. A. Grierson, P. 5
2. Same-P. 6
3. Tulsidas--Poet and Religious Reformer--G. A. Grierson, p. 451
4. .. .. do .. .. P. 452-53
5. .. .. do .. — P. 459
6. A Literary History of India, R. W. Frazer, P. 343
7. .. .. P. 347
8. .. .. P. 348
9. Kabir and his followers—F. E. Keay, P. 9

काव्य का उद्देश्य नहीं देख पाते। 'कला के लिये कला' सिद्धान्त को इन्होंने मान्यता नहीं दी। कला-पूर्ण काव्य-सृजन ही उनके लिये अलम् नहीं है। वे काव्य और कला की सारी समृद्धि के द्वारा जीवन के महदादर्शों की शिक्षा चाहते हैं[१]। इस प्रकार इन समीक्षकों ने विशुद्ध काव्य-तत्वों पर जीवन के नीति मूलक और उपयोगितावादी तत्वों की प्रतिष्ठा कर दी है। फिर भी एक बात स्पष्ट है कि ये समीक्षक विशुद्ध काव्य और नीति के अन्तर को समझते थे। भक्ति-काल के अनेक कवियों में उन्हें धार्मिकता ही मिली, काव्य नहीं। ऊपर संकेत किया गया है कि ये काव्य में जीवन की अनेकरूपता को देखना चाहते थे। रीति कालीन काव्य में उन्हें जीवन की अनेकरूपता और व्यापकता नहीं दिखाई पड़ी। इसलिये उन्होंने हिन्दी पर आरोप लगाया है कि इसमें विषय बहुत सीमित हैं। जीवन की ऐसी अनेक बातें छूट गई है जिन पर हिन्दी कवियों ने लेखनी नहीं चलाई[२]। जीवन के समस्त सौन्दर्य को ये समीक्षक काव्य में अंकित देखना चाहते थे। हिन्दी—कवियों में उन्हें इस बात की कमी दिखलाई दी। हिन्दी-कवियों के कल्पना-चित्रों में जीवन और प्रकृति की प्रचुर सामग्री आ गई है। ये इसी पर संतोष व्यक्त करते हैं[३]। ये अंग्रेज समीक्षक कवि की उस शक्ति के प्रशंसक हैं जिससे कवि में नवीनता और मौलिकता आती है, जिससे कवि अपने लिये स्वतंत्र मार्ग की खोज कर लेता है और जिसके प्रकाश में वह प्राचीन विषयों को नया रूप देता है। वस्तुतः यह कवि की प्रतिभा ही है। यही वह आंतरिक प्रेरणा है जिससे नित्य नूतनता के निर्झर निकला करते है[४]। इन अंग्रेज समीक्षकों की दृष्टि बड़ी सजग रही है। काव्य-कला के वे सच्चे पारखी कहे जा सकते हैं। काव्य में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा चाहते हुए भी कोरी नीति-शिक्षा को वे काव्य की संज्ञा नहीं देते और इसी प्रकार काव्य में भाव-तत्व को महत्वपूर्ण मानते हुए भी अतिशय भावुकता का विरोध करते हैं। इतना होते हुए भी वे रुचि-वैभिन्य को मानते हैं[५]। आगे चलकर अंग्रेज समीक्षकों ने साहित्य के महदुद्देश्य की घोषणा की है वे साहित्य—सृजन के मूल्य में किसी महान प्रेरणा के दर्शन करते हैं और मानते हैं कि सच्चे साहित्य के आवरणों में भी शाश्वत और सार्वभौमिक तत्वश लकते है[६]।

अभी तक हमने उन तत्वों पर विचार किया है जिनका सम्बन्ध काव्य के आंतरिक पक्ष से है। अब उन बातों को भी देखना है जो काव्य के बहिरंग का निर्माण करती है। काव्य के इन तत्वों के सम्बन्ध में लगभग सभी अंग्रेज समीक्षक एक मत हैं। इन अंग्रेज समीक्षकों ने काव्य के जीवन-पक्ष पर बड़ा बल दिया है और उसमें नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

---

1. A History of Hindi Literature--F. E. Keay, P. 55
2. .. .. P. 102
3. One Hundred Peoms of Kabir—by Tagore. Intro. by Underhill P. 33-89
4. The Holy lake of the Acts of Ram—W. D. D. Hill (Bhumika) P. 17-18
5. .. .. P. 20
6. The Ramaysn of Tulsidas--A. G. Atkins : Intro. P. XIV

पर काव्य के कला-तत्वों की ओर से भी वे उदासीन नहीं हैं। यदि और कुछ नहीं तो वे काव्य की कला-समृद्धि के लिए ही उसकी प्रशंसा कर सकते हैं। भावाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त कल्पना को उत्तेजित करने वाले चित्रों में भी वे मनोरंजकता देख सकते हैं [१]। बिहारी की प्रशंसा भी उसके काव्य-गुणों के लिये ही की गई है [२]। लोक-गीतों में इन समीक्षकों को काव्य-गुणों का अभाव खटका है [३]। 'गीतावली,' 'कवितावली' और सूर के गीतों के काव्योन्मेष की भी इन समीक्षकों ने मुक्त-कंठ से सराहना की है। कबीर की कला-उपेक्षा पर भी इन लोगों का ध्यान गया है। भक्ति-काल में मूल प्रेरणा धार्मिक रही है, साहित्यिक या कलात्मक नहीं, इस बात का वे स्पष्ट उल्लेख करते हैं [४]। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में कवियों में स्वतंत्र साहित्यिक चेतना जागने लगी थी और केशव और उनके उपरान्त वह धार्मिक चेतना से सर्वथा पृथक हो गई [५]। इह प्रकार धर्म और कला के भिन्न क्षेत्रों की इन समीक्षकों को पूर्ण अभिज्ञता है। इन अंग्रेज समीक्षकों के पास एक सजग कला-दृष्टि भी थी। काव्य के कला-तत्वों की वे उपेक्षा नहीं करते। काव्य के कलात्मक मूल्यों को सर्वथा स्वतन्त्र मान कर उन्हें भी महत्व देने के लिए वे तैयार हैं।

इन समीक्षकों की कला-दृष्टि में अनेक बातें सन्निविष्ट हैं। इन लोगों ने परिष्कृत और परिमार्जित भाषा की अपेक्षा उस भाषा को अधिक महत्व दिया है जिसका प्रयोग जनता करती है। जन-भाषा उनके लिए अधिक मूल्यवान है। तुलसीदास जी की सर्वजन सुलभ जन-भाषा की उन्होंने प्रशंसा की है [६]। कबीर की भाषा कहीं कहीं अपने प्रान्तीय प्रयोग वैयाकरणिक अव्यवस्था शब्द चमत्कार और अस्पष्ट कल्पनाओं के कारण दुरूह हो गई है [७]। इनके अनुसार भाषा वही श्रेष्ठ है जो सरलता से सबकी समझ में आ सके। भाषा की सरलता और स्पष्टता की इन अंग्रेज समीक्षकों ने सदैव प्रशंसा की है [८]। शैली के सम्बन्ध में भी लगभग सभी समीक्षक एक मत हैं। ये समीक्षक मानते हैं कि विषय और प्रसंगों के अनुकूल शैली बदला करती है। जीवन के करुण प्रसंगों में वह अपूर्व करुणा से भर जाती है। युद्ध की विभीषिका का चित्रण करते समय वही अत्यन्त कर्कश हो जाती है। अवसर आने पर उसी के लम्बे-लम्बे वाक्यों में मुहावरों और अलंकारों की छटा के भीतर विस्तृत वर्णन भी दिखलाई पड़ जाते हैं। इस प्रकार शैली कभी कोमल, कभी कर्कश और कभी कलापूर्ण हुआ करती हैं [९]। अवसर पड़ने पर वह गूढ़ से भी गूढ़ हो सकती

1 The Ramayn of Tuisidas-F. S. Growse : Intro. P. I
2 Modern Vernacular Literature of Hindustan : Grierson, P. 74
3 Some Bhojpuri Folk Songs : G. A. Grierson--P. 5
4 A History of Hindi Literature--F.E. Keay, P. 69
5 -Do- P. 100
6 The Ramayan of Tulsidas or the Bible of Northern India I.M. Macfie Preface, P. VIII.
7 A History of Hindi Literature--F. E. Keay. P. 25
8 The Ramayan of Tulsidas--A. G. Atkins : Intro. P. VII,
9 Tulsidas--Poet and Religious Reformer ; G. A. Grierson, P. 451

है और सरल से भी सरल [१]। शैली प्रसंग और विषय के अनुसार बदलती ही नहीं उसमें अर्थ की व्यंजना भी होती है। बड़े-बड़े कवियों की शैली ध्वन्यात्मक भी हुआ करती है। तुलसीदास जी की 'कवितावली' में लंका-दहन के अवसर पर तुलसी की शैली में हम लंका का जलना देखते हैं, राक्षसों का भयपूर्ण हाहाकार सुनते हैं। 'कवितावली' के ये शब्द-चित्र अपनी ध्वन्यात्मकता में अद्वितीय कहे गये हैं [२]। शैली के अन्य तत्वों में ये समीक्षक उसके लालित्य उसकी काव्य ममता और अभिव्यक्ति की सरलता पर ध्यान देते हैं [३]। ये चाहते हैं कि शैली सामासिक हो, उसमें पुनरावृत्तियां न हों, वह अखंड-अवाध हो और तीव्र प्रवाह से युक्त हो। वह सर्वत्र काव्यमयी बनी रहे, गद्यात्मक न हो [४]। शैली में प्रभावित करने की शक्ति होनी चाहिये। उसमें मनुष्य-मात्र का मर्म-स्पर्श करने की क्षमता होनी चाहिये। प्रभावात्मकता को अंग्रेज समीक्षकों ने शैली का एक बड़ा गुण माना है। इसी प्रकार शैली के परिष्कार को भी महत्व दिया गया है। अलंकारों के सम्बन्ध में भी इन समीक्षकों के पास एक सुनिश्चित और कलापूर्ण दृष्टि है। उनके अनुसार काव्य में आये हुए चित्रों में कल्पना को उत्तेजित करने की अपूर्व शक्ति होना चाहिये [५]। रूढ़ और परम्परा-प्राप्त उपमानों को वे अर्थहीन घोषित करते हैं। उन उपमानों में उन्हें कोई सौन्दर्य नहीं मिलता। पक्षियों और पौधों के पिष्ट-पेषित उपमानों में उन्हें बड़ी कृत्रिमता दिखलाई पड़ती है [६]। जीवन के स्वाभाविक क्षेत्र से चुने हुए उपमानों की ही वे प्रशंसा करते हैं। परम्परा प्राप्त उपमानों की अपेक्षा वस्तुतः प्राकृतिक उपमान ही उन्हें रुचिकर हैं [७]। जिनके मन में प्रकृति के प्रति प्रेम नहीं है और जिन्होने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं किया है, उनके काव्य में प्रकृत उपमान नहीं देखे जा सकते [८]। उनके अनुसार काव्य के अलंकार जन-जीवन से चुने हुए हों। वे मनुष्य-मात्र में भावोत्तेजन की क्षमता रखते हों, एकदम सीधे और सरल हों तथा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं, आवेगों और व्यक्ति-सम्बन्धों से लिये हुए हों [९]। अंग्रेज समीक्षकों ने आभास सिद्ध अलंकारों की भी प्रशंसा नहीं की। उन्होंने उन्ही अलंकारों को काव्योपयोगी कहा है जो सहज और स्वाभाविक रूप से आ गये हैं, जिनके लिये कवि को प्रयत्न नहीं करना पड़ा है जो रूढ़ियों का बोझ नहीं ढोते और जिनमें प्रकृति का सौन्दर्य समाया हुआ है [१०]। इन समीक्षकों ने छन्दों के प्रवाह की सदैव प्रशंसा की है। हिन्दी साहित्य की छन्द-व्यवस्था और छन्दों की विपुलता भी अन्यत्र दुर्लभ बतलाई गई है [११]।

1 The Modern Vernacular Literature of Hindustan : Grierson, P. 25
2 Tulsidas Poet and Religious Reformer : Grierson P. 45
3 The Modern Vernacular Literature of Hindustan : Grierson P.74
4 The Ramayan of Tulsidas--F. S. Growse, Intro. P.III.
5 The Ramayan of Tulsidas by F.S. Growse . Intro, P. I
6 -Do- P.I-II.
7 Tulsidas-Poet and Religious Reformer- G. A. Grierson, P. 451
8 A History of Hindi Literature--F. E. Keay, P. 54
9 One Hundred Poems of Kabir : Intro. Underhill, P. XIX-XX-XXI
10 Kabir & His Followers F. E. Keay, P. 67
11 A History of Hindi Literature · F. E. Keay, P. 103

हम देखते हैं कि हिन्दी समीक्षा के आरम्भ में इन अंग्रेजों के द्वारा एक कड़ी सजग समीक्षा-दृष्टि की अवतारणा की जा चुकी थी। सबसे पहली बात तो यह है कि ये समीक्षक जीवन-पक्ष पर बड़ा बल देते थे। ये समीक्षक साहित्य को जीवन-सौन्दर्य से युक्त देखना चाहते थे। दूसरी बात यह है कि जीवन के नैतिक मूल्य इनके लिये बड़े महत्व के थे और इन नैतिक मूल्यों की साहित्य में प्रतिष्ठा उन्हें अभीष्ट थी। परन्तु नीति अथवा धर्म और काव्य–कला का अन्तर वे समझते थे। कला के स्वतन्त्र महत्व को उन्होंने स्वीकार किया है। कवियों की कला–क्षमता की भी वे प्रशंसा करते हैं और उस समय उनकी दृष्टि में काव्य की निरपेक्ष सत्ता ही प्रमुख रहती है। पर यहाँ हमें एक बात ध्यान में रखना है कि ऐसा वे तभी करते हैं जब कवि में जीवन के नैतिक तत्वों की उपेक्षा दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः ये समीक्षक न तो कोरी नीति को ही काव्य में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं और न कोरी कला को ही। वे काव्य में जीवन के नैतिक मूल्यों की कलात्मक प्रतिष्ठा चाहते हैं। उनकी समीक्षा–दृष्टि में जीवन, जीवन की नीति और काव्य–कला इन तीनों का समाहार है।

एक बात और भी है। इन समीक्षकों का अध्ययन करते समय यह बात बार–बार खटकती है कि लगभग सभी अंग्रेज समीक्षक साम्प्रदायिक प्रेरणा के वशीभूत होकर हिन्दी कवियों का विवेचन करने बैठे हैं। वे कबीर और तुलसी की मुक्त–कण्ठ से इसलिए ही प्रशंसा नहीं करते कि उनमें उनके मानदण्डों के अनुकूल उच्च काव्य-तत्व उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि इस बात पर भी लगी हुई है कि कबीर और तुलसी में ईसाई–मत की अभिव्यक्ति हुई है। ये समीक्षक क्रान्तिकारी कबीर और युग चेता तुलसी में ईसा–मसीह के उपदेशों की खोज करते हैं और उन्हें इधर-उधर प्राप्ति कर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि इनके हिन्दी–विवेचन की मूल-प्रेरणा ही साम्प्रदायिक है। जिन कवियों में इन्हें ईसाई–मत की अभिव्यक्ति नहीं मिली, उन कवियों के सम्बन्ध में ये बहुत ऊँची और अच्छी धारणा नहीं रखते। जार्ज ग्रियर्सन ने कबीर में ईसाई–धर्म–भावनाओं का सर्वप्रथम काव्य-स्पंदन देखा। रामानन्द में इसके बीज वर्तमान थे। तुलसीदास जी की रचनाओं में वे बीज बढ़कर अपनी वास्तविक ऊँचाइयों तक पहुँच गये हैं। ईसाई धर्म की दो महान शिक्षायें हैं। प्रथम तो यह कि तुम्हें अपने स्वामी–भगवान को अपनी समस्त मानसिक और आकस्मिक शक्तियों से प्रेम करना चाहिये और दूसरी यह कि तुम्हें अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्रेम करना या समझना चाहिये। तुलसी के काव्य में ये दोनों शिक्षायें अपने सुन्दरतम स्वरूप में विद्यमान हैं। पर सूर के काव्य में दूसरी शिक्षा नहीं आ सकी। इसीलिए जार्ज ग्रियसन की दृष्टि में सूर हेटे हो गये हैं[1]। तुलसी को ग्रियर्सन इसलिए अधिक महत्व देते हैं कि वे तुलसी निरलस भाव

---

1. Here we first touch upon marvellous catholicity of sentiment of which the key-note was struck by Ramanand. which is visible in the

से बारम्बार ईसाई धर्म की शिक्षा देते रहे हैं [१]। सूर ने वह नहीं किया। अतएव सूर की प्रशंसा में इन समीक्षकों के पास शब्दों का टोटा आ गया। सूर पर किसी भी अंग्रेज समीक्षक ने कोई पुस्तक नहीं लिखी। वे कबीर और तुलसी के ही बार-बार गुण गाते रहे और यह सिद्ध करने का प्रयास करते रहे कि कबीर और तुलसी जैसे सन्त-भक्त साहित्यकार भी अन्ततः ईसाइयों के ऋणी हैं या वे भी वैचारिक दृष्टि से ईसाई ही हैं। इसमें स्पष्टतः साम्प्रदायिकता की गन्ध है। तुलसी की भी वे रचनायें उद्धरणीय मानी गई हैं जो ईसाइयों की प्रार्थना पुस्तक के अंश बन सकती हैं [२]। लगभग सभी अंग्रेज समीक्षकों ने अनिवार्यतः 'ईसाई मत का तुलसी की शिक्षाओं से सम्बन्ध' विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इसे वे शोध का महत्वपूर्ण और मनोरंजक विषय बतलाते हैं। यद्यपि ग्रियर्सन तुलसी पर ईसाई मत का सीधा प्रभाव नही मानते फिर भी तुलसी को अप्रत्यक्षतः अवश्य प्रभावित बतलाते हैं। तुलसी के समय में ईसाई मत की शिक्षायें हवा में (वातावरण में) फैल चुकी थीं और तुलसी ने उन्हें अनजाने में ही अपना लिया है। यही बात आगे चलकर एफ०ई० की ने कबीर के सम्बन्ध में कही है। कबीर पर ईसाई मत का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं था। पर कबीर उस भक्ति-आन्दोलन के एक अङ्ग हैं जो स्वयं ईसाई मत का ऋणी है। कबीर इस भक्ति-आन्दोलन के माध्यम से ईसाई मत से प्रभावित हैं। क्रान्तिकारी विचार वाले कबीर के पास सहज ही ईसाई मस्तिष्क होना चाहिए [३]। ये समीक्षक परिस्थितियोंवश कबीर और तुलसी को सीधे प्रभावित सिद्ध न कर सके तो

---

doctrines of all his successors and which reaches its truest height in the lofty teaching of Tulsidas two untusies later....But at its best the Krishna cult is wanting in the nobler elements of the teaching of Ramanand. Its essence is almost selfish—a soul absorbing nay all-absorbing, individual love cast at the feet of him who is love itself. It teaches the first and the great commandment of the Christian law, but the second which is like unto it, thou shalt love thy neighbour as thyself--it omits." The Modern Vernacular Literature of Hindustan G.A. Grierson : Intro, P. XVII-XVIII.

1. "But," You will say, "This is in its essentials the teaching of christianity" I can only reply that is what Tulsidas taught over and over again what he was never weary of repeating." --Do-- P. 457.
2. "Here is one of his prayers to Ram is the Vinay Patrika. It might from a portion of a christian prayer Book II. --Do--P. 457,
3. ' 'While therefore it is almost certain that Kabir did not directly come into contact with any christian influence and probably knew little or nothing of Christian teaching yet the Bhakti Movement to which he belonged was undoubtedly under obligation to christian ideas and any influence Kabir received from the direction of christianity came to him through the mediation of this general movement.."

Kabir and his Followers, F.E. Keay, P. 172.

"Kabir is certainly one of whom it may be said that he possesses to a large extent a mind naturally christian." --Do--P. 175

उन्होंने सारे भक्ति-आन्दोलन को ही ईसाई मत से प्रभावित सिद्ध करने का प्रयास किया है। भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन एक विशिष्ट दृष्टि से किया गया है और वह दृष्टि साम्प्रदायिक है। ये अध्येता ईसा मसीह को संसार का प्रकाश मानते हैं और उनका विश्वास है कि आज या कल भारतीय आत्मा की सदियों लम्बी सत्य की खोज ईसा में अपना लक्ष्य प्राप्त कर एक नव-जीवन ग्रहण करेगी। इसीलिए भारतीय धर्म-साधना को ईसाई मत के साथ रखकर वे दोनों को सम्बद्ध बतलाते है। ये समीक्षक यह भी स्वीकार करते हैं कि कोई भी मनुष्य बिना धार्मिक विश्वास के किसी धर्म का अध्ययन नहीं करता और वे इस बात को भी मानते हैं कि अध्ययन की यह धार्मिक प्रेरणा प्रत्येक पाठक को रुचिकर नही हो सकती[1]। कारपेंटर ने भी कुछ इसी प्रकार की बातें कही हैं। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन को कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण बतलाया गया है। जिन्हें साम्राज्य या धर्म की नीति का थोड़ा भी ज्ञान है, उनके लिए ऐसे अध्ययन बड़े अर्थपूर्ण हुआ करते हैं। तुलसी की धार्मिकता का सम्बन्ध तो नब्बे लाख अंग्रेज राज्य में रहने वाले रामानन्दियों से था। ऐसी परिस्थिति में इस अध्ययन का महत्व और भी बढ़ जाता है[2]। कारपेंटर अन्त में भक्ति आन्दोलन को ईसाई मत से प्रभावित बतलाते हैं। उनका कहना है कि भक्ति यहाँ पहले से ही प्रचलित अवश्य रही पर एक दीर्घ अवकाश के उपरान्त उसने जनता को जिस गति और शक्ति से प्रभावित किया उसके मूल में निर्गुणोपासना की प्रतिक्रिया ही नहीं थी। ईसाई धर्म का प्रभाव भी उसके साथ-साथ काम कर रहा था[3]। कारपेंटर ने यह भी स्वीकार किया है कि इन अध्ययनों में ईसाई दृष्टि (Christian point of view) का ही प्रयोग किया गया है और उन्हीं बातों पर ध्यान दिया गया है जो ईसाइयों के मतानुसार सत्य से सम्बद्ध हैं[4]। जे० एम० मेकफी

1. "They seek to each form of Indian religion by the side of christianity in such a way that the relationship may stand out clear. Jesus Christ has become to them the right of all their seeing, and they believe him destined to be the light of the world. They are persuaded that sooner or later the age long quest of the Indian spirit for religious truth and power will bind in him at one its goal and a new starting point, and they will be content if the preparation of this feries contributes in the smallest degrees to haston this consumation. If there be readers to whom this motive is unwelcome, they may be reminded that no man approaches the study of religion without religious convictions either positive or negative."
   The Religion quest of India Edited by J. N. Farquhon & Griswold P. III & IV. Editorial Prefaces.
2. "A study of this kind in connection with so long a body of man as like Ramanandis some ninety millions in number, and linked as fellow subjects of the British Empire cannot be without interest to all who have true ideas either of Empire or of Church."
   The Theology of Tulsidas—Carpenter Intro. Page 2.
3. —Do— P. 135
4. —Do— P. 198

ने भी ईसाई धर्म और भक्ति-आन्दोलन में अनेक समानतायें बतलाई हैं और भक्ति-आन्दोलन को ईसाई मत से अनुप्राणित माना है[1]। इन सब बातों को देखते हुए कहना पड़ता है कि अंग्रेज समीक्षकों के पास प्रेरक तत्व के रूप में एक साहित्येत्तर साम्प्रदायिक समीक्षा दृष्टि भी थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

राष्ट्रीय दृष्टि से लिखे हुए हिन्दी के सैद्धान्तिक विवेचन का आरम्भ भारतेन्दु से ही माना जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-साहित्य की विविध विधाओं के पुरस्कर्ता रहे हैं। हिन्दी–समीक्षा ने भी अपने आरम्भिक युग में उनसे आलोक ग्रहण किया है। भारतेन्दु जी के 'नाटक' नामक निबन्ध में उनकी समीक्षा–दृष्टि का परिचय मिलता है। वे जिन परिस्थितियों में कार्य कर रहे थे, उनके अनुरूप ही उनकी समीक्षा-दृष्टि का निर्माण हुआ है। प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क के उस युग में एक नई, कुछ अनिश्चित सी समीक्षा–दृष्टि का जन्म हो रहा था। भारतेन्दु जी ने भी अपनी समीक्षा दृष्टि का निर्माण भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्र के आधार पर किया था। भारतेन्दु जी के साहित्य में राष्ट्रीयता की भावना बड़ी प्रबल रही है। उनकी समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में, अप्रत्यक्ष रूप से, इसका भी योग रहा है। परन्तु भारतेन्दु जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने उस युग में भी, साहित्य और जीवन को बहुत समीप रखकर देखा है, शास्त्र के अनावश्यक व्यवधान को बार–बार दूर फेंका है। वे साहित्य और उसकी समीक्षा के देश-कालानुरूप परिवर्तनशील स्वभाव को स्वीकार नहीं करते, केवल मानते ही नहीं, उसी विचार के अनुरूप साहित्य-सृजन भी करते हैं और मूल्यांकन भी। भारतेन्दु जी के उपरान्त द्विवेदी-युग तक अनेक समीक्षकों ने विचार और आचार में पर्याप्त अन्तर रखा है। भारतेन्दु जी में यह बात नहीं थी।

भारतेन्दु जी ने नाटकों की रचना के पांच उद्देश्य माने हैं—शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार और देश-वत्सलता[2]। प्रथम दो उद्देश्य प्राचीन हैं, जिनमें रसोद्रेक नाटक का लक्ष्य रहा है, द्वितीय पश्चिमी प्रभाव प्रतीत होता है जिसमें मनोरंजन नाटक का उद्देश्य माना गया है। तीसरे और चौथे उद्देश्य नये हैं जिनमें नाटक की सामाजिक एवं राष्ट्रीय उपयोगिता पर दृष्टि रखी गई है। स्पष्ट ही यह उपक्रम हिन्दी के नये नाट्य-शास्त्र की रचना का श्रीगणेश माना जायगा जिसमें एक समन्वित दृष्टि का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु जी ने यह बतलाया है कि प्राचीन नाटकों की रचना प्राचीन नागरिकों की रुचि के अनुरूप है। आधुनिक युग की रुचि उससे भिन्न है। इसलिये प्राचीन आधारों पर नाटक की रचना

1. The Ramayan of Tulsidas or the Bible of Northern India I. M. Macfie P. 252-253.

२ भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग) पं० ब्रजरत्नदास, पृ० ४२६

युक्ति-संगत नहीं होगी[१]। रुचि-भेद का भारतेन्दु जी ने एक उदाहरण दिया है। प्राचीन काल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा लोक-रुचि के अनुकूल थी परन्तु अब नहीं है। इसलिये अब इन बातों का नाटकों में प्रयोग नहीं होना चाहिये[२]। भारतेन्दु जी ने आधुनिक नाटकों में प्रकरी, पंच-संधि, संकेट आदि को अनावश्यक बतलाया है। 'नाट्य शास्त्र' की लोक-रुचि के अनुकूल उपयोगी बातों के अनुकरण की ही उन्होंने सलाह दी है[३]। भारतेन्दु जी के इन निर्देशों में हिन्दी-समीक्षा के वे बीज निहित हैं, जिनका आगे चलकर विकास हुआ है। भारतेन्दु जी मध्यमार्गी हैं, अतिरेकों पर विचरण करने वाले नहीं हैं। वे नवीनता के लाभ में समस्त प्राचीनता का परित्याग नहीं करते, उसके भी उपयोगी तत्वों का संग्रह करते हैं। परन्तु उससे उन्हें मोह नहीं है। उसको अनावश्यक बातों को छोड़ने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं है[४]। वे नाटक में चमत्कारपूर्ण सामग्री ही पर्याप्त नहीं मानते, उसका स्वाभाविक होना भी आवश्यक बतलाते हैं। देशकालानुसार, शास्त्रानुसार नहीं, मनुष्य के भाव और कार्यों का सहज चित्रण करने वाला ही उनके अनुसार नाटककार कहला सकता है। नाटककार के लिये मनुष्य-प्रकृति की पूर्ण अवगति आवश्यक है। जीवन के स्वानुभूति या वास्तविक ज्ञान के बिना कोई नाटक रचना नहीं कर सकता[५]। भारतेन्दु जी यह भी मानते हैं कि नाटक का उद्देश्य उत्तम होना चाहिये, शिक्षाप्रद होना चाहिये, तभी वह सभ्य या शिष्ट समाज का आदर प्राप्त कर सकता है। भारतेन्दु जी की इस समीक्षा-दृष्टि में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध निरूपित हुआ है, दोनों की गतिशीलता के तत्व का संकेत है तथा साहित्य के नैतिक रूप का उल्लेख भी। परन्तु भारतेन्दु जी प्राचीन साहित्य-शास्त्र की रूढ़ियों से एकदम मुक्त भी नहीं थे। वे नाट्य-रचना के लिए नायिका भेद और अलंकार-शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक बतला गये हैं। यह उनके युग की उनमें सीमा थी।

पं० बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु-युग के समीक्षकों में पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। भट्ट जी ने साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब माना है। वे मानते हैं कि 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है।' उन्होंने लिखा है कि साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं

---

१ भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग) पं० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४३१
२ —वही— ,, ४३२
३ —वही— ,, ४३२–४३२
४ —वही— ,, ४३१
५ —वही— ,, ४५५–४५६

उस जाति की मानवी-सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं[१]। भट्ट जी के साहित्य और उनकी साहित्यिक दृष्टि के निर्माण में देश-भक्ति का स्वर सबसे ऊंचा रहा है। यह अन्तसूंत्र उनके समस्त साहित्य में व्याप्त है। 'कला के लिये कला' के वे विरोधी थे। वे 'साहित्य को जीवन के लिये' मानते थे[२]। भट्ट जी ने 'हरिश्चन्द्री' हिन्दी का ही समर्थन किया था। वे उर्दू को हिन्दी का ही एक रूपान्तर मानते थे। भट्टजी के अनुसार भाषा जनता की संपति है, किसी व्यक्ति-विशेष की वस्तु नहीं और वह परिवर्तनशील है, संसार की इतर चैतन्य-सृष्टि का नियम मानने वाली है। इस प्रकार भाषा जीवन से सम्बद्ध है[३]। भट्टजी ने भाषा पर व्याकरण के बन्धनों को व्यर्थ माना है। भाषाओं के खुले-आदान की प्रशंसा की है। ग्रामीण भाषा के प्रयोग का भी भट्ट जी ने समर्थन किया है और इस भाषा की शक्ति के कारण उसकी ध्रुव विजय की भविष्य-वाणी भी की है[४]। लोक-भाषा के समान ही भट्ट जी ने लोक-साहित्य की भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। लोक-गीतों में 'चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खिची हुई पाई जाती है और (आपकी) क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता। जो यहां तक कृत्रिमतापूर्ण रहती हैं कि उसके जोड़ की एक निराली दुनियां केवल कविजी के मस्तिष्क मात्र में ही स्थान पाये हुए है।' साहित्य को भी भट्टजी युगानुकूल परिवर्तनशील मानते थे[५]। भट्ट जी की समीक्षा-दृष्टि बड़ी वैज्ञानिक थी और आधुनिक युग से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उन्होंने वेदों को मनुष्यकृत कहा है और उन्हें तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब माना है[६]। भट्ट जी ने कविता की प्रवहमान धारा का बड़े स्पष्ट शब्दों में निरूपण किया है तथा उसकी सहज अभिव्यक्ति पर बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अन्तर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिये गये तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते। इसलिए सुसंस्कृत कविता क्लासिकल पोइट्री अवश्यमेव कृत्रिमता-दोष पूरित रहेगी।

---

१ पं० बालकृष्ण भट्ट डा० राजेन्द्र शर्मा, पृष्ठ ३४३
२ —वही— ,, ३४६
३ —वही— ,, ३४६
४ —वही— ,, ३५०
५ —वही— ,, ३५२
६ —वही— ,, ३५५

'हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुसरण कर आज तक चले आये हैं और उस ढङ्ग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है यह बात उनके मन में धंसती ही नहीं। उसकी उपमा एक छोटे से तालाब की देंगे जिसमें न कहीं पानी का निकास है न नया ताजा पानी उसमें आने की कोई आशा है। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन-दिन सड़ता ही जाय [१]।' लाला श्री निहालदास के 'परीक्षा गुरु' उपन्यास की आलोचना करते हुए भट्टजी ने बतलाया है कि कोरे उपदेशों से ही कोई रचना उपन्यास नहीं बन जाती। उपदेशों से पाठक का जी ऊबने लगता है [२]। इससे स्पष्ट है कि भट्ट जी उपदेश में और साहित्य मे अन्तर मानते हैं। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की भी भट्ट जी ने कड़ी आलोचना की थी। इसके पात्रों की उपदेश देने की प्रवृत्ति पर भी भट्ट जी ने तीखा व्यंग किया है और उस प्रवृत्ति को लालाजी की विद्या के प्रकाश का जहर कहा है [३]। ऐतिहासिक नाटकों की रचना के लिये भट्टजी ने उस समय के लोगों की दशा, उनके आभ्यान्तरिक भाव आदि का ज्ञान आवश्यक माना है [४]। पं० बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु के आदर्शों पर ही चल रहे थे। उनकी समीक्षा-दृष्टि में जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। देश-प्रेम की भावनाओं से भी वे बराबर अनुप्रेरित होते रहे है। लोक-साहित्य और लोक-भाषा के सहज सौन्दर्य ने उन्हें अधिक आकृष्ट किया है। रूढ़ और रीति-बद्ध साहित्य की अपेक्षा नवीन जीवन प्रेरणाओं से मुक्त साहित्य उन्हें भी रुचिकर था। नीति और कला में अन्तर मानते हुए भी वे साहित्य की जीवन के लिये उपयोगिता स्वीकार करते थे। समीक्षा के इन्हीं सूत्रों का आगे चल कर विकास हुआ है।

प्रेमघन

प्रेमघन जी भारतेन्दु–युग के ही समीक्षक हैं। प्रेमघनजी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने गुण–दोष विवेचनकी पद्धति को एक शास्त्रीय आधार देने का प्रयास किया और साहित्य की नवीन विधाओं के लिए समीक्षा के नए प्रतिमानों की आवश्यकता बतलाई। प्रेमघनजी ने गुण-दोष विवेचन करते समय शास्त्र का प्रयोग किया है और इसलिये वे परंपरानुयायी समीक्षक ही ठहरते हैं। संयोगिता 'स्वयंवर' की आलोचना करते समय 'नाट्यशास्त्र' को आधार बनाया गया है। वे उक्त नाटक में वस्तु, पात्र और रसादि की त्रुटियां

---

१ पं० बालकृष्ण भट्ट–डा० राजेन्द्र शर्मा पृष्ठ ३५६
२ —वही— ,, ३६७
३ —वही— ,, ३६९
४ —वही— ,, ३६८

दिखलाते हैं। उनका इस नाटक पर आरोप है कि इसमें वर्णनीय विषय स्वयंवर का दृश्य नहीं दिखलाया गया, प्रस्तावना बड़ी त्रुटिपूर्ण है, अनेक गर्भांक कार्य–साधक न होने से व्यर्थ हैं, इसमें अंगी रस स्पष्ट नहीं है तथा अनेक रस–विरोधी बातें आ गई हैं संधियों का ध्यान नहीं रखा गया है और भी इस प्रकार के बहुत से दोष दिखलाए गए हैं। प्रेमघनजी का विश्वास था कि नाटक–रचना के लिए नाटक–विद्या का ज्ञान आवश्यक है [१]। प्रेमघनजी ने शास्त्र का प्रयोग बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया जिससे उनकी आलोचनाएं बड़ी मार्मिक बन गई। समीक्षा की इसी सूक्ष्म दृष्टि के कारण वे तत्कालीन समीक्षकों में शीर्ष स्थान प्राप्त कर सके। प्रेमघनजी ने छंदों और अलंकारों पर स्थल–स्थल पर विचार किया है। छंदों के प्राचीन बंधन उन्हें मान्य थे [२] और अलंकारों के शुद्धाशुद्ध का भी वे ध्यान रखते थे [३]। इन सब बातों से उनकी शास्त्रीय दृष्टि का ही प्रमाण मिलता है।

प्रेमघनजी की समीक्षा दृष्टि में शास्त्र के अतिरिक्त कतिपय अन्य तत्व भी समाहित थे। वे नीति और उपयोगिता को भी शास्त्र के साथ लेकर चले हैं। नीति का भारतीय संस्कारों से संबंध जोड़ा जा सकता है और उपयोगिता का युग–जीवन से। यदि प्रेमघनजी एकमेव शास्त्रीय दृष्टि ही रखते और उसी के आधार पर साहित्य की समीक्षा करते तो उनमें उक्त तत्वों का आना असंभव था। शास्त्रीय विशेषताएं तो उन्होंने देखी ही हैं, पर उनकी दृष्टि उन्हीं पर अटक कर रह गई। इनके अतिरिक्त भी कतिपय अन्य वस्तुओं की खोज करते रहे हैं। मिश्र बंधुओं ने कवियों में प्रमुखतः शास्त्र की खोज की। इसलिये उनकी समीक्षा-दृष्टि में विपर्यय-सा आ गया है। वे देव को सूर और तुलसी से भी बड़ा बतलाने लग जाते हैं। प्रेमघनजी ने शास्त्र का आधार अवश्य लिया है, पर शास्त्र का उन्हें आग्रह नहीं है।

प्रेमघनजी ने प्रेम के असंयत और अमर्यादित रूप की कटु आलोचना की है। वे भारतीय प्रेमादर्श के ही पक्षपाती थे। 'बंग विजेता' में इन्द्रनाथ के सच्चे, सरल, मर्यादासम्पन्न और शुद्ध प्रेम की प्रेमघनजी ने बड़ी प्रशंसा की है[४]। परंतु 'संयोगिता स्वयंवर' में संयोगिता के प्रेम–प्रदर्शन पर उन्होंने असन्तोष प्रकट किया है क्योंकि संयोगिता का आचरण उन्हें नीति–विरुद्ध और वेश्याओं जैसा दिखलाई पड़ा। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयवर' में पात्रों का आचरण रीति–नीति और मर्यादा के विरुद्ध चित्रित किया गया है, इस बात की प्रेमघनजी ने बड़े तीखे शब्दों में आलोचना की है [५]। वे सुरुचि सम्पन्न और अश्लील विषयों को ही साहित्य के लिए उपयोगी बतलाते हैं [६]। उनका मत था कि अच्छे

---

१ प्रेमघन सर्वस्व—संयोगिता स्वयंवर और उसकी आलोचना, पृष्ठ ४२३
२ –वही– पृष्ठ ४२५
३ –वही– पृष्ठ ४३२, ४२६
४ –वही– : बंग विजेता की आलोचना, पृष्ठ ४४२
५ –वही– : संयोगिता स्वयंवर और उसकी आलोचना, पृष्ठ ४३५
६ –वही– : उर्दू बेगम की आलोचना, पृष्ठ ४५४

विषयों पर ही रचना करना लाभदायक और सराहनीय हो सकता है[१]। ये सब बात उनकी नैतिक दृष्टि को प्रमाणित करती है। यदि प्रेमघनजी को आलोचना करने का अधिक अवसर मिलता तो संभवत: इस तत्व का समुचित विकास हो जाता और फिर आगामी इतिहासों में श्रृंगारी कवियों को सूर और तुलसी के साथ रखकर नहीं देखा जाता।

प्रेमघनजी की दृष्टि साहित्य की उपयोगिया पर भी लगी हुई थी। उपयोगिता का तत्व साहित्य की जीवन-सापेक्ष्य सत्ता की घोषणा करता है और 'कला के लिए कला' सिद्धान्त को चुनौती देता है। हिन्दी के इन प्रारम्भिक समीक्षकों में यह तत्व चाहे जहां से आया हो, पर हिन्दी की साहित्यक समीक्षा के लिये यह बात शुरू हुई। इससे आगे चलकर साहित्य का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ और वह शास्त्र की संकीर्ण पर पक्की गलियों से बाहर निकला। मिश्र बन्धुओं की अपेक्षा प्रेमघनजी की दृष्टि साम्प्रतिक जीवन समस्यों पर अधिक स्थिर थी अतएव वे शास्त्र को जीवन के उपयोगी तत्वों के आगे अत्यधिक महत्व नहीं दे सके।

प्रेमघनजी ने ऐसा साहित्य लिखने की प्रेरणा दी है जो भाषा, समाज, देश, लेखक, पाठक, सभी के लिए उपयोगी हो। उनकी समालोचना सोद्देश्य होती थी। वे अपनी समीक्षाओं के द्वारा सत्कवि और सुलेखकों को प्रोत्साहन देना एवं व्यर्थ लेखनी घिसने वालों के अनर्गल उत्साह को मंद करना चाहते थे। उनका मत था कि समीक्षा के द्वारा सत्साहित्य के प्रचार और प्रसार में सहायता मिलती है तथा पाठकों का समय नष्ट नहीं होता[२]। प्रेमघनजी ने अपने पत्र के भी अनेक उद्देश्य बतलाए हैं। इन उद्देश्यों में भाषा का उपकार, राष्ट्रीय जागरण तथा समाज-सुधार प्रमुख थे। 'नागरी नीरद का पत्र परिचय' देते समय प्रेमघनजी ने लिखा है—इसका मंतव्य तो यह है कि समाज के वे दोष और कुरीतियां कि जिससे भारत निरन्तर आरत हो रहा है, सद्शिक्षामय लेख द्वारा यथाशक्ति उसके संशोधन की चेष्टा की जाय, एवं ऐसे सुगम सुलभ सदुपाय प्रदर्शन पूवक निज देश बान्धवों का जो आलस्य और उपेक्षा की निद्रा में अचेत सोते हैं, उत्साह सलिल मार्जन पूर्वक उद्योग के अर्थ उठाना है।

एवं हमारी भाषा के उत्तमोत्तम लेखक जो किसी अनुकूल उत्तम पत्र के अभाव ही से मौन मारे बैठे हैं, उन्हें अपनी अनुपम योग्यता दिखाने का अवसर दिया जाय, और यथासाध्य इस रीति स्वदेश भाषा का भण्डार भरा जाय'[३]। लगभग ये ही बाते 'आनन्द कादम्बिनी का नवीन सम्वत्सर' लेख में भी कही गई हैं। उनकी उपयोगितावादिनी दृष्टि

---

१ —वही— : नवीन वर्षारम्भ, पृष्ठ ५२१
२ प्रेमघन सर्वस्व : नागरी के समाचार पत्र और उनकी समालोचना पृष्ठ ४५०
३ —वही— : नागरी नीरद का परिचय, पृष्ठ ४६७

विषयों के चुनाव में भी सजग रही है। सामयिक पत्रों में राजनीति, इतिहास तथा अन्य उपयोगी लेखों को देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ[१]। वे ऐसे लेखों को व्यर्थ मानते जिनसे नेत्रों को कुछ कष्ट होने और समय व्यर्थ जाने के अतिरिक्त पाठकों को कुछ भी लाभ न हो : [२] लोकोपकारी विषयों की ही प्रेमघनजी ने प्रशंसा की है[३]। प्रेमघनजी ने समालोचना और पत्र का उद्देश्य बतलाते समय तथा विषयों के चुनाव में अपनी उपयोगितावादिनी दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है।

प्रेमघनजी लोकोपयोगी विषयों को अपनी पत्रिका में स्थान देना चाहते थे, परन्तु इन विषयों की निरलंकृत अभिव्यक्ति उन्हें रुचिकर नहीं थी। वे सरल और सीधी अभिव्यक्ति की अपेक्षा अलंकृत अभिव्यक्ति को अधिक महत्व देते थे। इस दृष्टि से वे बहुत कुछ प्राचीन आलंकारिको जैसे ही दिखलाई पड़ते हैं। यद्यपि सिद्धान्ततः वे मानते हैं कि 'भाषा सहज से सहज विषय लोकोपकारी और आनन्ददायक हों[४] पर भाषा को जो रूप उनकी रचनाओं में मिलता है वह सहज न होकर बड़ा यत्न-साध्य और अलंकृत है। उनकी दृष्टि में विषयों की उपयोगिता ही पर्याप्त नहीं थी। उनमें साहित्यिक पुष्टि का अभाव देकर उन्हें दुःख होता था[५]। नवीन रचनाओं में वे गद्य-काव्य की झलक देखना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि लेखक--गण परिश्रम पूर्वक कृतियां प्रस्तुत करें बिना श्रम किए हुए कुछ भी लिख देने से पाठकों का मनोरंजन नहीं होता और न उन्हें आनंद ही मिलता है[६]। अपनी पत्रिका के उद्देश्यों में प्रेमघनजी ने एक 'उद्देश्य अनोखी लेखनियों का लालित्य लखाना' बतलाया है[७]। वे अपनी पत्रिका की निराली सजधज द्वारा पाठकों का मनोरंजन भी करना चाहते थे[८]। वे अपनी पत्रिका की पंक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्द को इस प्रकार सजा देना चाहते थे कि पाठक आश्चर्य-चकित हो जाय[९]। यह उनकी हार्दिक कामना थी।

वस्तुतः प्रेमघनजी की भाषा में उनकी यह मनोकामना चरितार्थ हुई है। भारतेन्दुजी के समय में समीक्षा का अधिकांश भाषा-विवेचन से संबंध रखता था। समीक्षक भाषा की त्रुटियां दिखलाकर अपना कर्त्तव्य पूरा समझ लेते थे। भाषा के अनेक रूप भी प्रचलित थे।

---

१ --वही-- : नवीन वर्षारंभ, पृष्ठ ४२०-४६७
२ --वही-- : " " ५२१
३ प्रेमघन सर्वस्व : नवीन वर्षारम्भ, पृष्ठ ५२१
४ --वही-- : पंच का विज्ञापन " ५३८
५ --वही-- : " " ५३८
६ --वही-- : नवीन वर्षारम्भ " ५२०-५२१
७ --वही-- : " " ५२१
८ --वही-- : " " ५२१
९ --वही-- : " " ४९१

राजा शिवप्रसाद हिन्दी का अरबी–फारसी मिश्रित रूप चाहते थे। भारतेन्दुजी का झुकाव जन-प्रचलित सरल नागरी की ओर था और प्रेमघनजी को अभिरुचि संस्कृति-निष्ठ अलंकृत हिन्दी की ओर थी। प्रेमघनजी ने अपनी पत्रिका का नाम, उसके स्तंभ आदि में भी वर्षा के रूपक बांधे हैं। साधारण समाचार भी आप अलंकृत भाषा में दिया करते थे। भले ही हम इनकी समीक्षा–दृष्टि को आलंकारिक न कहें, पर उनकी रुचि आलंकारिक अवश्य थी।

प्रेमघनजी की समीक्षा--दृष्टि में नवीन तत्वों का भी समावेश हो गया था। पश्चिमी साहित्य ने इन्हें प्रभावित किया था। परिणामत: अनेक नई बातें इनकी समीक्षाओं में मिलने लगती हैं। प्रेमघनजी के समय में हिन्दी में अनुवाद बहुत किए जा रहे थे। प्रेमघनजी ने अनुवाद और मूल ग्रंथ की आलोचना भिन्न आधारों पर की। अनुवादों में भाषा तत्व पर दृष्टि रखी और मूल ग्रंथ की आलोचना शास्त्रीय आधार पर की पश्चिमी साहित्य के प्रभावों के कारण उपन्यासों का श्रीगणेश भी हो चुका था, अनेक अनुवाद भी किए जा रहे थे। उपन्यासों की आलोचना करते समय प्रेमघनजी ने अधिकतर पश्चिमी प्रतिमानों का प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि कथानक के संगठन, चरित्र-चित्रण आदि पर लगी हुई थी। वे कथा में असबद्ध प्रसंगों को नहीं चाहते थे[१]। कथा के आरम्भ, अंत और विकास पर उन्होंने समुचित विचार किया है। चरित्र-चित्रण में पुरुषों की मन:स्थितियों के, प्रकृति और परिस्थिति के अनुकूल, स्वाभाविक वर्णनों पर उनका ध्यान था[२]। वे पात्रों की अवतारणा करते समय परिस्थिति और समय का विचार रखते है[३]। प्राकृतिक सौन्दर्य पर भी लेखक की दृष्टि गई है[४]। हिन्दी का विद्यार्थी आज यह भली-भांति जानता है कि वस्तु, चरित्र और वातावरण के ये तत्व पश्चिमो साहित्य से लिए गए है।

प्रेमघनजी साहित्य की नई-नई विधाओं से परिचित थे और उन्हें इस बात का भी ज्ञान था कि इनके लिए पुराने साहित्यक प्रतिमान पर्याप्त नहीं होंगे। इसीलिए उपन्यास की आलोचना करते समय उन्होंने पश्चिमी समीक्षा-तत्वों का प्रयोग किया। प्रेमघनजी ने नए काव्य-शास्त्र की आवश्यकता का अनुभव किया था। नाटक लिखने वालों के लिए मार्ग-निर्देश करने वाले साहित्यिक ग्रंथ की बड़ी कमी थी। संस्कृत के नियम समय-विरुद्ध हो गए थे। अतएव प्रेमघनजी ने संस्कृत का आधार लेते हुए अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, महाराष्ट्री तथा हिन्दी के नाटकों की परीक्षा कर एक नया नाट्य-शास्त्र बनाने का प्रस्ताव रखा[५]। स्पष्ट है कि प्रेमघनजी शास्त्रीय आधारों पर समीक्षा करते हुए भी शास्त्रीयता के अंध समर्थक नहीं थे। वे रूढ़ शास्त्र की अपेक्षा प्रगतिशील और समयानुकूल शास्त्र

१ प्रेमघनजी सर्वस्व : वंग विजेता की आलोचना, पृष्ठ ४४१
२ –वही– : –वही– ,, ४४३
३ –वही– : –वही– ,, ४४२
४ –वही– : –वही– ,, ४४४
५ प्रेमघन सर्वस्व : दृश्य, रूपक व नाटक पृष्ठ ३४

पर समीक्षा को आधारित करना चाहते थे। समीक्षा की नई भावनाएं प्रेमघनजी में ही झलकने लगी थीं। पर प्रेमघनजी अपने को प्राचीन काव्य-रूढ़ियों से एकदम मुक्त नहीं कर सके थे। अपनी आलोचनाओं में उन्होंने कहीं-कहीं अतिप्राकृत तत्वों की भी प्रशंसा कर दी है[१]।

प्रेमघनजी ने हिन्दी–समीक्षा का सूत्रपात कर दिया था। अपनी समीक्षा का आधार उन्होंने शास्त्र को ही बनाया था, परंतु उनकी समीक्षा शास्त्र की रूढ़ियों तक ही सीमित नहीं रही। गति और उपयोगिता के तत्वों का प्रेमघनजी ने आग्रहपूर्वक प्रयोग किया है। प्रेमघनजी की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने नई परिस्थितियों में उत्पन्न नए समीक्षा--प्रतिमानों की आवश्कता बतलाई और उपन्यास की आलोचना करते समय प्राचीन प्रतिमानों की अपेक्षा नए पश्चिमी समीक्षा-तत्वों का प्रयोग किया है। परन्तु प्रेमघनजी साहित्य में कलाकारिता को भी कम महत्व नहीं देते। एक प्रकार से वे उसे आवश्यक भी बतलाते हैं। साहित्य की कलात्मकता को सिद्धान्ततः स्वीकार कर प्रेमघनजी ने उसे व्यावहारिक भूमि पर भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। अवश्य ही यह प्रयास अतिरंजित था। इसके लेखक की आलंकारिक रुचि का परिचय मिलता है। प्रेमघन जी प्राचीन अतिप्राकृत तत्वों को भी नहीं छोड़ सके हैं। संक्षेप मे प्रेमघन जी की समीक्षा शास्त्रीय थी जिसमें नैतिकता और उपयोगिता, नवीनता और कलात्मकता के तत्वों का समावेश था।

प्रताप नारायण मिश्र

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी भारतेन्दु युग के लेखकों में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। मिश्रजी की साहित्यिक मान्यतायें भारतेन्दुजी के समान ही थी। भारतेन्दु युग के लेखकों में देश-हित की दृष्टि सर्वोपरि थी। मिश्रजी में भी यही बात दिखलाई पड़ती हैं। देशोन्नति के साधनों में मिश्रजी ने पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक माना है। सहृदयता के लिये कविता और बुद्धि के विकास के लिये नीति की पुस्तकों का अध्ययन किया जाना चाहिये[२]। मिश्र जी काव्य में व्यंजना को महत्वपूर्ण मानते थे। काव्य में बालकों की समझ में आने योग्य अर्थ के साथ ही, कुछ गूढ़ार्थ भी होना चाहिये जो बुद्धिमानों की ही समझ में आ सके[३]। कविता में वे 'स्वादु' या रस की अधिकता चाहते थे[४]। भाषा के सम्बन्ध में मिश्रजी की नीति थी कि वे प्रचलित होने पर अशुद्ध शब्द को भी स्वीकार कर लेते थे, परन्तु विदेशी शब्दों के ग्रहण की वे लेखकों को स्वतन्त्रता नहीं

१ प्रेमघन सर्वस्व : दृश्य रूपक वा नाटक पृ० ३४
२ प्रतापनारायण ग्रंथावली (प्र० खं०)—विजयशंकर मल्ल, पृ० ३१
३ —वही— " ९८
४ —वही— " ९८

देना चाहते थे [१]। स्वदेशी शब्दों के व्यवहार की इस नीति में उनका देश प्रेम ही व्यंजित है। मिश्रजी की दृष्टि भी नैतिक थी। वे नागरी कविता में स्वाभाविक दुष्कर्मों का वर्णन अनपेक्षित मानते थे [२]। वे कविता में अच्छे विषयों का वर्णन ही चाहते थे। उर्दू के काव्य विषयों पर मिश्रजी ने बड़ा कटु व्यंग किया है। उसे वेश्या की संज्ञा दी है [३]। मिश्र जी कवियों पर भाषा सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं चाहते थे। उन्होंने लिखा है 'पर कवि होते हैं निरंकुश, उनकी बोली भी स्वच्छंद ही रहने से अपना पूरा बल दिखा सकती है। जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतन्त्र भाषा में है जो बृजभाषा, बुंदेलखण्डी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चन्द से लेके हरिश्चन्द्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है, उसका अमृतमय चित्त चालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं [४]। 'मिश्र जी का मत था कि समझाने का काम गद्य में किया जाना चाहिये। कवियों का काम समझाना नहीं है [५]। मिश्र जी यह मानते थे कि कला कलाकार का प्रतिबिम्ब होती है। कला के द्वारा उसके रचयिता के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होने लिखा है कि 'यह एक प्रसिद्ध नियम है कि जो व्यक्ति जैसा होता है, उसके काम भी वैसे ही होते हैं। कोई पुस्तक ले बैठिये, उसके आशय देख कर बनाने वाले के स्वभाव का बहुत कुछ परिचय हो जायगा। कोई वस्तु देखिए तो यह जरूर विदित हो जायगा कि उसका निर्माण करने वाला चतुर है अथवा गाउदी [६]।' रामायण इतनी उत्तम क्यों है? मिश्रजी ने इसका कारण कवि के व्यक्तित्व में ढूँढ़ा है [७]। इस प्रकार मिश्र जी की समीक्षाओं में कतिपय मनोवैज्ञानिक तत्व भी प्रकट हुए है। काव्य के उद्देश्य मिश्र जी ने कान्ता-सम्मति उपदेश, आनन्द, व्यवहार ज्ञान एवं परमार्थ-साधन माने हैं [८]। उद्देश्य परंपरागत ही हैं। सामयिक उपयोगिता पर भी मिश्रजी का ध्यान था। स्त्रियों और बालकों के काम के लेख भी उन्होंने लिखे थे। मनोरंजक लेखों के साथ ही साथ प्रयोजनीय विषयों पर भी उनका ध्यान गया था [९]। भाषा के जातीय गुण को भी मिश्र जी ने स्वीकार किया है। वे मानते हैं कि जाति अपनी भाषा के द्वारा भी पहचानी जाती है [१०]। वे भाषा की उन्नति

१ प्रतापनारायण ग्रंथावली (प्र० खं०)—विजयशंकर मल्ल, पृ० १०६-१०७
२ —वही— " ११६
३ —वही— " १३४
४ —वही— " १६६
५ —वही— " १६६-१६७
६ —वही— " २५६
७ —वही— " २९३
८ —वही— " २९३
९ —वही— " ३७१
१० —वही— " ३८०

के बिना देश की उन्नति असंभव मानते थ [१]। भारतेन्दु युगीन लेखकों में देश-प्रेम की भावना सर्वोपरि थी। ये भाषा और साहित्य को देशोन्नति का साधन मात्र मानते थे। देश की उन्नति ही उनका अन्तिम लक्ष्य था। मिश्रजी के प्रत्येक निबन्ध में देश-प्रेम के दर्शन होते हैं। स्वदेशी आन्दोलनों में उन्होंने सहयोग दिया है। प्रत्येक भारतीय वस्तु से उन्हें ममता थी। वे लिखने का एकमात्र उद्देश्य यह मानते थे कि उससे जनता को कुछ लाभ हो, उससे जनता कुछ प्रभावित हो कर तदनुकूल आचरण करे [२]। इस प्रकार मिश्र जी क समीक्षा-दृष्टि में भी लगभग वे ही बातें मिलती हैं, जो इनके समकालीन लेखकों में थीं।

अब हम यहां पर बीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा पर एक समन्वित दृष्टि डाल सकते हैं। हमें इस युग के आरम्भ में परम्परागत समीक्षा के दर्शन होते हैं जो एकदम शास्त्रीय और कतिपय प्रासंगिक उल्लेखों को छोड़ कर नवीनता से रहित थी तथा जिसमें नई परिस्थितियों में उत्पन्न नए साहित्य का प्रतिमान बनने की योग्यता नहीं थी। पश्चिमी सम्पर्क बढ़ने पर कतिपय पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि हमारे साहित्य पर पड़ी और उन्होंने कबीर, सूर और तुलसी पर अपने मत व्यक्त किये। इनकी समीक्षा दृष्टि पर्याप्त पुष्ट थी। वे जीवन और साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध मानते थे। एक ओर तो वे साहित्य को सामयिक जीवन संस्पर्शों से सजीव भी देखना चाहते थे और दूसरी ओर वे साहित्य के शाश्वत स्वरूप के भी समर्थक थे। भारतेन्दु के समीक्षकों ने साहित्य का सामयिक जीवन से अवश्य सम्बन्ध जोड़ा, परन्तु उसके चिरन्तन रूप की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी। इन पश्चिमी विद्वानों ने भाषा और अलंकार आदि के सहज स्वरूप को ही स्वीकार किया है। साहित्य में नैतिक मूल्यों की भी उन्होंने प्रतिष्ठा की है। जीवन के सद्गुणों की वे साहित्य में सदैव प्रशंसा करते रहे हैं। बहुत कुछ अंशों में ये समीक्षक मानवतावादी प्रवृत्तियों से परिचालित थे। साहित्य में उपयोगिता का तत्व भी इन्हें मान्य था और साहित्य के कला-तत्वों की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। भारतेन्दु—युग की समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में इन बातों का पर्याप्त योग रहा है। परन्तु इन पश्चिमी समीक्षकों की दृष्टि ईसाईयत की भावनाओं से अनुप्रेरित थी, एक प्रकार से साम्प्रदायिक थी। भारतेन्दु युगीन समीक्षकों की दृष्टि विशुद्ध राष्ट्रीय थी। राष्ट्र की उन्नति उनका सर्वोपरि लक्ष्य था। भाषा और साहित्य तो उसके साधन मात्र थे। भारतेन्दु युगीन समीक्षकों में यह दृष्टि तीव्र और स्पष्ट थी। आगे चलकर वह राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बिखरती गई और अन्तर्मुखी भी हुई। ये समीक्षक साहित्य और जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध मानते थे, साहित्य की जीवन के लिये उपयोगिता को स्वीकार करते थे, उसके

---

१ प्रतापनारायण ग्रन्थावली (प्र० खं)०—विजयशंकर मल्ल, पृ० ४५२

२ —वही— " ५३२

नैतिक मूल्यों को महत्व देते थे तथा उसकी कलात्मकता के भी हामी थे। इन्होंने अपनी समीक्षाओं में कतिपय पश्चिमी आधारों का भी प्रयोग किया था। जीवन और साहित्य के गतिशील स्वरूप से ये लोग परिचित थे। इनकी समीक्षाओं में कभी-कभी मनोवैज्ञानिक संकेत भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु अधिकांश में इनकी दृष्टि शास्त्रीय थी। समीक्षा करते समय ये अधिकतर प्राचीन शास्त्र का ही प्रयोग करते रहे हैं। इन समीक्षकों ने कई बार प्राचीन शास्त्रीय रूढ़ियों का भी समर्थन किया है। यह सब स्वाभाविक भी था। प्राचीन और नवीन के सम्पर्क की अनिश्चित स्थिति के दर्शन हमें इन समीक्षकों में होते हैं।

द्वितीय खण्ड

द्विवेदी-युग

२

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

'जिसने उच्च भावों का उद्‌बोधन नहीं किया, जिसने समाज, देश या धर्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुंचाया, जिसने मानव-चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने काव्यों को अलंकृत नहीं किया — वह भी यदि महाकवि या कविरत्न माना जा सकेगा तो प्रत्येक देश क्या प्रत्येक प्रान्त में भी सैकड़ों महाकवि और कविरत्न निकल आवेंगे।'

—समलोचना समुच्चय पृ० २०८

काव्य—स्वरूप

भारतेन्दु युग के समीक्षादर्श को द्विवेदी जी ने विकसित और व्यवस्थित किया है। काव्य–स्वरूप के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने अनेक महत्वपूर्ण धारणायें प्रस्तुत की हैं। उनके अनुसार 'अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। वही कविता है[१]।' रस और भाव मन के विकार हैं तथा इन मनोविकारों के उत्कृष्ट शब्द-चित्र का नाम कविता कहा गया है[२]। काव्य जीवन की समस्त स्वाभाविकता का शब्द चित्र है। अतएव कवि के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के मनोविकार एवं वाह्य प्रकृति का भी पूरा ज्ञान रखे[३]।

द्विवेदीजी के विविध और कभी–कभी विरुद्ध मंतव्यों को समन्वित रूप से देखने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वे काव्य में भाव-तत्वों को सर्वोपरि मानते हैं। कविता के गुणों में सर्वप्रथम स्थान भावुकता को दिया गया है।[४] तीव्रतम भाव–संवेदन वाले

---

१ रसज्ञ–रंजन : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ६२

२ कालिदास और उनकी कविता : वही ,, १४०

३ रसज्ञ–रंजन : वही ,, ५२, ५३

४ 'कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता, एक प्रकार की सात्विकता और एक प्रकार का भोलापन दरकार होता है।'
संचयन— वही पृष्ठ ५६

स्थलों पर कविता लिखी जानी चाहिए, ऐसा उनका मत था। काव्य में प्रगाढ़ भावुकता के वे समर्थक थे। श्री मैथिलीशरण गुप्त को लिखे गये पत्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है[1]।

द्विवेदी जी ने भाव की दो विशेषतायें आवश्यक मानी हैं—स्वाभाविकता और सार्वजनीनता। काव्य में व्यक्त भाव स्वाभाविक हों, असली हों, नकली नहीं। 'कविता में (उसे) कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनियां में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक हैं[2]।' दूसरे शब्दों में काव्य में ऐसे भावों का चित्रण किया जाय जिनमें मनोवैज्ञानिक असगतियां न हों। कालिदास के 'मेघदूत' की आलोचना करते समय इस बात पर विचार किया गया है। मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता निश्चय ही यहां किसी विशेष मनोविज्ञान की ओर इंगित नहीं करती और न द्विवेदीजी किसी विशेष विज्ञान का प्रश्रय ही लेना चाहते। यह तो जीवन का सरल और सामान्य मनोविज्ञान है, जिसकी चर्चा द्विवेदीजी ने की है। उसका आशय जीवन की प्रकृत भावनाओं से है। हिन्दी-समीक्षा में आगे भी मनोविज्ञान का प्रयोग हुआ है। पर वह जीवन के असामान्य और एक प्रकार से विकृत पक्ष की ओर झुक गया है।

द्विवेदीजी ने काव्य को सार्वजनीन और शाश्वत माना है। कालिदास के काव्य से न केवल भारतवासियों को ही आनन्द मिला है, वरन् समस्त संसार उससे आनन्द प्राप्त करता रहा है। अतएव द्विवेदी जी कालिदास की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते है[3]। मानव मात्र के हृदय में भावना की समान तरंगें उठती है। अतएव काव्य का सम्बन्ध ऐसे मनोविकारों से है जो मनुष्य-मात्र मे पाये जाते हैं, जो देश और काल की सीमा से आबद्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में जो शाश्वत और सार्वभौमिक है[4]। द्विवेदीजी साहित्य को सर्वांगीण और सर्वदेशीय मानते है, एकांगी और एकदेशीय नही[5]। परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य का सम्बन्ध देश विशेष से एकदम छूट जाता है। द्विवेदी जी काव्य या साहित्य की सार्वभौमिकता को स्वीकार करते है, फिर भी उनका मत है कि

---

१ द्विवेदी-पत्रावली—संपादक श्री बैजनाथसिंह पृष्ठ ११०, ११३

२ रसज्ञ-रंजन—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ,, ६०

३ कालिदास और उनकी कविता : आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ९९

४ 'एक बात का विचार रखियेगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हो। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एक से होते है। काव्य ऐसा होना चाहिये जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे—देशकाल से मर्यादा-बद्ध न हो। ऐसी ही कविता अमर होती है।'

द्विवेदी पत्रावली—संपादक श्री बैजनाथसिंह पृष्ठ ११४

५ विचार-विमर्श : आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी ,, ६०

एक देश या जाति का काव्य दूसरे देश या जाति के काव्य से भिन्न होता है [१]। द्विवेदी जी की ये दो स्थापनायें विरुद्ध नहीं हैं। साहित्य का विद्यार्थी इस बात से भली भांति परिचित है। साहित्य के भेदों में अभेद की चर्चा आगे के समीक्षकों ने बड़े उत्साह से की है द्विवेदी जी को अपने व्यस्त जीवन में अपनी समस्त धारणाओं को समन्वित करने का समय नहीं मिल पाया। इसलिये उनके कतिपय वक्तव्य एक दूसरे का विरोध करते हुये दिखलाई पड़ते हैं। द्विवेदी जी काव्य को जातीय जीवन का प्रतिबिम्ब मानते हैं। काव्य में जाति की गति-विधि, प्रगति और सभ्यता अङ्कित होकर उसे प्रभावशाली बनाते हैं [२]। इस प्रकार देश और काल की परिस्थितियों में रहते हुये भी साहित्य चिरन्तन मानव जीवन को अभिव्यक्त करता है, यह द्विवेदीजी के दोनों वक्तव्यों का निष्कर्ष होगा। जिस प्रकार वे साहित्य को सर्वदेशीय कहते हुए भी एकदेशीय या जातीय कहते है उसी प्रकार उसे शाश्वत या अमर कहते हुए भी परिवर्तनशील बतलाते हैं। वह स्थिर नहीं होता, समय के साथ परिवर्तित होता है। वह समय का अनुसरण करता है [३]। सामयिक होता है। साहित्य की समयानुकूलता द्विवेदीजी के लिये बड़े महत्व की वस्तु है। जो कविता समयानुकूल नहीं, वह चाहे कितनी ही अच्छी हो, प्रशंसनीय नही कही जा सकती। समयानुकूलता काव्य की एक महती आवश्यकता है [४]। इस प्रकार द्विवेदीजी साहित्य के चिर और अचिर दोनों पक्षों से परिचित हैं। ये एक दूसरे के विरोधी नही बतलाये गए हैं। समयानुकूलता का ही निकटवर्ती गुण नवीनता है। साहित्य में नित्य नवीनता आती रहनी चाहिए। नवीनता के अभाव में काव्य का प्रभाव कम हो जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी ठीक इसके विपरीत उससे घृणा का उद्रेक होने लगता है। अतएव भाषा, छन्द, अलंकार, विषय सभी में नवीनता अत्यन्त आवश्यक है [५]।

भाव-तत्व के दो अन्य गुणों की ओर भी संकेत किया गया है। वे गुण हैं विविधता और गम्भीरता। द्विवेदीजी ने काव्य की एक रसता का विरोध किया है और उसके स्थान पर जीवन की अनेक-रूपता को व्यक्त करने वाले विविध भावों के चित्रण को आवश्यक बतलाया है। उनके गम्भीरता नामक गुण का सम्बन्ध नीतिसे है [६]।

द्विवेदीजी ने भाव-तत्व को व्यापक और सामान्य रूप से सर्वोपरि स्वीकार करते हुए भी स्पष्ट रूप से कहीं भी काव्य का प्राण या रस को काव्य की आत्मा नहीं कहा। काव्यात्मा का प्रश्न द्विवेदीजी ने उठाया ही नहीं। एक स्थान पर अर्थ को अवश्य काव्य

---

१ साहित्य-सीकर :आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ०२६
२ साहित्य सीकर– –वही– " ३७
३ विचार–विमर्श– –वही– " ६०
४ –वही– –वही– " २८
५ रसज्ञ-रंजन –वही– " ४८
६ सरस्वती १६०४ मार्च - फारसी कवि हाफ़िज़ " ८५-७६

का प्राण कहा गया है [१] । काव्य में अर्थ-पक्ष को प्रधान माना गया है और प्रबन्ध रचना शब्द-रचना, अलंकारादि गौण कहे गए हैं [२] ।

कविता के बहिरंग और अन्तरंग पक्षों में द्विवेदीजी का झुकाव अन्तरंग की ओर अधिक है, यद्यपि आचार्य भी अनेक स्थलों पर उसके बहिरंग में भी अटक गए हैं, कविता की बाहरी साज-सज्जा में ही उनकी दृष्टि उलझ गई है। पर ऐसा कम स्थलों पर हुआ है। कविता को वे हृदय के मनोविकारों का शब्द-चित्र कहते हैं। भाव और अर्थ को वे काव्य में सबसे अधिक महत्व देते हैं। इतना ही नहीं द्विवेदीजी मानते हैं कि काव्य में अर्थ-सौरस्य विषय के साथ तादात्म्य होने पर आता है [३] । इस प्रकार काव्य अंततः आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति बन जाता हैं। उन्होंने काव्य को कवि-व्यक्तित्व का परिणाम भी घोषित किया है। जैसा लेखक होगा, वैसा उसका साहित्य होगा। लेखक के अच्छे होने पर साहित्य अच्छा, सुरुचिपूर्ण होगा, यदि लेखक अच्छा नहीं है, तो साहित्य कुरुचि-पूर्ण होगा और उससे पाठकों को आनन्द भी नहीं मिलेगा [४] । द्विवेदीजी ने साहित्य का सम्बन्ध आन्तरिक तत्वों से जोड़ दिया है। इनके पहले इतने आग्रह के साथ काव्य या साहित्य अपने अन्तरंग की ओर उन्मुख नहीं हुआ है। यद्यपि ये मत द्विवेदी जी ने स्वयं अपने नाम से विज्ञापित नहीं किये। किसी न किसी पूर्वी या पश्चिमी लेखक का आधार बतलाते हुए ये सब बातें कही गई हैं। यदि द्विवेदीजी ने स्वयं कोई बात कही तो उनका घोर विरोध किया गया, अनेक प्रकार के वाद-विवाद, टीका-टिप्पणी परम्परा बन कर निकले। इन सब बातों से बचने के लिये संभवतः द्विवेदी जी सर्वमान्य विद्वानों का नाम ले लिया करते थे। संभवतः 'सरस्वती' के व्यस्त सम्पादन में अपने मत-प्रतिपादन के लिये उन्हें समय भी न मिला होगा। इसलिए अपने मत के पोषक लेखों को आधार बना-कर द्विवेदी जी लेख लिख दिया करते थे। ये सब मान्यतायें स्वयं द्विवेदीजी की ही हैं।

कविता के गुणों में द्विवेदी जी ने भावुकता, साहित्यकता और भोलापन (सरलता) प्रमुख बतलाये हैं [५] । मिल्टन का मत उद्धृत करते हुए द्विवेदीजी ने काव्य की तीन विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। वे हैं–सादगी, जोश और असलियत [६] ।

---

१ रसज्ञ–रंजन : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० २०
२ संचयन : –वही– " ५९
३ रसज्ञ-रंजन : –वही– " २२
४ साहित्य-सीकर –वही– " ९९
५ 'कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता एक प्रकार की सात्विकता और एकप्रकार का भोलापन दरकार होता है।' (संचयन : आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी, ५९)
६ 'अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।' (रसज्ञ–रंजन : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७)

स्पष्ट ही द्विवेदीजी की यह दृष्टि रसवादी आचार्यों के अत्यन्त समीप है। काव्य के नवीन गुण गिनाते समय उन्होंने साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन आवश्यक बतलाया है [१]। वे साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन से मानते हैं, परन्तु उसे वैयक्तिक भूमि पर नहीं देखना चाहते। उनकी दृष्टि में साहित्य मानव-मात्र की वस्तु है, उसमें जीवन के सामान्य मनोभाव अङ्कित होते हैं। द्विवेदीजी के सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य में रस की चर्चा बहुत कम हुई है। फिर भी उनका झुकाव इसी सिद्धान्त की ओर है। कतिपय स्थलों पर द्विवेदीजी की दृष्टि काव्य के चमत्कार पक्ष में उलझ गई है। वे कभी-कभी उसे काव्य में आवश्यक बतलाने लगते हैं। प्रत्येक शिक्षित कवि की शक्ति में चमत्कार आना चाहिये, बिना इसके आनन्द नहीं मिल सकता [२]। कवि शिक्षा 'शीर्षक निबन्ध में कवि की चमत्कारोत्पादिनी शक्ति को बड़ा महत्व दिया गया है। इसमें दो उदाहरण दिये गए हैं। प्रथम अत्यन्त भाव-प्रवण है और दूसरा श्लेष अलंकार से युक्त, चमत्कार पूर्ण है। द्विवेदी जी ने दूसरे उदाहरण में ही काव्य देखा है, पहले में नहीं। जहां द्विवेदी जी एक ओर नए युग की आवश्यकताओं के प्रति सजग थे, वहां दूसरी ओर वे रीतिकालीन काव्य परम्पराओं से मुक्त नहीं हो सके थे। द्विवेदीजी में प्राचीन और नवीन के दर्शन एक साथ होते हैं, यद्यपि द्विवेदी जी नवीनता की ओर अधिक झुके हुये थे। काव्य में चमत्कार के लिये इतना अधिक आग्रहपूर्ण परम्पराओं का ही परिणाम कहा जायगा। फिर भी द्विवेदीजी में नवीनता की मात्रा अपने समकालीन लेखकों से अधिक थी और उनकी समीक्षा-दृष्टि भी सबसे अधिक उदार और प्रशस्त तथा प्रगतिशील थी। चमत्कार को महत्वपूर्ण मानते हुए भी द्विवेदी जी उसके सम्बन्ध में विशिष्ट मत रखते हैं। वे चमत्कार को किसी पिंगल-पाठ का परिणाम नहीं मानते और न वह किसी काव्यांग-विवेचक ग्रंथ के नियम-पालन से ही संपादित होता है[३]। चमत्कार के लिए आडंबर की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने प्रसाद-गुण और चमत्कार को एक साथ रख कर देखा है[४]। द्विवेदीजी की चमत्कार सम्बन्धी यह दृष्टि आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति-धारणा से प्रभावित दिखलाई पड़ती है। परन्तु व्यवहार में द्विवेदी जी ने जिस चमत्कार की प्रशंसा की वह कुछ भिन्न ही है।

द्विवेदीजी की दृष्टि में काव्य वाच्य नहीं व्यंग्य है। काव्य में बिम्ब ग्रहण कराया जाता है, वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, उपदेश नहीं दिये जाते [५]। नीति और

---

१ शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उसमें आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।'
(संचयन : पृ० ६६)

२ संचयन : पृ० ६७

३ संचयन पृ० ६७

४ -वही- " ९१

५ कालिदास और उनकी कविता : " १११

काव्य में अन्तर है, यद्यपि काव्य का उद्देश्य नैतिक मूल्यों की स्थापना ही है। परन्तु, वह उद्देश्य काव्य के अन्तर्गत ऐसा छिपा रहता है कि पाठक को उसकी सहसा उपलब्धि नहीं होती। 'कविजन लोकशिक्षोपयोगी आदर्शों को सौन्दर्यपूर्ण हृदयरंजन आवेष्टन से आवृत करके संसार में शिक्षा का प्रचार करते हैं[१]।'

वे विज्ञान और साहित्य में अन्तर मानते हैं। वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में देखता है, परन्तु कवि ऐसा नहीं करता। उसकी दृष्टि ही दूसरी होती है। वह सजीव को निर्जीव और निर्जीव को सजीव रूप दे सकता है[२]। मिल्टन के मत का उदाहरण देते समय द्विवेदी जी ने 'असलियत' की चर्चा की है। उसका अर्थ वे केवल इतना ही लेते हैं कि उसमें मानवी मनोविकास ओर प्राकृतिक नियमों का आधार लिया गया है। उसे वे कोरा इतिहास नहीं मानते। अतएव द्विवेदी जी की दृष्टि जीवन के यथार्थ पर लगी हुई है, पर यथा-तथ्य चित्रण का वे विरोध करते हैं। वस्तुतः द्विवेदीजी ने काव्य-सौन्दर्य को समष्टिगत सौन्दर्य माना है। वे रूप, गुण, अवस्थादि के पृथक-पृथक वर्णनों में सौन्दर्य के दर्शन नहीं करते। इन सबकी समष्टि से उत्पन्न सौन्दर्य को ही यथार्थ सौन्दर्य की संज्ञा देते हैं[३]। जिस प्रकार उन्होंने विज्ञान और साहित्य में अन्तर बतलाया है, उसी प्रकार वे साहित्य और सभ्यता में भी विरोध मानते हैं। सभ्यता के विकास के साथ बुद्धि प्रबल होती जाती है और कविता निर्बल। वे मानते हैं कि कविता का कल्पना (झूंठ) तत्व सभ्य तथा शिक्षित लोगों को खटकता है[४]। एक ओर तो द्विवेदी जी सभ्यता और कविता का विरोध मानते हैं और दूसरी ओर यह भी उद्धृत करते हैं कि असभ्य और अशिक्षित देशों में कला का उत्थान नहीं होता, शिक्षित और सुसंस्कृत देशों में ही यह सम्भव है[५]। द्विवेदी जी के निबन्धों में कभी-कभी ऐसे विरोधी मत भी मिल जाते हैं।

वे काव्य को आंतरिक प्रेरणा का ही परिणाम मानते हैं। काव्य किसी बंधन-वश, बाह्य प्रेरणा से नहीं लिखा जा सकता। उन्होंने स्पष्ट लिखा है –'कवि के अभिलषित विषय पर ही, उसकी कविता अच्छी होती है यह हमारा मत है[६]। काव्य को वे प्रयत्न साध्य नहीं मानते, वह सहजोन्मेष का ही फल है। वह सहज और स्वाभाविक होता है। कोई बाहरी साधन उसका कारण नहीं बन सकता। मिल्टन के 'जोश' द्वारा काव्य के सहजोन्मेष और उसकी अनायास अभिव्यक्ति की ओर ही संकेत किया गया है। कविता में प्रभावित करने की शक्ति को द्विवेदीजी बहुत महत्व देते हैं। कविता का यह गुण भी अनेक

१ कालिदास और उनकी कविता पृ० ३१८
२ संचयन " १५७
३ कालिदास और उनकी कविता : पृ० ११९
४ रसज्ञ-रंजन " ४३
५ समालोचना– समुच्चय — भारतीय चित्रकला, पृ० २५
६ द्विवेदी पत्रावली (बाबू राधाकृष्णदास को लिखे पत्र से) : पृ० ६५

तत्वों पर आधारित है। उनकी दृष्टि में अच्छा काव्य वही है जो प्रभावित करता है, जो मर्म का स्पर्श करता है, जिसे सुनकर लोग बोल उठते हैं कि 'सच कहा' [१]। प्रभावित करने वाले तत्वों का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है—'सौ बात की बात यह कि भाषा सरल और सरस, भाव स्वाभाविक और शब्द-स्थापना सुन्दर होने के कारण उसकी उक्तियों का असर पढ़ने वाले के हृदय पर खूब होता है। अच्छी कविता का यही लक्षण है [२]।' वे ऐसी ही कविता को आदरणीय मानते हैं जो हृदय और बुद्धि पर अच्छा प्रभाव डालती हैं। अच्छे प्रभाव के लिये कविता में उच्च विचारों का होना आवश्यक हैं [३]। इस प्रकार द्विवेदीजी काव्य का नीति से स्पष्ट गठ-बन्धन कर देते हैं। कविता की अभिव्यक्ति असाधारण हुआ करती है और इसका सुनने वाले पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। इसी को द्विवेदीजी कविता मानते हैं [४]। कुंतक की वक्रोक्ति भी असाधारण -प्रसिद्ध स्थान व्यतिरेकी आदि – हैं और वह भी सहृदय को आल्हाद देने वाली कही गई है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में कुन्तक का प्रभाव बहुत गहरा दिखलाई पड़ता है। उनकी समस्त मान्यताओं का समीकरण वक्रोक्ति-सिद्धान्त में सरलता से किया जा सकता है। द्विवेदीजी के ग्रंथों में किसी भी साहित्य-सिद्धान्त का निरूपण नहीं हुआ है। उन्होंने प्रसंगवश इधर-उधर कतिपय सम्मतियाँ ही दी है। इनमें से कई एक-दूसरे का विरोध भी करती हैं। सैद्धान्तिक प्रौढ़ व्यवस्था का द्विवेदीजी में अभाव है।

काव्य-प्रयोजन

द्विवेदीजी काव्य को निष्प्रयोजन नहीं मानते। काव्य निश्चित उद्देश्य लेकर चलता है। इनमें सर्वप्रथम स्थान वे आनन्द को देते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक ऊंचे दरजे की समझना चाहिये [५]।' कालिदास की अक्षय कीर्ति का कारण उनके काव्य से प्राप्त होने वाले 'शिक्षा' और 'प्रमोद' ही हैं। कालिदास में जनता को आनन्दित करने की अमित शक्ति है [६]। इस आनन्द के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की धारणा विशिष्ट कोटि की है। यह कवि का वैयक्तिक आनन्द भी नहीं है और न यह आनन्द खेल-तमाशे से प्राप्त मनोरंजन की कोटि का क्षणिक आनन्द ही हैं। द्विवेदीजी ने अनेक स्थलों पर काव्य का प्रयोजन मनोरंजन बतलाया है।

---

१ रसज्ञ-रञ्जन : पृष्ठ ६१
२ विचार विमर्श : ,, ७७
३ विचार विमर्श ,, १
४ रसज्ञ-रञ्जन ,, ५१
५ संचयन पृष्ठ ५०
६ कालिदास और उनकी कविता ,, ९९

परन्तु, द्विवेदीजी ने उसका प्रयोग अपने विशिष्ट—स्थायी और सामाजिक—आनन्द के लिये ही किया है। द्विवेदीजी उस आनन्द का समर्थन करते हैं जो समाज का उत्थान कर असीमता तक पहुंचने की क्षमता रखता है, जो स्थायी कोटि का होता है। इसीलिये उन्होंने काव्य में यथार्थ-चित्रण का विरोध किया है, क्योंकि उससे समाज के उत्थान में—उनकी दृष्टि से—कोई सहायता नहीं मिलती। केवल मनोरंजन करने वाला काव्य उत्कृष्ट नहीं हो सकता [१]। काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अवश्य है, परन्तु यह मनोरंजन समस्त जन समाज का मनोरंजन है, कवि का अपना ही नहीं। 'कवि अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिये अपना काम नहीं करते।' जितने अधिक लोगों का इनकी कृतियों से मनोरंजन होता है, उतने ही अधिक ये सफल काम होते हैं [२]। द्विवेदीजी की दृष्टि व्यावहारिक और नैतिक अधिक रही है, कलात्मक कम। कलाकार तटस्थ दृष्टि से जीवन और जगत के चित्र देकर भी आनन्द की अभिव्यक्ति कर सकता है और उससे भी समाज के उत्थान की सम्भावना है। द्विवेदीजी की उपयोगितावादिनी एकदम व्यावहारिक समीक्षा दृष्टि में उक्त बातों के लिए स्थान नहीं है। द्विवेदीजी ने काव्यानन्द को समाज-शिक्षा और सामाजिक लाभ से अनिवार्यतः संबद्ध कर दिया है। वे काव्य के द्वारा समाज को शिक्षित बनाना चाहते हैं। जिस काव्य से समाज को कोई शिक्षा नहीं मिलती, वह उनकी दृष्टि में व्यर्थ है। भले ही वह अपने आप में कितना ही सुन्दर हो, उससे पाठकों को कितना ही आनन्द मिलता हो [३]। सबसे अच्छी कविता में जीवन को सार्थक करने के उपाय और उसके उद्देश्य बतलाये जाते हैं, उससे मनुष्य को अच्छी शिक्षा दी जाती है, उसे उन्नति का मार्ग दिखलाया जाता है, उसके हृदय को उदार और सहानुभूतिपूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है [४]। निश्चय ही द्विवेदीजी के ये उद्देश्य काव्य को नीति और आदर्श की भूमिकाओं पर ले आते हैं। द्विवेदीजी की समीक्षा-दृष्टि में नीति और आदर्श, उपयोगिता और व्यावहारिकता का समावेश हुआ है। उपन्यास को द्विवेदी जी ने बड़ा महत्व दिया है, क्योंकि काव्य और नाटक की अपेक्षा उपन्यास स्त्री, बालक, श्रमिक सबके पास सरलता से पहुंच जाता है और उन्हें शिक्षित भी कर सकता है [५]। निश्चय ही द्विवेदीजी की यह शिक्षा 'कान्तासम्मत' है। काव्य का आन्तरिक उद्देश्य नैतिक मूल्यों की स्थापना ही है, परन्तु यह उद्देश्य काव्य के अन्तर्गत छिपा रहता है। 'पाठकों के हृदय का उत्कर्ष साधन और शुद्धि-विधान तथा जगत को शिक्षा प्रदान' करना

---

१ कालिदास और उनकी कविता पृष्ठ ११६
२ समालोचना-समुच्चय पृष्ठ २६
३ कालिदास और उनकी कविता ,, ११८
४ विचार-विमर्श ,, १
५ संचयन ,, १४६

काव्य के प्रच्छन्न उद्देश्य हैं। इन आदर्शों को कविगण सौन्दर्यपूर्ण आवेष्टन ये आवृत कर संसार को देते हैं [१]। द्विवेदीजी का मत है कि किसी प्रकार की आशा के वशीभूत होकर यदि कविता लिखी जायगी तो उसमें सरसता नहीं आ सकेगी। यह काव्य के 'अर्थकृते' उद्देश्य का एक प्रकार से विरोध है[२]। कविता के लिये कविता को द्विवेदी जी ने तमाशा कहा है। कविता को वे सोद्देश्य मानते हैं [३]। ईश्वरीय प्रेरणा का परिणाम काव्य समाज के लिये निश्चित रूप से लाभप्रद सिद्ध होता है। समाज का लाभ ही उसका उद्देश्य बन जाता है[४]। एक स्थान पर द्विवेदीजी काव्य के वैयक्तिक प्रयोजन को भी स्वीकार करते हैं। जीवन के कलह-कोलाहल से त्रस्त मनुष्य के मन को काव्य में शांति मिलती है [५]। अन्ततः द्विवेदीजी काव्य के प्रयोजन आनन्द और शिक्षा मानते हैं। उनका आनन्द स्थायी और सामाजिक कोटि का है, उनकी शिक्षा 'कान्तासम्मित' है तथा सामाजिक लाभ जैसे ज्ञान-वृद्धि आदि एवं कवि की मनःशान्ति की चर्चा कर वे काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं। आचार्य मम्मट के यश की द्विवेदीजी ने चर्चा नहीं की। काव्य के आर्थिक प्रयोजन का उन्होंने विरोध किया है, क्योंकि साहित्य की वे निष्काम सेवा ही उचित समझते थे। साहित्य के द्वारा देश और समाज की उन्नति करना उनका परम लक्ष्य था। इसकी पूर्ति के लिए क्षुद्र अर्थ की आकांक्षा द्विवेदीजी जैसे तपस्वी के लिए असम्भव थी। काव्य के 'शिवेतरक्षतये' प्रयोजन का भी आचार्यजी की मान्यताओं में समावेश हो जाता है। इस प्रकार काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी धारणाओं में द्विवेदी जी ने बहुत दूर तक भारतीय आचार्यों का ही अनुकरण किया है, यद्यपि काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में वे पश्चिमी धारणाओं के अधिक ऋणी हैं। काव्य और जीवन का सम्बन्ध, उसकी सामाजिक, सामयिक और सार्वभौमिक भूमिकायें, विज्ञान तथा सभ्यता सम्बन्धी चर्चा बहुत अंशों में पश्चिमी प्रभाव माने जायेंगे।

काव्य हेतु

द्विवेदी जी प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं। काव्य अभ्यास से नहीं सीखा जा सकता। उसके लिए बहुत पुण्य और ईश्वर दत्त कवित्व-बीज की आवश्यकता है। बिना इसके कोई कवि नहीं बन सकता [६]। 'उर्दू शतक' की आलोचना करते हुए उन्होंने

---

१ कालिदास और उनकी कविता ,, ११८

२ काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मित तथोपदेशभुजे ॥ काव्य-प्रकाश (प्र०उ०)—मम्मट

३ सारांश यह कि कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिये : केवल कविता ही के लिये कविता करना एक तमाशा है।'
रसज्ञ-रंजन —पृष्ठ २७

४ —वही— ,, ३३

५ साहित्य—सीकर : पृष्ठ ३३

६ कालिदास की निरंकुशता (न०सं०) पृष्ठ १ सरस्वती १९०४ अक्टूबर। 'कविता के लिये प्रतिभा की आवश्यकता होती है। बिना प्रतिभा के कोई कवि नहीं हो सकता है।'

लिखा है—'हिन्दी-भाषा के एक बड़े भारी छंद-शास्त्री का मत है कि उसके बताये हुए छन्दोग्रन्थ में यदि सब लोग पारंगत हो जायें तो भारतवर्ष में गांव-गाँव, गली-गली, कवियों की वैसी ही बहुलता हो जाय जैसे नदियों में कंकड़ों की और काशी में शंकरों की बहुलता है। कहने की जरूरत नहीं, यह मत बिल्कुल ही निस्सार है। छन्दों के रूप जान लेने, 'यमनसमलागः शिखरिणी' घोखते, अथवा 'वरासाघ्री श्री स्त्री न हस वसुधा किम्बदलगा' करने से कोई कवि नहीं हो सकता। प्रस्तार-पारिजात पढ़ने और छन्दार्णव-पिंगल रटने से कवित्व-शक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती[1]।' इस प्रकार द्विवेदीजी काव्य-हेतुओं में अभ्यास और शिक्षा को अस्वीकृत कर देते हैं। 'कविकंठाभरण' के आधार पर द्विवेदी जी ने कवि-शिक्षा की चर्चा की है। परन्तु अन्त में उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि कविता लिखी नहीं जा सकती। वह किसी बाहरी साधन पर आश्रित नहीं है। दूसरे शब्दों में कविता जन्मजात होती है, अन्तः प्रेरणा में ही उसका जन्म होता है[2]। इस बात को 'कवि और कविता' शीर्षक लेख में और भी स्पष्ट किया गया है। कविता को सहज, स्वाभाविक और ईश्वरदत्त कहा गया है, अभ्यास सिद्ध नहीं[3]। द्विवेदी जी का यह मत आचार्य मम्मट से नहीं मिलता। आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता, शिक्षा और अभ्यास को काव्य-कारणों में मान्यता दी है[4]। द्विवेदीजी इनमें से केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से द्विवेदीजी भामह, रुद्रट, पण्डितराज जगन्नाथ की परम्परा का पालन करते हैं। भामह ने स्पष्ट रूप से प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है[5]।

गुण-दोष

द्विवेदीजी ने काव्य में कतिपय गुणों की भी नियोजना आवश्यक मानी है। सबसे पहले वे काव्य में प्रसाद गुण को देखते हैं। इससे उनका तात्पर्य भाषा की सरलता से है। इसकी आवश्यकता का द्विवेदीजी ने बार-बार उल्लेख किया है। उनका मत है कि जिस प्रकार पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है, उसी प्रकार प्रसाद-गुण-परिप्लुप कविता का भावार्थ शब्दों के भीतर से झलकता है। वह तत्काल हृदयंगम होता है[6]। प्रसाद-गुण को सर्वोपरि मानते हुए अन्य गुणों में द्विवेदीजी के कथन में निरालापन या

---

१ समालोचना-समुच्चय-उर्दू शतक : पृष्ठ १४२
२ रसज्ञ-रंजन : ,, ३६
३ —वही— : ,, ४३
४ शक्तिर्निपुणता लोक काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षाभ्यास इतिहेंतुस्तदुम्देव ॥ (काव्य-प्रकाश ॥३॥)
५ काव्यं तु जापते जातु कस्यचित्प्रतिमानतः (काव्यालंकार)
६ संचयन पृष्ठ १५३

अनुठापन, तथा लालित्य या माधुर्य की चर्चा करते हैं। इस प्रकार काव्य के तीन प्रसिद्ध—प्रसाद, ओज और माधुर्य—गुणों में द्विवेदीजी प्रसाद और माधुर्य को अधिक महत्व देते हैं। निम्नलिखित अवतरण से द्विवेदीजी की गुण सम्बन्धी मान्यताएं स्पष्ट हो जाती हैं :—"कविता में प्रसाद गुण यदि नहीं तो कवि की उद्देश्य-सिद्धि अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। जो कुछ कहना हो उसे इस तरह कहना चाहिए कि वह पढ़ने या सुनने वाले की समझ में तुरन्त ही आ जाय। इसे तो आप कविता का पहला गुण समझिये। दूसरा गुण कविता में यह होना चाहिए कि कवि के ढंग में कुछ निरालापन या अनूठापन हो–वह अपने मन के भावको इस तरह प्रकट करे जिससे पढ़ने या सुननेवाले के हृदय में कोई न कोई विकार जागृत, उत्तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी। यह भी न हो तो उसकी कविता सुनकर श्रोता का चित तो कुछ चमत्कृत हो। यदि कवि में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह दूसरों के हृदयों को प्रभावित कर सके तो कम से कम उसे अपनी बात ऐसे शब्दों में तो जरूर ही कहनी चाहिए, जो कान को अच्छी लगे। कथन में लालित्य होना चाहिए, उसमें कुछ माधुर्य होना चाहिए। कविता के शास्त्रीय लक्षणों की परवा न करके जो कवि कम से कम इन तीनों गुणों में से सबके न सही, एक ही दो के साधन में सफल होने की चेष्टा करेंगे उन्ही की कविता, न्यूनाधिक अंश में कविता कही जा सकेगी[1]।' शास्त्रीय निर्देशों की द्विवेदीजी ने वास्तव में चिन्ता नहीं की है। प्रसाद और माधुर्य को तो वे स्वीकार कर लेते हैं, पर ओज के स्थान में वे चमत्कार की नियोजना करते हैं।

प्रसाद गुण की द्विवेदीजी ने जितनी प्रशंसा की है, उतनी ही अस्पष्टता की निन्दा भी। अस्पष्टता को वे काव्य का बड़ा भारी दोष मानते हैं। इससे सारी उद्देश्य-सिद्ध ही नष्ट हो जाती है। नवीन रहस्यवादी और छायावादी काव्य की इसी कारण उन्होंने प्रशंसा नहीं की[2]। नैतिक दृष्टि के कारण ग्राम्यता और अश्लीलता दोषों पर भी आचार्य द्विवेदी ने बड़ा आक्रोश व्यक्त किया है। अश्लील साहित्य से तो उन्हें चिढ़ थी। एक बार उन्होंने लिखा—"क्या ही अच्छा हो यदि गवर्नमेन्ट पेनल कोड के अश्लील साहित्य-संबंधी सेक्सन को जरा और व्यापक करके इन कोक-शास्त्रियों की पुस्तकें मुरादाबाद की रामगंगा और झांसी के लक्ष्मी तालाब में डुबो दें[3]। द्विवेदीजी ने कालिदास की रचनाओं में रस, अलंकार सम्बन्धी अनेक दोष गिनाए हैं। व्याकरण की भी अनेक अशुद्धियों की ओर इंगित किया है। यतिभंग, पुनरुक्ति, अधिकपदत्व, श्रुतिकटुत्व, अविभृष्ट विधेयांस

---

१ संवचन पृष्ठ ९८—९९
२ –वही– " १०१
३ साहित्य-सीकर पृष्ठ ९८

(प्रधान या प्रतिपाद्य को निर्बल रूप में कहना), निहतार्थता (अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग) आदि दोषों का कालीदास के ग्रंथों में दिग्दर्शन हुआ है। जुगुप्सा-व्यंजक स्थल भी बतलाए गए हैं। वस्तुतः दोष-दर्शन संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के आधार पर हुआ है। द्विवेदीजी की मौलिकता यहाँ नहीं के बराबर है।

काव्य-तत्व

द्विवेदीजी के निबन्धों में काव्य-तत्वों पर भी बिखरी हुई सामग्री उपलब्ध होती है। इनमें अधिकांश तत्व संस्कृत साहित्य-शास्त्र के हैं और कतिपय पश्चिमी समीक्षा से भी लिए गए हैं। द्विवेदीजी ने पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन सभी से उपादेय सामग्री का संग्रह किया है। द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों में रस, अलंकार, रीति, औचित्य आदि की चर्चा की है। परन्तु इनका व्यवस्थित और सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया। रस की गणना द्विवेदीजी ने काव्य के गुणों में की है। अर्थ-सौरस्य को उन्होंने कविता का प्राण कहा है[१]। वस्तुतः रसवादी आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना हे, उसे काव्य के अन्य तत्वों से प्रमुखता दी गई है। द्विवेदी जी अर्थ को रस से अधिक महत्व देते हैं। द्विवेदीजी यह मानते हैं कि कविता का अच्छा या बुरा होना अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलंबित है[२]। वे मानते हैं कि कवि पहले स्वयं रस की अनुभूति करता है, उपरांत शब्द-चित्र के द्वारा उसे श्रोता के हृदय में जागृत करता है[३]। द्विवेदीजी ने रस की विस्तृत चर्चा नहीं की, उसके विभिन्न अंगों का परिचय, निष्पत्ति की प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में द्विवेदीजी मौन हैं। इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी अलंकार-शास्त्र संबंधी ग्रन्थों का निर्माण अनावश्यक समझते थे। रस, अलंकार, छंद आदि की विवेचना करने वाले शास्त्र-ग्रन्थों का द्विवेदीजी ने कड़ा विरोध किया था[४]। परिणाम स्वरूप द्विवेदीजी के हाथों साहित्य-शास्त्र की विस्तृत चर्चा अवश्य हुई पर उसका प्रौढ़ व्यवस्थित और विस्तृत शास्त्रीय विवेचन नहीं हो सका। यह कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा सम्पन्न हुआ।

द्विवेदीजी की अलंकार-दृष्टि रसवादियों के अनुकूल है। वे अलंकारों की सार्थकता भाव, विचार या उक्ति को स्पष्ट करने में मानते हैं। उक्ति और उपमा का सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए जैसा दूध और बूरे का होता है। यदि उपमा को उक्ति से अलग कर दिया जाय तो वह फीकी लगने लगे[५]। अतएव अलंकार भाव, विचार या उक्ति को स्पष्ट करने

---

१ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ २०
२ —वही— पृष्ठ १६
३ —वही— पृष्ठ ६३
४ सरस्वती (१९०१) जुलाई पृष्ठ कवि-कर्तव्य
५ कालिदास और उनकी कविता पृष्ठ १०४

वाले एवं काव्य की शोभा बढ़ाने वाले तत्व हैं। अनुप्रास और यमक जैसे शब्दालंकारों को द्विवेदीजी शब्दाडम्बर कहते हैं। ये कविता के आधार नहीं है। इनके न होने से कविता की कोई अपरिमेय हानि नहीं होती[१]।

रीतियों में द्विवेदीजी ने वैदर्भी रीति की प्रशंसा की है। इसमें वे सरल और कोमल शब्दों का चुनाव तथा लम्बे-लम्बे समासों के अभाव मानते है। कालिदास के काव्य में उन्हें इसी रीति के दर्शन हुए हैं[२]। रीति के साथ ही द्विवेदीजी ने शैली की भी चर्चा की है। लम्बे-लम्बे समासवाली जटिल, विस्तृत और आयाससिद्ध शैली के वे विरुद्ध थे। उन्हें वही शैली इष्ट थी जिसमें संक्षिप्तता, सरलता तथा पाठकों के चित्त में चुभ जाने का गुण हो[३]। कहना न होगा कि ये गुण वैदर्भी रीति में मिलते हैं। थोडे से शब्दों में अपनी बात कहना द्विवेदीजी को पसंद था, यद्यपि व्यवहार में द्विवेदीजी की शैली व्यास हो गई है। द्विवेदीजी ने काव्य-शैली की भी एक स्थल पर चर्चा की है। उन्होंने पुराणों और रघुवंश महाकाव्य की शैलियों की तुलना करते हुए बतलाया है कि पुराणों में प्रायः एक पात्र या अनेक पात्रों के कार्य-कलापों का साद्यंत वर्णन किया जाता हैं, रघुवंश में मुख्य पात्र अंत तक नहीं जाते। फिर भी उद्देश्य, कार्य और नीति की एकता अन्त तक अक्षुण्य रहती है। इसे द्विवेदीजी ने रघुवंश की एक चामत्कारिक विशेषता माना है[४]। यह भी शैलियों की ही चर्चा होगी।

औचित्य पर भी नीतिप्रिय द्विवेदीजी की दृष्टि रही है। द्विवेदीजी वर्णनों में देश, काल, पात्र और अवस्था का ध्यान रखना आवश्यक मानते हैं, तथा इन्हीं के अनुकूल विषय का आकुंचन किंवा प्रसारण भी। युद्ध के समय लम्बी वक्तृता शोभनीय हो सकती है पर शोक के समय नहीं[५]। 'कालिदास की निरंकुशता' में द्विवेदीजी ने अनेक प्रकार के रस, नाम, इतिहास सम्बन्धी अनौचित्यों पर विचार किया है[६]।

छन्दों के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने एकदम क्रांतिकारी धारणाएँ व्यक्त की हैं। वे छन्दों को काव्य के लिये आवश्यक नहीं मानते। काव्य-लक्षणों से युक्त होने पर गद्य में भी कविता हो सकती है और काव्य-लक्षणों से हीन छन्दोबद्ध रचना को भी वे काव्य-कोटि में स्थान नहीं देते[७]। युग-युग के छन्द-बन्धनों से कविता अनायास मुक्त कर दी गई।

---

१ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ १६
२ संचयन ,, १५३
३ कालिदास और उनकी कविता ,, १०३
४ साहित्य-सीकर ,, ३७
५ कालिदास और उनकी कविता ,, १०३
६ रसज्ञ-रंजन ,, २२
७ रसज्ञ-रंजन ,, १४

द्विवेदी जी के पहले संस्कृत और हिन्दी के क्षेत्र में ऐसा कभी नहीं हुआ और न कहा ही गया। छन्द कविता के अपरिहार्य अङ्ग बन गये थे। द्विवेदीजी ने छन्दों को कविता के लिये अनावश्यक घोषित कर आगामी कवियों का मार्ग प्रशस्त कर दिया, यद्यपि स्वयं वे इस मार्ग पर नहीं चले। द्विवेदीजी की यह छन्द-सम्बन्धी धारणा एकदम नवीन और क्रांतिकारी थी। द्विवेदीजी के ऐसे ही निर्देशों के कारण उन्हें युग-प्रवर्तक आचार्य कहा गया है। छन्दों को द्विवेदीजी ने एक प्रकार से कविता के लिये हानिकारक भी बतलाया है। वे लिखते है—"कविता के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उल्टी हानिकारक हैं। तुले हुये शब्दों में कविता करने और तुक अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे[१]।" द्विवेदीजी कविता और पद्य—पोएट्री और व्हर्स—में अन्तर मानते हैं। कविता में प्रभाव और मनोरंजन होता है, पद्य नपी तुली सतरों का नाम है। द्विवेदीजी छन्द को काव्य में नितांत गौण वस्तु मानते हैं। यदि कविता सरल और मनोरम है तो छन्द कितना ही खराब हो, उससे आनन्द अवश्य मिलता है[२]। सर्वप्रथम तो द्विवेदीजी ने छन्दों को काव्य के लिये अनावश्यक ही माना है। परन्तु, यदि छन्द का आग्रह हो तो वे दूसरे स्थान में, छन्द की अन्तिम तुक-पादांत और अनुप्रास-का विरोध करते हैं। कविता की परम्परागत रूढ़ तुक का द्विवेदीजी ने विरोध किया है। उनका मत था, "अनुप्रासों के ढूँढ़ने का प्रयास उठाने में समर्थ शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है जिससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुकरता भी होती है और मनोभिलषित अर्थ को व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादांत में अनुप्रासहीन छन्द भाषा में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है[३]।" वे यह मानते हैं कि पादांत अनुप्रासहीन छन्द अभ्यास से अच्छे लगने लगेंगे। द्विवेदीजी ने छन्द और तुक का विरोध करने के साथ ही छन्द-प्रयोग सम्बन्धी कतिपय आदेश भी दिये हैं। द्विवेदीजी मानते हैं कि विषयानुकूल छन्द-योजना से विषय सजीव हो जाता है[४]। वर्णनानुकूल वृत्त-प्रयोग से कविता पढ़ने वाले को अधिक आनन्द देती है[५]। अतएव द्विवेदीजी छन्द और रस (आनन्द) का भी सम्बन्ध मानते हैं। छन्दों के विशेषीकरण का भी उन्होंने आदेश दिया है। उनका मत है कि यदि कवि

---

१ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ ५०
२ —वही— ,, १६
३ सरस्वती (१९०१ जुलाई) कवि-कर्तव्य
४ संचयन पृष्ठ १५२
५ रसज्ञ-रंजन ,, १४

से कोई छन्द सध गया है, तो उसे दूसरे प्रकार के छन्द-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है[१]। गुप्तजी को एक पत्र में द्विवेदीजी ने यही आदेश दिया था कि जो छन्द खूब मंजे हुये हों उनका प्रयोग अधिक कीजिये। उन्हीं छन्दों का प्रयोग हो जो आसानी से बन जाँय और जो पढ़ने में भी अच्छे लगे[२]। द्विवेदीजी ने पुराने और पिटे-पिटाये छन्दों की अपेक्षा नये छन्द-प्रयोग की कवियों को प्रेरणा दी है। दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय, सवैया आदि को छोड़कर नये छन्दों में कविता लिखने के लिये उन्होंने कवियों को प्रोत्साहित किया। संस्कृत के वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, वसन्त लतिका तथा उर्दू के से छन्द उन्हें पसन्द थे[३]। वस्तुत: प्रत्येक क्षेत्र में वे नये प्रयोग करना चाहते थे। श्री मैथिलीशरणजी को 'साकेत' लिखते समय उन्होंने एक सर्ग सवैया छन्द में भी लिखने के लिये प्रेरित किया था[४]। द्विवेदीजी का छन्द-सम्बन्धी निर्देश बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें नवीन काव्य-रूपों के प्रति द्विवेदीजी की तीव्र अभिलाषा के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार द्विवेदी जी ने छन्दों के सम्बन्ध में क्रांतिकारी मन्तव्य व्यक्त किये उसी प्रकार भाषा के सम्बन्ध में भी उन्होंने एक बड़ी ही नई बात कही। अंग्रेज कवि वर्ड्स्वर्थ ने गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का आन्दोलन चलाया और आगे चलकर उसमें संशोधन भी कर लिया। द्विवेदीजी ने वर्ड्स्वर्थ से प्रेरणा लेकर हिन्दी में भी गद्य और पद्य की भाषा एक करने की आवाज उठाई। उन्होंने कहा "गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिये[५]।" इसलिये कवियों को उन्होंने आदेश दिया कि वे बोलचाल या गद्य की भाषा में भी कविता आरम्भ करें। गद्य-पद्य की भाषा सम्बन्धी एकता का द्विवेदीजी ने अनेक स्थलों पर प्रतिपादन किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिये। कोई कारण नहीं देख पड़ता कि हम लोग बोलें एक भाषा में और कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है, वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो और भी उत्तम हो[६]। द्विवेदीजी जिस भाषा में कविता चाहते थे वह विशिष्ट प्रकार की है। द्विवेदीजी की यह भाषा गंवारू, एकदम चलती बोली नहीं है। वह बोलचाल की अवश्य है, पर पढ़े-लिखे, सभ्य-शिक्षित लोगों की बोलचाल की भाषा है। द्विवेदीजी का आदेश था कि सभ्य-समाज की भाषा में गद्य और पद्य दोनों लिखे जाने चाहिये[७]। एक बार द्विवेदीजी

---

१ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ १६
२ द्विवेदी-पत्रावली ,, १३५-१३६
३ सरस्वती (१९०१ जुलाई) कवि-कर्तव्य
४ द्विवेदी-पत्रावली पृष्ठ १३६
५ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ १९
६ सरस्वती (१९०३ फरवरी-मार्च) हिन्दी भाषा और उसका साहित्य
७ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ १९

ने यह भी कहा है कि "बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं[१]।" इस प्रकार द्विवेदीजी ने बोलचाल की भाषा का विशिष्ट अर्थों में प्रयोग किया है। द्विवेदीजी भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी सरलता मानते हैं। भाषा ऐसी हो जो तुरन्त बोलते ही सबकी समझ में आ जाय। अधिक से अधिक पाठक जिसे समझ सके वही उनके लिये आदर्श भाषा थी[२]। लिखने, बोलने या व्याख्यान देने का उद्देश्य दूसरे पर अपने मन का भाव प्रकट करना ही है[३]। अतएव भाषा ऐसी होनी चाहिये, जो इस उद्देश्य की पूर्ति करती हो, जो सबकी समझ में आ जाय या जो सरल हो। भाषा के प्रसाद गुण की द्विवेदी जी ने बार-बार प्रशंसा की है। इस सरलता की सिद्धि के लिए द्विवेदीजी ने शब्द-चयन में बड़ी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। शब्द यदि सरल हैं, वह समझ में आ जाता है, तो वह किसी भी भाषा का हो, द्विवेदीजी उसे ग्रहण कर लेते हैं[४]। अरबी, फारसी, तुर्की सभी भाषाओं में वे शब्द उठाने के लिए तैयार रहते थे। द्विवेदीजी ने भाषा को साधन ही माना है। वह भाव-प्रकाशन का एक माध्यम मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। अतएव ललित कोमलकांत पदावली, लम्बे-लम्बे विशेषणों की मालावाली लच्छेदार भाषा भाव-विहीन होने पर उन्हें निरर्थक दिखलाई पड़ती है। उसमें द्विवेदीजी किसी प्रकार का काव्य नहीं देखते[५]। सूनी शब्द-झंकार उत्पन्न करने वाले कवियों के लिये द्विवेदीजी का आदेश था कि वे कविता करना ही बन्द कर दें। द्विवेदीजी ने बोलचाल की भाषा में कविता करने का आदेश दिया था। पर इसका यह आशय नहीं कि वे बोलने की और लिखने की भाषा का अन्तर ही मिटा देना चाहते थे। द्विवेदीजी ने कथित और लिखित भाषा का अन्तर स्वीकार किया है। लिखते समय लेखक को मनोरंजक बनाने के लिये लेखक अच्छे-अच्छे शब्दों का प्रयोग करता है, जबकि बातचीत में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता[६]। लिखने की भाषा थोड़ी बहुत अस्वाभाविक होती है और बोलने की भाषा स्वाभाविक हुआ करती है। लिखने की भाषा अधिक दिनों तक एक रूप रहती है, बोलने

---

१ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ ५८

२ —वही— ,, १८

३ संचयन ,, ९७

४ विचार-विमर्श ,, ३३

'संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिक संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं।' संचयन : पृष्ठ ४६

५ विचार-विमर्श पृष्ठ २८

६ सरस्वती (१९०३ फर० मार्च) — हिन्दी भाषा और उसका साहित्य

की भाषा में परिवर्तन जल्दी-जल्दी होते हैं। पर दोनों प्रकार की भाषायें परिवर्तनशील—नश्वर होती हैं [१]। परिवर्तन को द्विवेदीजी ने ईश्वरीय नियम कहा है। व्याकरण के द्वारा द्विवेदीजी भाषा का अनुशासन करना चाहते थे। भाषा की व्याकरण-गत शुद्धि पर उन्होंने बड़ा बल दिया है। द्विवेदीजी हिन्दी के सबसे बड़े भाषा-संस्कारक माने जाते हैं। वे भाषा को व्याकरण की दृष्टि से नितांत शुद्ध चाहते थे। उनका मत था कि शुद्ध भाषा का ही मान होता है अशुद्ध का नहीं। व्याकरण की अशुद्धि तो लेखक की तद्विषयक अज्ञानता का प्रमाण है [२]। व्याकरण की भूलें उन्हें असह्य थीं। शब्दों की अनावश्यक तोड़-मरोड़ की भी उन्होंने निन्दा की है। कालिदास के 'त्रियम्बक' प्रयोग पर उन्होंने आपत्ति की है[३]। व्याकरण के इतने कट्टर पक्षपाती होते हुए भी द्विवेदीजी व्याकरण को भाषा की वृद्धि का अवरोधक, भाषा की सजीवता का नाश करने वाला कहते हैं[४]। वह सर्वव्यापक भी नहीं होता। वे मानते हैं कि भाषा-सागर का बहाव व्याकरण की दीवार से नहीं रुक सकता। भाषा नियमों की अनुचरी नहीं है। व्याकरण ही भाषा का अनुकरण करता है। भाषा वस्तुतः लेखकों की प्रवृत्ति, उसके प्राकृतिक सुझाव और जनता की रीति-नीतियों पर अवलंवित होती है। समाज के रीति-रिवाजों के आगे व्याकरण के नियम रक्खे रह जाते हैं [५]। फिर भी अतीत साहित्य को समझने और भाषा को कुछ स्थिरता देने में सहायक होने के कारण व्याकरण की भी महत्ता है[६]। इस प्रकार द्विवेदीजी की भाषा-सम्बन्धी दृष्टि अत्यन्त प्रगतिशील और उदार है। भाषा-शुद्धि के लिये उन्होंने जो कड़ाई बरती उसके पीछे उनका ठोस साहित्यिक चिन्तन निहित है। द्विवेदीजी ने सरल, सरस और प्रसंगानुकूल शब्द-योजना के लिये कवियों को आदेश दिया है। भाषा में एक भी शब्द असुन्दर, अनुपयोगी और भावोद्बोधन में असमर्थ नहीं होना चाहिये [७]। विषय या प्रसंग के अनुकूल होने के साथ ही शब्द यथा-स्थान नियोजित हो [८]। प्रभाव की वृद्धि के लिये भावानुकूल शब्द-योजना आवश्यक है। शब्द चित्रात्मक भी हो [९]। भाषा के प्रासादिक गुण की अभ्यर्थना करने के कारण द्विवेदीजी ने भाषा की क्लिष्टता का विरोध किया

---

१ सरस्वती (१९०५ नवम्बर) — भाषा और व्याकरण
२ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ १८
३ कालिदास की निरंकुशता ,, ३१
४ सरस्वती (१९०५ नवम्बर) : भाषा कौर व्याकरण
५ साहित्य-सीकर पृष्ठ ७९
६ सरस्वती (१९०५ नवम्बर) : भाषा और व्याकरण, पृष्ठ ४२५
७ कालिदास और उनकी कविता . पृष्ठ १०५
८ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ १८, १९
९ —वही— ,, ५३

है। परन्तु क्लिष्टता और सरलता को वे सापेक्षिक दृष्टि से देखते हैं। जो वाक्य, वाक्यांश या शब्द एक के लिये क्लिष्ट हों, वे दूसरे के लिये सरल हो सकते हैं। भाषा का क्लिष्ट या सरल होना पढ़ने वाले के भाषा-ज्ञान पर अवलम्बित है [१]। विषय और पात्र के अनुसार ही भाषा रूप बदल सकती है, सरल या क्लिष्ट लिखी जा सकती है [२]। वैसे सरल भाषा के लेखक को ही उन्होंने बड़ा लेखक माना है। भाषा-सम्बन्धी द्विवेदीजी का विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ और प्रगतिशील है।

द्विवेदीजी ने शब्द-शक्तियों की चर्चा नहीं की। उनके प्रासंगिक उल्लेखों के आधार पर कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। द्विवेदीजी का मत है कि कवि सदैव एक ही प्रमुख भाव को हृदयंगम कर कविता लिखता है। लक्षणा-व्यंजना से अन्य अर्थ का बोध होना दूसरी बात है। एकाधिक अर्थों की योजना प्रसंगवश और सकारण हुआ करती है[३]। इससे यही आशय निकल सकता है कि काव्य मूलतः अविधा-प्रधान हुआ करता है। काव्य में प्रसाद गुण की महत्ता को स्वीकार करने वाले द्विवेदीजी के लिए यह स्वाभाविक भी हो सकता है। परन्तु द्विवेदीजी काव्य में बिम्ब-ग्रहण को भी स्वीकार करते हैं। काव्य में सीधी-सीधी बातें नहीं कही जातीं। काव्य के उद्देश्य की सहसा उपलब्धि नहीं होती। वह सौन्दर्यपूर्ण आवेष्टन से आवृत कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में काव्य वाच्य नहीं व्यंग होता है [४]। यहां द्विवेदीजी ने काव्य में व्यंजना के महत्व को भी स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः द्विवेदीजी ने शब्द शक्तियों की स्पष्ट चर्चा कहीं नहीं की। इस सम्बन्ध में उनके अभिमत को निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता।

द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों में पूर्वी तत्वों के सम्बन्ध में ही चर्चा नहीं की, कतिपय पश्चिमी साहित्य-तत्वों को भी स्थान दिया हैं। कल्पना उनमें से ही एक तत्व है। यह द्विवेदीजी के साहित्य-चिन्तन पर पश्चिमी प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। द्विवेदीजी मानते हैं कि कवि में कल्पना-शक्ति बड़ी तीव्र हुआ करती हैं। कल्पना के द्वारा कवि दुरूह विषयों को भी सुबोध बना लेते हैं, अपरिचित विषयों का चित्र अंकित करने में समर्थ होते हैं और 'कान्ता-सम्मित' उपदेश की योजना करते हैं [५]। कविता में कल्पना (झूंठ) का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता हैं [६]। परन्तु, यह कल्पना वायवीय नहीं होती। वह जीवन की यथार्थता से अनिवार्यतः संबद्ध होती है[७]। कवि के लिये कल्पना की बड़ी आवश्यकता है। जिसमें जितनी अधिक कल्पना-शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक

१ सरस्वती (दिसम्बर १९०८) : महाभारत की भूमिका पृष्ठ ५३८
२ सरस्वती (१९११) : पृष्ठ ४७२
३ सरस्वती (१९०४) : पृष्ठ ४००
४ कालिदास और उनकी कविता : पृष्ठ ९९
५ रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २८
६ —वही— ,, ४५
७ —वही— ,, ४५

अच्छी कविता कर सकेगा। कल्पना से आशय नई-नई बातों की सूझ एवं नये-नये पात्रों की उपज से है। कल्पना प्रतिभा-प्रसूत है, ईश्वर दत्त है, आयास सिद्ध नहीं[1]। द्विवेदीजी ने कल्पना का प्रयोग बहुत कुछ प्रतिभा के अर्थों में ही किया है। कवि हाफिज की द्विवेदी जी ने उसकी उद्दंड एवं आतंककारी कल्पना के लिये बड़ी प्रशंसा की है[2]।

कल्पना के ही समान चरित्र-चित्रण की भी द्विवेदीजी ने यथा-प्रसङ्ग चर्चा की है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में शृङ्गार रस के अन्तर्गत नायकों की चर्चा करते समय पात्रों के गुणादि का उल्लेख हुआ है। पर वह अतिशय शास्त्रीय और रूढ़ हो गया था। जीवन की स्वाभाविकता से उसका सम्बन्ध नहीं था। इसलिये द्विवेदीजी ने पात्रों की चर्चा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के माध्यम से उठाई है। द्विवेदीजी ने कालिदास और शेक्सपियर दोनों की मानव-चरित्र से तलस्पर्शी ज्ञान के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की है[3]। द्विवेदी जी चरित्र की स्वाभाविकता की रक्षा चाहते हैं, उस पर किसी विज्ञान या व्यक्ति को हावी नहीं देखना चाहते[4]। वे चरित्र चित्रित करते समय पात्र के सम्पूर्ण परिवेश, पात्र के संस्कार, उसकी तत्कालीन अवस्था उसके आसपास की व्यवस्था या उसकी सम्पूर्ण देश-काल सम्बन्धी परिस्थितियों पर दृष्टि रखना आवश्यक मानते हैं[5]।

काव्य--विषय

द्विवेदी जी ने काव्य-विषयों के सम्बन्ध में बड़े महत्वपूर्ण निर्देश दिए हैं। इनसे भी द्विवेदी जी की मौलिकता, उनके वास्तविक आचार्यत्व का प्रमाण मिलता है। द्विवेदीजी का मत था कि काव्य में मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले विषयों का चित्रण किया जाता है। ये विषय उसकी आत्मा और आध्यामिकता पर गहरा प्रभाव डालते हैं[6]।

---

१ रसज्ञ-रंजन पृष्ठ ५२

२ सरस्वती (१९०४ मार्च)-फारसी कवि हाफिज़ पृष्ठ ७९

३ "जिसका जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही चित्र उन्होंने उतारा है। जिस कार्य का परिणाम जैसा होना चाहिए उसका वैसा ही निर्देशन उन्होंने किया है। प्रेमियों की जो दशा होती है, उनके हृदय में जिन विकारों का प्रादुर्भाव होता है, वे अपने प्रेमपात्र को जिस दृष्टि से देखते हैं—कलिदास और शेक्सपियर के नाटकों में—इन बातों का सजीव चित्र देखने को मिलता है।"
कालिदास और उनकी कविता पृष्ठ १०१

४ संचयन पृष्ठ १४३

५ —वही— " १४४

६ विचार-विमर्श पृष्ठ १

काव्य के विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होने चाहिए[1]। वे पुराने न हों, उनमें पर्याप्त नवीनता हो। द्विवेदीजी ने नखशिख, अलङ्कार–शास्त्र, नायिका–भेद आदि पर ग्रन्थ–रचना करने वालों को बहुत फटकारा है[2]। विराट विश्व में छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी अनेक वस्तुएँ हैं। इन सब पर कविता की जा सकती है। द्विवेदीजी ने नए विषयों पर कविता करने के लिए कवियों को प्रोत्साहित किया। उन्होंने लिखा—"यमुना के किनारे केलि–कौतूहल का अद्‌भुत–अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका है। न पर-कीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है[3]।" द्विवेदीजी यह भी मानते हैं कि व्यक्ति के अनुरूप विषय भी चुने जाने चाहिए[4]।

कलादि

द्विवेदीजी पश्चिम के कला–विभाजन से परिचित थे। भारतीय साहित्य–शास्त्र में कविता कला नहीं मानी गई। पश्चिम में काव्य को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काव्य की कलाओं में गणना अब यहाँ पर भी पश्चिमी प्रभाव के कारण की जाने लगी है। कलायें दो प्रकार की मानी गई हैं—ललित और उपयोगी। कविता, संगीत, चित्रकला और मूर्ति–निर्माण विद्या की गणना द्विवेदीजी ने ललित कलाओं में की है[5]। कविता और चित्र–कला दोनों में ही प्रकृति के प्रसार और मानवी हृदय के विकास का प्रदर्शन किया जाता है। कविता श्रोतृगम्य है, उसका अनुभव कान के द्वारा होता है और चित्रकला चक्षुरिन्द्रियगम्य है, उसका आनन्दानुभव आँख के द्वारा होता है—यही दोनों में अन्तर है। द्विवेदीजी की दृष्टि में इन दोनों में बड़ा साम्य या साधर्म्य है। दोनों में कौन उच्च कोटि की कला है यह कहना कठिन है[6]।

द्विवेदीजी के समय में हिन्दी क्षेत्र में अनूदित या मौलिक नए साहित्य-प्रकार

---

१ रसज्ञ–रंजन पृष्ठ २३
२ —वही— " ४८
३ सरस्वती (१९०१ जुलाई) कवि–कर्तव्य
४ सरस्वती (१९११) पृष्ठ ४७२–४७३
५ समालोचना–समुच्चय भारतीय चित्रकला : पृष्ठ २५
६ —वही— —वही— " २५, २६

दिखलाई पड़ने लगे थे। उपन्यास, कहानी आदि बङ्गला और अंग्रेजी के माध्यम से हिन्दी के क्षेत्र में प्रवेश पा चुके थे। इसलिए समीक्षकों को उनपर भी विचार करने का अवसर मिलने लगा। भारतीय साहित्य-क्षेत्र के लिए ये एक प्रकार से नई और अपरिचित वस्तुएँ थीं। काव्य और नाटक पर तो हमारे यहाँ पर्याप्त प्रौढ़ चिन्तन हो चुका था। पर उपन्यास और कहानी के समीक्षा-क्षेत्र सूने पड़े थे। लक्ष्य ग्रन्थों के उपरान्त लक्षण ग्रन्थ बना करते हैं। इस क्षेत्र में यह नियम चरितार्थ हुआ है। उपन्यास और कहानियों की रचना के उपरान्त ही आचार्यों ने उनपर विचार किया है। द्विवेदीजी ने पुस्तक-परिचय के स्तम्भों में ही अधिकतर इनकी चर्चा की है। अतएव इनमें किसी प्रौढ़ विवेचन और व्यवस्थित सिद्धान्त-निरूपण के दर्शन नहीं होते। बीज रूप में ही समीक्षा तत्व यहाँ देखे जा सकते हैं। इनमें कतिपय भारतीय और कतिपय यूरोपीय तत्वों का समावेश है। उपन्यासों का परिचय देते समय द्विवेदीजी की रचना-कौशल, पात्र, क्रिया की स्वाभाविकता और रस पर रही है[1]। कहानी पर विचार करते समय उनकी दृष्टि विषय, उसकी रोचकता, कथा की गति, और उसमें औत्सुक्य पर रही है[2]। इन सबके ऊपर द्विवेदीजी की नैतिक दृष्टि थी, वही सबका संचालन करती थी। वे उपन्यासों में भी ऐसे चित्र चाहते थे जिनसे दुराचार की वृद्धि न होकर सदाचार की वृद्धि हो। उपन्यासों के कथानक को भी द्विवेदी अकृत्रिम, स्वाभाविक देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि स्वाभाविकता ही प्रभाव डाल सकती है[3]।

समीक्षा-दृष्टि

द्विवेदीजी की गणना शास्त्रीय आलोचकों में की गई है। उनकी समीक्षा-दृष्टि को शास्त्रीय बतलाया गया है। यह ठीक है कि द्विवेदीजी की समीक्षाओं में शास्त्रीय तत्व

---

१ "उनका (बंकिमचन्द्र) एक भी उपन्यास बुरा नहीं। क्यों फिर उनकी इतनी कदर है? इसीलिए कि उनका रचना-कौशल उत्तम है, उनका कथानक अच्छा है, उनके प्रत्येक पात्र का क्रिया-कलाप स्वाभाविक है, जहाँ जिस रस की अपेक्षा थी, वहां उसका परिचय हुआ है।"

साहित्य-सीकर पृष्ठ ९८

२ "इस पुस्तक का विषय एक कल्पित कहानी है। परन्तु इसकी कथा कुछ कम रोचक है। आख्यायिका के अङ्गों का उद्घाटन झट-झट होता गया है, इससे पढ़ने वालों के औत्सुक्य की वृद्धि नहीं होती।"

सरस्वती (१९०४ अगस्त) 'कनक सुन्दर' की समीक्षा

३ सरस्वती (१९११) पृष्ठ ४७१

प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। अपने समय की प्रचलित समीक्षा से द्विवेदीजी एकदम मुक्त नहीं हो सके। शास्त्र के आधार पर गुण-दोष दिग्दर्शित करने की उस समय हवा बह रही थी। वह हवा हिन्दी में बहुत दिनों तक बहती रही। द्विवेदीजी ने अपनी अनेक आलोचनाओं में इसी गुण-दोष-दर्शन की समीक्षा का परिचय दिया है। 'कालिदास की निरंकुशता' में प्राचीन आचार्यों द्वारा दिग्दर्शित दोषों का ही संकलन है 'नवरत्न' की समीक्षा भी बहुत कुछ इसी आधार पर की गई है। ऐसी शास्त्रीय समीक्षाओं में द्विवेदीजी का ध्यान भी रस, अलंकार, गुण, दोष आदि पर गया है। भाषा तत्व पर विचार करते समय द्विवेदीजी ने व्याकरण-शास्त्र का आधार लिया है। द्विवेदीजी की अधिकांश आलोचनाएं भाषा-सम्बन्धी ही हैं। इनमें द्विवेदीजी कर्ता, कर्म, क्रिया, लिंग, बचन, मुहावरे, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि पर विचार करते रहे हैं[१]। व्याकरण के आधार पर द्विवेद्वीजी ने जितनी समीक्षाएं की हैं—और ऐसी समीक्षाएं द्विवेदीजी ने अधिक की हैं—वे सब शास्त्रीय समीक्षा के अन्तर्गत आवेंगी। इस दृष्टि से द्विवेदीजी की समीक्षाओं में शास्त्रीय तत्व विद्यमान हैं और वे शास्त्रीय दृष्टि वाले समीक्षक कहे भी जा सकते है। परन्तु मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा या लाला भगवानदीन जैसी दृष्टि द्विवेदीजी की नहीं थी। द्विवेदीजी की दृष्टि पर्याप्त नवीन अत्यधिक प्रगतिशील थी।

रूढ़ शास्त्रीयता का द्विवेदीजी ने अनेक बार घोर विरोध किया है[२]। द्विवेदीजी को शास्त्र की चिन्ता बिल्कुल नहीं है। द्विवेदीजी का निश्चित मत है कि लक्षण-ग्रन्थ लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही बना करते हैं। अतएव शास्त्रीय नियमों के उल्लंघन को वे बहुत महत्व नहीं देते। वह साहित्यि के सहज स्वरूप के ही पक्षपाती हैं, शास्त्रीय स्वरूप के नहीं[३]। छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि तो उनके अनुसार गौण बाते हैं। इन्हीं पर जोर देना अविवेक प्रदर्शन है[४]। यह पण्डिताई है। 'काव्य-रसायनम्' नामक एक पुस्तक का परिचय देते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है—'पण्डितजी के विद्वत्व और अलंकार-ज्ञान की हम प्रशंसा करते हैं, परन्तु 'काव्य-रसायनम्' के समान ग्रंथ से हम नहीं कह सकते, लोगों का कितना उपकार होगा। इस विषय के इस समय जितने पुराने ग्रंथ हैं, उतने ही हमारी समझ में

---

१ 'विज्ञान-पाठ में साद्यन्त मनमाना व्याकरण, मनमाना महाविरा और मनमानी लेख-प्रणाली है। कर्ता है तो कर्म नहीं, कर्म है तो कर्ता नहीं। वाक्य रचना का कोई नियम ही नहीं।'
सरस्वती—१९०३—सितम्बर

२ 'ठीक इसके विपरीत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीति-परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती होकर आए।'
आधुनिक साहित्य पृष्ठ २९४

३ संचयन पृष्ठ १३४

४ विचार-विमर्श पृष्ठ ४५

काफी समझने चाहिए थे। नए ग्रंथ की बिल्कुल आवश्यकता न थी। यदि पण्डितजी इतना श्रम किसी नवीन कविता अथवा और किसी विषय का ग्रन्थ लिखने में करते तो उससे विशेष लाभ होने की संभावना थी[१]।' आशय यह कि प्राचीन अलंकार-शास्त्र के ढर्रे की पुस्तकें द्विवेदीजी अनावश्यक समझते थे। उस समय उन्हें उसकी कोई उपयोगिता नहीं दिखाई पड़ रही थी वे उसे पर्याप्त नहीं समझते थे। इसलिए अनेक नवीन तत्वों की उद्-भावना और संकलन की ओर वे उन्मुख हुए हैं। द्विवेदीजी की समीक्षाओं में आगामी समीक्षा-सिद्धान्तों के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। जहां एक ओर उनकी समीक्षा में साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का विशेष आग्रह हैं, वहाँ दूसरी ओर वे कवि के साथ समीक्षक के तादात्म्य की भी चर्चा करते हैं। स्वच्छंदतावादी समीक्षाओं में यह दृष्टि विशेष रूप से मिलेगी। इतना ही नहीं द्विवेदीजी ने अनेक स्थलों पर ऐसे निबन्ध उद्धृत किए हैं जिनमें कृति के द्वारा कृतिकार का विश्लेषण करने का प्रयास निहित है। कवि के काव्य-विकास पर भी द्विवेदीजी की दृष्टि गई हैं। यह सत्य है कि ये सब बाते द्विवेदीजी में बीज–रूप में ही हैं। इनका विकास द्विवेदीजी की समीक्षाओं में नहीं हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में ही द्विवेदीजी की मान्यताओं का पूर्ण परिपाक मिलता है। इसीलिए शुक्लजी को द्विवेदी–युग की चरमपरिणति या परिपक्व फल की संज्ञा दी गई है[२]। फिर भी इनसे, इनके निर्देशों से द्विवेदीजी के युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व का अवश्य परिचय मिलता है।

समीक्षा करते समय द्विवेदीजी कवि के हृदय की अवस्था, उसका आशय एवं उसकी परिस्थितियों को हृदयंगम किए बिना उसकी समीक्षा नहीं की जा सकती[३]। द्विवेदीजी ने कवि और समीक्षक के तादात्म्य की अनेक बार चर्चा की है। इतना ही नहीं तादात्म्य के अतिरिक्त भी कवि की दृष्टि से भीं उसकी रचना की परीक्षा करने की चर्चा करते हैं। वे कवि के उद्देश्य को समीक्षा का केन्द्र-विन्दु बतलाते हैं[४]। द्विवेदीजी की यह मान्यता एकदम शास्त्रीय समीक्षा के विरुद्ध पड़ती है। शास्त्रीय समीक्षा में शास्त्र पर दृष्टि रखी

---

१ सरस्वती (१९०४ मार्च) पृष्ठ १०३

२ नया साहित्य : नए प्रश्न

३ 'किसी वस्तु या विषय के सब अंगों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना हैं। वह तब तक सम्भव नहीं जब तक कवि और समालोचक के हृदयों में कुछ देर के लिए एकता न स्थापित हो जाय।'

कालिदास और उनकी कविता पृ० ११३

४ 'लेखक ने अपने लेख पर अपनी पुस्तक को जिस उद्देश्य से लिखा है, वह यदि सिद्ध होता है तो समझना चाहिए कि उसने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया। केवल अवान्तर बातों की समालोचना करना और बाल की खाल निकालना समालोचना नहीं कही जा सकती।' विचार-विमर्श पृष्ठ ४५

जाती है और उक्त मान्यता के अनुसार कवि के मंतव्य पर या कवि पर। यह दृष्टि वस्तुतः नई ही थी और द्विवेदीजी को पश्चिम के समृद्ध समीक्षा साहित्य से मिली थी। हिन्दी के परवर्ती समीक्षा-क्षेत्र में इसी दृष्टि का विकास हुआ है। समस्त छायावादी साहित्य की परीक्षा का यह मान-दंड बनी है। अतएव स्वच्छंदतावादी समीक्षा के बीज द्विवेदीजी की समीक्षाओं में ही दिखलाई पड़ने लगे थे। द्विवेदीजी ने विशुद्ध शास्त्रीय और विशुद्ध वैज्ञानिक समीक्षाओं का विरोध किया है, उन्हें भ्रान्त पद्धतियां घोषित किया है[१]।

द्विवेदीजी की समीक्षाओं में सामाजिक पृष्ठभूमि के दर्शन भी होने लगे थे। कवि की समालोचना करते समय वे देखते हैं कि, 'कविता किस समय की है, उस समय देश की क्या दशा थी, तत्कालीन लोगों के आचार-विचार और व्यवहार कैसे थे[२]।' बिना इन बातों को जाने समालोच्य विषय के साथ अन्याय होने का डर रहता है। उन्होंने अपनी समालोचनाओं में देश-काल का ध्यान सदैव रखा है। 'हिन्दी-नवरत्न' में बनाए गए चित्रों पर उन्होंने आपत्ति की है कि उनमें कवियों की वेश-भूषा आधुनिक अधिक है। इतना ही नहीं बिहारी के चित्र को वे पात्र की महनीयता के विरुद्ध बतलाते हैं[३]। कालिदास की वैवाहिक कविता' में उन्होंने कालिदास के समय की सामाजिक रीति-नीतियों का उल्लेख किया है[४]। श्री अरविन्द घोष के एक लेख के आधार पर द्विवेदीजी ने 'कालिदास के समय का भारत' शीर्षक निबन्ध लिखा था। इसमें कालिदास की कविता के आधार पर तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत किया गया है। यह काव्य की सामाजिक व्याख्या थी, वह एक विकासमान परम्परा के रूप में—बाल्मीकि, व्यास से लेकर कालिदास तक। द्विवेदीजी समीक्षा की इस सामाजिक दृष्टि से पूर्णतः परिचित थे, इस बात के उन्होंने पर्याप्त प्रमाण दिये हैं।

नीति और उपयोगिता द्विवेदीजी की समीक्षाओं से प्रधान तत्व थे। वस्तुतः द्विवेदीजी का जीवन-दर्शन ही नैतिक आदर्शों पर आधारित था। काव्य में भी वे इन्हीं की प्रतिष्ठा चाहते थे। नैतिक आदर्शों से रंचमात्र भी स्खलन द्विवेदीजी को असह्य था। पाशविक विकारों की उत्तेजना करने वाली अश्लील तथा अनैतिक साहित्य-रचयिताओं को वे समाज का शत्रु एवं दंड्य मानते थे।[५] साहित्य का उद्देश्य ही उन्होंने सदाचार की

---

१ 'मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रान्त नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को माप-दण्ड समझकर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रान्ति-रहित नहीं हो सकता।' संचयन पृष्ठ १४३

२ कालिदास और उनकी कविता पृ० ११३

३ समालोचना-समुच्चय पृ० १६३

४ सरस्वती (जून १९०५) पृ० २२४-२२७

५ संचयन " १४७

वृद्धि मान लिया था[1]। नायिका भेद पर लिखी गई पुस्तकों का उन्होंने कड़ा विरोध किया है। वे ऐसी पुस्तकों का प्रणयन वितरण सब बन्द कर देना चाहते थे[2]। मिश्र बन्धुओं के नवरत्न की समालोचना करते समय द्विवेदीजी ने अपनी इस नैतिक दृष्टि का मार्मिक परिचय दिया है। वे लिखते हैं—'जिन सूर और तुलसी के ग्रन्थों की पूजा झोपड़ियों से लेकर राजप्रासादों तक में होती है, जिनके कविता-कुसुमों को, छोटे से लेकर बड़े तक, सादर अपने सिर पर धारण करते हैं, जिनकी उच्च भाव-पूर्ण उक्तियां पापियों को पुण्यात्मा और अधर्मियों को धार्मिक बनाने की सामर्थ्य रखती है, जिनके सदुपदेश और सरस पद्य सुनकर दुराचारी भी सदाचारी हो जाते हैं और पाषाण-हृदयों के भी हृदय पिघल जाते हैं, उन्हीं से देव कवि को रत्ती भर भी कम न समझना कदापि युक्ति-संगत नहीं माना जा सकता। जिसने उच्च भावों का उद्बोधन नहीं किया, जिसने समाज, देश या धर्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुंचाया, जिसने मानव-चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने काव्यों को अलंकृत नहीं किया—वह भी यदि महाकवि या कविरत्न माना जा सकेगा तो प्रत्येक देश क्या प्रत्येक प्रान्त में भी सैकड़ों महाकवि और कविरत्न निकल आवेंगे[3]।' द्विवेदीजी ने जीवन में नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि स्थान दिया है। उपर्युक्त उदाहरण में इसी का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास के समकक्ष देव जैसे शृंगारी कवि की प्रतिष्ठा में द्विवेदीजी के जीवन के इन्हीं महार्घ मूल्यों की अवमानना दिखलाई पड़ी। अतएव विक्षुब्ध होकर उन्होंने नवरत्न की कड़ी आलोचना की है।

उपयोगिता पर भी द्विवेदीजी की दृष्टि सदा लगी रही[4]। पुराने विषय, शास्त्र सब उन्हें अनुपयोगी लगने लगे थे। अतएव वे नवीन साहित्यिक-विषयों, नवीन समीक्षा प्रतिमानों की ओर उन्मुख हुए। यही कारण है कि द्विवेदीजी की समीक्षा में अत्यधिक नवीनता एवं प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं। प्रगतिशील उसी अर्थ में है कि उन्होंने प्राचीन प्रतिमानों के स्थान पर नए-नए साहित्य-प्रतिमानों का हिन्दी-जगत को परिचय कराया। द्विवेदीजी की प्रगतिशीलता और प्रगतिवादियों की प्रगतिशीलता में पर्याप्त अन्तर है। यह दूसरे प्रकार की प्रगतिशीलता तो द्विवेदीजी के समय तक भारत-भूमि पर आई ही नहीं थी। द्विवेदीजी की प्रगतिशीलता भारतीय परम्परा के अनुकूल, स्वस्थ एवं पूर्णतः स्वदेशी थी। द्विवेदीजी किसी भी ग्रन्थ पर विचार करते समय अनेक बातें देखते हैं जैसे—'किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी

१ 'उपन्यासों में समाज के ऐसे चित्र होने चाहिए जिनसे दुराचार की वृद्धि न होकर सदाचार की वृद्धि हो।' सरस्वती (१९११) पृष्ठ ४७१

२ रसज्ञ-रंजन " ७४

३ समालोचना-समुच्चय—हिन्दी नवरत्न पृष्ठ २०८

४ उनके साहित्य-विवेक के साथ सामयिक उपयोगिता की भावना भी लगी रहती थी। नया साहित्य : नए प्रश्न पृष्ठ ६४

का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुंच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं यदि नहीं तो उसने पुरानी बात को ही नए ढङ्ग से लिखा है या नहीं — यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानत: इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए [१]।' द्विवेदीजी ने अपनी इसी दृष्टि के कारण सारे पुराने बिषयों को अस्वीकृत कर दिया था। समाज और देश के लिए लाभ प्रद प्रत्येक वस्तु उनके लिए अभिनन्दनीय थी, इसके विरुद्ध अनुपयोगी, अहितकर प्रत्येक वस्तु निंद्य। निश्चय ही द्विवेदीजी की यह दृष्टि अत्यधिक व्यावहारिक थी। उसमें उपयोगिता, सामयिकता, नवीनतादि के अनेक तत्व समाहित थे। समीक्षा करते समय द्विवेदीजी का ध्यान कवि की जीवनी, काव्य–विषय, उसकी प्रधानता या गौणता, उसमें काव्यत्व, कवियों के समय की काव्य–परिपाटियां, प्रकृति वर्णन आदि विषयों पर जाता है। इतना ही नहीं पात्रों के माध्यम से वे कवि के अन्तस का विश्लेषण भी करने लगते हैं। इसी का विकास मनोवैज्ञानिक समीक्षा के रूप में देखा जा सकता हैं [१]। द्विवेदीजी साहित्य को समग्र रूप में देखने वाली ऐतिहासिक दृष्टि से भी परिचित थे। इसका परिचय हमें उनके हिन्दी की वर्तमान अवस्था शीर्षक लेख में मिलता है [२]।

द्विवेदीजी के समय में लेखकों का एक ऐसा प्रबुद्ध वर्ग था जिसमें राष्ट्रीय चेतना बड़ी प्रबल थी [३]। वस्तुत: यही चेतना प्रज्वलित होकर राष्ट्र-जीवन के विविध क्षेत्रों—राजनीति, समाज, साहित्यादि—को आलोकित कर रही थी। श्री रामावतार शर्मा, श्री बालमुकुन्द गुप्त आदि लेखकों में इनके स्पष्ट दर्शन होते हैं। द्विवेदीजी में भी यह चेतना बड़ी प्रबल थी। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र-सेवा के लिए यह तपस्वी अपने लिये साहित्य का क्षेत्र चुनकर जम गया था, राजनीति को उसने दूसरों के लिये छोड़ रखा था। समस्त साहित्यिक गतिविधियों के ऊपरी आवरण के भीतर जो भावना चल रही थी, वह वस्तुत: राष्ट्र-प्रेम की ही थी। द्विवेदीजी ने साहित्य पर केवल साहित्यिक दृष्टि से ही विचार नहीं किया है। साहित्य को विशाल राष्ट्र की एक महत्वपूर्ण इकाई मानकर और उसकी उन्नति के द्वारा राष्ट्रोन्नति के पुनीत उद्देश्य से ये लोग प्रेरित थे। समीक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावना पर दृष्टि का क्रमश: विकास होता गया है। 'महाभारत की भूमिक' में द्विवेदीजी ने लिखा है–'यह बड़े परिताप की बात है कि जिस ग्रन्थ में हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों की दिगंत-व्यापिनी कीर्ति का कीर्तन हो, जिस ग्रन्थ में हमारे धीर, वीर, पराक्रमी और तेजस्वी पुरुषों का चरित्र हो, जिस ग्रंथ में हमारे पुराने कला-कौशल ऐश्वर्य, प्रभुत्व

---

१ विचार–विमर्श पृष्ठ ४५
२ समालोचना–समुच्चय — भक्ति काव्य
३ सरस्वती (संख्या १० — सन् १९११)
४ 'द्विवेदी–युग के समीक्षा-विकास में प्रमुख प्रवृत्तियां राष्ट्रीय और सुधारवादी हैं।'
नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ ३७

और एकाधिपत्य का इतिहास हो उससे पाठ से वंचित रहना हम लोगों के लिये बहुत बड़े कलंक की बात है [१]।' मिश्र बन्धुओं के 'नवरत्न' पर विचार करते समय उन्होंने कहा है कि जिस कवि ने समाज, देश या धर्म को अपनी कविता से लाभान्वित नहीं किया, वह श्रेष्ठ कवि हो ही नहीं सकता [२]।

द्विवेदीजी की समीक्षा बहुत अंशों में शास्त्रीय आधार पर चली है परन्तु द्विवेदीजी में नवीनता भी पर्याप्त मात्रा में हैं। उन्होंने शास्त्रीयता की अधिक चिन्ता नहीं की, उल्टे उसके दुराग्रह का विरोध किया है। उनकी समीक्षाओं में सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं स्वच्छन्दतावादी समीक्षाओं के बीज विद्यमान हैं। द्विवेदीजी की सामाजिक दृष्टि पर्याप्त पुष्ट भी है : द्विवेदीजी में राष्ट्रीय दृष्टि का अभी ऊपर उल्लेख हुआ है। पर यह अन्तःसलिला सरस्वती के समान प्रच्छन्न रूप में ही देखी जा सकती है। उसकी अनुभूति अधिक होती है। इन सबके ऊपर द्विवेदीजी की नैतिक दृष्टि है। यह उनका जीवन-दर्शन ही प्रतीत होता है। इसी को हम उनका आदर्श कह सकते हैं। व्यावहारिक धरातल पर द्विवेदीजी को उपयोगिता, सामाजिकता तथा नवीनता की सतत चिन्ता रही है। इन्हीं सबके समन्वित रूप को हम द्विवेदीजी के समीक्षा-सिद्धान्त या समीक्षादर्श की संज्ञा दे सकते हैं।

द्विवेदीजी के सम्बन्ध में कतिपय सम्मतियों पर यहां विचार किया जा सकता है। कहा गया है कि द्विवेदीजी की काव्य-विषयक धारणा न शुद्ध आदर्शात्मक थी और न कट्टर यथार्थवादी [३]। यह ठीक है कि द्विवेदीजी ने कट्टर यथार्थवाद का कभी समर्थन नहीं किया। कतिपय स्थलों पर जीवन के यथार्थ चित्रों की प्रशंसा की है परन्तु ये वे तभी तक कर सके हैं जब तक जीवन की यह यथार्थ आदर्श की पुष्टि करता है। आचार्य द्विवेदीजी निश्चय ही कट्टर यथार्थवादी नहीं हैं, परन्तु, उन्हें कट्टर आदर्शवादी अवश्य कहा जा सकता है। जीवन के नैतिक मूल्यों का रंचमात्र भी स्खलन उन्हें सह्य नहीं था। उनकी यह दृष्टि सर्वत्र सम रही है। उसमें कहीं भी परिवर्तन नहीं हुआ है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि उनके काव्यादर्शों में परिवर्तन हुआ है [४], न्यायसंगत नहीं होगा। द्विवेदीजी सदैव आदर्शवादी समीक्षक रहे हैं, यद्यपि उनके आदर्श में व्यावहारिकता का भी सघन योग है। द्विवेदीजी ने

---

१ सरस्वती (१९०८ दिसम्बर) --महाभक्ति की भूमिका

२ समालोचना–समुच्चय --हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ २८

३ 'उपर्युक्त अध्ययन द्वारा हम सहज ही इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि द्विवेदीजी की काव्य-विषयक धारणा न शुद्ध आदर्शात्मक थी और न कट्टर यथार्थवादी।' हिन्दी काव्य–शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २४५

४ 'द्विवेदीजी के साथ काव्यादर्शों में परिवर्तन के दर्शन होते हैं।'
हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ २४५

काव्य के वर्ण्य-विषय के साथ कवि-व्यक्तित्व के तादात्म्य की चर्चा की है। इस पर यह आशंका उठाई गई है कि ऐसा तादात्म्य काव्य को वैयक्तिक सुख-दुख, राग-द्वेषादि का वाहक बना देगा [१]। परन्तु, कवि-व्यक्तित्व दो प्रकार का माना जा सकता है—एक विशेष और दूसरा सामान्य। जहां तक काव्य के वर्ण्य-विषय के साथ कवि-व्यक्तित्व के तादात्म्य का प्रश्न है, वहां द्विवेदीजी का मंतव्य कवि के सामान्य व्यक्तित्व से ही दिखलाई पड़ता है। काव्य-सृजन के क्षणों में कवि अपने व्यक्तिगत धरातल से ऊपर उठकर एक सामान्य भूमिका पर आ जाता है, जहां उसके सुख-दुःख, राग-द्वेष सबके बन जाते हैं। तब काव्य के वैयक्तिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कहा गया है कि द्विवेदीजी ने जोश में आकर साधारण व्यवहार और काव्य की भाषा के अन्तर को ही मिटा देने का प्रयास किया है। वे काव्य के लिए भी जन-साधारण की बोलचाल की भाषा के समर्थक बन जाते हैं [२]। यदि द्विवेदीजी की भाषा-सम्बन्धी समस्त सम्मतियों को एक साथ रखकर विचार किया जाय तो यह आरोप निराधार लगता है। द्विवेदीजी के भाषा-तत्व पर विचार करते समय ये बातें बतलाई जा चुकी हैं। द्विवेदीजी काव्य की भाषा में बिम्ब-ग्रहण की शक्ति आवश्यक मानते हैं। काव्य के लिये वे शिष्टों की बोलचाल की भाषा को महत्व देते हैं, निरक्षर भट्टाचार्यों की भाषा को ही नहीं। जहां पर द्विवेदीजी ने सरल बोलचाल की भाषा का समर्थन किया है वहां वे क्लिष्टता का ही विरोध करते हैं और उसके सहज सुबोध स्वरूप की प्रतिष्ठा चाहते हैं। द्विवेदीजी ने स्वयं काव्य की भाषा और बोलचाल की भाषा में अन्तर माना है। भाषा के प्रकरण में ये बातें कही जा चुकी हैं। द्विवेदीजी पर एक आरोप यह भी है कि वे समय और साहित्य-काल और कवि — के सम्बन्ध को नहीं मानते। 'अकबर के राजत्व काल में हिन्दी' नामक लेख में द्विवेदीजी ने सूर और तुलसी के अवतरण को आकस्मिक घटना माना है, समय की उत्पत्ति नहीं [३]। यहाँ पर इतना ही निवेदन है कि द्विवेदीजी सूर और तुलसी जैसी प्रतिभाओं को अकबर या और किसी के राज्य-काल की उत्पत्ति नहीं मानते। कवि और समय के सम्बन्ध को द्विवेदीजी ने अनेक बार स्वीकार किया है। परिस्थितियों के अनुसार साहित्य में परिवर्तन हुआ करते हैं, साहित्य समय का अनुसरण करता है। ये सब बातें द्विवेदीजी को भली भांति विदित थीं।

आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी समीक्षा के आरम्भ में ही जो कार्य किया वह कम मूल्यवान नहीं। अपनी ओर से द्विवेदीजी ने कम कहा है, अपनी बातों को

---

१ हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास—डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ,, २६५

२ —वही— —वही— ,, २६५

३ —वही— —वही— ,, २७३

दूसरों के माध्यम से व्यक्त किया। अतएव आचार्य श्री में विद्वानों को मौलिकता का अभाव खटका है। फिर भी द्विवेदीजी ने साहित्य के मार्ग–प्रदर्शन का जो कार्य किया है उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की गई है। आचार्य नन्द दुलारे जी वाजपेयी के शब्दों में––'वह कला धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करती है, परन्तु जो कला उदात्त और प्रशस्त न होती हुई भी समय और समाज के अन्धकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करती है, वह भी अपना अलग महत्व रखती है। द्विवेदी जी का ऐसा ही साहित्यिक आदर्श था [१]।'

---

१ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १२

३

नवरीतिवादी समीक्षक

'इनके एक-एक छन्द में अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं और मानुषीय प्रकृति के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट है।'

(हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ २३५)

मिश्र-बन्धु

मिश्र-बन्धु रीतिवादी या परम्परावादी समीक्षक कहे गये है[१]। उनकी दृष्टि प्राचीन साहित्य-शास्त्र पर लगी हुई थी। फिर भी वे पर्याप्त नवीनता का परिचय देते हैं। पाश्चात्य साहित्य और पूर्ववर्ती हिन्दी के अंग्रेज समीक्षकों ने इनकी समीक्षा-दृष्टि में कतिपय नये तत्व भी जोड़ दिये हैं। परन्तु अंग्रेज समीक्षकों जैसी जीवन-पक्ष का आग्रह लेकर चलने वाली स्थिर तथा कलापूर्ण समीक्षा-दृष्टि का इनके पास अभाव था। अतएव इनका साहित्य-विवेचन बहुत कुछ असंतुलित और स्थूल कोटि का बन गया है।

मिश्र बन्धु पश्चिम के नवीन साहित्यिक प्रतिमानों से परिचित थे और इन नवीन प्रतिमानों का वे अपनी समीक्षाओं में प्रयोग भी करना चाहते थे[२]। वे काव्य में कवि का सन्देश और उसकी अभिव्यक्ति दोनों को देखने की प्रतिज्ञा करते हैं। परन्तु यह हुआ नहीं। अपने इस नव-प्रतिमान का वे साद्यन्त प्रयोग नहीं कर सके। कबीर, सूर और

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न--श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ३४

२ 'अंग्रेजी या वर्तमान विचारों से कवियों की जांच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं--कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है? इन प्रश्नों का प्रयोग हिन्दी नवरत्न के कवियों पर करने से वे कैसे उतरते हैं, सो यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है।'

'हिन्दी नवरत्न'--वि० सं० भूमिका, पृ० ८

तुलसी में मिश्र बन्धु तुलसी को प्रथम स्थान देते हैं, क्योंकि तुलसीदास में संदेश और साहित्य दोनों का समन्वय हो गया है। कबीर में संदेश प्रबल है और सूर में साहित्य। कहना न होगा कि विवेचन की इसी भूमिका के दर्शन हमें पूर्ववर्ती अंग्रेज समीक्षकों में होते हैं और इसी का विकास आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में हुआ है। पर मिश्र बन्धु इस भूमिका पर स्थिर नहीं रह सके। यह मानते हुए भी कि देव और बिहारी शृङ्गारी कवि थे, उनके पास कोई मुख्य सन्देश नही था, वे देव को सूर और तुलसी से भी ऊँचा स्थान देना चाहते हैं। शृङ्गारी कवि देव और महात्मा तुलसीदास को एक साथ बैठाना वस्तुतः जीवन के नैतिक मूल्यों की अवमानना है। तुलसीदास जी का काव्य जिस उदात्त भूमिका पर आधारित है, उसी पर देव का काव्य कदापि नहीं कहा जा सकता। देव की अधिक हार्दिक प्रशंसा और शीर्ष स्थानीय प्रतिष्ठा की कामना मिश्र बन्धुओं की आलंकारिक दृष्टि के प्रमाण हैं। यह दृष्टि ऐसी है जो समय पड़ने पर काव्य शास्त्र के लिए जीवन के उच्चतम नैतिक मूल्यों की भी उपेक्षा कर सकती है। देव के काव्य में जीवन के गम्भीर सत्यों के स्थान पर वे काव्यांगों की खोज करते है। वे देखते हैं कि देव के काव्य में भाषा–सम्बन्धी काव्यांगों के साथ एक एक छन्द में अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस एवं मानुषीय प्रकृति का निरीक्षण आदि अनेक काव्य-शास्त्र की बातें एकत्र हो गई हैं [१]। देव में काव्य-शास्त्र की यह नियोजना ही मिश्र बन्धुओं को चमत्कृत कर देती है और इसी से उनकी समीक्षा-दृष्टि भ्रामक हो गई है।

वस्तुतः मिश्र बन्धु अनेक प्रभावों के बीच में पड़ गये हैं। एक ओर उनके सामने विस्तृत और प्रौढ़ काव्य-शास्त्र था। इसने अपनी समृद्धि के द्वारा इन समीक्षकों को बहुत कुछ अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। दूसरी ओर वे रसवादी समीक्षा से भी प्रभावित थे और तीसरे पश्चिम की नई मान्यतायें भी उन्हें अपनी ओर खींच रही थीं। इस खींचातानी में ये समीक्षक अपना संतुलन नहीं रख सके। उनके पास स्थिर साहित्यिक प्रतिमान का अभाव है। मिश्रबन्धु कभी शास्त्र का मानदण्ड अपनाते हैं, तो कभी काव्य के भाव-तत्व की महत्ता का प्रतिपादन करने लगते हैं और कभी वे पश्चिमी मान्यताओं का भी प्रयोग करते दिखलाई पड़ते हैं। दे इन सबका कोई व्यवस्थित और समन्वित रूप नहीं दे सके। फिर भी मिश्र-बन्धुओं का आग्रह शास्त्रीय विशेषताओं पर अधिक है। इसी कारण इन्हें शास्त्रानुयायी समीक्षक कहा गया है।

---

१ 'भाषा-सम्बन्धी काव्यांगों के साथ इन कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना में बड़ी ही प्रचुरता से रक्खे हैं। इनके एक-एक छन्द में अनेकानेक अलंकार, गुण लक्षणा व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं और मानुषीय प्रकृति के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट हैं।' 'हिन्दी नवरत्न' – पृ० २३५

मिश्र बन्धु काव्य में भाव-तत्व के महत्व को स्वीकार करते हैं। शब्दाडम्बर के फेर में पड़कर भाव का ध्यान न रखने वाले कवियों के लिये ये समीक्षक चिन्तित दिखलाई पड़ते हैं[१]। उनका मत है कि पद-मैत्री के लोभ में भाव नहीं बिगड़ना चाहिए[२]। भावों की मनोहरता और सच्चाई की ओर उनका ध्यान है[३]। देव की कविता की परीक्षा करते समय हृदय पर चोट करने वाले चित्त के सच्चे और सबल भावों की अधिकता उन्हें बहुत आकर्षित करती है[४]। वे स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि "साहित्य के गौरव के लिए भाषा पर उतना विचार नहीं हो सकता जितना कि भाव पर। साहित्य गौरव के निर्णय में भाषा का प्रभाव उतना अधिक नहीं है[५]।' तन्मयता की कमी के कारण मिश्र बन्धु केशव को स्वभाव-कवि नहीं मानते[६]।

मिश्र बन्धु कभी-कभी नैतिकता और औचित्य की चर्चा भी करते हैं। रीतिकालीन शृङ्गार में भक्ति का अभाव उन्हें खटका था[७]। गोस्वामी तुलसीदास जी ने साधारण नायक-नायिकाओं के घृणित प्रेम-वर्णन को छोड़कर ऊँचे दर्जे का प्रेम वर्णन किया है, इस बात की ये समीक्षक बड़ी प्रशंसा करते हैं[८]। रीतिकाल में उत्पन्न होकर नायक-नायिकाओं के संयोग-वियोग, नख-शिख का वर्णन न कर भूषण ने वीर-काव्य की रचना की। मिश्र बन्धुओं ने भूषण के इस कार्य की बड़ी सराहना की। (भूषण ग्रन्थावली (भूमिका) पृष्ठ ३) हम देखते हैं कि मिश्र बन्धु साहित्य के भावात्मक और नैतिक तत्वों को मूल्यवान मानते हैं। फिर भी उनकी दृष्टि में देव का रङ्ग सबसे अधिक चढ़ा हुआ है। देव में काव्य-शास्त्र के अनेक तत्वों को देखकर वे प्रसन्न हो गए हैं। देव की सबसे बड़ी विशेषतायें जिन्होंने इनका ध्यान अपनी ओर प्रबल वेग से आकर्षित किया है देव के एक-एक छन्द में अनेकानेक अलङ्कारों, भाषा का माधुर्य और प्रेम-वर्णन हैं। इन समीक्षकों की सम्मति में सूर और तुलसी भी इन गुणों को अपनी-अपनी कविताओं में सन्निविष्ट नहीं कर सके। वे देव के सामने नितान्त असमर्थ रहे हैं[९]। देव की प्रशंसा में मिश्र बन्धुओं ने एक छन्द की रचना भी की है जिसमें देव को अनुपम टकसाली छन्दों,

---

१ 'हिन्दी नवरत्न' : प्रथम संस्करण की भूमिका, पृष्ठ ३२
२ —वही— ,, ३७
३ 'हिन्दी नवरत्न' : पृष्ठ ३६-३७
४ 'हिन्दी नवरत्न' ,, २३७
५ —वही— ,, २६०
६ —वही— ,, ४१३
७ —वही— (भूमिका) पृष्ठ ३२
८ —वही— ,, ३३
९ —वही— ,, २४४

भाषा की सर्वोच्च निराली छटा देश-देशान्तरों की तरुणियों एवं काव्य के दस अङ्गों के वर्णन के कारण भाषा का राजा कहा गया है[१]। वस्तुत: मिश्र बन्धुओं के अलङ्कारों, ध्वनि के चमत्कारों, अच्छे-अच्छे छन्दों और भाषा के माधुर्य में भटकती रही[२]। वे काव्य के अन्तस्तल तक नहीं देख सके। काव्य की बाहरी साज-सज्जा ही उनके लिए बहुत कुछ थी। मिश्र बन्धुओं की यही वास्तविक समीक्षा-दृष्टि है, जो उनकी अपनी कही जा सकती है। इसमें एक ओर अनेकानेक काव्यांग हैं और दूसरी ओर काव्य का चमत्कार है। परन्तु ऊपर अभी काव्य के भावात्मक और नैतिक तत्वों का भी उल्लेख हुआ है। ये तत्व मिश्र बन्धुओं को अपने पूर्ववर्ती अंग्रेज समीक्षकों से उपलब्ध हुए होंगे। भावना के महत्व प्रतिपादन में रस-सिद्धान्त का भी हाथ माना जा सकता है। परन्तु मिश्र बन्धुओं ने रस की भी शास्त्रीयता पर ध्यान रखा है। अपनी समीक्षाओं में रस शब्द का वे इधर उधर प्रयोग कर देते हैं। यह प्रयोग बहुत कुछ रूढ़ है। इसमें रस-सिद्धान्त की गहराइयों का अभाव है। रस और भाव का ये चमत्कारिक आनन्द के लिए भी प्रयोग कर देते है[३]। भावना और नीति के तत्व मिश्र बन्धुओं के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। काव्य में चमत्कार की ही उन्हें चिन्ता है। रीतिकालीन कवि देव में उन्हें सभी प्रकार का चमत्कार मिल जाता है अतएव वे उसी को सर्वश्रेष्ठ स्थान देना चाहते हैं।

इसी आन्तरिक या चमत्कार प्रिय दृष्टि के कारण मिश्र बन्धु भाषा में श्रुति-माधुर्य को बड़ा महत्व देते हैं। पद-मैत्री से भाषा सुष्ठु होती है, उसमें श्रुति-माधुर्य आ जाता है। अतएव वह कवि प्रशंसनीय है जो निर्दोष पद-मैत्री का प्रयोग कर सकता है[४]। यदि भाषा में माधुर्य बना रहे तो संस्कृत की संधियों और समासों का प्रयोग क्षम्य है[५]। भाषा के इसी गुण की इन समीक्षकों ने बार-बार प्रशंसा की है। इसके मूल में उनकी आलंकारिक दृष्टि ही है। अंग्रेज समीक्षकों ने भाषा के सहज और स्वाभाविक रूप की प्रशंसा की थी। मिश्र बन्धु भी भाषा को जटिल नियमों से नहीं जकड़ना चाहते। वे भी चाहते हैं कि भाषा स्वाभाविक हो, उसमें शब्दों के प्रचलित तथा शिष्ट

---

१ देव सुकवि ने विरच छन्द अनुपम टकसाली, भाषा की सर्वोच्च दिखाई छटा निराली।
देस-देस की विरुद तरुनिगन बरन सुनाया, कर वरनित प्रति जाति सभी का रूप दिखाया।
दस अङ्ग काव्य, वैराग, त्यों राग-भेद सब कुछ कहा,
सब कवियों में यह एक कवि भाषा का राजा रहा। हिन्दी नवरत्न पृष्ठ २४५-२४६

२ —वही— पृष्ठ २४१

३ —वही— " २४१

४ —वही—(भूमिका) पृष्ठ ३७

५ —वही— " ३६-३७

जन-सम्मत रूप अपनाये जावें[1]। वे भाषा में प्रासादिकता चाहते हैं। पर एक ओर तो वे भाषा के माधुर्य का आग्रह करते हैं और उसमें प्रसाद गुण भी देखना चाहते हैं। वे दोनों गुण एक साथ रखकर कठिनाई से ही देखे जा सकते हैं। भाषा-तत्व के सम्बन्ध में भी मिश्र बन्धु दो प्रकार की बातें कहते दिखलाई पड़ते हैं। छन्द और अलंकारों के सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं ने शास्त्रीय दृष्टि से ही विचार किया है।

मिश्र बन्धुओं की विशेषता इस बात में है कि भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रयोग करते हुए भी उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को नई भूमियों के दर्शन कराए। यद्यपि इन नई भूमियों में वे पूर्णतः विचरण नहीं कर सके। इनके सारे विस्तार से वे अभिज्ञ भी नहीं थे। फिर भी साहित्य की (धार्मिक) पृष्ठभूमि, कवियों की वैयक्तिक जीवनी एवं उनके विचार आदि हिन्दी समीक्षा के लिए नई वस्तुएँ ही थीं। अंग्रेज समीक्षकों ने साहित्य पर देश और काल के प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया था, प्रत्येक कवि की जीवनी प्रस्तुत की थी, उसके विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया था, दार्शनिक भूमिकाएँ बनाई थीं एवं सारे काव्य का एक ऐतिहासिक विकास-क्रम दिखलाया था। ये सब प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में मिश्र बन्धुओं ने ग्रहण किए हैं। परन्तु, मिश्र बन्धु इन तत्वों का गहराई से प्रयोग नहीं करते। कवियों की जीवनियाँ देते समय ये अन्तः साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों का प्रयोग करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी के साथ ही उनके चरित्र-चित्रण का भी प्रयास किया गया है। सूर, तुलसी, देव आदि कवियों के साहित्य की वैचारिक भूमिका भी मिश्र बन्धुओं द्वारा प्रस्तुत की गई है। तुलसीदासजी के समय की धार्मिक परिस्थिति उल्लिखित हुई है और उनके आधार पर पूर्ववर्ती कवि कबीर के सन्दर्भ में तुलसी का मूल्यांकन किया गया है। भूषण के प्रसंग में इतिहास का भी प्रयोग किया गया है। भूषण के काव्य से तत्कालीन इतिहास को अङ्कित कर मिश्र बन्धुओं ने इतिहास के द्वारा काव्य के ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि की है। मिश्र बन्धुओं ने भूषण की कविता के राष्ट्रीय पक्ष की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है, यद्यपि नवजीवन की परिवर्तित परिस्थिति की ओर भी उनका ध्यान था[2]। मिश्र बन्धु कवि के ग्रन्थों का रचना-क्रम से परिचय भी देते हैं, यद्यपि ऐसा करते समय उनका ध्यान कवि के काव्य-विकास की ओर नहीं रहता। समग्र हिन्दी-साहित्य पर मिश्र बन्धु विनोद में ऐतिहासिक दृष्टि से सामग्री संकलित की गई है। मिश्र बन्धुओं की समीक्षा में कतिपय मनोवैज्ञानिक संकेत भी उपलब्ध होते हैं। तुलसी और केशव के चरित्रों पर मिश्र बन्धुओं ने विचार किया है। स्वयं सूर और तुलसी पर भी उनके काव्य के आधार पर कतिपय सम्मतियाँ दी गई हैं[3]। परन्तु यह विवेचन बड़ा स्थूल है। इसमें तलस्पर्शिनी दृष्टि

---

१ हिन्दी नवरत्न द्वि० सं० भूमिका

२ "वर्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित भी प्रतीत होती हैं।" हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ३३८

३ —वही— पृष्ठ १८७

का अभाव है। फिर भी समीक्षा के एक नए तत्व के बीज इनमें वर्तमान हैं। उमङ्ग में तुलसी ने दोहा–चौपाई को छोड़कर दूसरे छन्दों का प्रयोग किया हैं, 'वैराग्य–सन्दीपिनी' 'रामलला नहछू' 'बरवैरामायण' 'पार्वती मङ्गल' 'जानकी मङ्गल' और 'रामाज्ञा' तुलसी की प्रकृति उनके सिद्धान्त और उनकी अशिथिल शैली के विपरीत होने के कारण उनके ग्रन्थ नहीं हो सकते। मिश्र बन्धुओं का कथन है कि 'वैराग्य सन्दीपिनी' में ज्ञान को भक्ति का भूषण कहा गया है। यह तुलसी के प्रतिष्ठित भक्ति–सिद्धान्त के विरुद्ध है। 'रामलला नहछू' में नायन, मालिन के यौवन का शृङ्गारपूर्ण वर्णन तथा हास-परिहास आदि गोस्वामीजो की प्रकृति के विरुद्ध है। 'बरवैरामायण' में सीता जी का शृङ्गारपूर्ण वर्णन किया गया है और 'पार्वती मङ्गल' तथा 'रामाज्ञा' की शैली शिथिल है। इस प्रकार मिश्र बन्धुओं ने कवि की प्रकृति तथा रचना-शैली के द्वारा उसके ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार किया। यह बड़े महत्व की बात थी। निश्चय ही इन नवीन प्रतिमानों का मिश्र बन्धुओं ने व्यापक प्रयोग नहीं किया।

मिश्र बन्धुओं में हिन्दी--समीक्षा की आरम्भिक स्थिति के दर्शन होते हैं। यद्यपि इन्होंने भारतीय काव्य--शास्त्र की समृद्ध परम्परा को अपनी समीक्षा का आधार बनाया था और साथ ही कतिपय पश्चिमी प्रतिमान भी अपना लिये थे, फिर भी स्थिर और उदात्त मानदण्ड के अभाव में मिश्र बन्धु किसी प्रौढ़ समीक्षा–दृष्टि को जन्म नहीं दे सके। वे आगामी समीक्षकों के लिये थोड़े से संकेत भर छोड़ गए हैं। मिश्र बन्धुओं की समीक्षा अधिकांश स्थलों पर शाब्दिक हो गई है। वह घटिया-बढ़िया, अच्छे-बुरे, अद्भुत, रोचक, मनोहर जैसे विशेषणों, धन्य-धन्य जैसे अव्ययों तथा 'कोष में शब्द नही मिलते', 'देखने ही योग्य हैं', 'पराकाष्ठा को पहुँचा दी गई', 'कवित्व शक्ति खर्च कर डाली है', 'वर्णन नहीं हो सकता', 'कलम तोड़ दी है' आदि वाक्यांशों तक ही सीमित है। इनकी शाब्दिक समीक्षा का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। मिश्र बन्धु लिखते हैं—"देवजी की कविता में जो गुण हैं वे अद्वितीय हैं। ऐसी बढ़िया कविता किसी कवि के किसी ग्रन्थ में एक स्थान पर नहीं पाई जाती। जैसे विशद छन्द इनकी कविता में सैकड़ों पाए जाते हैं, वैसे छन्द किसी की कविता में किसी स्थान पर, न निकलेंगे[1]।"

मिश्र बन्धुओं की समीक्षा भारतीय काव्य-शास्त्र पर आधारित थी। काव्य-शास्त्र में भी अलंकार-सौन्दर्य और काव्य-चमत्कार पर उनका विशेष ध्यान था। इन्हीं के आधार पर वे अपना निर्णय देते थे। फिर भी पश्चिम की नई समीक्षा ने भी उन्हें प्रभावित किया था। मिश्र बन्धुओं ने अपनी समीक्षाओं में साहित्य की सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा वैचारिक भूमिकायें देने का प्रयास किया है। कवियों की जीवनी

---

१ हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ २४३

और पात्रों के चरित्रांकन की दिशा में भी वे अग्रसर हुए हैं और आरम्भिक ही सही, काव्य को एक ऐतिहासिक दृष्टि दी है। मिश्र बन्धु भारतीय काव्य-शास्त्र और पश्चिमी प्रतिमानों का पृथक्-पृथक् प्रयोग करते रहे। वे उन्हें कोई समन्वित रूप नहीं दे सके। इसीलिए वे किसी एक बात पर स्थिर नहीं रह पाये और स्थल स्थल पर व्यर्थ के शब्द-जाल में उलझे रहे। इतना होते हुए भी यह मानना पड़ता है कि प्राचीनता के साथ ही मिश्र बन्धु में पर्याप्त नवीनता भी थी। उनकी समीक्षा दृष्टि व्यापक और विविध थी, उसमें पूर्व और पश्चिम के, पुराने और नये, समीक्षा-तत्वों का समावेश था।

पं० पद्मसिंह शर्मा

पं० पद्मसिंह शर्मा की दृष्टि भी आलंकारिक ही थी, अलंकार-शास्त्र पर ही अधिक केन्द्रित थी। फिर भी इनकी समीक्षा में थोड़ा बहुत नवीन प्रकाश भी दिखलाई पड़ता है। ये अलंकार ही नहीं, अलंकार्य से भी परिचित थे, इस बात का भी इन्होंने प्रमाण दिया है [1]। बिहारी के कवित्व का परिचय देते हुए शर्माजी ने ये जो बातें कही हैं, इनसे उनकी काव्य-सम्बन्धी आंतरिक दृष्टि का परिचय मिलता है—

'कवि के विषय में किसी विद्वान का कथन है कि 'कवि प्रकृति का पुरोहित होता है' जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति-रिवाजों का अन्तरंग ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्व तक नहीं पहुँचती—तह तक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकाल सकती – जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षा-प्रद हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक हो और सैकड़ों बार की देखी-भाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखलाने वाली हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। 'अज्ञेय मीमांसा' करने बैठना, आकाश के तारे तोड़ने दौड़ना, कवि का काम नहीं है। कभी-कभी कवि को ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकों का काम है। कवि का काम इससे भी बड़ा गहन है। केवल व्याकरण और छन्द-शास्त्र के नियमों से अभिज्ञ होकर, वर्ण मात्रा कांटे में नपी तुली पद्य-रचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आजकल प्रायः समझा जाने लगा है [2]।' इस उद्धरण से दो बातें सिद्ध होती हैं कि बिना प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के कोई कवि नहीं हो सकता और दूसरी यह कि कोरे शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर ही कविता नहीं की जा सकती।

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी,

२ बिहारी की सतसई पृष्ठ २१३-२१४

आशय यह कि काव्य के लिए जीवन का वास्तविक ज्ञान आवश्यक है, कोरा शास्त्र-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। स्पष्ट ही शर्माजी ने उक्त पंक्तियों में काव्य को जीवन के निकट रखकर देखने का प्रयास किया है। एक स्थल पर उन्होंने संकेत किया है कि 'रसज्ञ (रसिक) कविता में रस ढूँढते हैं, दूसरे पदार्थ (विषय) को देखते हैं, तीसरे पद-लालित्य पर दृष्टि देते हैं। जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा, उसके रूप को सराहते हैं, जुलाहे – वस्त्र के व्यापारी – वस्त्र की तारीफ करते हैं, और सर्राफ उसके आभूषणों पर परख की नजर डालते हैं [१]।' शर्माजीने यहाँ भी रस को ही प्रमुखता दी है, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यह रस सहृदय का न होकर रसिक का है। शर्माजी ने कवि को अलौकिक रस का संचारक कहा है और रस-ध्वनि को सर्वोपरि स्थान दिया है :—

'कवि भी प्रकृति बाटिका का विकासक बसंत है। वह प्रकृति के उन्हीं नीरस रूखे-सूखे ठूंठ रूखों में अपनी प्रतिभा–शक्ति से अलौकिक रस का सँचार करके कुछ से कुछ कर दिखाता है। कवि-बसन्त किसी पुराने कविता–द्रुम में रस–ध्वनि के मधुर फल किसी में अलंकार-ध्वनि के मनोहर पुष्प और किसी में वस्तु ध्वनि के सुन्दर रूप रंग का सन्निवेश करके सूखे से हरा और निर्जीव से सजीव बना देता है। किसी को शब्द-शक्ति के और किसी को अर्थ-शक्ति के सहारे ऊपर उठा देता है। किसी को अर्थालंकार के चमत्कार से और किसी को शब्दालंकार के वैचित्र्य से आँखों में खुबने और चित्त में चुभते वाला कर दिखाता है [२]।' वे मानते हैं कि महा-कवि के लिए साहित्य-दर्पणादि में वर्णित लक्षणों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रस–ध्वनिपूर्ण काव्य के निर्माता ही महाकवि पद के समुचित अधिकारी होते हैं [३]। काव्य–विवेचना के लिए कविता की नाड़ी का ज्ञान आवश्यक है, सहृदयतापूर्वक काव्य का रसा-स्वाद आवश्यक है [४]। शर्माजी का मत है कि कविता का सम्बन्ध हृदय से है, हृदय की कली कविता के प्रकाश से खिलती है [५]। निश्चय ही ये संदर्भ सिद्ध करते हैं कि शर्माजी काव्य का सम्बन्ध अन्तरंग तत्वों से मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य में भाव ही प्रमुख हैं।

शर्माजी ने काव्य-प्रयोजन का सम्बन्ध भी हृदय के संस्कार से जोड़ा है। वे मानते हैं कि कविता हृदय को कठोरता की जंग से छुड़ाकर उसे स्निग्ध बनाती है, मनुष्य को

---

१ बिहारी की सतसई, पृष्ठ २१७
२ —वही— " २७
३ —वही— " २१
४ —वही— " ३३
५ —वही— " २

हृदयहीन बनने से बचाती हैं[१] । दूसरी ओर शृङ्गारिक काव्य की सामाजिक उपयोगिता का भी उन्होंने संकेत किया है। शृङ्गारिक काव्य के परकीया-प्रसंग, धूर्त विटों की लीलाओं आदि को पढ़कर सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सकता है[२] । इस प्रकार काव्य की वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगिता के द्वारा शर्माजी ने उसकी वस्तु-परक भूमि के महत्व को स्वीकार किया है, उसके वाह्य सौन्दर्य को ही सब कुछ नहीं माना।

इतना सब होते हुए भी शर्माजी आलंकारिक दृष्टि लेकर ही हिन्दी में क्यों प्रकट हुए ? दूसरी अधिक महत्वपूर्ण एवं वस्तु-परक भूमि पर क्यों नहीं आये ? इन प्रश्नों के उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि वे समीक्षा की ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न थे और दूसरी यह कि उन पर परम्परागत साहित्य के संस्कारों का गहरा प्रभाव था। शर्माजी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

'प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि' के आदर्श पर नहीं रचे गये, उन्हें इस नये गज से नहीं नापना चाहिए। प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ में आ सकती है[३] ।' हमने देखा है कि शर्माजी साहित्य के नये गज से भी परिचित थे, परन्तु संयोगवश उन्हें बिहारी की समीक्षा करनी पड़ी और इसलिए बिहारी के पुराने काव्य की, उनके अनुकूल पुराने गज से ही परीक्षा की गई है। यदि संयोगवश शर्माजी का आलोच्य कोई नया कवि होता तो वे नई समीक्षा का अमित उपकार कर जाते। परन्तु यह सब नहीं हुआ। इसका कारण शर्माजी पर रीति-युग की चमत्कार प्रियता का प्रभाव ही कहा जा सकता है। शर्माजी ने वैयक्तिक रुचि के महत्व को स्वीकार किया है[४] । उनकी रुचि प्राचीन साहित्य में ही अधिक थी और वह भी बिहारी के साहित्य में। हिन्दी की समीक्षा में अब यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि देव और बिहारी में देव का काव्य अधिक भाव-प्रवण है, देव में काव्य का आत्म-तत्व अधिक है और बिहारी में वाह्य चमत्कार और साज-सज्जा पर अधिक ध्यान दिया गया है। जिस व्यक्ति की जैसी रुचि होगी, वह उसी के अनुरूप काव्य की खोज करेगा और उसमें रस लेगा। शर्माजी की रुचि चमत्कार-प्रिय थी, आलंकारिक थी, इसलिए उन्हें बिहारी अच्छे लगे।

शर्माजी ने बिहारी की किन बातों की प्रशंसा की है, उनकी दृष्टि बिहारी के काव्य की किन बातों पर लगी हुई है ? शर्माजी ने देखा है कि बिहारी की बन्दिश कितनी

---

१ बिहारी की सतसई — पृष्ठ २
२ —वही— " ६, ७
३ —वही— " २१७
४ —वही— " ७

वृत्त है,[१] उन्होंने किस प्रकार बड़े-बड़े कवियों के मजमून छीन लिए हैं[२], उनके काव्य में अलंकारों की कैसी बहार है[३], उनका भाषा पर कितना असाधारण अधिकार है और वह कितनी मधुर है[४], भावों की छान-बीन करते समय भी शर्माजी का ध्यान भावों के सूक्ष्म चमत्कारों पर ही लगा हुआ था[५]। बिहारी के बिरह-वर्णन का आगे चल कर आचार्य शुक्ल ने उपहास किया है, परन्तु शर्माजी ने उनकी कलम-तोड़ प्रशंसा की है। शर्माजी ने लिखा है कि 'अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बांकपन है — कुछ विशेष 'वक्रता' है, व्यंग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और रस की जान है) और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है। जिस पर रसिक सुजान सौ जान से फ़िदा हैं[६]।' शर्माजी की समीक्षा-दृष्टि आलंकारिक ही नहीं थी, वरन् वह अलंकारवादी भी थी। शर्माजी ने काव्य में अतिशयोक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। वे मानते हैं काव्य में अतिशयोक्ति-जन्य वक्रता ही मूल्य का समावेश करती है। इसके बिना वह बिना नमक का भोजन, तार-रहित सितार और लावण्यहीन रूप है[७]।' इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शर्माजी साहित्य के वास्तविक प्रमितान से परिचित थे, पर रुचि-भिन्न होने से वे, उसका प्रयोग नहीं कर सके।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र

पं० कृष्णबिहारी मिश्र की समीक्षा-दृष्टि भी आलंकारिक ही थी। पं० पद्मसिंह शर्मा और इनमें यह अन्तर था कि शर्माजी अलंकारवाद को प्रमुखता देते थे, तो मिश्रजी रसवाद को। परन्तु न तो शर्माजी ने अलंकारादि की मनोवैज्ञानिक भूमि का संकेत किया है और न मिश्रजी ही रस के उदात्त रूप को ग्रहण कर सके हैं। दोनों समीक्षकों की दृष्टि शास्त्र-निबद्ध रूढ़ और वाह्य कोटि की थी। जो भी नवीन प्रतीत होने वाली बातें इन समीक्षकों ने कही हैं, वे वातावरण से प्राप्त हुई हैं, संस्कारगत नहीं हैं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने जो मत व्यक्त किये हैं, उनमे कई स्थानों पर अन्तर्विरोध भी मिलता है। यह

---

१ बिहारी की सतसई : पृष्ठ ११५, ६३, ३१, १०६
२ —वही— " २५
३ —वही— " ३६, १०४, ११८, ७५
४ —वही— " २२०
५ —वही— " ८७, १०८, १५०
६ —वही— " १६०
७ —वही— " २१८, २१६

बात शर्माजी में नहीं दिखलाई पड़ती। जैसे मिश्रजी ने अश्लील या कुरुचि प्रवर्तक काव्य की निन्दा की है, उसके कर्ता को समाज के लिए उत्तरदायी ठहराया है और उसके द्वारा कवि के चरित्र-सम्बन्ध में प्रतिकूल अनुमान किए जाने की संभावना भी बतलाई है[१]। यह सब ठीक हैं, परन्तु इसके साथ ही वे 'विषय-रस में शराबोर कविता में भी रमणीयता देखते हैं, समाज के लिए अनुपयोगिनी और अहितकर होने पर भी उसे कविता-क्षेत्र से बहिष्कृत करने के लिए तैयार नहीं हैं। उसके धुंधले धुएं में भी प्रकाश प्राप्त करने की आशा रखते हैं[२]। इन दोनों बातों में संगति कम दिखलाई पड़ती है। देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिए तो मिश्रजी ने नीति की दुहाई दी है, बिहारी के परकीया प्रेम की निन्दा की है और देव की स्वकीया-प्रेम की प्रशंसा की है[३]। दूसरी ओर मिश्रजी यह भी कहते हैं कि कविता और नीति किसी प्रकार एक नहीं हो सकते। कवि प्रत्येक भाव का चाहे वह कितना ही घृणित अथवा अपवित्र क्यों न हो, वर्णन करने के लिए स्वतंत्र हैं[४]। परन्तु मिश्रजी ने यह स्वतन्त्रता बिहारी को नहीं दी। इसी प्रकार मिश्रजी एक ओर तो विषय के आधार पर काव्य की श्रेष्ठता बतलाते हैं[५] और दूसरी ओर यह भी कह गए हैं कि 'साधारण सी बात भी उत्तम भाषा के परिच्छेद में जगमगा उठती है[६]। वे भाषा को साधन मानते हुए भी उसे प्रमुखता देने लगे हैं। वस्तुत: वह समय ही ऐसा था जबकि एक ओर तो हिन्दी का जीवन से असंपृक्त काव्य-शास्त्र अपना प्रभाव दिखलाता था तो दूसरी ओर पश्चिमी संपर्क से प्राप्त नवीन साहित्यिक ज्ञान भी समय-समय पर प्रकट हो जाया करता था। इत दोनो में समन्वय नहीं हुआ था। समीक्षकों की दृष्टि परम्परागत शास्त्र पर ही अधिक केन्द्रित थी। इसलिए इस समय की समीक्षाओं में ऐसी विरोधी बातें भी मिल जाया करती थी।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने भाव को काव्य में प्रमुखता दी है। वे मानते हैं कि भाव की उत्कृष्टता जहां होती है वही पर सत्काव्य होता है[७]। कविता का मुख्य गुण भाव है[८]। मिश्रजी शब्द या अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता को काव्य कहते हैं। रमणीयता आनन्द उत्पन्न करती है और यह आनन्द लोकोत्तर है, स्वार्थ–रहित है। इसका उपभोग सहृदय

---

१ मतिराम-ग्रंथावली (भूमिका) : पृष्ठ १२५
२ —वही— ,, ७
३ देव और बिहारी ,, १५८
४ —वही— ,, ७८
५ मतिराम-ग्रंथावली (भूमिका) ,, १६
३ देव और बिहारी ,, २३३
७ देव और बिहारी पृष्ठ २५
८ —वही— ,, २६

रसिक ही कर सकते हैं[१]। कविता का उद्देश्य तत्कालिक आनन्द है। यह आनन्द रस-परिपाक से सिद्ध होता है और रस-मनोविकारों के सम्पूर्ण विकास का रूप है[२]। शृंगार–रस सब रसों में श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका स्थायी भाव रति सब स्थायी भावों से श्रेष्ठ है। यह आनन्द और आशा से पूर्ण है, धर्म का पोषक और संसार का चालक है। इसके आलंबन समान आकर्षण वाले, परम तन्मय और त्यागमय तथा अहं शून्य होते हैं। इसके उद्दीपन भी अधिक रमणीय और मनोरंजक हैं। शृंगार रस के सबसे अधिक संचारी हैं। अनुभाव शृंगार में ही परिपुष्ट होते हैं और हाव तो शृंगार के ही बांटे पड़े हैं[३]। भाषा को मिश्रजी ने भाव[४] और विचारों[५] की अभिव्यक्ति का साधन माना है। भाषा भावों की उत्कृष्टता पर पालिश का काम करती है, भाव को तुरन्त हृदयंगम कराती है[६]। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अतिशयोक्ति को प्रमुखता दी है तो मिश्रजी ने स्वाभावोक्ति को[७]। मिश्रजी कविता का सम्बन्ध जीवन की घटनाओं से मानते हैं, ये घटनाएं उत्तम होती हैं और रमणीयता उत्पन्न करने में सहायता पहुंचाती हैं। सभी घटनाएं कविता के लिए उपयुक्त नहीं होतीं[८]। इससे भी यही आशय निकलता है कि मिश्रजी काव्य में विषय को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं और उसकी श्रेष्ठता के भी हामी हैं।

देव और बिहारी की तुलना करते समय भी मिश्रजी ने देव के हृदय–पक्ष का बार बार उल्लेख किया है। देव का काव्य रस-प्रधान है, इसलिए उसमें कवित्व अधिक है[९]। देव के विरह–वर्णनों में हृदय को द्रवित करने की शक्ति अधिक है। बिहारी में जहाँ तमाशा ही तमाशा है, वहां देव में सहृदयता भी है[१०]। पं० पद्मसिंह शर्मा की दृष्टि जहां चमत्कार पर थी, वहां मिश्रजी ने उसके अंतरंग में भी प्रवेश करने का प्रयास किया है। मिश्रजी की ये मान्यताएं पहले की अपेक्षा अधिक तात्विक भूमि पर प्रतिष्ठित हुई हैं। मिश्रजी काव्य-वस्तु के अधिक निकट दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु काव्य-वस्तु का यह ज्ञान मिश्रजी को शास्त्र के माध्यम से ही प्राप्त है, सीधे जीवन से नहीं। देव के विरह-वर्णन में वे पूर्वानुराग, प्रवास और मान के, विप्रलंभ शृंगार की दस दशाओं के, प्रोषित-

---

१ मतिराम–ग्रंथावली (भूमिका) पृष्ठ ५
२ देव और बिहारी " ७०
३ —वही— " १२५
४ —वही— " २४, २६
५ —वही— " १७
६ —वही— ,, २४
७ —वही— " २१५
८ मतिराम ग्रंथावली (भूमिका) पृष्ठ १६
९ देव और बिहारी " १७६, २५१, २५२
१० —वही— " २१५, १६८

पतिका, प्रवत्स्यत्पतिका एवं आगतपतिका के उदाहरण गिनाते हैं[1]। मिश्रजी ने लिखा है कि 'काव्य-शास्त्र' में कविता की उत्तमता या हीनता की जो कसौटी दी हुई है, उसमें रस, अलंकार, भाषा, गुण, दोष, लक्षणा, व्यंजना आदि पर विचार करना पड़ता है[2]। एक दूसरे स्थान पर कविता की उत्तमता की कसौटी में मिश्रजी ने गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार की चर्चा की है[3]। मिश्रजी की रसवादी समीक्षा को समझने के लिए यहां एक उदाहरण दिया जा रहा है—

तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर रंग,
नहिं सोभा के साज यह, कहिबे ही को अंग। (बिहारी)

'अर्थ—शरीर में आभूषण, नेत्रों में अंजन एवं पैरों में महावर नायिका की शोभा नहीं बढ़ा रहे हैं। इन सबका प्रयोग तो कहने भर को है। सहज सुन्दरी को सौन्दर्य-वर्धक इन कृत्रिम उपायों से क्या ?'

यदि यह उक्ति नायिका के प्रति नायक की हो, तो 'सहज सुन्दरी, कहने के कारण 'नायक' अनुकूल ठहरता है। पर यदि यह उक्ति सखी के प्रति नायिका की हो तो नायक को सहज सुन्दरी प्रतीत होने के कारण नायिका का स्वाधीनत्व प्रकट होता है। स्वाभाविक सौन्दर्य-वर्धन के लिए आभूषणों की उपेक्षा पूर्वक, सौन्दर्य-वश प्रीति होने से प्रेम-गर्व स्पष्ट हो रहा है। इससे नायिका क्रम से स्वाधीनपतिका, रूप-गर्विता एवं प्रेम-गर्विता प्रमाणित होती है और यदि उपर्युक्त कथन नायिका ने अपनी बहिरंग सखी से उस समय किया हो जबकि वह वासक-सज्जा के रूप में अपना शृंगार कर रही हो, और सखी को यथार्थ बात बतलाना उसका अभीष्ट न रहा हो, तो उसकी 'विहार-इच्छा' प्रकट होती है, जिससे शुद्ध स्वभावा स्वकीया की शोभा झलक जाती है। इस प्रकार का कथन ध्वन्यात्मक है, जिसको गूढ़ व्यंग्य भी कहते हैं।

दोहे में शृंगार-रस स्पष्ट ही है। नायिका आलंबन और भूषणादि उद्दीपन विभाव हैं। इन सबका धारण करना अनुभाव है। मद, उत्कंठा, लज्जा अवहित्थादि संचारी भाव हैं। अर्थान्तरों में रति स्थायी भी कई जगह है। ललित हाव का मनोरम विकास भी है। इस प्रकार रस का पूर्ण परिपाक दर्शनीय है। वृत्ति भारती है एवं गुणों में प्रसाद, अर्थ-व्यक्त और माधुर्य का अपूर्व सम्मिलन है। सम्पूर्ण छंद पढ़ने से स्वाभावोक्ति अलंकार की आभा भली लगती है। अंग की सहज शोभा के सामने आभूषणों का निरादर हुआ है, इससे प्रतीप अलंकार का रूप सामने आता है, परन्तु अंगों के उपमान स्पष्ट न होने से वह व्यंग्य मात्र है। इसी को अर्थ-ध्वनि कहते हैं। तन, भूषन, अंजन, दृगन, पगन, सोभा साज आदि में वृत्यानुप्रास और छेकानुप्रास भी हैं। सम्पूर्ण वाच्यार्थ से रूपोत्कर्षता भाषित

१ देव और बिहारी पृष्ठ १९८
२ —वही— ,, १९१
३ —वही— ,, २२४

होती है इससे वाच्यार्थ ध्वनि हुई[१]।' मिश्रजी ने इस व्याख्या को ओर भी आगे खींचा हैं, परन्तु यहां इतना ही पर्याप्त है और इससे ही उनकी शास्त्र-जड़ित समीक्षा-दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है।

लाला भगवानदीन

लाला भगवानदीन ने अपनी 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक में बिहारी को देव से बड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया है[२]। वस्तुतः दीनजी की समीक्षा-दृष्टि में और मिश्र बन्धुओं की समीक्षा-दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है। मिश्र बन्धुओं ने देव जैसे रीति-बद्ध या सिद्ध कवि को गोस्वामी तुलसीदास के समकक्ष बैठाकर उनको बड़ा बनाने का प्रयास किया है। इससे देव का बड़प्पन सिद्ध होता हो चाहे न होता हो, मिश्र बन्धुओं के जीवन-दर्शन का अवश्य प्रमाण मिलता है। देव में भाव-तत्वों की प्रचुरता थी। परन्तु वे भाव तत्व किस प्रकार के थे, यह भी देखना आवश्यक है। इस बात की इन समीक्षकों ने उपेक्षा की है, क्योंकि इन लोगों की दृष्टि आलंकारिक थी, शास्त्र-निबद्ध थी। यदि मिश्र बन्धुओं ने देव के भाव-विन्यास सम्बन्धी चमत्कार की प्रशंसा की है, तो दीनजी बिहारी के अलंकार सम्बन्धी चमत्कारों की प्रशंसा करते हैं। दोनों कवियों के प्रशंसकों की दृष्टि चमत्कार पर लगी हुई है, उदात्त जीवन-मूल्यों पर नहीं। इस अर्थ में ये सब समीक्षक आलंकारिक हैं। दीनजी की दृष्टि वस्तुतः समीक्षा की ओर उतनी नहीं थी, जितनी मिश्र बन्धुओं के दोष प्रदर्शन की ओर थी। कहीं पर उन्होंने मिश्र बन्धुओं का अर्थ अशुद्ध सिद्ध किया है और कहीं पर पाठ[३]। कहीं देव की कविता में दोष निकाले गए हैं[४] तो कहीं उन्हें शोहदा बतलाया गया है[५]। दीनजी का महत्व इस बात में नही है कि उन्होंने बिहारी को देव से बड़ा सिद्ध किया और देव की तथा मिश्र बन्धुओं की गलतियाँ बतलाई। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने केशव और बिहारी के काव्य की बड़ी अच्छी टीकाएं प्रस्तुत की हैं। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि 'दीनजी की पुस्तक द्वारा आलोचना के विकास में कोई नवीन प्रवृत्ति नही आती[६]।'

---

१ देव और बिहारी पृष्ठ १४४—१४५
२ बिहारी और देव ,, ५३ : १८
३ —वही— ,, ५५
४ —वही— ,, २३
५ —वही— ,, २३
६ हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास ,, ३३१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भाव--योग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"

—चिन्तामणि (पहला भाग) पृष्ठ १४१

सिद्धान्त—रस

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के काव्यादर्श को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक प्रौढ़ शास्त्रीय रूप दिया है। शुक्ल जी के सैद्धान्तिक विवेचन में द्विवेदीजी की मान्यताओं का ही विकास हुआ है, उनकी समीक्षा दृष्टि ही यहाँ आकर व्यवस्थित और विस्तृत रस–सिद्धान्त में परिणत हो गई है। शुक्लजी रसवादी आचार्य हैं। उनकी समस्त सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षाओं में 'रस' को ही सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। सूर, तुलसी और जायसी के काव्यों की परीक्षा रस-सिद्धान्त की कसौटी पर की गई है, उनके इतिहास का प्रणयन रस-भूमि पर ही हुआ है, 'रस-मीमांसा' रस-सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है और 'चिन्तामणि' के विविध निबन्धों में भी 'रस' की ही व्याप्ति दिखलाई पड़ती है। शुक्लजी ने रस की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"लोक–हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"[१]

शुक्लजी की इस रस–परिभाषा में रस–सिद्धान्त के नवीन रूप में दर्शन होते हैं। यहाँ वह 'विभावानुभाव संचारी भाव संयोगाद्रस निष्पत्तिः' की शास्त्रीयता से मुक्त होकर व्यापक लोक–भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। रसानुभूति के लिए शुक्लजी ने दो

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २२७

शर्तें आवश्यक मानी हैं—व्यक्तित्व की भावना का परिहार तथा आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण।[1] 'शुक्लजी रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं। हृदय की मुक्तावस्था को रस-दशा मानने का कारण यह है कि शुक्लजी साहित्य में ही नहीं प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूतियों में भी रस-दशा मानते हैं। बस उनके लिए अनिवार्य लक्षण यह है कि वह हृदय को मुक्तावस्था में ला दे, उसे अपने पराये के भेद–भाव से मुक्त कर दे, उसे निर्वैयक्तिक कर दे उसकी व्यक्ति-सत्ता का परिहार कर दे, उसे सामान्य भाव-सत्ता में लीन कर दे तथा अशेष सृष्टि के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर दे।"[2] शुक्लजी की यह परिभाषा एक ओर तो साहित्य-दर्पणकार के अनुरूप है और दूसरी ओर उसमें पश्चिमी समीक्षा के अहं-विसर्जन एवं निस्संगता के सिद्धान्त का समावेश भी देखा जा सकता है। रस के शास्त्रीय स्वरूप पर शुक्लजी की दृष्टि बराबर बनी रही है, परन्तु उस शास्त्र को सर्वांश में उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शुक्लजी ने शास्त्र में संशोधन किया है, उसका परिष्कार और विस्तार भी किया है। रस का सजीव रूप ही उन्हें अभिप्रेत है, रूढ़ और परम्परागत नहीं। रस की शास्त्रीय स्थिति का सम्पादन करना एक बात है और सरस कविता लिखना दूसरी बात है।[3] शुक्ल जी शास्त्रीय सूक्ष्मता का विचार करने वाले आचार्य नहीं हैं। भाव का उत्कर्ष जितने से सध जाय उतनी ही सामग्री वे पर्याप्त समझते हैं।[4] पूर्ण रस-योजना के लिए विभाव अनुभाव, संचारी आदि को जबर्दस्ती ठूँसना अनावश्यक है।[5] पूर्ण रस की कवायद कवि का काम नहीं है।[6] भावों की परीक्षा करते समय वे यह देखते हैं कि कितने भावों और गूढ़ मानसिक विकारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है और कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है।[7] 'शुक्लजी संसार के गहरे अनुभव एवं उन अनुभवों के मार्मिकपक्ष को ग्रहण करने की भावुकता कवि में आवश्यक मानते हैं। यह कवि के लिए बड़ी बात है। मार्मिकता और हृदय की सच्चाई के ही कारण कोई कवि जन-प्रिय बनता है।[8] रस की शास्त्रीय स्थिति के सम्पादन से ही शुक्लजी सन्तुष्ट नहीं हैं। वे रस की तीव्रता, कवि की तन्मयता रस की विविध स्थितियों एवं उसके विस्तार तथा रस-वैविध्य पर भी दृष्टि रखते हैं। तुलसीदासजी की शुक्लजी ने इसलिए बार–बार प्रशंसा की है कि तुलसी

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २४७, २५०–२५२
२ आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त " १७६
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास " १७२
४ जायसी ग्रंथावली (भूमिका) " ६४
५ रस-मीमांसा " १५८
६ जायसी ग्रंथावली " ६४
७ हिन्दी साहित्य का इतिहास " २१७–२१८

ने बड़ी तन्मयता के साथ जीवन के विभिन्न भावों एवं रसों में अवगाहन कराया है, वे सूरदासजी की इसलिए प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने सीमित क्षेत्र में बड़ी सूक्ष्मता का परिचय दिया है। सीमा की गहराई नाप दी है। भावों की स्वाभाविकता पर भी शुक्लजी का ध्यान है।[1] काव्य के अन्तरंग—भाव-तत्व—को शुक्लजी ने प्रधानता दी है। राधा-कृष्ण को लेकर चलने वाली काव्य-धारा में लीला-पक्ष के वाह्यार्थ-विधान (केलि, विलास, रास, छेड़ छाड़, मिलन) की ही प्रधानता थी। सूरदास ने आभ्यन्तर पक्ष को प्रमुख कर प्रेम-दशा की अगणित मनोवृत्तियों का उद्घाटन किया, इस बात का शुक्ल जी ने साग्रह उल्लेख किया है। घनानन्द में भाव-पक्ष की प्रधानता है, उनका वियोग-वर्णन भी अन्तर्वृत्ति निरूपक है, इसलिए घनानन्द शुक्लजी के प्रशंसा-पात्र हुए हैं। बोधा की भाव-तन्मयता पर शुक्लजी ने प्रशंसन्नता प्रकट की है।[2] एक प्रकार से समस्त भाव-प्रधान कवियों की शुक्लजी ने प्रशंसा की है।

भाव-तत्व का शुक्लजी ने बड़ा ही शास्त्रीय विवेचन किया है। इस विवेचन में उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र और पश्चिमी मनोविज्ञान का यथेष्ठ प्रयोग किया है। इस विवेचन में उन्होंने कौन सी सामग्री कहाँ से ली है, इस बात का डा० रामलालसिंह ने अपने 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त' नामक शोध-प्रबन्ध के सातवें अध्याय में विस्तृत परिचय कराया है। वस्तुत शुक्लजी ने भारतीय काव्य-शास्त्र का ही परिष्कार और विस्तार किया है। इस कार्य में उन्होंने जहाँ जितनी उपयोगी सामग्री मिली निस्संकोच भाव से उठा ली है। शुक्लजी में अन्धानुकरण कहीं का नहीं है, न तो पूर्व का और न पश्चिम का।

भाव का विवेचन करते हुए शुक्लजी ने बतलाया है कि सुख और दुःख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रकट हुए जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा वासना और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना-रूप में थे पीछे भाव बन गए। विविध वासनाओं की नींव पर ही भावों की प्रतिष्ठा हुई है।[3] सुख दुःख के इंद्रियज सवेदनों से हर्ष-शोकादिभाव भिन्न हैं। इन्द्रियज संवेदन में प्रत्यक्ष बोध आवश्यक नहीं है, भाव में है। इन्द्रियज संवेदन में वेदना, वासना में प्रवृत्ति एवं भाव में वेद्य (आलम्बन या विषय) प्रधान होता है। भाव चित्त की चेतन-दशा विशेष है, वासना में चेतन दशा की अपेक्षा नहीं होती। वासना या संस्कार क्रिया के समय में ही नहीं और समय में भी रहता है, पर भाव-विधान उद्दीपन की क्रिया के समय ही होता है। वासना प्रेरित क्रिया

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ १६८-१७१
२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " १७२
३ —वही— " ३३८-३३९

एकरूपिणी और भाव प्रेरित क्रिया बहुरूपिणी होती है। वासना का जीवन-प्रयत्न में सीधा लगाव नहीं रहता, भाव का रहता है। भाव-सम्पर्क से उत्तेजित वासनात्मक प्रवृत्ति विषय के सम्पर्क काल के अतिरिक्त उसके उपरान्त भी सक्रिय रहती है और पूर्व भी। भाव शरीर वेगों से भिन्न है। वह मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है[१]। शुक्लजी ने भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'अतः भाव उस विशेष रूप के चित्त-विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों। संक्षेप में — प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है[२]।

प्रवृत्तियों एवं मनोवेगों से भी भाव भिन्न हैं। भाव आलंबन प्रधान होता है। प्रवृत्तियों और मनोवेग आलंबन-विधान के न रहने से भाव नहीं कहला सकते। चकपकाहट, घबराहट, इच्छा करना भाव नहीं है[३]। इच्छा का अपना लक्ष्य नहीं होता, वह दूसरे भावों के लक्ष्य को लेकर चलती है। स्थिति भेद से इच्छा अनेक संचारियों को उत्पन्न करती है। भाव-विधान में इच्छा के लिए भी अवकाश रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने दो प्रकार के भाव माने हैं—मूल और तद्भव। जिस भाव की अनुभूति किसी दूसरे भाव पर आश्रित न हो वह मूल—जैसे क्रोध, भय, हर्ष, शोकादि। जो दूसरे भाव पर आश्रित हो वह तद्भव — जैसे दया, कृतज्ञता, पश्चाताप आदि। दया के पहले मन में किसी के शोक या पीड़ा का थोड़ा बहुत अनुभव चाहिये[४]।

शुक्लजी ने शैंड के भाव-विवेचन का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि अन्तःकरण की वृत्तियों का विधान एक शासन-व्यवस्था के रूप में है। इसमें विशेष वेग और प्रवृत्तियों, भावों एवं भाव-कोशों के भीतर व्यस्त रहते हैं[५]। 'शुक्लजी की दृष्टि में स्थायी भाव एक भाव कोश या भाव-प्रणाली है जिसमें एक प्राथमिक भाव तथा स्थिति-भेद से अनेक साधित भाव तथा सहचर भावनाओं का संघटन रहता है, जिसमें वासना, मनोवेग, इन्द्रिय-वेग प्रवृत्तियाँ अन्तःकरण वृत्तियाँ विवेकात्मक बुद्धि – व्यापार, संकल्प, इच्छा, शरीर–व्यापार आदि मूलभाव के शासन के भीतर रहते हैं, जिसमें भाव के संकल्प की अपेक्षा अधिक धीर एवं संयत कोटि का संकल्प रहता है, जिसमें सार्वभौम कोटि की आस्वाद्यमानता रहती है, जो उचित विषय का आधार पाकर उद्भूत होता है, जो रस-स्थिति तक पहुंचने की क्षमता रखता है, जो बहुत देर तक सहृदय के चित्त में टिकने की विशेषता रखता

---

१ रस — मीमांसा पृष्ठ १६१
२ —वही— " १६८
३ —वही— " १६८
४ —वही— " १६९
५ —वही— " १७०

है, जो अपने लक्ष्य-साधन के लिये भाव की अपेक्षा अधिक विवेक से काम लेता है, जो प्रकृतिस्थ होने पर एक निश्चित कोटि की इच्छा, संकल्प एवं प्रयत्न की ओर प्रवृत करता है, जिसका आलंबन स्थिर तथा सामान्य कोटि का होता है, जिसका प्रकृतिस्थ संघटन एक निश्चित कोटि के आचरण या शील में समर्थ होता है, जिसका विधान भाव-विधान से उच्चतर कोटि का होता है [१]। विशेष अवसर पर वेग प्रवृत्ति और भाव से युक्त चित्त-विकार भाव होगा। पर ऐसी स्थिर प्रणाली की प्रतिष्ठा जिसके कारण समय-समय पर कई भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है भाव-कोश है। भाव-कोश भाव-समष्टि नहीं है, अन्तःकरण की संघटित प्रणालीमात्र है। इनसे कई भिन्न-भिन्न भावों का संचार हुआ करता है [२]। शुक्लजी का कथन है कि प्रत्येक भाव-कोश के भीतर नींव देने वाला मूल भाव रहता है [३]। हमारे यहां जिन्हें स्थायी भाव कहा गया है उन्हें ही (हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़कर) आधुनिक मनोविज्ञानियों ने मूल भाव कहा है [४]। स्थायी शब्द के शुक्लजी ने दो अर्थ बतलाये हैं––एक तो वह जिसमें एक भाव एक अवसर का अधिपति रहता है, दूसरे भाव उसके शासन में रहते हैं, दूसरा अर्थ वह जिसमें किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बने रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें। हमारे आचार्यों का प्रथम प्रकार के स्थायित्व से ही आशय था [५]। शुक्ल जी ने भाव की तीन दशायें मानी हैं––भाव दशा, स्थायी दशा और शील दशा। भाव दशा एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक आलंबन के प्रति होती है, और शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति होती है [६]। भावों के प्रकृतिस्थ हो जाने की दशा को शुक्लजी ने शील दशा कहा है इससे मनुष्य के स्वभाव का निर्माण होता है [७]। शुक्लजी ने भावों का वर्गीकरण स्वतन्त्र रूप से किया है। वह न तो शतप्रतिशत लक्षण ग्रन्थों पर आश्रित है और न आधुनिक मनोविज्ञान पर ही। शुक्लजी ने बतलाया है कि मनोविज्ञान में स्थायी दशा और शील दशा में भेद नहीं किया गया है। शुक्लजी को इस भेद का आग्रह है। शील दशा का समूह बड़ा होता है। भावों से ही शील दशा की प्रतिष्ठा नहीं होती, भाव-दशा तक न पहुँचने वाले मन के वेगों और प्रवृत्तियों के अभ्यास से भी शील प्रतिष्ठित

---

१ आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त पृ० १८३–१८४
२ रस-मीमांसा " १७०
३ –वही– " १७५
४ –वही– " १७२
५ –वही– " १७२
६ रस–मीमांसा पृ० १८६
चिन्तामणि (भाग २) " २१९
७ रस–मीमांसा " १८२–१८३

होता है। जैसे लज्जाशीलता, आलसीपन आदि [१]। मुक्तक काव्यों में रस की शील दशा चित्रित नहीं की जा सकती : मुक्तक में तो रस की रस्म अदा की जाती है। प्रबन्ध काव्य या नाटकों में चरित्र-चित्रण का आधार शील दशा होती है। शील दशा रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है। आलंबन के आभ्यंतर स्वरूप का संघटन शील से ही होता है। जिस प्रकार आलंबन के रूप से आश्रय में अनुभावों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार शील के द्वारा भी [२]।

शुक्लजी ने सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभूतियों के आधार पर भावों के दो वर्ग बना दिये हैं। राग, हास, उत्साह और आश्चर्य सुखात्मक वर्ग के एवं शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा को दुःखात्मक वर्ग में स्थान दिया है। पश्चिमी तत्वों के आधार पर भाव तत्वों की उन्होंने एक तालिका बनाई है और इसमें भारतीय शास्त्र तथा पश्चिमी मनोविज्ञान को समकक्ष रखकर देखा है। इस प्रकार उन्होंने रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान की आधार-शिला दी है [३]। भावों के मनोवैज्ञानिक आधार के अन्वेषण में भी शुक्लजी की दृष्टि रस-सिद्धान्त पर अडिग रही है। उन्होंने बतलाया है कि मनोवैज्ञानिकों ने आनन्द और ईर्षा को भी भाव की संज्ञा दी है। परन्तु साहित्य में इनका उल्लेख स्थायी भावों में नहीं है, संचारियों में है, क्योंकि दूसरे के हर्ष और ईर्षा से साधारणीकरण नहीं होता [४]।

संचारी भावों पर भी शुक्लजी ने विस्तार से चर्चा की है। प्रधान भाव वे ही माने गये हैं जिनका प्रदर्शन देखकर या सुनकर पाठक भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं। शेष भाव एवं मनोवेग संचारी मान लिये गये हैं[५]। संचारी स्वतन्त्र रूप से भी आते हैं और उनके अन्तर्गत भी दूसरे संचारी आ सकते हैं और उनमें भी विभावानुभाव आदि की योजना मिल सकती है। परन्तु इससे रसानुभव नहीं होता। शुक्लजी ने इस सम्बन्ध में 'लज्जा' संचारी का उदाहरण देकर भरतमुनि के रस-निष्पत्ति सम्बन्धी सूत्र को असिद्ध बतलाया है। परन्तु शुक्लजी ने यहां सूत्र के 'संयोगात्' शब्द पर ध्यान नहीं दिया। विभावादि का संयोग स्थायी से हो, न कि संचारी से, तब रस-निष्पत्ति होती है। जिन भावों के आलंबन सामान्य हो, वे ही स्थायी माने गये हैं, शेष संचारियों की श्रेणी में रख दिये गये हैं [६]। संचारियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनमें स्वतन्त्र विषययुक्त भाव मनोविकार और मनोवेग ही नहीं बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थायें भी

---

१ रस — मीमांसा " १८७
२ —वही— " १८९
३ —वही— " १९२-१९३
४ —वही— " ६९७
५ —वही— " २०२-२०३
६ —वही— पृष्ठ २०३-२०५- जा० ग्र० पृष्ठ १०३

आ गई हैं [१]। संचारी प्रधान भावों के अङ्ग होते हैं उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं अंगांगिभाव सम्बन्ध है [२]। अन्तःकरण की अन्य वृत्तियां जो रागात्मिका नहीं हैं, जो धारणा, बुद्धि आदि के व्याहार हैं, वे भी संचारियों में परिगणित हैं। काव्य में इनका ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहां तक प्रत्यक्ष रूप में ये भावों के द्वारा प्रेरित हों। संकल्पात्मिका और निश्चयात्मिका वृत्तियों को शेंड ने भी भावों के शासन के भीतर रख कर विचार किया हैं [३]। धारणा, बुद्धि आदि के व्यापार भाव की स्थायी दशा में होते हैं, भाव दशा में नहीं [४]। मानसिक अवस्थायें दो प्रकार की होती हैं—प्रकृति और आगंतुक। आगंतुक रूप में ही वे भावोत्पन्न होने के कारण संचारी होती हैं। प्रकृतिगत मानसिक अवस्था चरित्र-चित्रण में बड़े काम की सिद्ध होती है यह शील दशा के अन्तर्गत रह कर प्रवृत्ति को उत्तेजना देती हैं [५]। भावों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से मानसिक अवस्थाओं के रूप में व्यक्त इन संचारियों में बहुत कुछ वेग आ जाता है [६]। भावों द्वारा उपस्थित शारीरिक अवस्थाओं से भी भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायता मिलती है। भाव के साथ सीधा सम्बन्ध होने पर ही शारीरिक अवस्थायें संचारी मानी जा सकती हैं [७]। संचारियों में कुछ तो ऐसे हैं जिनके विषय ही नहीं होते, कुछ संचारियों के प्रधान भाव के आलंबन ही विषय होते हैं या उनसे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें। इस प्रकार समस्त विषय युक्त संचारियों के विषय वे ही होते हैं जो या तो उनके प्रधान भावों के आलंबन होते हैं या आलंबनगत उद्दीपन। आलबन-बाह्य उद्दीपन केवल हर्ष और विषाद के विषय ही होते हैं [८]। साहित्य-ग्रन्थों में संचारियों के बाह्य चिन्ह भी बतलाये गये हैं, जो उनके अनुभाव होते हैं [९]। प्रधान भाव भी किसी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर आ सकता है। परन्तु उसकी स्वतन्त्र गति और प्रवृत्ति तथा स्वतन्त्र विषय नहीं होना चाहिये। ये सब प्रधान भाव के ही हों, या उससे सम्बद्ध हों [१०]। स्थायी और संचारी का यह प्रकृत रूप है जो पात्र को अधिष्ठान मानने से होता है। परन्तु नाटक का काव्य को अधिष्ठान मानने पर इनका एक दूसरा अर्थ भी है। काव्य में आदि से अन्त

---

१ रस – मीमाँसा " २०५
२ —वही— " २१०
३ —वही— " २११
४ —वही— " २१७
५ —वही— " २१६
६ —वही— " २१७
७ —वही— " २२९–२३०
८ —वही— " २३३
९ —वही— " २३३
१० —वही— " २३७

तक जो भाव बराबर बना रहे, दूसरे भावों के बीच-बीच में आने पर भी उच्छिन्न न हों, वह स्थायी भाव है और जिनका वर्णन बीच-बीच में थोड़ी देर के लिए हो वे संचारी। पर यह अर्थ बहुत स्थूल है[१]। विरोध-अविरोध विचार की दृष्टि से शुक्लजी ने संचारियों को चार भागों में विभक्त कर दिया है—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन[२]। मूलभाव, जिसे शुक्लजी ने बीज भाव भी कहा है[३], अपनी स्थायी दशा का संचारी होकर बराबर आया करता है। दूसरी बात यह कि अनुभाव प्रधान अथवा संचारी भाव के होते हैं स्थायी के नहीं। भाव की भावदशा या स्थायी दशा की पहचान संचारियों से हो सकती है। भाव दशा में विरुद्ध संचारी के आने पर भाव बाधित होकर तिरोहित हो जाता है, पर स्थायी दशा को कोई भी विरुद्ध या अविरुद्ध भाव संचारित्व के द्वारा तिरोहित नहीं कर सकता। स्थायी का यह लक्षण लक्षण-ग्रन्थों में स्वीकार हुआ है। पर रति में ही यह लक्षण घटता है[४]।

हिन्दी के लक्षण ग्रंथों में 'हाव' अनुभाव के अन्तर्गत रखे मिलते है। परन्तु शुक्ल जी का मत है कि 'अनुभाव' आश्रय की चेष्टायें होती हैं, जिनका उद्देश्य भाव-व्यंजना है। 'हाव' नायिका' (आलम्बन) के प्रभाव को बढ़ाने के लिए रमणीयता की वृद्धि के लिये रखे जाते हैं, अतः वे विभाव के अन्तर्गत होंगे। परन्तु शुक्लजी ने उन्हें अनुभाव के रूप में भी स्वीकार किया है[५]।

शुक्लजी अनुभावों को भाव का कार्य मानते हैं अनुभाव भाव के सूचक होते हैं,भावों की गति-विधि एवं प्रवृत्ति का पता देते हैं। इनका सम्बन्ध भाव के आश्रय से होता है। रस-ग्रंथों में अनुभावों के चार भेद किए गए हैं-सात्विक, मानसिक, कायिक और आहार्य। शुक्लजी ने सात्विक और आहार्य को कायिक के भीतर समाविष्ट कर दिया और मानसिक अनुभाव को अनुभाव न मानकर संचारी की संज्ञा दी है, क्योंकि अनुभाव तो सूचक हैं और मानसिक अवस्थायें सूच्य हुआ करती हैं। इस प्रकार शुक्ल जी अनुभाव को शारीरिक ही मानते हैं[६]।

कवि-कर्म-विधान के दो पक्षों में से उसके भाव-पक्ष पर ऊपर शुक्लजी के विचार दिए जा चुके हैं। दूसरा पक्ष विभावों का है। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का

---

१ रस मीमांसा पृष्ठ २७८
२ —वही— ,, २००
३ चिन्तामणि (भाग १) ,, २२२
४ रस-मीमांसा ,, १८१-१८२
५ गोस्वामी तुलसीदास ,, ९२
६ आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त पृष्ठ १९३-१९४

चित्रण करता है जो मन में भाव उठाने या उठे हुए भाव को जमाने में समर्थ होती हैं। दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। पहला विभाव पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। काव्य में दोनों आवश्यक और अन्योन्याश्रित हैं। एक के न रहने पर भी वह अव्यक्त रूप से वहाँ रहता है। परन्तु शुक्लजी के अनुसार काव्य में विभाव पक्ष ही मुख्य है। विभाव के शुक्लजी ने दो पक्ष बतलाए हैं—आलम्बन ओर आश्रय[१]। इन दोनों में भी आलम्बन मात्र का विशद वर्णन श्रोता में रसानुभव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ रहता है। आश्रय पक्ष की आवश्यकता शुक्लजी नहीं मानते[२]। आलम्बन के सम्बन्ध में शुक्लजी की मान्यता थी कि कवि जिन वस्तुओं का विस्तृत वर्णन करता है, वे सब आलम्बन होती हैं। जो वस्तुएँ किसी पात्र की आलम्बन नहीं हैं, उन्हें वे कवि या श्रोता का आलम्बन मानते हैं। कवि स्वयं आश्रय बन जाता है। श्रोता या पाठक के प्रति वह उस भाव को प्रत्यक्ष करता है। इससे दोनों की वृत्तियाँ रमती हैं। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के सामान्य आलम्बनों का वर्णन रसात्मक होता है[३]। इसलिए कवि का मुख्य कार्य भावों के आलम्बन बन सकने वाले विषयों को सामने रखना है। रस की शर्तें पूरी करना कवि का कार्य नहीं है। यदि भाव जागृत करने वाला चित्र कवि ने उपस्थित कर दिया है, तो एक प्रकार से वह अपना काम पूरा कर चुका है।[४] शुक्लजी मानते हैं कि भावाभिव्यक्ति अनुभावादि की योजना के द्वारा आवश्यक नहीं है। पाठक काव्य को इसलिये नहीं पढ़ता कि उससे उसे किसी का हँसना-गाना, रोना, कलपना, क्रोध ईर्षा आदि प्राप्त होंगे, वरन् ऐसे विषयों को सामने लाने के लिए पढ़ता है कि जिन्हें देखकर वह स्वयं हँसे, रोए, लीन हो। राम-वन-गमन का चित्रण स्वयं ही पाठक को करुणार्द्र कर सकता है। उस पर किसी पात्र के द्वारा शोक दुःखादि प्रकट करना आवश्यक नहीं[५]।

शुक्लजी ने काव्य मे विभाव-पक्ष को, भाव-पक्ष पर प्रधानता दी है। इससे उनके काव्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। शुक्लजी के पूर्व नवरीतिवादी समीक्षकों ने रस और भावों के शास्त्रीय रूप का ही प्रयोग किया है। उनके विवेचन में रस-सिद्धान्त का 'रस' नाम-मात्र को ही है, वहाँ वह शास्त्रीय निर्देशों से बंधा हुआ और अतिशय चमत्कार से पूर्ण है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रस की जीवन-सम्बन्धी नींव का उल्लेख किया था, परन्तु वह उनके व्यस्त और बहुमुखी कार्य

---

१ रस-मीमांसा ,, १०६ भ्रमर गीतसार (भूमिका) पृ० ४
२ रस-मीमांसा पृष्ठ १४४, ११६
३ जायसी ग्रन्थावली ,, ६३
४ चिन्तामणि (भाग २) ,, ४४
५ —वही— ,, ४४, ४५

में अल्प और अपूर्ण था और द्विवेदी जी की दृष्टि भी प्राचीन शास्त्र पर और उसकी रूढ़ियों पर कभी-कभी अटक जाया करती थी। शुक्लजी ने सर्वप्रथम 'रस' को शास्त्र के आलंकारिक बन्धनों से मुक्त किया और उसे एक नई भूमि प्रदान की। शुक्लजी की यह भूमि वस्तुवादी थी। इसका प्रमाण यह है कि शुक्लजी ने काव्य में विभाव-पक्ष को प्रमुख माना है, भाव-पक्ष को नहीं। वे काव्य में वस्तु-चित्रण को ही प्रमुख मानते हैं, भाव-निरुपण को नहीं। शुक्लजी ने 'रस' को शास्त्र के बाह्य शैलीगत उपकरणों से निकाल कर उसे वस्तुगत भूमि पर पहुँचाया और इस प्रकार उन्होंने रस-सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया, परन्तु वे उसे काव्य के स्थूल एवं बाह्य वस्तु-तत्व से ही सम्बद्ध कर सके, काव्य के सूक्ष्म एवं अन्तरंग भाव-तत्व से नहीं। यह कार्य आगे चल कर श्री नन्ददुलारे बाजपेयी की समीक्षाओं में सम्पन्न हुआ। वहाँ पर रस अधिक तात्विक भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। शुक्लजी की उपर्युक्त मान्यता के कारण ही वे प्रबन्ध काव्य को अधिक महत्व देते हैं, प्रकृति के व्यक्त रूपों में रसोद्रेक की क्षमता मानते हैं।

यह रसानुभूति कैसे होती है, इस प्रश्न के उत्तर में शुक्लजी साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है। सच्चे कवि अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देखते हैं। "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।" रौद्र रस के उदाहरण में आलम्बन का चित्रण इस रूप में हो कि वह मनुष्य-मात्र के क्रोध का पात्र हो सके। ऐसे काव्य को शुक्लजी विभाव-विधायक काव्य कहते हैं[१]। यदि आलम्बन सबके समान भावों का विषय नहीं है, तो उसे शुक्लजी भाव-प्रदर्शक काव्य की संज्ञा देते हैं। ऐसे काव्यों में विभाव-पक्ष शून्य या अशक्त रहता है। वहाँ पाठक या श्रोता अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप करता है[२]। शुक्लजी ने यहाँ एक समस्या उठाई है और उसका समाधान भी दिया है। काव्य का विषय विशेष होता है, सामान्य नहीं। काव्य में कल्पना के द्वारा विशेष वस्तु या व्यक्ति की मूर्त-भावना उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन विशेष रूप में ही आते हैं। तब उनका साधारणीकरण कैसे होता है? शुक्लजी का कहना है कि विशेष आलम्बन जिस प्रकार आश्रय के भाव के आलम्बन हैं, उसी प्रकार सहृदय पाठकों अथवा श्रोताओं के भी आलम्बन बन जाते है[३]। वह मूर्ति विशेष आश्रय द्वारा

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २२७
२ —वही— ,, २२७-२२८
३ —वही— ,, २२९-२३०

व्यंजित भाव को श्रोता अथवा पाठक में भी जगाती है। अतएव यह सिद्ध है कि "साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है। व्यक्ति विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत है।" पाठक का हृदय भी सामान्य लोक का हृदय हो जाता है। वह अलग नहीं रहता[१]। जीवन तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में अनुभूति उत्पन्न करने में आलम्बन मुख्य है[२]। उदात्त कोटि की सौन्दर्य भावना मन में उदात्त कोटि के आलम्बन के चित्र आने पर ही जागृत होती है[३]। सामाजिक कोटि का भाव उत्पन्न करने के लिए सामाजिक कोटि का विभाव आवश्यक है। सच्ची रसानुभूति के लिए भाव और विभाव का सामञ्जस्य अनिवार्य है[४]। हम ऊपर देख चुके हैं कि शुक्लजी ने विभाव-पक्ष को काव्य में प्रमुखता दी है, इसलिए वे रसानुभूति की प्रक्रिया में भी आलम्बन को प्रमुखता देते हैं। काव्य के व्यक्त विषय को साधारणीकरण का आधार मानते हैं। आलम्बन के स्थान पर आलम्बनत्व धर्म कहने से इस दृष्टिकोण में कोई तात्विक भेद नहीं आ जाता। सौन्दर्यानुभूति को भी शुक्लजी ने विषय की तदाकार परिणति कहा है। वहाँ भी उनका यही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। वे सौन्दर्य को वस्तुगत ही मानते हैं[५]। शुक्लजी की दृष्टि वस्तु पर अधिक है। वैसे इस प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी कहा है कि पूर्ण रस के लिए कवि, पात्र और श्रोता तीनों के हृदय का समन्वय होना चाहिए[६]। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ हो सकता है[७]। परन्तु शुक्लजी का आग्रह आलम्बन पर अधिक है। शुक्लजी ने आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की भी चर्चा की है[८]। शुक्लजी यहाँ 'साहित्य-दर्पण' से प्रभावित प्रतीत होते हैं[९]। शुक्लजी के उपरान्त साधारणीकरण समस्त कवि-व्यापार का माना गया है। यह बात हम आगे चल कर देखेंगे।

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २३०
२ —वही— (सन् १९४५) ,, ३२८
३ —वही— ,, ३३०
४ —वही— ,, ३३१
५ चिन्तामणि (भाग १) ,, १६४--१६५
६ रस--मीमांसा ,, ९७
७ —वही— ,, ९९
८ चिन्तामणि (भाग १) ,, २३१
९ साहित्य-दर्पण (तृ० प०) श्लोक ९--१०

शुक्लजी रसानुभूति को अनिवार्यत: आनन्दात्मक नहीं मानते। वे मानते हैं कि क्रोध, भय, जुगुप्सा तथा करुणा की वास्तविक अनुभूति दु:खात्मक होती है। वे आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में नहीं ग्रहण करते। वे उसका अर्थ हृदय की बद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त मानते हैं। उनका मत है कि करुण रस प्रधान नाटकों में दु:ख ही का अनुभव होता है। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह रसात्मक होता है[1]। शुक्लजी काव्यानुभूति और भावानुभूति में अंतर नहीं मानते। रस की आनन्दात्मकता के लिए भारतीय काव्य-शास्त्र में जो तर्क दिया गया है, उससे इस समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता। शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर इसका उत्तर दिया है। इस प्रसंग में शुक्लजी को आनन्द शब्द का आग्रह भी नहीं है[2]। शुक्लजी के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे इसको लौकिक मानते हैं अलौकिक नहीं। इसका अलौकिकत्व एवं ब्रह्मानन्द सहोदरत्व शुक्लजी ने स्वीकार नहीं किया। परन्तु उसे हृदय की मुक्तावस्था मानकर उसे वैयक्तिक अनुभूतियों की भूमि से ऊपर उठा दिया हैं तथा उसके सामाजिक स्वरूप का प्रतिपादन किया है। रस के विवेचन में शुक्लजी का यह कार्य—उसके पूर्णत: लौकिक रूप का निरूपण रस की शास्त्रीय परम्परा से बहुत कुछ भिन्न है। रस के इस लौकिक निरूपण में शुक्लजी ने जीवन की साधारण भावानुभूति और काव्यानुभूति में कोई भी भेद नहीं किया हैं। जीवन के दु:ख की अनुभूति हमें तोड़ देती है, परन्तु काव्यानुभूति हमें शक्ति देती है। उससे व्यक्तित्व का उन्नयन होता है। रसानुभूति की इस उन्नयिनी परिपाटी का श्री वाजपेयीजी ने सुन्दर निरूपण किया है। शुक्लजी के इस विवेचन में भारतीय काव्य-शास्त्र हृदय की मुक्तावस्था के रूप में उपस्थित है और अरस्तू के केथार्सिस सिद्धान्त का भी इसमें ईषत् आभास प्रतीत होता है जहां उन्होंने हृदय के हलके होने का उल्लेख किया है। शुक्लजी में रस के विशुद्ध मनोवैज्ञानिक स्वरूप की प्रतिष्ठा नही हो सकी, यद्यपि उसके इस स्वरूप का उन्होंने अनुभूति की क्रीड़ा वृत्ति के उल्लेख द्वारा सकेत अवश्य किया है। उन्हें रस के सामाजिक स्वरूप का ही अधिक आग्रह है। जो रस पहले शास्त्रों में सूख रहा था उसे शुक्लजी ने एक उदात्त सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर युग-प्रवर्तक कार्य किया, परन्तु वे उसे जीवन के अन्तरंग में नहीं पहुँचा सके, उसे बाह्य भूमियों पर ही अधिकतर बहाते रहे। श्री वाजपेयीजी ने रस की व्याख्या संवेदनात्मक भूमि पर की है, जो विशुद्ध आंतरिक है। डा० नगेन्द्र ने रस की व्याख्या मन:शास्त्र के आधार पर की है।

शुक्लजी ने रस को बड़े व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में जो रस माना गया है, उसके अतिरिक्त भी उन्होंने रस की कई कोटियां निर्धारित की हैं।

---

१ चिन्तामणि (भाग १) — पृ० २५१, रस-मीमांसा पृ० १०१,६५

२ चिन्तामणि (भाग २) — पृ० १८७–१८८

रसानुभूति की तीन दशाओं का शुक्लजी ने निरूपण किया है — उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। रस की उत्तम दशा में आश्रय अथवा कवि से सहृदय का तादात्म्य होता है। वे उसी भाव में मग्न होते हैं, जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र या कवि व्यंजना कर रहा है। रस की मध्यम दशा में वह पात्र के भाव का अनुभव न कर पात्र के ही प्रति किसी दूसरे भाव का अनुभव करने लगता है। इसे वे पाश्चात्य नाटकों में बतलाये हुए अन्तः प्रकृति के वैचित्र्य की संज्ञा देते हैं। रस की निकृष्ट दशा में चमत्कार-जन्य कुतूहल मात्र उत्पन्न होता है [१]। रस की मध्यम तथा निकृष्ट दशा में श्रोता या पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं होता। इस स्थिति में श्रोता का हृदय आश्रय से अलग रहता है। वह आश्रय का शील-दृष्टा बन जाता है। हमारे यहां रस की प्रथम कोटि की ही चर्चा की गई है, द्वितीय और तृतीय की नहीं की गई। शुक्लजी ने इन्हें भी एक प्रकार की रस–दशा ही माना है [२]। शुक्लजी रस की मध्यम श्रेणी में भी एक प्रकार का साधारणीकरण मानते हैं। रस की इस दशा में काव्य का आश्रय पाठक या श्रोता का आलंबन बन जाता है और पाठक अथवा श्रोता स्वयं आश्रय का काम करने लगता है। यहां भी साधारणीकरण होता है, परन्तु कवि के अव्यक्त भाव के साथ। शुक्लजी मानते हैं कि पात्र के स्वरूप सघटन के समय कवि के मन में उसके प्रति कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। इसी कवि के भाव से श्रोतादि का तादात्म्य होता है। वस्तु अथवा व्यक्ति के चित्रण ही जहां पर हों, वहाँ कवि स्वयं आश्रय माना जा सकता है [३]। शुक्लजी श्रेष्ठ काव्य साधारणीकरण की स्थिति में ही मानते हैं, जो भारतीय दृश्य या श्रव्य काव्य का लक्ष्य रहा है। यूरोप के दृश्य काव्य में, शुक्लजी के अनुसार, शील–वैचित्र्य लक्ष्य रहा है। इससे दर्शक को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है इसकी भी शुक्लजी ने तीन कोटियां बतलाई हैं--आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, आश्चर्यपूर्ण अवसादन और कुतूहलमात्र। आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष से, आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन से होता है। शुक्लजी का मत है कि उत्कृष्ट शील वाले पात्रों के साथ भाव-व्यंजना के समय पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है, परन्तु आश्चर्यपूर्ण अवसादन की स्थिति में यह सम्भव नहीं है। इन दोनों में सात्विकी और तामसी प्रवृत्तियों की चरम सीमा दिखलाई जाती है। इनमें वर्गीय विशेषतायें होती हैं। परन्तु कुछ लोग किसी भी वर्ग में न आने वाली अद्वितीय प्रकृति के चित्रण में ही काव्य-कला का चरम उत्कर्ष मानते हैं। इनसे एक प्रकार का कुतूहल मात्र होता है। डण्टन ने इसे कवि की नाटकीय या निरपेक्ष

---

१ चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ २२०
२ –वही– (भाग १) " २३१
३ –वही– " २३१–२३२

दृष्टि कहा है [१]। शुक्लजी इसे एक तमाशा मात्र मानते हैं [२]। शुक्लजी ने शील-वैचित्र्य की स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य होने की बात कही थी और यह बहुत ठीक भी थी। इसमें कवि-व्यापार से साधारणीकरण होता है, इस सिद्धान्त की स्वीकृति निहित है। परन्तु, शुक्लजी इस सिद्धान्त का अंशतः और गौण रूप में – केवल रस की मध्यम और निकृष्ट श्रेणियों के स्पष्टीकरण के लिए – ही प्रयोग कर सके हैं। रस की उत्तम श्रेणी के विवेचन में वे इस व्यापक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करते। इसका कारण है। शुक्लजी की दृष्टि न तो कवि पर है और न सहृदय पर। उनकी दृष्टि काव्य-वस्तु पर, आलंबन पर लगी हुई है। यदि वे कवि के मन से तादात्म्य स्थापित करते तो रस की उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियों का स्थूल वर्गीकरण नहीं करते, रस की परम्परागत अखण्ड सत्ता को खण्ड-खण्ड करके नहीं देखते। इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि वस्तु-परक और बाह्य थी। वह न तो विशुद्ध शास्त्रीय थी और न मनोवैज्ञानिक ही, वरन् एक प्रकार से वैयक्तिक थी।

शुक्लजी ने तीन प्रकार के रूप-विधान बतलाये हैं—प्रत्यक्ष, स्मृत, तथा कल्पित। तीनों में भाव को रस दशा तक पहुँचाने की शक्ति है। इनमें भी प्रत्यक्ष रूप-विधान ही स्मृत तथा कल्पित रूप-विधानों का आधार बनता है। प्रत्यक्ष—रूप विधान ही भावों की प्रतिष्ठा करने वाला मूल उपादान है [३]। शुक्लजी यहां पर 'प्रत्यक्ष' का अर्थ चाक्षुष ज्ञान हीं नहीं मानते, उसके अन्तर्गत शब्द, गंध, रस और स्पर्श को भी सम्मिलित कर लेते हैं [४]। शुक्लजी का मत है कि काव्य–समीक्षकों ने कल्पित रूप-विधान को ही अपने विचार–क्षेत्र के भीतर लिया है, प्रत्यक्ष और स्मृत रूप-विधान को छोड़ दिया है। वे स्त्री को छोड़ कर स्त्री के चित्र या उसके काव्य वर्णन पर ही विचार करते हैं [५]। 'जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के सम्बन्ध में लोक के साथ—या कम से कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है वे हमारे और लोक के सामान्य आलंबन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसे परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृ० २३४
२ —वही— ,, २३५
३ —वही— ,, २४३
४ चिन्तामणि (भाग १) पृ० २४४
५ —वही— ,, २४५

की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं [१]।' शुक्लजी ने विभाव का काव्य-शास्त्र वर्णित अर्थ ही ग्रहण नहीं किया है, उसकी बड़ी व्यापक व्याख्या की है। वे विभाव के अन्तर्गत, भाव को जगाने में समर्थ, संसार की प्रत्येक वस्तु, उसका प्रत्येक व्यापार या प्रसंग समाहित करते हैं। इस प्रकार उनका आलंबन-विधान बहुत व्यापक है [२]। हमारी सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति आदि की भावनाओं को जागृत करने वाले समस्त वस्तु-व्यापार विभाव-पक्ष के अन्तर्गत हैं [३]।

अपने इसी मत के अनुसार शुक्लजी प्राकृतिक दृश्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक मानते हैं [४]। शुक्लजी ने प्रकृति का आलंबनत्व दो प्रकार से सिद्ध किया है—औपचारिक और स्वतन्त्र। वन, उपवन आदि परिस्थितियां हमारे जीवन की आलंबन हैं, अतः उपचार से वे हमारे भावों की भी आलंबन हैं। हमारे ही जैसी परिस्थितियों में पात्रों को पाकर हम तादात्म्य का अनुभव करते हैं और इस प्रकार साधारणीकरण में सहायता पहुँचती है। यह प्रकृति का अंग रूप आलंबनत्व हुआ पर वह स्वतन्त्र रूप से भी आलंबन है। हमारे अन्तःकरण में प्रकृति के प्रति पूर्व साहचर्य के प्रभाव से वासना या संस्कार के रूप में प्रेम निहित है। इसलिए प्रकृति के दर्शन या काव्य-चित्रण से हमारा सहज अनुरंजन होता है। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देखकर हर्षसंचारी का उद्रेक होता है जो मूल में स्थित प्रकृति के प्रति रति-भाव के कारण है [५]। जिस प्रकार शुक्लजी प्रकृति में स्वतन्त्र रस मानते हैं उसी प्रकार इतिहास में भी स्वतन्त्र रस की सत्ता स्वीकार करते हैं [६]। शुक्लजी ने इतिहास के रस को 'स्मृत्याभास कल्पना' का रस कहा है [७]। अतीत की स्मृति में भी उन्होंने रसोद्रेक की शक्ति मानी है। रति, हास तथा करुणा स्थायी भावों से सम्बद्ध अतीत का स्मरण—विशुद्ध और प्रत्यभिज्ञान दोनों प्रकार का—रसात्मक कोटि में आता है [८]। देश प्रेम को भी उन्होंने रस-कोटि में परिगणित किया है। देश इस प्रेम का आलंबन है और यह प्रेम वासना-संस्कार जन्य है [९]। शुक्लजी का यह

---

१ चिन्तामणि (भाग १) ,, २४८
२ चिन्तामणि (भाग २) ,, १०८-१०२
३ ,, (भाग १) ,, २६,
४ —वही— ,, २५२
५ रस-मीमांसा पृ० १११–११२, १४३
६ चिन्तामणि (भाग २) ,, ८, ३९, र० मी० १४८, १४९
चिन्तामणि (भाग १) ,, २५७–२५९
७ —वही— ,, २५४, २५५, २५९, २६०, २६१, २६२
८ चिन्तामणि (भाग २) ,, ४१, ४२

एक बड़ा भारी सिद्धान्त रहा है कि 'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।' इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अंतर्वृत्ति नहीं हैं। बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है,।[1] परन्तु वस्तु-काव्य के अनुशीलन में शुक्लजी शब्द-काव्य के उदात्त और अवदात स्वरूप को भूल सा गए हैं। दोनों में उन्होंने कोई भेद नहीं किया है, इसके विपरीत दोनों की एक रूपता का साग्रह प्रतिपादन किया है। यहां भी रस कोटि तक पहुँचने वाली प्रत्यक्षानुभूति से रसानुभूति किस प्रकार उदात्त और अवदात है, यह स्पष्ट नहीं हुआ है।

शुक्लाजी ने भाव-व्यंजना के समय कवि के दो रूपों की चर्चा की है—सहज और आरोपित। यदि आलंबन सामान्य है, यदि कवि भी आश्रय के ही भाव का अनुभव करता है, तो उसका रूप सहज होगा। यदि आलंबन सामान्य नहीं है, कवि आश्रय से उदासीन या विरक्त है तो उसका रूप आरोपित या आहार्य होगा।[2] ऐसे ही स्थलों पर रसाभास या भावाभास होता है। पूर्ण रस में कभी आलंबन के अनुचित, अनुपयुक्त अथवा विशेष होने के कारण होती है।[3] इसी प्रकार शुक्लजी ने भाव-संधि, भाव शबलता, भावोदय, भाव-शांति आदि पर भी विचार व्यक्त किए है।[4] इस विरोध की भी उन्होंने चर्चा की है।[5] शुक्लजी ने रसावस्था में रसावयवों का संश्लेषण दह्यादि न्याय अथवा प्रमाणक न्याय के समान माना है।[6]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने रस के शास्त्रीय रूप पर, उसके विभिन्न अवयवों पर विस्तार से चर्चा की है। इसलिए शुक्लजी की दृष्टि शास्त्रीय ही कही जायगी, यद्यपि उनके शास्त्र में नवीनता है और बहुत मात्रा में है। 'शुलजी ने अपने रस-सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए चिन्तामणि पहला भाग में सात स्थायी भावों तथा तीन संचारी भावों को अपने निबन्धों का विषय बनाकर प्रत्येक निबन्ध में उस भाव की परिभाषा, लक्षण, साहित्य तथा जीवन में उसकी महत्ता तथा उपयोगिता उसकी उत्पत्ति का आधार, उसकी गतिविधि, क्रमिक विकास, उसकी विशेषतायें उसके निर्माणकारी विभिन्न अवयव तथा प्रत्यक्ष जीवन एवं साहित्य में पाए जाने वाले उसके विभिन्न रूपों, भेदों तथा दशाओं का विवेचन उदाहरण सहित किया है तथा साथ ही स्पष्टता के लिए व्याख्या के

---

१ चिन्तामणि (भाग १) : पृष्ठ २५३
२ रस-मीमांसा " ९१
३ —वही— " ९२
४ —वही— " २४३
५ —वही— " २५०
६ —वही— " ४१४

समय विरोधी तथा समानवर्ती भावों से उसकी तुलता भी की है। फलतः प्रत्येक भाव के विवेचन में उसमें निहित प्रवृत्ति, वासना, इन्द्रिय-वेग, मनोवेग, अन्तःकरण वृत्ति, इच्छा, लक्ष्य, संकल्प उसके आलंबन उद्दीपन आश्रय अनुभव, संचारी भाव, सभी स्पष्ट हो गये हैं। भावों के उचित-अनुचित रूपों के भले-बुरे प्रभावों का भी सोदाहरण विवेचन किया गया है। इससे रस की उपयोगिता तथा महत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[१]

शुक्लजी की समीक्षा रस-सिद्धान्त के आधार पर चली है। उसके शास्त्रीय रूप का ऊपर वर्णन हो चुका है। शुक्लजी की यह रस-दृष्टि बहुत कुछ नैतिक थी। शुक्लजी ने लिखा है 'हम सारा काव्य-क्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखने वाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न है।'[२] इससे शुक्लजी की नैतिक दृष्टि का ही परिचय मिलता है। नवरीतिवादी समीक्षकों—देव और बिहारी के काव्य में रस लेने वालों - और शुक्लजी में यहां स्पष्ट अन्तर दिखलाई पड़ता है। शुक्लजी की समीक्षाएं विराट जीवन की गरिमा से युक्त नैतिक चेतना से दीप्त हैं। उनकी दृष्टि समाज के नैतिक मूल्यों पर स्थिर रही है। भारत के मर्यादित प्रेम के ही वे भक्त थे। नागमती के प्रेम पर उन्होंने लिखा 'यह आशिक-माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है, यह हिन्दू-ग्रहिणी की विरह वाणी है। इसका साहित्य मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।[३] वज्र-यान शाखा की वाम-साधना तथा उससे प्रभावित कौल, कापालिक आदि लोगों में अनैतिक तत्वों की शुक्लजी ने निन्दा की है। तुलसीदासजी ने कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है, प्रेम और शृंगार का भी बड़े संयम से वर्णन किया है। इसके लिए शुक्लजी ने तुलसीदास जी की बड़ी प्रशंसा की है।[४] शुक्लजी की नैतिक दृष्टि तुलसी-साहित्य में ही सम्पूर्णतः चरितार्थ हो सकी है। 'गीतावली' में राम-चरित्र की मर्यादा भूल जाने के कारण शुक्लजी तुलसी पर भी बिगड़ गये हैं।[५] रीतिकालीन कविता में शुक्लजी ने अश्लीलता की शिकायत की है।[६] उसके अनुसार बिहारी की शृंगारी कविता प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुंची है।[७] गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी में सुरुचि तथा सात्विक प्रेम की शुक्लजी ने बड़ी प्रशंसा की है।[८] यूरोपीय चुंबन, आलिंगन आदि

---

१ आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त पृष्ठ १८६-१८७
२ चिन्तामणि (भाग २) " १५६
३ जायसी-ग्रन्थावली " ४६
४ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " १४६-१४२
५ " " " १३५-१५३-१५४
६ " " " २४१
७ " " " २५१
८ " " " ५००-५०५

की प्रथा शुक्लजी की दृष्टि में जंगलीपन या पशुत्व है[1]। व्यक्ति के लिए जिस प्रकार शुक्लजी ने नैतिक बन्धनों को स्वीकार किया है, उसी प्रकार समाज के लिए भी वे कतिपय नियम और व्यवस्थाओं का पालन आवश्यक मानते हैं। यह उनकी मर्यादावादी दृष्टि है। तुलसी की मर्यादावादिता की शुक्लजी ने विस्तार से चर्चा की है।[2] यह उनके लोकधर्म का ही एक अंग है।

नीति को महत्व देते हुए भी शुक्लजी ने इस बात का बार बार उल्लेख किया है कि कला नीति से भिन्न है। उनका मत है कि सच्चे कवि सदैव सत्पात्र को सफल और दुष्ट पात्र को विफल चित्रित नही करते। यह उनका काम नहीं है, उपदेशकों का काम है। कवि सीधा उपदेश नही देता कि, यदि ऐसा कार्य करोगे तो ऐसा फल पाओगे।' कवि जहां पर मंगल-शक्ति की सफलता दिखलाता है, वहाँ उसका लक्ष्य कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालकर अन्तःकरण में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति उत्पन्न करना है[3]। इसीलिए शुक्लजी ने धर्म-तत्वों का निरूपण करने वाली पुस्तकों को अपने साहित्य के इतिहास मे स्थान नही दिया है। कवि और उपदेशक उनके लिए दो व्यक्ति हैं। तुलसी के उपदेशों के लिए उन्होंने एक समाधान ढूँढा है कि पात्र का स्वभाव-चित्रण करने में उनसे सहायता मिलती है।[4] नीति-परक रचनाओं को शुक्लजी ने 'सूक्ति' कहा है, काव्य नहीं।[5] आलंकारिक भाषा में धर्मोपदेश देने वालों को एक स्थान पर उन्होंने 'पद्यकार' की संज्ञा दी है और काव्यकार से उसका अन्तर बतलाया है[6]। वे काव्य में दो ही पक्ष मानते हैं--सुन्दर और कुरूप। शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी, काव्येतर शब्दावलियाँ हैं। इनका सम्बन्ध नीति, धर्म, व्यवहार अर्थ-शास्त्र आदि से है, काव्य से नहीं।[7] कला और नीति का यह अन्तर शुक्लजी ने माना अवश्य है, परन्तु अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में इसका प्रयोग नहीं किया। शुक्लजी अपने साहित्यिक विवेचन मे नैतिक दृष्टि को ही सर्वोपरि मानते रहे हैं। ऊपर दिखाया जा चुका है कि शुक्लजी कवि का कार्य अन्तःकरण में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति उत्पन्न करना मानते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति और निवृत्ति की मान्यता राम और रावण के, सत् और असत् के, अच्छे और बुरे के नैतिक विभाजन पर ही आधारित है। इसी नैतिक दृष्टि के कारण शुक्लजी तुलसी मे अधिक आसक्त है। सूर की प्रशंसा तो उन्होंने उनके भाव-विस्तार तथा भावों

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५५१
२ गोस्वामी तुलसीदास " ४०-४६
३ चिन्तामणि (भाग १) ,, २१८
४ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " १४४ गो० तु० ७३
५ गोस्वामी तुलसीदास ,, ७१
६ हिन्दी-साहित्य का इतिहास ,, ३२४
७ चिन्तामणि (भाग १) ,, १६७

की सूक्ष्मता एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए की है, परन्तु भावों का नैतिक औदात्य, जिस पर उनकी सबसे अधिक दृष्टि है, उन्हें तुलसीदासजी में ही मिल सका है। इसलिए शुक्लजी का रस-सिद्धान्त अन्ततः नीति पर ही आधारित हो सका है।

शुक्लजी ने कला और नीति में अन्तर बतलाया है परंतु कलावादियों के मनोरंजन की हल्की रुचि का भी समर्थन नहीं किया।[१] शील-वैचित्र्य की तीन कोटियां बतलाते हुए उन्होंने केवल मनोरंजन और कुतूहल उत्पन्न करनेवाली, डंटन द्वारा प्रशंसित, कवि की नाटकीय निरपेक्ष दृष्टि को एक तमाशा मात्र माना है।[२] 'कलावाद' या 'कला के लिए कला' सिद्धान्त का शुक्लजी ने विरोध किया है। शुक्लजी काव्य का जीवन से घनिष्ट संबंध मानते हैं और इस सिद्धांत के अनुसार कविता का क्षेत्र जीवन से एकदम अलग हो जाता है।[३] शुक्लजी के अनुसार, क्रोचे ने कलावाद को ही जिलाने का प्रयास किया था, पर वह जीवन से संबद्ध नही था। इसलिए शुक्लजी ने घोषणा की थी, लाखों क्रोचे भी इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सकते।[४] बिहारी के प्रशंसकों के संबंध में शुक्लजी ने बतलाया कि वे वस्तुतः रचना की बारीकी, काव्यांगो के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता पर ही ध्यान लगाते हैं। जैसे कोई हाथी दांत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देखकर घंटों वाह-वाह किया करे।[५] शुक्लजी के अनुसार सच्ची कविता शब्दों की कलाबाजी, उक्तियों की झूठी तड़क-भड़क नही है। वह केवल चमत्कार-प्रदर्शन द्वारा तमाशा नहीं दिखलाती।[६] शुक्लजी ने चमत्कार के दो अर्थ बतलाए हैं-प्रस्तुत वस्तु का अद्भुतत्व या वैलक्षण्य, जो अद्भुत रस का आलंबन हैं और दूसरा उक्ति-चमत्कार।[७] शुक्लजी चमत्कार को काव्य का नित्य-लक्षण नहीं मानते।[८] इस संबंध में शुक्लजी ने कतिपय तर्क दिए हैं। उनका कहना है कि चमत्कार से कुतूहल उत्पन्न होता है यह बाल वृत्ति है। तमाशा और कविता एक ही बात नहीं है। दूसरी बात यह कि यदि कुतूहल या आश्चर्य को ही कविता में संचार माने तो अनेक भावों और रसों के अस्वादन का क्या होगा। काव्य और सूक्ति में अन्तर बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि 'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २२४
२ —वही— " २३५-२३६-२३७
३ चिन्तामणि (भाग २) " १०७
४ —वही— " १८४
५ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " २५१
६ गोस्वामी तुलसीदास " ७०
७ चिन्तामणि (भाग १) " १६८
८ —वही— " १६९-१७०

के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।[१]" जो काव्य केवल भाव–प्रदर्शन का लक्ष्य रखता है, श्रोता के मन में उसके संचार का नहीं, उसे भी शुक्लजी ने इसी कोटि में रखा है। ऐसी कविता मनोरंजन की वस्तु सिद्ध होती है। ऐसे काव्यों में बैठे–ठाले लोगों को ही आनन्द मिलता है। वे प्रदर्शन की कुशलता मात्र से सन्तुष्ट होते है, प्रदर्शित वस्तु से इन्हें कोई प्रयोजन नही रहता। शुक्लजी के अनुसार ऐसी कविता दिल बहलाव भर की होती है।[२]

कलावाद का या चमत्कारवाद का विरोध करते हुए भी शुक्लजी ने काव्य के कलात्मक रूप की उपेक्षा नही की है। वे कला–दृष्टि काव्य में आवश्यक मानते है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कला में चूक हुई तो काव्य का स्थायी प्रभाव उत्पन्न नहीं होगा और व्यंजित भाव के साथ पाठक का साधारणीकरण भी नही हो सकेगा। वस्तुतः शुक्लजी ने कला का नहीं, कलावाद का विरोध किया है।[३]

शुक्लजी ने काव्य में बुद्धि तत्व की आवश्यकता बतलाई है। वे मानते है कि ज्ञान–प्रसार से ही हृदय–प्रसार होता है। ज्ञान के साथ जब हृदय चलता है तो वह काव्य की नई–नई भूमियों की ओर बढ़ता है। यदि वह ज्ञान को साथ न ले तो जीवन और जगत् के नाना पक्षों की ओर नहीं बढ़ पाता और किसी एक भाव को लेके अभिव्यंजना–वैचित्र्य के प्रदर्शन में उलझ जाता है। उसका विभाव–पक्ष शून्य हो जाता है। जीवन और जगत् के नाना रूप तथा भाव ज्ञान के द्वारा ही दिगदर्शित होते है। इस प्रकार शुक्लजी काव्य को निरा निर्बुद्धिक नही मानते, बुद्धि के बन्धन को स्वीकार करते है। उनका मत है कि द्विवेदी-युग की भावना बोध-वृत्ति द्वारा परिचालित थी, अतएव उसका सम्यक विकास हुआ। छायावाद भावुकता में फँस कर रह गया[४]। भावुकता के प्रबल पक्षपाती एवं बुद्धि के विरोधी अनातोले फ्रांस की इसीलिए शुक्लजी ने कटु आलोचना की है।[५] काव्य में बौद्धिक तत्व को आवश्यक मानते हुए भी शुक्लजी ने बुद्धि के काव्य–नियन्त्रण का समर्थन नहीं किया। शुक्लजी ने बार–बार कहा है कि सच्ची कविता वाद–मुक्त हुआ करती है। बाद या सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव--सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित कर उसके प्रति अपने हृदय की भावना व्यक्त करना तथा दूसरों में वही भावना जगाने की चेष्टा करना, शुक्लजी सच्चे कवि का काम

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ १७१
२ रस–मीमाँसा " ९८–९९
३ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २१५
४ हिन्दी–साहित्य का इतिहास " ६६१–६६२
५ चिन्तामणि (भाग २) " २२९

नही मानते। यह मतवादी का काम है।[१] वाद-ग्रस्त होकर कविता अपना वास्तविक स्वरूप खो देती है।[२]

शुक्लजी ने कलावाद का विरोध किया है, पर कलात्मक दृष्टि का नही, काव्य में वादों का विरोध किया गया है, परन्तु बुद्धि को काव्य में आवश्यक माना है। इससे शुक्लजी की मध्यमार्गीय समन्वयवादी दृष्टि का परिचय मिलता है विरोधों मे वे अतिरेकों से—चाहे फिर वह भावना का हो, बुद्धि का हो या कला का—बचने का संकेत करते हैं। इन तीनों तत्वों का जिस कवि में समन्वय हुआ है, उसी के काव्य में उनकी चित्तवृत्ति रमी है, शेष कवियों मे उन्हें समर्थन और विरोध दोनों की सामग्री मिलती रही है।

शुक्लजी ने कभी-कभी सामयिक उपयोगिता के सूत्र को ग्रहण किया है। भक्ति-काल की ज्ञानमार्गी शाखा की रचनाओ को वे काव्य-कोटि में नही मानते। परन्तु अशिक्षित जनता की आचरण-शुद्धि में, उसमें आत्म-गौरव जगाने में तथा उसके आडम्बरों के तिरस्कार में इन रचनाओं से सहायता मिली इसलिये शुक्लजी ने इन सन्तों की स्तुति की है।[३] परन्तु शुक्लजी की दृष्टि काव्य की इस बाह्य और सामयिक उपयोगिता पर उतनी नही जितनी द्विवेदीजी की थी। द्विवेदीजी की दृष्टि काव्य की सामयिक उपयोगिता पर अधिक स्थिर थी, परन्तु शुक्लजी की दृष्टि काव्य की आन्तरिक उपयोगिता पर अधिक लगी हुई है, उसके द्वारा हृदय की मुक्ति पर स्थिर है।

शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि में मनोविज्ञान का भी योग है। भाव-निरूपण के प्रसङ्ग में हम देख चुके है कि उन्होने भारतीय रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान की पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है, या उसके मनोवैज्ञानिक आधार का उद्घाटन किया है। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में भी वे मनोविज्ञान का बराबर प्रयोग करते रहे है। वे काव्य में अन्तःप्रकृति की बड़ी सूक्ष्म छान-बीन करते है, शास्त्र-निर्दिष्ट आलम्बन, उद्दीपन आदि में उलझ कर ही नही रह जाते। गोपी और गोपाल के प्रेम के बीज को बाल्यावस्था की मृदुल भूमि में अङ्कुरित कर उसका शुक्लजी ने सूर के काव्य में बड़ा स्वाभाविक विकास-क्रम दिखलाया है।[४] सुख मे हमे केवल सुखदायक वस्तुओं से सुख मिलता है, परन्तु दुःख में दुखदायक और सुखदायक दोनों प्रकार की वस्तुएँ दुःख देती है, इस

---

१ चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ ७०
२ —वही— ,, ७१
३ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७१-८४
भ्रमरगीतसार (भूमिका) ,, १, २
४ भ्रमरगीतसार (भूमिका) ,, ११, १२

सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य के द्वारा शुक्लजी ने जायसी के काव्य की कई मार्मिक पंक्तियों का आशय स्पष्ट किया है।[१] तुलसीदासजी की समीक्षाओं में भी सामान्य मनोविज्ञान का स्थल-स्थल पर प्रयोग हुआ है।[२] भरत की कैकेयी-भर्त्सना का विश्लेषण इसी आधार पर हुआ है।[३] मन्थरा के चरित्र में मूर्ख स्त्रियों के मनोविज्ञान को स्पष्ट किया गया है।[४] शुक्लजी ने स्वीकार किया है कि तृतीय उत्थान में वास्तविक समीक्षा आरम्भ हुई जिसमें गुण-दोष कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया।[५] कवि की अन्तःप्रवृतियों का उद्‌घाटन करने वाली समीक्षा को भी उन्होंने वास्तविक रूप में आधुनिक समीक्षा कहा है।[६] कवि की रचना के आधार पर, उसकी अन्त.प्रवृति का विश्लेषण करने का मनोवैज्ञानिक उपक्रम शुक्लजी की समीक्षाओं में दिखलाई पड़ता है। गोस्वामीजी की प्रकृति का परिचय प्राप्त करने के लिए उनके वचनों का सहारा लिया गया है।[७] शुक्लजी ने अपनी रस-निरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से प्रसार-संस्कार आवश्यक माना है, और इसका उन्होंने कथंचित् प्रयोग भी किया था।

साहित्य और जीवन

शुक्लजी ने रस और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। रस के जीवन-गत या सामाजिक आधार का उन्होंने बड़े आग्रहतापूर्वक उद्‌घाटन किया है। शास्त्र में जो रस जीवन से दूर जा पड़ा था, शुक्लजी ने उसे जीवन की सरणियों में प्रवाहित कर दिया। शुक्लजी रसानुभूति को आसमान से उतरी हुई वस्तु नहीं, जीवन के भीतर की वस्तु मानते है[८]। सूर और तुलसी की तुलना शुक्लजी ने प्रमुखतः इसी आधार पर की है। शुक्लजी जीवन के पारिवारिक एवं सामाजिक रूपों को साहित्य में व्यक्त देखना चाहते थे। सूर में इनके अभाव की उन्होंने शिकायत की है[९]। सूर और तुलसी की

---

१ जायसी ग्रंथावली (भूमिका) पृष्ठ ४८
२ चिन्तामणि (भाग १) ,, २०४, २०५
३ —वही— ,, २११
४ गोस्वामी तुलसीदास ,, १३१
५ हिन्दी-साहित्य का इतिहास ,, ५६२
६ —वही— ,, ५३०
७ गोस्वामी तुलसीदास ,, १४
८ चिन्तामणि (भाग २) ,, १०६
९ भ्रमरगीतसार (भूमिका)

तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है—'सूरदासजी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदास जी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होने वाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होने अपने समय की जनता की दुःख दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है [१]। जो कवि जीवन की जितनी अधिक परिस्थितियों एवं जितनी अधिक वृत्तियों को चित्रित करता है, शुक्लजी की दृष्टि मे वह उतना ही बड़ा है [२]। उनके अनुसार जीवन अपने समस्त रूप-रंगों के साथ साहित्य में अभिव्यक्त होना चाहिये। वे जीवन की विविध वृत्तियां, उसकी अनेक रूपता उसका गाँभीर्य, उसकी अनेक समस्यायें साहित्य में प्रतिबिम्बित देखना चाहते थे। ये सब बातें गीत-कवि सूर में नही आ सकीं, इसलिये शुक्लजी सूर की अधिक प्रशंसा नही कर सके [३]। उन्होने साहित्य के इतिहास को भी शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा है [४]। साहित्य के सम्बन्ध में शुक्लजी की मान्यता थी कि वह जीवन-प्रवाह के साथ चलता है। प्रायः सभी सभ्य जातियों का साहित्य उनके विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नही कि उनकी चिन्ताओं और कार्यो का प्रवाह एक ओर जा रहा हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शुक्लजी ने इसलिये बड़ी प्रशंसा की है कि उन्होने जीवन और साहित्य के टूटे हुए सम्बन्ध जोड़ कर हमें एक बड़े विच्छेद से बचा लिया [५]। शुक्लजी ने साहित्य के इतिहास की जो परिभाषा दी है, उससे भी उनकी इसी मान्यता की पुष्टि होती है। उन्होंने लिखा है—'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक उन्ही चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य—परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीति के अनुसार होती है। अतःकरण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है [६]।' शुक्लजी काव्य या साहित्य

१ भ्रमरगीतसार (भूमिका) पृष्ठ ४७-४८
२ —वही— ,, ४९
३ —वही— पृष्ठ ६७
४ हिन्दी-साहित्य का इतिहास (वक्तव्य) ,, १
५ चिन्तामणि (भाग १) पृ० १९१
६ हिन्दी-साहित्य का इतिहास ,, १

पर समय के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। समय के अनुसार साहित्य में नये-नये स्वर सुनाई पड़ते हैं। अपने इतिहास में इस बात को शुक्लजी ने भली भांति सिद्ध किया है। सामयिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की भूमिका पर शुक्लजी ने साहित्य की व्याख्या कर उसे एक समाज-शास्त्रीय आधार भी दिया है। जीवन और साहित्य के परिवर्तन के सूत्र की शुक्लजी में स्वीकृति देखकर कतिपय प्रगतिवादी समीक्षकों ने भी उनकी प्रशंसा की है [१]।

शुक्लजी की दृष्टि जीवन पर लगी हुई है, परन्तु यह जीवन प्राय. बहिरंग योगिका है। जीवन के बाह्य वैविध्य, उसकी ऊपरी अनेकरूपता ही उनके आकर्षण का प्रधान केन्द्र है। निश्चय ही शुक्लजी की दृष्टि जीवन और जगत के व्यक्त या गोचर व्यापारों में ही रमती है, वह वस्तुपरक अधिक है, भाव-परक कम। विवेच्य कवि में बाह्य वैविध्य का अभाव मिलने पर उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी भी हुई है। उनकी सूर की समीक्षा से यही सिद्ध होता है। शुक्लजी ने साहित्य के गतिशील रूप का उल्लेख किया है। ऐसी ही बातों के आधार पर उन्हें यथार्थवादी समीक्षक भी बतलाया गया है। परन्तु शुक्लजी ने साहित्य के शाश्वत स्वरूप का भी उल्लेख किया है। उन्होंने साहित्य के सीमित या एकदेशीय स्वरूप की अपेक्षा उसके असीम और सर्वदेशीय स्वरूप की प्रशंसा की है [२]। वे काव्य के सार्वभौम और शाश्वत तत्वों को महत्व देते हैं [३]। काव्य की अनेक रूपता का स्वागत करते हुए भी वे उसमें काव्यत्व की एकता का अनुसंधान करते हैं [४]। इस प्रकार शुक्लजी ने साहित्य का युग-तत्व से भी सम्बन्ध माना है और शाश्वत मानव-जीवन से भी। यदि शुक्लजी की दृष्टि वस्तुवादी है, यदि वे काव्य में केवल आलंबन को ही प्रमुखता देते हैं तो काव्य के शाश्वत रूप की प्रतिष्ठा में कठिनाई होगी, क्योंकि वस्तु नहीं वस्तु से संबद्ध भाव शाश्वत और सार्वभौम है। काव्य की सामयिक और शाश्वत भूमियों में सम्भवतः अपने वस्तुवादी दृष्टिकोण के कारण शुक्लजी कोई समन्वय स्थापित नहीं कर सके। छायावादी समीक्षकों ने काव्य के अन्तरंग तत्वों के आधार पर यह कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न कर दिया। रस-सिद्धान्त वस्तुवादी भूमि पर आधारित नहीं प्रतीत होता। उसका आधार भाव-तत्व है और शुक्लजी के सैद्धान्तिक विवेचनों में वस्तु को प्राधान्य प्राप्त हुआ है। अतएव ऐसा आभासित होता है कि शुक्लजी का सैद्धान्तिक विवेचन रस-परम्परा के अनुकूल नहीं हो सका। शुक्लजी ने रस को अखण्ड अनुभूति नहीं

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
डा० रामविलास शर्मा पृ० २५४

२ भ्रमरगीतसार पृ० २

३ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " ६००, ६२८

४ —वही— " ६४१

माना है, उसका विभाजन और वर्गीकरण किया है, उसकी अनिवार्यतः आनन्दात्मकता पर शंका प्रकट की है और उसे अलौकिक के स्थान पर पूर्णतः लौकिक सिद्ध किया है। शुक्लजी के साहित्य में देश-प्रेम की भावना भी स्थल-स्थल पर व्यक्त हुई है। उसने शुक्ल जी की समीक्षा-दृष्टि को भी प्रभावित किया है। परन्तु शुक्लजी की दृष्टि अधिकतर लोक-पक्ष पर केन्द्रित रही। एक प्रकार से शुक्लजी का जीवन एवं साहित्य का आदर्श सामाजिक ही कहा जायगा। साहित्य के राष्ट्रीय आदर्शों की प्रतिष्ठा हमें छायावादी समीक्षा में उपलब्ध होती है। परन्तु शुक्लजी का देश-प्रेम उनके साहित्य में और समीक्षाओं में अभिव्यक्त हुआ है। कतिपय छायावादी कवियों को पश्चिम से प्रेरणा लेते देख कर शुक्लजी को उनमें सजीवता और अपनत्व का अभाव दिखाई पड़ा [१]। पं० श्रीधर पाठक के काव्य में देश के परम्परागत प्राकृतिक रूपों के प्रति अनुराग कम व्यक्त हुआ, इस बात की उन्हें शिकायत है [२]। भारतेन्दु-काल की कविता में देश-भक्ति की धारा में वेग और बल नहीं था, इसका कारण वे तत्कालीन आन्दोलन की मंदता को मानते हैं [३]। शुक्लजी के अनुसार हमारे देश में लोक-धर्म का—अत्याचारी का दमन यदि न्याय-संगत उपाय से न हो तो कुटिल नीति का प्रयोग करने वाला—सच्चा स्वरूप लुप्त हो गया था। उनका मत है कि 'भारतीय समाज में लोक-धर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।' शुक्लजी के अनुसार लोक-धर्म के इस स्वरूप ने समय-समय पर राष्ट्र की रक्षा में सहायता पहुँचाई है [४]। शुक्लजी ने उन्हीं लेखकों की प्रशंसा की है जिनका 'हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय और दृष्टि भी भारतीय है [५]।' देश-प्रेम को भी शुक्लजी ने हृदय का एक संस्कार-जन्य भाव माना है। देश प्रेम भी एक प्रकार का प्रेम ही है। इसका आलंबन सारा देश है, अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत सहित सारी भूमि है। यह भी साहचर्यगत प्रेम है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है, तो उसे इन सबसे प्रेम होगा [६]। शुक्लजी ने देश-प्रेम को रस-कोटि में परिगणित कर राष्ट्रीय साहित्य के लिए भी एक शास्त्रीय आधार प्रस्तुत कर दिया है। उनका देश-प्रेम देश के केवल राजनीतिक और सामाजिक जीवन से ही संबद्ध नहीं है, बाह्य कोटि का नहीं है, वह संस्कार-जन्य अतः आन्तरिक है, उसमें बड़ी व्याप्ति है।

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० १४०
२ —वही— " ६०७
३ —वही— " ६४५
४ गोस्वामी तुलसीदास " ३३
५ चिन्तामणि (भाग २) " १५१
६ चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ ४०--४१

जीवन-सिद्धान्त

शुक्लजी का जीवन-सिद्धान्त लोकादर्शवाद या लोक-धर्म है। उनके साहित्यक सिद्धान्त 'रस' को समझने के लिए उनके जीवन-सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। इसी से उनके रस-सिद्धान्त की सामाजिक और नैतिक आधार-भूमि सम्बद्ध है। गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्य में शुक्लजी ने इसी सिद्धान्त के दर्शन प्राप्त किए हैं या शुक्लजी ने तुलसी के काव्य से ही इस सिद्धान्त को प्राप्त किया है। तुलसीदासजी का भक्ति-सिद्धान्त आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण दोनों को एक साथ लेकर चला है। भक्ति वह दिव्य वृत्ति है जिसमें जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता आदि प्राप्त होती है और इन सबसे लोक-कण्याण होता है। उसमें लोक-व्यवहार में पाए जाने वाले कर्तव्य और दिव्य जीवन में कोई अन्तर नहीं है[१]। भक्ति-मत प्रवृत्ति--मार्ग को प्रमुखता देती है, निवृत्ति मार्ग को नहीं। तुलसीदासजी ने भगवान की लोक-मङ्गलकारिणी विभूति की प्रतिष्ठा की है, उनमें शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय दिखलाया है। इससे मनुष्य में शील और सदाचार के स्थायी संस्कार जमते हैं।[२] यह अनुभूति-मार्ग या भक्ति-मार्ग बहुत दूर तक लोक-कल्याण की व्यवस्था करता है और आगे चलकर वह निस्संग साधक को सब भेदों से परे पहुँचा देता है।[३] 'मानस की धर्म-भूमि' पर विचार करते समय शुक्लजी ने अपने इस सिद्धान्त को उसके चरम परिपाक पर पहुँचा दिया है। शुक्लजी ने विश्व-धर्म को पूर्ण धर्म माना है तथा गृह, कुल, समाज तथा लोकादि धर्मों को उसके अंग रूप में निरूपित किया है। शुक्लजी ने लिखा है कि "किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जन-समूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है।" पूर्ण तथा सर्वोच्च धर्म वही है जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति की रक्षा से है।[४] तुलसी के राम पूर्ण धर्म-स्वरूप हैं। उनकी लीला में धर्म के विविध रूपों का प्रकाश हुआ है। धर्म को शुक्लजी ने 'ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति' कहा है। भगवान की दो कलायें हैं—व्यक्त और अव्यक्त। उनकी व्यक्त कला का ही दूसरा नाम धर्म है। शुक्लजी ने भगवान की व्यक्त कला के उपासक तुलसी की अभ्यर्थना की है। तुलसी ने बाह्य जगत् के नाना कर्म-क्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति का दर्शन किया है। तुलसी की यह

---

१ चिन्तामणि (भाग १) " २००
२ —वही— " २०१
३ —वही— " २०३
४ —वही-- " २०६
५ —वही— " २०८, २१२

साधना सर्वांग पूर्ण एकांगी नहीं। उनकी भक्ति-भावना में ज्ञान और कर्म अंग-रूप में स्वीकृत हुए हैं।[१] शुक्लजी ने आनन्द की अवस्थाओं के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं—आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष के काव्य और आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष के काव्य। शुक्लजी का मत है कि आनन्द की साधनावस्था के कवि ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि ये ही जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं।[२] डन्टन के शक्ति काव्य की शुक्लजी ने इसी आधार पर प्रशंसा की है और उसके कला-काव्य का उद्देश्य मनोरंजन बतला कर उसकी उपेक्षा की है।[३] शुक्लजी मानते हैं कि लोक में मङ्गल का विधान करने वाली अभ्युदय की सिद्धि करने वाली वृत्ति धर्म है। अधर्म को हटाने में धर्म की तत्परता भगवान की आनन्द कला की बढ़ती हुई गति है। आनन्द-कला की गति तथा सफलता दोनों में सौन्दर्य है। केवल गति की सफलता ही सुन्दर नहीं है, उसकी विफलता में भी एक निराला विषण्ण सौन्दर्य है। धर्म और अधर्म का यह निरूपण शुक्लजी के रस-सिद्धान्त के मूल में सदैव बना रहा है। इसमें उनके साहित्यिक मत के नैतिक आधार का परिदर्शन होता है।[४] लोक धर्म के विरोधी निर्गुणियों[५] और लोक-पक्ष से उदासीन कृष्ण-भक्तों[६] के काव्य की शुक्लजी ने बार-बार तीव्र समीक्षा की है। निर्गुण-धारा के कवियों की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है—"जिस समाज के ज्ञान-सम्पन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों का अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्यों का पालन करने वाले उच्चाशय व्यक्तियों, पति-परायण सतियों, पितृ-भक्ति के कारण अपना सुख-सर्वस्व त्यागने वाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटने वाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा' उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता।[७] शुक्लजी के लोक-धर्म का स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। अपने साहित्यक विवेचनों में शुक्लजी ने इसी सामाजिक व्यवहार को देखने का प्रयास किया है और उसके आधार पर सम्मतियां दी हैं। शुक्लजी के लोक-धर्म में कोमल और मधुर वृत्तियों के साथ ही उग्र और प्रचण्ड वृत्तियों का भी समावेश है। उनका मत है कि केवल कोमल भावों में आनन्द का स्वप्न ही देखा जा सकता है, व्यक्त जगत् के बीच उसका अवस्थान

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २०९
२ —वही— " २१४
३ —वही— " २१५
४ —वही— " २१७
५ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " १३८
६ —वही— " १६४
७ —वही— " १३९

और आविर्भाव नहीं दिखाया जा सकता।[१] शुक्लजी ने करुण और प्रेम दो भावों को मङ्गल-विधायक माना है। करुणा की गति रक्षा की ओर है और प्रेम की गति रंजन की ओर है। लोक में प्रथम रक्षा, पश्चात् रंजन का स्थान है। इसलिये साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वालों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है। राम के रावण के प्रति कालाग्नि सदृश क्रोध में लोकोत्तर सौन्दर्य का यही कारण है।[२] इस प्रकार क्रोधादि प्रचण्ड भावों की व्यञ्जना में, बीज के रूप में करुणा वर्तमान है, तो उनमें भी पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।[३] पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए सत्त-गुण आवश्यक है—बीज रूप में भी (करुणा) तथा प्रकाश रूप में भी (प्रेम)। शुक्लजी ने यहाँ टालसटाय के मत का विरोध किया है जो काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम जैसे कोमल भाव की व्यंजना में ही देखते हैं।[४] शुक्लजी का मत था कि भारतीय परम्परा का भक्त अपने भगवान को लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है हृदय के कोने में नहीं। शुक्लजी की इस सम्बन्ध में दो मान्यताएँ थीं। पहली तो यह कि छोटे से अंत:करण में दिखलाई पड़ने वाले ईश्वर की अपेक्षा विशाल विराट विश्व में व्यापक परमात्मा कहीं अधिक पूर्ण और कल्याणकारी है। हमारी बद्ध तथा संकुचित आत्मा दृष्टा हो सकती है, दृश्य नहीं। दूसरी बात यह है कि भारतीय भक्ति-मार्ग व्यक्ति-कल्याण और लोक-कल्याण दोनों के लिए है। वह लोक जगत् को छोड़कर नहीं चल सकता। भक्ति-मार्ग का सिद्धान्त है भगवान को बाहर जगत् में देखना। मन के भीतर देखने वाला योग-मार्ग का सिद्धान्त है।[५] "जिन-जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है उन सबका समाहार अपनी परमावस्था को जहाँ दिखाई पड़े वहाँ भगवान की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझ कर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है--अनन्त पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देख कर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार क्षेत्र से परे, नाम रूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिन्तन का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारे भावों का, हमारी मनोवृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अत: अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है।[६] इसी आधार पर शुक्लजी ने योगियों और रहस्यवादियों के काव्य की उपेक्षा सी

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६६३
२ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २२३--२२४
३ —वही— ,, २२४
४ —वही— ,, २२५
५ गोस्वामी तुलसीदास ,, ८, ६
६ —वही— ,, १०, ११

की है। शुक्लजी ने तुलसी के लोकवाद को रूस के साम्यवाद से भिन्न निरूपित किया है। उनका मत है कि तुलसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं जितने में दूसरों के जीवन–मार्ग में बाधा न पड़े।[१] द्विजातियों में कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने पर निम्न श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष, जाग उठता है। ऐसी निम्न वृत्तियों से लाभ उठा कर कुछ लोग महात्मा बन जाते हैं—जैसे लेनिन, जो समाज के घोर अमङ्गल के सूचक हैं। जनता की दुर्वृत्तियों- ईर्ष्या, द्वेष, अहङ्कार—पर आधारित व्यवस्था लोक–कल्याणकारी नहीं होगी, उसमें गुण, शील, कला–कौशल विकसित न होगे, प्रतिभा का विकास नहीं हो सकेगा। शुक्लजी का मत था कि अल्प शक्ति वालों की अहङ्कार–वृत्ति को तुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है।[२] इस प्रकार शुक्लजी का मत था रूसी साम्यवाद दुर्वृत्तियों पर आधारित है, समाज के घोर अमङ्गल का सूचक है। लोक से विमुख करने वाली समस्त साधना–पद्धतियों का शुक्लजी ने विरोध किया है। तुलसी का वैराग्य भी उनके अनुसार लोक-कर्तव्यों से विमुख करने वाला न होकर परहित-चिन्तन में लय करने वाला, अपनी सत्ता को लोक–सत्ता में मिला देने वाला वैराग्य है।[३] तुलसी के 'सियाराम' लोक के ही पर्याय हैं। अतएव इनको आत्मार्पण करना, इनमें लय होना लोक-सत्ता में लय होने के बराबर है।[४] शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा को शुक्लजी ने भगवान का व्यक्त स्वरूप कहा है, जिनमें शील और सौन्दर्य का सम्बन्ध लोक-रक्षण और रंजन से है, शक्ति का सम्बन्ध संसार की सृष्टि और संहार से है।[५] तुलसी की धर्म-भावना के भीतर साधुमत और लोक-मत लोक-शासन के लिये है।[६] शुक्लजी के अनुसार सच्चे लोक-धर्म में धर्म के सब पक्षों का सामंजस्य होगा, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति, विद्या बुद्धि के अनुसार ग्रहण कर सकेगा। ऐसा धर्म एकांगी नहीं, बड़ा व्यापक होगा।[७] जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वही व्यापक धर्म है।[८] शुक्लजी के अनुसार उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोक–धर्म नहीं व्यक्ति-साधना है। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित

---

१ गोस्वामी तुलसीदास पृष्ठ ४८
२ —वही— " ४४
३ —वही— " ५७
४ —वही— " ५८
५ —वही— " ६२
६ —वही— " ४७
७ —वही— " २२
८ —वही— " २४

होता है, वही लोक-धर्म होता है[1]। शुक्लजी के अनुसार व्यापक लक्ष्य होने पर साधन कैसे भी हो सकते हैं[2]। स्पष्ट ही शुक्लजी का यह मत गाँधी-दर्शन से विपरीत है। शुक्लजी ने ब्राह्मण-काव्य की अपेक्षा क्षत्रिय-काव्य का समर्थन किया है (चिन्तामणि २, ४८)। शुक्लजी का यह लोक-धर्म लोक-मंगल-विधायक है। धर्म लोक की रक्षा करता है और उसके मंगल का विधान करता है उसका रक्षा-कार्य सत् और मंगल-विधान परमानंद का आभास है। इस 'सदानंद' का प्रतीक ही तुलसी का रामराज्य है जिसमें, लोक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा है। धर्म की विजय में तुलसी और शुक्लजी को विश्वास है इसलिए उनकी दृष्टि आशा और आनन्द से परिपूर्ण है। इस लोक-धर्म के अन्तर्गत समस्त लोक-निहित आदर्शों और लोक-व्यवहारों की प्रतिष्ठा है[3]। शुक्लजी का साहित्यिक सिद्धान्त 'रस' इसी लोकादर्शवाद के जीवन-दर्शन पर आधृत है। उसके सामाजिक और नैतिक पहलू स्पष्ट ही इससे प्रभावित हुए हैं।

काव्य

शुक्लजी के साहित्य-सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए उनके काव्य-दर्शन पर भी थोड़ा-बहुत विचार आवश्यक है। शुक्लजी ने कविता की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं[4]।' इस परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शुक्लजी ने काव्य को वैयक्तिक भूमि से ऊपर उठाकर एक उच्च सामाजिक अथवा निर्वैयक्तिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। इस भूमि पर व्यक्ति सारी विशेषताओं से मुक्त हो जाता है। भट्टनायक का भावकत्व-व्यापार भी यही है[5]। काव्य से हृदय के स्वार्थ-सम्बन्ध छूट जाते है। कविता हृदय को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है। वहाँ जगत की नाना-गतियों का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इससे हमारे मनोविकारों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है[6]। आचार्य विश्वनाथ की

---

१ गोस्वामी तुलसीदास पृष्ठ २४, २५
२ —वही— ,, ३८
३ —वही— ,, २८
४ चिन्तामणि (भाग १) ,, १४१
५ समीक्षा-दर्शन (द्वि० भा०) ,, २१२
६ चिन्तामणि (भाग १) ,, १४१

'सत्वोद्रेक' की अवस्था भी यही है[१]। कविता हृदय को व्यापक कर विश्व-हृदय में लीन कर देती है। वहां व्यक्त सत्ता–मात्र के साथ एकता की अनुभूति होने लगती है। शुक्लजी के अनुसार सम्पूर्ण सत्ताएं एक ही सत्ता तथा सम्पूर्णभाव एक ही परम भाव के अंतर्भूत है। इस प्रकार बुद्धि जिस अद्वैत भूमिका तक ले जाती है वहाँ भावात्मक रस भी सत्व रस के प्रभाव से पहुंचता है। यहां हृदय और बुद्धि का समवन्य हो जाता है। यही समन्वय मनुष्यत्व की साधना है[२]। एक अन्य स्थान पर शुक्लजी ने भावोद्रेक करने वाली रस–सूक्ति को कविता कहा है। इस परिभाषा में भी आचार्य विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इस प्रकार शुक्लजी की काव्य परिभाषा में रस ही सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित हुआ है। शुक्लजी काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा रस को ही मानते है, अलंकारादि उसके बाह्य स्वरूप है[३]। काव्य के दो पक्ष होते हैं—हृदय-पक्ष और कला-पक्ष। हृदय-पक्ष काव्य में प्रधान होता है उसका बाह्य पक्ष तो उसके अंतरंग की अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचाता है।[४] शुक्लजी ने दो प्रकार का काव्य माना है—प्रकृत और काव्याभास। सर्वश्रेष्ठ प्रकृत काव्य रस या भावुकता से युक्त होता है। कभी कभी रस और भाव के साथ चमत्कार भी मिल जाता है। परन्तु कोरी चमत्कार युक्त उक्तियां शुक्लजी के अनुसार काव्याभास है, काव्य नहीं[५]। इस प्रकार बिना रस या भाव के वे काव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। काव्य और सूक्ति में भी शुक्लजी ने अंतर किया है, उससे भी यही विदित होता है कि वे काव्य के मूल में भाव-तत्व को ही मानते हैं। उनके अनुसार बिना भाव के काव्य की सत्ता हो ही नहीं सकती[६]।

उद्देश्य

ऊपर हम देख चुके हैं कि परिभाषा और स्वरूप के निरुपण में शुक्लजी रस–सिद्धान्त के अनुकूल ही हैं। काव्योद्देश्य में भी उन्होंने रस-परम्परा का अनुकरण किया है। उनका मत है कि काव्य की उक्ति का लक्ष्य किसी वस्तु या विषय का बोध करना नहीं, उस वस्तु या विषय के सम्बन्ध में कोई भाव या रागात्मक स्थिति उत्पन्न करना है।[७] काव्य की रस-पद्धति के अन्तर्गत ऐसे प्रसंगों की योजना की जाती है जिनके मर्म-

---

१ साहित्य दर्पण ,, ३–२
२ चिन्तामणि (भाग १) ,, १५१
३ जायसी ग्रन्थावली की भूमिका ,, १६२
४ भ्रमर गीतसार (भूमिका) ,, ३४
५ जायसी ग्रंथावली (भूमिका) ,, १६९, १७०
६ चिन्तामणि (भाग १) ,, १७२, १७३
७ भ्रमर गीतसार (भूमिका) ,, ७२

स्पर्शी स्वरूपों के कारण भाव की गहरी व्यंजना होती है अथवा जिनसे श्रोता के हृदय में वासना रूप से स्थित किसी भाव की जागर्ति होती है[१]। शुक्लजी ने कविता के दो उद्देश्यों की चर्चा की है। एक उद्देश्य गंभीर है और दूसरा हलका है। मनोरंजन काव्य का हलका उद्देश्य है। 'कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।' शुक्लजी ने जहां रसोद्रेक एवं भाव जागर्ति को काव्य का लक्ष्य बतलाया है वहाँ वे विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार पर काव्य के मूल लक्ष्य का संकेत करते हैं, परन्तु जहां उन्होंने सामंजस्य एवं हृदय-प्रसार आदि की चर्चा की है वहां वे रस को स्पष्ट ही सामाजिक और नैतिक भूमि पर ले आए है।

शुक्लजी ने विभाव-पक्ष को या आलंबन को ही काव्य में पर्याप्त माना है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इसलिए शुक्लजी ने आलंबन मात्र के चित्रण को ही काव्य-लक्ष्य घोषित कर दिया है: उन्होंने लिखा है जगत की नाना वस्तुओं व्यापारों को ऐसे रूप में रखना कि वे हमारे भाव-चक्र के भीतर आ जायं, यही काव्य का लक्ष्य होता है[२]।' शुक्लजी ने काव्य के इस लक्ष्य को तीन भागों में विभक्त किया है—शब्द-विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना, भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना तथा नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध स्थापित करना। काव्य का वास्तविक लक्ष्य तीसरा है। पहले दो का सम्बन्ध शुक्लजी मनोरंजन से मानते हैं[३]। शुक्लजी का मत था कि रस-विधायक कवि का काम श्रोता या पाठक में भाव-संचार करना नही है, उसके समक्ष भाव का रूप प्रदर्शित कर देना है जिसके दर्शन से श्रोता के हृदय में भी उक्त भाव की अनुभूति होती है। रस संचार का प्रयासी कवि विषय को श्रोता या दर्शक के सामने नहीं रखता, वर्णित पात्र के सामने रखता है। इसलिए श्रोता या पाठक में भाव-संचार करने का जहां लक्ष्य हो वहां रस-काव्य माना जा सकता है[४]। शुक्लजी का आशय वस्तुतः भाव-प्रदर्शन के विरोध से ही था, श्रोता या पाठक में भाव-संचार तों उन्हें सदैव अभिप्रेत रहा है। भाव-प्रदर्शन एक बात है और भावाभिव्यंजना दूसरी बात। रीतियुग के काव्य में भाव-प्रदर्शन ही हुआ है और संभवतः इसी रीतियुगीन साहित्यिक इतिहास को ध्यान में रख कर भाव-प्रदर्शन का शुक्लजी ने बिरोध किया। भक्ति-युग के कवियों में भाव-प्रदर्शन नहीं है, भावाभिव्यंजना है जिसका शुक्लजी सदैव स्वागत करते आ रहे हैं। श्री नन्ददुलारेजी बाजपेयी ने भी रस के इस आलंकारिक उपक्रम का विरोध किया है। परन्तु उन्होंने भाव-

---

१ जायसी ग्रंथावली (भू०) ,, १६९
२ चिन्तामणि (भाग २) ,, ९८
३ रस-मीमांसा ,, ८८
४ —वही— ,, ८९

प्रदर्शन' के स्थान पर 'भाव-विन्यास' शब्द का प्रयोग किया है[१]। शुक्लजी के काव्य-लक्ष्य सम्बन्धी मत से भी यही सिद्ध होता है कि शुक्लजी रसवादी ही हैं। शुक्लजी के इस विवेचन में परम्परा-प्राप्त शब्दावली का प्रयोग नहीं हुआ है। आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ आदि का काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी विवेचन सामाजिक व्यवहार की व्यक्त भूमि पर ही आधारित है, जबकि शुक्लजी ने उसे अधिक साहित्यिक सीमाओं में निरूपित किया है। एक स्थान पर शुक्लजी ने यह भी कहा है कि 'एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना यही कला का लक्ष्य होता है[२]।' भाव की प्रेषणीयता के बिना वे काव्य को व्यर्थ मानते है[३]। उनके अनुसार कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों हजारों क्या लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। (चि० १—२३८)।

कसौटी

शुक्लजी की काव्य-कसौटी भी भावों पर ही आधारित है। किसी कवि पर विचार करते समय वे दो बातें आवश्यक मानते हैं—भावात्मक सत्ता का विस्तार (मानव-प्रकृति के अधिकाधिक रूपों के साथ कवि के हृदय का सामंजस्य) तथा भावों की गहराई या तीव्रता। भावों की तीव्रता के अभाव में वे पाठक की पूर्ण तृप्ति नहीं मानते[४]। शुक्ल के पास काव्य की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रतिमान यही है कि कवि की वाणी जीवन की प्रत्येक दशा का चित्रण कर सकी है या नहीं। जो कवि जीवन की जितनी अधिक दशाओं का मार्मिकता के साथ वर्णन करेगा वह उतना ही बड़ा भी होगा[५]। कवियों की उच्चता स्थिर करने में शुक्लजी ने देखा है कि कितने गहरे, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है[६]। भूषण के काव्य के संदर्भ में शुक्लजी ने साहित्य के एक और प्रतिमान की ओर इंगित किया है। उनका मत है कि वही कवि कीर्तिशाली होगा जिसकी कविता जनता के हृदय की संपत्ति होगी और उसकी यह कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक जनता के मन में वह कविता रहेगी[७]।

---

१ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ११
२ चिन्तामणि (भाग २) " १२२
३ गोस्वामी तुलसीदास " ७५
४ —वही— " ८५—८६
५ गोस्वामी तुलसीदास " १७४
६ चिन्तामणि (भाग २) " १३९
७ हिन्दी-साहित्य का इतिहास " २५५

विषय

शुक्लजी ने काव्य के तीन क्षेत्रों की चर्चा की है--नरक्षेत्र, मनुष्येतर बाह्य सृष्टि तथा समस्त चराचर [१]। इस प्रकार शुक्लजी समस्त संसार को काव्य का विषय मानते हैं। शुक्लजी ने भावों के आलंबन के भीतर साधारण और असाधारण सभी प्रकार की वस्तुओं को रखा है [२]। शुक्लजी के सारे काव्य-विषय जीवन और जगत से सम्बन्ध रखते हैं। जीवन से बाहर ले जाने वाली किसी भी वस्तु को वे काव्य में स्थान नहीं देते। उनका कथन है कि काव्य का सम्बन्ध ज्ञानातीत दशा से नहीं है, मनोमय कोष ही काव्य की प्रकृत भूमि है। इसके बाहर काव्य को घसीटने वालों को शुक्लजी सच्चे कवि क्या सच्चे आदमी भी नहीं मानते [३]। शुक्लजी का दृढ़ मत रहा है कि भारतीय दृष्टि से कविता गोचर क्षेत्र को लेकर चली है, उसका सम्बन्ध जीवन और जगत से है, ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है, यही उसकी प्रकृत भूमि है। दूसरी बात यह कि इस संसार में स्थिर और निर्विशेष (स्टेटिक और एब्सोल्यूट) सौन्दर्य कोई नहीं है, गत्यात्मक सौन्दर्य और मंगल ही मिलता है। गति की नित्यता ही जगत की नित्यता है [४]। इस गतिशील-जीवन-सौन्दर्य के द्वारा शुक्लजी रस को जीवन के यथार्थ से संपृक्त कर सके हैं, जीवनानुभूति में और काव्यानुभूति में एकता बतला सके हैं। परन्तु शुक्लजी ने काव्य-विषयों के सम्बन्ध में एक और मत व्यक्त किया है। उनका कथन है कि कविता मूल रूपों और व्यापारों पर ही की जा सकती है। जिन रूप-व्यापारों से मनुष्य आदि काल से परिचित है, जिन्हें सामने देख कर वह आदि काल से ही लुब्ध-क्षुब्ध होता आया है, जिनके प्रति हमारे मन में वासना-संस्कार बन गये हैं, वे रूप-व्यापार मूल हैं। संसार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी भी विषय को भाव का आलंबन बनाने के लिए इसी रूप में लाना पड़ता हैं [५]। काव्य में मूल रूप वाले मत के अनुसार शुक्लजी रसोद्रेक वाले काव्य-लक्ष्य को सुगम बना लेते हैं। परन्तु इससे कविता का क्षेत्र सीमित हो सकता है, जो शुक्लजी को अभिप्रेत नहीं है अथवा कवि-कर्म अत्यन्त कठिन हो जाता है जिसे शुक्लजी ने भी स्वीकार किया है। मूल रूपों के द्वारा शुक्लजी काव्य के स्थायी विषयों का मत भी सामने लाये हैं। इससे काव्य के देश-कालानुरूप स्वरूप के विवेचन में बाधा भी हुई है [६]। मूल रूपों के अधिक आग्रह के कारण

---

१ चिन्तामणि (भाग १) " २५१
२ रस-मीमाँसा " १०२
३ चिन्तामणि (भाग २) " ७३-७४
४ चिन्तामणि (भाग २) " ८७
५ चिन्तामणि (भाग १) " १४३
६ आधुनिक साहित्य " २७७-२७८

शुक्लजी काव्य के गतिशील सौन्दर्य का सम्यक उद्घाटन नहीं कर सके हैं। काव्य विषयों के सम्बन्ध में शुक्लजी ने एक और बात कही है उनके अनुसार काव्य का विषय विशेष ही होता है, सामान्य नहीं, क्योंकि बिम्ब-ग्रहण विशेष का ही हो सकता है [१]। यह साधारणीकरण सिद्धान्त के अनुकूल ही है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इस प्रकार शुक्लजी का काव्य-विषय सम्बन्धी मत उनके रस-सिद्धान्त का पोषक है। शुक्लजी की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने रस-क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक कर दिया है। यहां रस शास्त्र में बतलाये हुए आलंबन और उद्दीपनों तक ही सीमित नहीं है, उसके विषय गिने-चुने ही नहीं हैं। यहां शुक्लजी ने विश्व-काव्य की अनन्त रस-धारा का निरूपण किया है।

कवि-कर्म, कविता की आवश्यकता एवं महत्व आदि बातों पर विचार करने पर भी यही सिद्ध होता है कि शुक्लजी ने रस को ही सिद्धान्त रूप में व्यवहृत किया है। शुक्लजी और उनके पूर्ववती अनेक समीक्षकों की यह मान्यता थी कि सभ्यता के विकास के साथ काव्य के मूल रूप ढंकते जा रहें हैं। बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता जा रहा है। ढंके हुए मूल रूप उतने मर्म-स्पर्शी नहीं होते। इसलिए सभ्यता के विकास के साथ कविता का ह्रास हो रहा है, कवि-कर्म कठिन हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में कवि का यह कार्य है कि वह मूल रूपों की प्रच्छन्नता का उद्घाटन करे [२]। इन मूल रूपों में ही शुक्लजी भाव को जगाने की शक्ति मानते हैं। ज्ञान प्रसार के साथ ही भाव-प्रसार भी आवश्यक है। सभ्यता जैसे जैसे बढ़ेगी उसी अनुपात में रूखे और अगोचर विषयों को सरस तथा गोचर रूप में रखने का व्यवसाय काव्य-क्षेत्र में भी बढ़ेगा [३]।

शुक्लजी के अनुसार कविता की आज अत्यन्त आवश्यकता है। सभ्यता के कारण मनुष्य का शेष सृष्टि से सम्बन्ध टूटता जा रहा है। इन परिस्थितियों में मनुष्यता के खो जाने का डर है। मनुष्य की मनुष्यता को जगाये रहने के लिये कविता मनुष्य के साथ चली आ रही है और चली चलेगी [४]। शुक्लजी के अनुसार काव्य मनुष्यता की उच्च भूमि का स्मारक स्तंभ है [५]। कविता से हृदय का बन्धन खुलकर मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती हैं। महाकृपण और महाक्रूर व्यक्तियों को शुक्लजी ने मानसिक रोगी कहा है और उनकी दवा कविता बतलाई है। कविता हृदय को प्रकृत दशा में लाती है, जगत के बीच हृदय का प्रसार कर व्यक्ति को भाव-योग की सीमा तक उठा देती है।

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृ० २२९–२३०
२ चिन्तामणि (भाग १) " १४३, १४४
३ चिन्तामणि (भाग २) " १०२
४ चिन्तामणि (भाग १) " १८६
५ –वही– " १५९

कविता से व्यक्त की पृथक् भाव-सत्ता का लोप हो जाता है, उसका हृदय विश्व-हृदय बन जाता है [१]। शुक्लजी ने काव्य का महत्व सिद्ध करने के लिए एक और तर्क दिया है। शुक्लजी मानते हैं कि भाव ही कर्म-प्रवर्तक है, बुद्धि नहीं। तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिये मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। कविता भाव-प्रसार द्वारा कर्म-क्षेत्र का विस्तार करती है। कुछ लोगों का कहना है कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उससे अकर्मण्यता आती है। शुक्लजी के अनुसार यह मत ठीक नहीं है। शुक्लजी के अनुसार काव्य, अपनी भाव-सत्ता के कारण, कर्म-प्रेरक है [२]। काव्य का यह महत्व उसकी भावात्मकता पर आधृत है, अतः रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

काव्य-तत्व

अलंकार

शुक्लजी ने पूर्वी और पश्चिमी सभी काव्य-तत्वों की चर्चा की है। इनका निरूपण भी उन्होंने रस के अन्तर्गत ही किया है। सबसे पहले हम अलंकार के सम्बन्ध में यहां शुक्लजी के विचारों को देखेंगे। इसके पूर्व रस और भावों की चर्चा की जा चुकी है। इन्हें शुक्लजी ने आत्म-तत्व के रूप में निरूपित किया है। अलंकार उनके अनुसार वाह्य तत्व हैं। शुक्लजी ने अलंकारों को भी रस-विधान का अङ्ग बना लिया है। उन्हें वे विभाव-पक्ष के अन्तर्गत परिगणित करते हैं [३]। अलंकार (अप्रस्तुत) योजना प्रस्तुत रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए होनी चाहिये। अतएव इसमें ऐसे रूप या व्यापार संघटित किये जाते हैं जो प्रभाव में प्रस्तुत रूपों और व्यापारों के समान है [४]। शुक्लजी ने प्राकृतिक उपमानों को ही काव्योपयुक्त माना है जो मनुष्य-जाति के आदिम जीवन में सुलभ होते हैं और इसीलिए रमणीक तथा अनुरंजक भी [५]। काव्योपयोगी उपमानों की एक विशेषता यह भी है कि वे सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं। इनकी भव्यता विशालता या रमणीयता का संस्कार जन-साधारण पर पहले से ही जमा चला आता है [६]। जिस प्रकार शुक्लजी ने काव्य के प्रस्तुत पक्ष को मूल रूपों से संबद्ध कर दिया है या प्रकृति से जोड़ा है उसी प्रकार उसके अप्रस्तुत पक्ष को भी, और इस प्रकार काव्य के दोनों पक्षों की जड़ें जन-संस्कार में जमा कर रस-संचार को सुगम बना लिया है। काव्य

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृ० १६०-१६१
२ —वही— " १५७-१५९
६ --वही-- " ३७
४ —वही-- " ५
५ --वही-- " ३१
६ भ्रमरगीतसार (भूमिका) : ४

विषय की व्याप्ति के समान ही शुक्लजी ने अलंकारों के लिये भी व्यापक क्षेत्र की योजना की है [१]। शुक्लजी सच्चा कवि-कौशल भावाधिक्य की व्यंजना में ही मानते हैं। केवल सादृश्य या साधर्म्म को लेकर चलने वाले अलंकार उनके अनुसार सच्चे काव्य का सृजन नहीं कर सकते। उनके मूल में किसी न किसी भाव की अवस्थिति आवश्यक है [२]। शब्दों की कलाबाजियों से शुक्लजी को चिढ़ थी। उन्होंने लिखा है—'क्या जरूरत है कि शब्दों की जितनी कलाबाजियां हों, सब काव्य ही कहलावें [३]।' शुक्लजी अतिशयोक्ति के प्रयोग में भी हृदय का योग देखना चाहते थे, कोई बुद्धि का चमत्कार नहीं, संवेदना का स्वरूप देखना चाहते थे, परिणाम-निर्देश नहीं [४]। जीवन की स्वाभाविकता या व्यावहारिकता से दूर ऊहा के वस्तु-व्यंजक प्रयोग का शुक्लजी ने सदैव विरोध किया है [५]। शुक्लजी उपमान का ऊहा द्वारा निकाला जाना उपयुक्त नहीं समझते थे। वह दूर की सूझ न हो, उसका उदय विह्वल अन्तःकरण में बिना प्रयास हो, दो उपस्थित वस्तुओं में वह स्वाभाविक सादृश्य बतलावे, तभी वह काव्योपयुक्त हो सकता है [६]। अधिकतर अलंकारों की योजना सादृश्य के आधार पर दो दृष्टियों से—स्वरूप बोध और भाव-तीव्रता के लिये—की जाती है। कवि-गण भाव को तीव्र करने के लिये ही सादृश्यों की योजना करते हैं। पर अगोचर तथ्यों को स्पष्ट करने के लिये स्वरूप-बोध भी लक्ष्य रहा करता है [७]। रसात्मक प्रसंगों में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अप्रस्तुत भी उसी प्रकार भावोत्तेजक हों जिस प्रकार कि प्रस्तुत [८]। भारतीय काव्य-पद्धति में कवि भाव-विरुद्ध उपमान नहीं ला सकते। क्रोध के प्रसंग में कवि अग्नि और अङ्गारे के उपमान लाता है, रक्त-कमल और बन्धूक पुष्प के नहीं [९]। सच्चे कवि रसानुभूति में सहायक बिम्ब या चित्र ही प्रस्तुत करते हैं सादृश्य या साधर्म्य के द्वारा भी ऐसी ही वस्तुयें लाते हैं जो प्रस्तुत रस के अनुकुल हों और उसकी प्रतीति में बाधा न डालें [१०]। शुक्लजी अलंकारों को वर्णन की शैलियां मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'अलंकार हैं क्या? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियां जिन्हें काव्यों से चुन कर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये [११]।' कथन के ढङ्ग ही अलंकार हैं। कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है, कभी रूप, रङ्ग, गुण आदि की समानता दिखलाई जाती है, कभी

१ भ्रमरगीतसार (भू०) पृ० ३८
२ —वही— ,, ५३
३ —वही— ,, ५४
४ जायसी-ग्रंथावली (भू०) ,, ३७, ९२
५ —वही— ,, ३७, ४४
६ जायसी-ग्रंथावली (भू०) ,, ४९
७ —वही— ,, १०३
८ जायसी ग्रन्थावली (भू०) पृ० १०५
९ —वही— ,, १०७
१० —वही— ,, ११६, ११७
११ —वही— ,, ११८, चि० १–१८५

बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पड़ता है। कथन के इन विभिन्न विधानों के द्वारा वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली की जाती है' भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाया जाता है तथा कविता का प्रभाव बढ़ाया जाता है। कभी-कभी कविता में इनके बिना काम नहीं चलता। पर ये सब साधन हैं, साध्य नहीं। सभी अलंकार भाव के उत्कर्ष साधन के लिए हैं [१]। अलंकार वर्ण्य वस्तु नहीं, वर्णन की एक प्रणाली है, कहने का एक विशेष ढङ्ग है, काव्य का प्रस्तुत नहीं, अप्रस्तुत पक्ष है [२]। अलंकारों का काव्य में वही स्थान है जो एक स्त्री के शरीर पर आभूषणों का है। कुरूप होने पर कितने ही अलंकार उसे सुन्दर नहीं बना सकते। इसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलँकारों से कुछ नहीं हो सकता। रमणीय अर्थ के न रहने पर अलंकार शरीर से उतारे हुए गहनों के ढेर जैसे होंगे। आचार्यों ने अलंकारों को शोभातिशायी, काव्य-शोभाकर आदि कहा है। भाव या मार्मिक भावनाओं से असंपृक्त अलंकार चमत्कार अथवा तमाशे हैं [३]। 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रन्थ में शुक्लजी ने अलंकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है—'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है [४]।' इस परिभाषा में शुक्लजी ने अलँकारों को काव्य का अनित्य धर्म माना है। शुक्लजी की उक्त मान्यता आचार्य विश्वनाथ की अलंकार-परिभाषा के समान ही है [५]। शुक्लजी ने अलंकारों को एक दार्शनिक आधार भी देने का प्रयास किया है। उनका मत है कि साम्य का आरोप एक विशाल सिद्धान्त लेकर चला है। साम्य के द्वारा हमें जगत के अनन्त रूपों एवं व्यापारों में अपने सम्बन्ध सूत्र का ज्ञान होता है एवं अखिल सत्ता के एकत्व की आनन्दमयी भावना जागती है, हृदय का बन्धन खुल जाता है। भाषा के द्वारा खड़े किये गये कमल और मुख के भेद भी साम्य के सिद्धान्त में बह जाते हैं और एक ही सौन्दर्य-तत्व की अनुभूति होती है [६]। शुक्लजी ने इस सम्बन्ध में एक और महत्व की बात कही है। अलंकार वर्णन की शैली है, परन्तु यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं हो सकती। यदि अलंकार का उद्देश्य बोध कराना-मात्र है, रमणीयता उत्पन्न करना नहीं, तो वह काव्यालंकार नहीं हो सकता। केवल वस्तुत्व या प्रमेयत्व जिसमें हो वह अलंकार नहीं। अलंकार में रमणीयता होती है। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है। नीलगाय गाय के सदृश होती है, इसमें कोई उपमा नहीं है। शुक्ल जी का यह अलंकार-विवेचन स्पष्ट ही रस–परम्परानुमोदित है।

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ १८१
२ —वही— " १८३
३ चिन्तामणि (भाग १) पृ० १८४
४ गोस्वामी तुलसीदास " १५७
५ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभाति शायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते गंदादिवत्। —साहित्यदर्पण दशम पृ० १
६ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७००, ७०१

भाषा

भाषा भी काव्य का बाह्य तत्व है। उन्होंने उसी भाषा का समर्थन किया है जो भाव और रसों के अनुकूल है।[१] उनके अनुसार भाषा भाव और विचारों को स्पष्ट रूप में रखने का साधन है। इसलिए भाषा स्वच्छ होना चाहिए, उसमें कारीगरी न दिखाई जाय।[२] शुक्लजी को भाषा का चलता हुआ और स्वाभाविक रूप ही अभिप्रेत था। वृत्ति विधान और अनुप्रासों से जड़ी हुई, संस्कृत शब्दावली से युक्त, श्लेष और यमक के चत्कारों से भरी हुई कृत्रिम भाषा को वे प्रशंसा नहीं कर सके।[३] भाषा के दो पक्ष होते हैं—सांकेतिक और बिम्ब-विधायक। पहले में नियत संकेत से अर्थबोध मात्र होता है और दूसरे में वस्तु का बिम्ब या चित्र अन्तःकरण में प्रस्तुत होता है। कवि द्वितीय पक्ष का ही अवलंबन लेते हैं।[४] शुक्लजी ने कविता की भाषा की चार विशेषताएँ बतलाई हैं—लाक्षणिकता, विशेषरूप-व्यापार सूचक शब्द, वर्ण-विन्यास तथा व्यक्तियों के नाम के स्थान पर रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दों का प्रयोग। कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने लाई जाती है, इसलिए उसमें गोचर रूप-विधान की अधिकता होती है। अगोचर बातों या भावनाओं को भी कविता में स्थूल और गोचर रूप में रखा जाता है। वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ कवि को सहारा लेना पड़ता है।[६] भावों के मूर्त्त-प्रत्यक्षीकरण के लिए ही कविता की भाषा में जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्दों की अधिकता रहती है। कविता वस्तु-व्यापारों को विशेष मूर्त्त रूप देकर स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने का लक्ष्य रखती है।[६] शुक्लजी मानते हैं कि नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है, परन्तु इस विशेषता का अतीव आग्रह कविता को बेडोल कर देता है।[७] रूप-गुणादिबोधक शब्दों के प्रयोग से भावना के निर्माण में सहायता मिलती है।[८] शुक्लजी ने भावनारूप भाषा की अनेकरूपता की प्रशंसा की है। पद्माकर की भाषा के सम्बन्ध में शुक्लजी ने लिखा है—"भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इन कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इतकी भाषा स्निग्ध मधुर पदावली द्वारा एक सजीव

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४, १३५, १३६
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास " १४६
३ भ्रमरगीतसार (मू०) पृष्ठ ३५
४ जायसी ग्रंथावली " ११६
५ चिन्तामणि (भाग १) " १७५, १७६
६ —वही— " १७६-१७७
७ —वही— " १७९
८ —वही— " १८०

भाव–भरी प्रेम-मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर–दर्प से–क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और झड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सारोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह है कि उनकी भाषा में अनेकरूपता है, जो एक बड़े कवि में होनी चाहिये। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी में दिखाई पड़ती है।[१] उपर्युक्त उद्धरण में भाषा की प्रत्येक भंगी में शुक्लजी ने उसके भाव–पोषक रूप का ध्यान रखा है। शुक्लजी ने भाषा का सम्बन्ध देश के राष्ट्रीय जीवन से जोड़ कर उसे अधिक ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में उनका मत था कि साहित्य की भाषा का स्वरूप वही हो सकता है, जो बराबर से चला आ रहा है तथा जो उत्तरी भारत के और भू-खण्डों के साहित्य की भाषा के स्वरूप के मेल में हैं।[२] भाषा के देशी सांचे की शुक्लजी ने बार–बार चर्चा की है।[३] भाषा का सांचा देशी हो, उसमें देशी भाव भरे हों। विदेशी रूप के प्रयोग–उसमें प्रसङ्गवश और बड़ी सतर्कता के साथ ही किए जा सकते हैं।[४] प्रत्येक भाषा की लक्षणा-शक्ति बोलने वालों की अन्तःप्रवृति और संस्कारों के अनुरूप होती है। अतएव एक भाषा के लाक्षणिक प्रयोग दूसरी भाषा में कम काम देते हैं।[५] इस प्रकार देश के जातीय जीवन से शुक्लजी ने भाषा का सम्बन्ध जोड़कर उसे एक प्रौढ़ आधार दिया है। भाषा को उन्होंने जीवन से–एक व्यापक जीवन से–जोड़ दिया है। शुक्लजी ने भाषा के व्यावहारिक रूप को ही महत्व दिया है। उनके अनुसार लोक-भाषा में ही प्राणों की शक्ति निहित है। जब पण्डितों की भाषा से दूर पड़कर अशक्त हो जाती है, तब शिष्ट–समुदाय लोक–भाषा से सहारा लेकर उसमें नया प्राण लाया करता है।[६] जायसी की अवधी भाषा की खालिस बेमेल मिठास के लिए शुक्लजी ने बड़ी प्रशंसा की है।[७] परन्तु शुक्लजी जनता की सामान्य व्यवहार की भाषा में और काव्य-भाषा में अन्तर मानते हैं। 'बुद्ध–चरित' की भूमिका में शुक्लजी ने काव्य-भाषा पर विस्तार से चर्चा की है। काव्य–भाषा एक स्थान की बोलचाल की भाषा नहीं होती, वह कवि-समय-सिद्ध सामान्य भाषा हुआ करती है। यह दो प्रकार से सामान्य बनाई जाती है–उदारता पूर्वक और प्रदेशों की बोलियों को भी स्थान देने से, तथा पुरानी भाषा के शब्दों को स्थान देने से। यदि भिन्न–भिन्न स्थानों के शब्दों को ही जोड़कर काव्य की

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३१०
२ चिन्तामणि भाग २ ,, २३६
३ –वही– ,, २४१, ४४०
४ जायसी ग्रन्थावली (भू०) ,, २०५
५ चिन्तामणि भाग २ ,, १४२
६ हिन्दी साहित्य का इतिहास ,, ६००, ६०१
७ जायसी ग्रन्थावली

भाषा बनाई जावे, तो वह एक हौवा बन जायगी। उसमें प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही है। शुक्लजी में भी जन-भाषा की सजीवता और शक्ति को स्वीकार किया है और उससे काव्य भाषा को पुष्ट करने की सलाह भी दी है। परन्तु वे सर्व-साधारण की भाषा और काव्य-भाषा में अन्तर मानते रहे हैं, जिसे आज के साहित्य में भुलाया जा रहा है। शुक्लजी की यह काव्य-भाषा रस-भूमि की समीपवर्तिनी है, साधारणीकरण की सहायिका है। उसमें व्याप्ति और साहित्यिक शालीनता है। शुक्लजी का भाषा-विवेचन रस-सिद्धान्त के अनुकूल ही माना जायगा।

छन्द

छन्दों की भावानुरूपता भी शुक्लजी ने स्वीकार की है। वे छन्द को काव्य में आवश्यक मानते हैं। छन्द के एक मनोवैज्ञानिक लाभ की ओर शुक्लजी ने इङ्गित किया है। छन्द के द्वारा ढाँचे की मिति और इनके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती हैं जिससे भीतर ही भीतर वह पढ़ने वाले की नाद-गति में सहयोग देता चलता है। लय तथा लय-योग की मिति के एकदम अज्ञात रहने से यह बात नहीं रह सकती। अतः छन्द के बन्धन में अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of sound impulse) सहज हो जाती है।[1] कुछ लोग कविता में लय-सिद्ध नाद-सौन्दर्य ही पर्याप्त समझते हैं। परन्तु शुक्लजी इससे अधिक की आवश्यकता मानते हैं। छन्दों पर यह आरोप कि उनसे विचारों के पैर बंध जाते हैं, कल्पना के पर सिमट जाते हैं, शुक्लजी के लिए मिथ्या है।[2] नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता द्वारा भाव-प्रेषणीयता में सहायता पहुँचती है। इस प्रकार छन्दों की भाव या रस-संचार में उपयोगिता है। छन्द-सम्बन्धी विवेचन में डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने कई महत्वपूर्ण बातें जोड़ी हैं, जिन्हें हम यथास्थान आगे चलकर देखेंगे।

कल्पना

शुक्लजी ने पश्चिम समीक्षा-साहित्य का भी पर्याप्त अध्ययन किया था और अपनी समीक्षा-दृष्टि में उसका यथेष्ट प्रयोग भी। परन्तु उन्होंने अपने समस्त अध्ययन का प्रयोग अपनी स्वतन्त्र समीक्षा-दृष्टि के निर्माण के लिए ही किया है और उनकी दृष्टि भारतीय परम्परा के मेल में है। पश्चिमी सामग्री तो उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए ही

---

१ चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ १४५
२ चिन्तामणि (भाग २) ,, १४७, १४८

उद्धृत की है। श्री बाजपेयीजी ने लिखा है कि 'आचार्य शुक्लजी ने अपने निबन्धों में पश्चिम के कतिपय नए पुराने साहित्य-शास्त्रियों का उल्लेख भी किया था, परन्तु उनका लक्ष्य भारतीय और पाश्चात्य-शास्त्र को समन्वित भूमि पर रखना नहीं था। वे अपने मत की पुष्टि के लिए भारतीय काव्यशास्त्र की अपनी व्याख्याओं के समर्थन के लिए, पश्चिम के उदाहरण दिया करते थे[१]।' शुक्लजी ने कतिपय पश्चिमी काव्य-तत्वों पर भी विचार किया है। अनुभूति-तत्व का समाहार भावो के अन्तर्गत हो जाता है, इसलिए इस पर स्वतन्त्र विचार की आवश्यकता नहीं है और न शुक्लजी ने अनुभूति का वह शास्त्रीय निरूपण ही किया है जो पश्चिम से प्रभावित कहा जा सकता है। शुक्लजी का भाव-निरूपण भारतीय काव्य-शास्त्र की ही वस्तु कही जायगी। इसी प्रकार शुक्लजी को बुद्धि और सदाचार सम्बन्धी निरूपण भी प्रासंगिक ही है। शुक्लजी ने कल्पना और सौन्दर्य तत्वों पर कुछ विस्तार से चर्चा की है।

शुक्लजी ने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार दी है—'किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़ कर या काट छाँट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते है।' बिना भावमग्नता के अनोखे रूपों का विधान, शुक्लजी के शब्दों में बावलापन या दिमागी कसरत है। कल्पना और भावोद्रेक का शुक्लजी ने घनिष्ठ सम्बन्ध माना है[२]। काव्य-कला के अतिरिक्त साधारण जीवन में भी सच्ची कल्पना का प्रयोग देखा जा सकता है। साधारण व्यवहार में भी भाव की प्रेरणा और तदनुरूप विधान किया जाता है। इस प्रकार कहलाने वाला कोई भाव अवश्य चाहिए[३]। अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है[४]। कवि निजी निरीक्षण द्वारा काव्य में नवीनता लाता है। यह निजी निरीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं और व्यापारों की संश्लिष्ट योजना से काव्य में नवीनता का समावेश करता है। उसकी सामग्री नई नहीं होती उसकी योजना ही नए रूप में होती है[५]। कालरिज ने कल्पना के दो प्रकार माने हैं, उनमें से शुक्लज़ी का यह विवेचन द्वितीय प्रकार की कल्पना के अनुरूप है। कालरिज ने लिखा है—

"The imagination, then, I consider either as primary, or secondary. The primary imagination I hold to be the living power and prime Agent of all human perception, and as a repetition in the finite mind of the eternal art of creation in the infinite I am. The secondary imagination

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६३, अ क २–४, पृष्ठ २९०
२ भ्रमरगीतसार (भूमिका) ,, २९७
३ भ्रमरगीतसार (भूमिका) ,, ३०
४ —वही— ,, ३१
५ जायसी ग्रंथावली (भूमिका) ,, ७९

I consider as an echo of the former co-existing with the conscious will, yet still as indentical with the primary in the kind of its agency and differing only in degree, and in the mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to re-create; or where this process is rendered impossible, yet still of all events it struggles to idealise and unity. It is essentially vital, even as all objects (as objects) are essentially fixed and dead." 1

शुक्लजी ने ऊपर जिस काव्य की नवीनता की चर्चा की है वह कल्पना-शक्ति का ही परिणाम है। शुक्लजी ने उपासना, भावना और कल्पना को अभिन्न माना है। वे उपासना का अर्थ ध्यान मानते है[२]। 'जो वस्तु हमसे अलग, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है, साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना[३]।' जिनकी कल्पना-शक्ति शिथिल होती है, उनकी अनुभूति तीव्र नही होता, क्योंकि उनके हृदय में भाव-प्रवर्तक स्पष्ट मूर्ति-विधान नही होता। शुक्लजी ने कल्पना के दो भेद माने हैं—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक एवं श्रोता या पाठक में ग्राहक कल्पना के साथ-साथ कभी-कभी विधायक कल्पना भी आवश्यक होती है[४]। कल्पना काव्य का अनिवार्य साधन है। उसे शुक्लजी ने साध्य का स्थान नहीं दिया है, क्योंकि विचित्र मूर्ति-विधान के होने पर भी भाव-संचार की क्षमता न होने से प्रसंग काव्य नहीं होगा[५]। डंटन की नूतन सृष्टि निर्माण वाली कल्पना को शुक्लजी ने तमाशा कहा है, क्योंकि उसमें उन्हें भाव-संचार की क्षमता नहीं मिली[६]। शुक्लजी के अनुसार कल्पना भाव का बोध-पक्ष है। कल्पना में आए हुए रूप-व्यापार का कवि या श्रोता को अन्तः साक्षात्कार (बोध) होता है। पर इसके अतिरिक्त काव्य में भाव-पक्ष भी है। कल्पना को प्रेरित करने वाले तथा कल्पित रुपादि में श्रोता को रमाने वाले भाव होते हैं इसलिए भाव प्रधान हैं, रस सिद्धान्त है। पश्चिम में यह बात भुला दी गई। वहां भाव-पक्ष से ध्यान हट गया तथा काव्य की रमणीयता कल्पना द्वारा भड़कीली वस्तुओं को देखने के कुतूहल में मानी गई[७]। शुक्लजी कल्पना का सम्बन्ध जीवन और जगत् से घनिष्ट रूप से मानते हैं, उनकी कल्पना बायवीय नही है। उनके अनुसार संसार की रूप-गति से ही मनुष्य की कल्पना तथा भावना का निर्माण होता है।

---

1 Colridge as quoted by R. A. Scott games in the Making of Literature Ed. 1956 P. 223

२ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ १६१

३ —वही— " १६१

४ चिन्तामणि (भाग १) ,, १६१

५ —वही— " १६२

६ —वही— " २३५

७ —वही— " २३६

वृत्ति बहिर्मुखी रहने पर रूपादि बाहर, तथा अंतर्मुखी रहने पर भीतर दिखालाई पड़ते हैं। भीतर और बाहर रूप ही हैं। इन रूपों से भिन्न कुछ भी नहीं है। सौन्दर्य की भावना जागना, सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है। मानसिक रूप-विधान का नाम ही कल्पना है। इसी को शुक्लजी ने संभावना तथा अन्यत्र भावना आदि कहा है[१]। यह रूप – विधान तीन प्रकार का बतलाया गया है—प्रत्यक्ष, स्मृत तथा कल्पित और तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भाव को रस-रूप में जगाने की शक्ति होती है[२]। काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है। परन्तु काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर हृदय को प्रभावित करती है[३]। आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय आदि की योजना कल्पना द्वारा ही होती है[४]। यह काव्य का प्रस्तुत-पक्ष हुआ। कल्पना के द्वारा काव्य का अप्रस्तुत पक्ष भी नियोजित होता है। अप्रस्तुत योजना भी भाव-संकेत पर भावना की बुद्धि के लिए होनी चाहिए। इसी अर्थ में काव्य के लिए प्रयोजनीय हो सकती है। यदि अप्रस्तुत योजना रंग, आकृति, छोटाई-बड़ाई आदि के लिए हो तो निष्फल है और बाधक भी[५]। शुक्लजी कल्पना को काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों की नियोजिका बतलाकर उसके महत्व को स्वीकार किया है, परन्तु उसे सर्व स्वतन्त्र कहीं माना, भाव-नियंत्रित ही रखा है। शुक्लजी ने भाषा के भीतर भी कल्पना का कार्य स्वीकार किया है। भाषा शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में कल्पना ही काम करती है[६]। शुक्लजी काव्य में विभाव-पक्ष को ही प्रमुख मानते हैं। इसलिए रसाधार विभावन व्यापार ही उनके लिए, कल्पना का प्रधान कार्य-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में भी उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है[७]। विभावन-व्यापार द्वारा वस्तु प्रतिष्ठा पूर्ण होने पर, अहंकारादि बाह्य अवयवों की आवश्यकता पड़ती हैं, या नहीं भी पड़ती[८]। कल्पना और भावना के सम्बन्ध में शुक्लजी ने अनेक स्थलों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। रस श्रोता या पाठक में माना जाता है, अतएव उनमें सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित है, कल्पना कम। कवि-कर्म में कल्पना की अधिक आवश्यकता है, पर कवि की कल्पना विशेष प्रकार की होती है। कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूप-विधान में तत्पर करता है। कवि का मूल गुण भी भावुकता या अनुभूति ही

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृष्ठ २४२
२ —वही— ” २४३
३ —वही— ” २६४
४ —वही— ” २६५
५ —वही— ,, २६७
६ —वही— ,, २६८
७ चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ २
८ —वही— ,, ११, १२

ठहरता है। कल्पना तो इसकी सहयोगिनी है जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुंचा ही नहीं सकता। 'अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है।' अतएव कवि के लिए दोनों आवश्यक हैं।[1] भावों का स्वरूप खड़ा करने और अलंकारों की योजना दोनों में कल्पना सहायता पहुंचाती है। इस प्रकार काव्य में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान हैं[2]। शुक्लजी ने काव्य-हेतु प्रतिभा का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है। वे प्रतिभा और कल्पना में कोई भेद नहीं मानते। कवि अपनी इसी शक्ति के कारण प्रस्तुत पक्ष का रूप-विधान करता है। भाव-प्रेरणा से जगे हुए नाना रूप-संस्कारों का कल्पना या प्रतिभा द्वारा समन्वय करके कवि उनका एक नया मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। प्रतिभा या कल्पना का काव्य में पहला काम है। इसके उपरान्त वह अप्रस्तुतों का विधान करती है[3]।

शुक्लजी के इस कल्पना विवेचन से स्पष्ट है कि वे कल्पना को स्वतन्त्र नहीं मानते, काव्य में उसका भाव-नियन्त्रित होना आवश्यक मानते हैं। इसलिए उनका कल्पना-विवेचन रसानुकूल ही होगा। परन्तु कल्पना का वह रूप जिसमें वह अनुभूति से अभिन्न मानी गई है अनुभूति का क्रियमाण स्वरूप स्वीकार की गई है,[4] शुक्लजी में उपलब्ध नहीं होता। शुक्लजी भावना और अभिव्यंजना में आत्यन्तिक विच्छेद मानकर ही चले हैं[5]।

सौन्दर्य

शुक्लजी सौन्दर्य को वस्तुगत मानते हैं, व्यक्तिगत नहीं जैसा कि यूरोपीय कला-समीक्षा में माना गया है। जैसे वीर-कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है[6]। शुक्लजी की सौन्दर्य सम्बन्धी यह दृष्टि उनकी वस्तुवादी दृष्टि का ही परिणाम है। काव्य में भी उन्होंने आलंबन को, काव्य-विषय को ही सर्व प्रमुख स्थान दिया है। रस-सूत्र के व्याख्याता आचार्यों में भट्ट लोल्लट ने भी 'अनुकार्ये रसत्वेन उत्पद्यन्ते' कह कर इसी वस्तुवादी दृष्टि का परिचय दिया था। शुक्लजी की यह सौन्दर्य-व्याख्या उनके रस-मत के अनुकूल ही है। शुक्लजी ने सौन्दर्य की अनुभूति हमारी अन्तस्संज्ञा की तदाकार परिणति कहा है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी अधिक होगी, इतनी ही वह वस्तु

---

१ चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ १०३, १०४
२ रस-मीमांसा " १०५
३ चिन्तामणि (भाग २) " २१२
४ नया साहित्य-नए प्रश्न " १४६, १४७
५ आधुनिक साहित्य " २७७
६ चिन्तामणि (भाग १) पृ० १४६

सुन्दर मानी जायगी। शुक्लजी की यह सौन्दर्यानुभूति की परिभाषा व्यक्ति-सापेक्ष है। इसके लिये शुक्लजी ने सौन्दर्य के सामान्य आदर्श का उल्लेख किया है कि मनुष्यता की सामान्य भूमि पर सौन्दर्य के सामान्य आदर्श की प्रतिष्ठा होती है। एकदम कुरूप को कोई सुन्दर नहीं कहता [१]। शुक्लजी इसके द्वारा सामान्य काव्य विषय एवं तदाकार परिणति के द्वारा विषय या आलंबन के साथ साधारणीकरण सिद्धान्त का ही शब्दांतर से प्रतिपादन कर रहे हैं। शुक्लजी काव्य का सम्बन्ध सुन्दर से ही मानते हैं। काव्य में उन्होंने दो ही पक्ष माने हैं सुन्दर और कुरूप। उनसे अनुसार शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, मंगल और अमंगल आदि काव्येतर शब्दावलियां हैं [२]। परन्तु शुक्लजी ने कर्म-सौन्दर्य की—अन्याय और अत्याचार के अन्धकार को फाड़ कर मगल-ज्योति के जागरण की जो व्याख्या की है उसमें उनकी नैतिक दृष्टि बहुत स्पष्ट उभर आई है। यही उनका जीवन-सौन्दर्य भी है [३]।

शुक्लजी ने भारतीय काव्य-शास्त्र के कतिपय अन्य तत्वों पर—जिन पर आचार्यों ने बड़े-बड़े सम्प्रदाय खड़े कर दिये हैं—बड़े प्रासंगिक उल्लेख किये हैं। उनके अनुसार रीति नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए आविष्कृत हुई है। इसमें रसानुकूल वर्णों का प्रयोग किया जाता है। इसमें अर्थ केवल इतना है कि पूर्ण प्रभाव के लिए काव्य संगीत तत्व का भी आश्रय लेता हैं [४]। रसवादी होने के कारण अनेक प्रकार के औचित्यों की शुक्लजी ने स्थल-स्थल पर चर्चा की है। शुक्लजी ने अनौचित्य वही पर माना है जिन वर्णनों में पाठक या श्रोता का हृदय लीन नहीं होता, जिनसे भाव–प्रवाह में बाधा पहुंचती है [५]। इसी दृष्टि से शुक्लजी ने कवियों मे कई दोष दिखलाये है [६]। शुक्लजी ने काव्य में व्यंग्यार्थ के परम्परागत महत्व को भी स्वीकार किया है। वे काव्य में किसी न किसी प्रकार का व्यंग्य आवश्यक मानते हैं, परन्तु रस-व्यंजना उनके लिए सर्वोपरि है [७]। भाव-प्रेरित वक्रोक्ति शुक्लजी ने काव्यांतर्गत मानी है। भावोद्रेक से उक्तियों में जो एक बांकापन आ जाता है, वही काव्य की रमणीयता में गिना जा सकता है। सभी प्रकार की वक्रोक्तियां शुक्लजी के अनुसार काव्य नहीं हैं [८]। भावानुमोदित वक्रोक्ति भावना को गोचर

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृ० १६५, २२०
२ वही " १६७
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास " ७०६
४ चिन्तामणि (भाग २) " २२५
५ जायसी ग्रंथावली (भू०) " ५०
६ जा० ग्रं० ५०, ५२। इति० २१२। गो० तु० १४३, १४६, १७३
७ भ्रमरगीतसार (भू०) पृ० ४५
८ चिन्तामणि (भाग १) " १७४

और सजीव रूप देने के लिये, भाव की विमुक्ति और स्वच्छन्द गति के लिये काव्य में अत्यन्त प्रयोजनीय भी मानी गई है [१]।

साहित्य–रूप

शुक्लजी ने प्राचीन काव्य का अध्ययन ही अधिक किया है। उनके समय तक गद्य-साहित्य पर्याप्त प्रकाशित हो चुका था। परन्तु शुक्लजी का ध्यान इस ओर नहीं जा पाया। इसलिये उनका साहित्यिक सिद्धान्त काव्य-अध्ययन पर आधारित है। गद्य-साहित्य पर तो उनके कतिपय प्रासंगिक उल्लेख ही मिलते हैं। साहित्य-रूपों में प्रबन्ध काव्य और गीत काव्य पर उनके विचार कुछ विस्तृत रूप मे उपलब्ध होते है। इन पर भी उन्होंने अपने विशिष्ट रस–मत से ही विचार किया है। शुक्लजी के अनुसार प्रबन्ध काव्य में दो प्रकार के अंश होते है––इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। जीवन के मर्म-स्पर्शी रसात्मक स्थलों तक पहुंचाने के लिए ही काव्य में कथा की योजना की जाती है [२]। प्रबन्ध काव्य की कथा भी इस प्रकार से चुनी जाती है कि उसमें जीवन के भिन्न भिन्न भावों को स्फुरित करने वाली अनेक दशायें आ जायें, जिनका सामान्य अनुभव प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतः कर सकता है। ऐसे रसात्मक स्थल कथा-प्रवाह के विराम-स्थल होते है [३]। इतिवृत्तात्मक कहानियों की अपेक्षा रसात्मक कहानियां ही प्रबन्ध काव्य के उपयुक्त मानी गई है [४]। प्रबन्ध कवि की भावुकता का पता इस बात से लगता है कि वह आख्यान के अधिक मर्म-स्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नही। दूसरे इन्हें पहचान कर वह उनका विस्तृत और विशद वर्णन करता है अथवा नहीं [५]। प्रबन्ध काव्य की रसात्मकता उसकी प्रमुख विशेषता है। प्रबन्ध काव्य में शुक्लजी दूसरी बात यह भी देखते है कि उसमें मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य है अथवा नही [६]। लोक-संघर्ष की व्यापकता और अनेकरूपता प्रबन्ध काव्य की विशेषता होती है। प्रबन्ध-काव्य में जीवन की गम्भीर समस्यायें चित्रित होती है [७]। प्रबन्धों का कथा-चक्र ही ऐसा चुना जाता है कि जिसमें जीवन दशाओं की अनेक

---

१ चिन्तामणि (भाग २) पृ० २१३
२ जायसी ग्रन्थावली (भू०) " ६९, ६८
३ ––वही–– " ७०
४ जायसी-ग्रन्थावली (भू०) " ७१
५ गोस्वामी तुलसीदास " ७९
६ जायसी–ग्रंथावली (भू०) " ६८
७ भ्रमरगीतसार (भू०) " ६, ७

रूपता दिलाई जा सके [१]। प्रबन्ध काव्य के भीतर ही कवि को मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ अपने हृदय का सामंजस्य दिखाने का और इस प्रकार अपनी सहृदयता और भावुकता की पूरी परीक्षा करने का अवसर मिल सकता है[२]। शुक्लजी के अनुसार प्रबन्ध कवि का हृदय लोक-हृदय में लीन रहता है और वह वास्तविकता का पल्ला नहीं छोड़ता[३]। ब्रह्म की व्यक्त सत्ता पर दृष्टि होने के कारण शुक्लजी उस व्यक्त सत्ता की विराटता और अनेकरूपता को साहित्य में भी सर्वोपरि मानते हैं, उसी के आधार पर वे अपना मत निर्धारित करते हैं। तुलसी की शुक्लजी ने इसी कारण बार-बार प्रशंसा की है।

शुक्लजी का मत है कि गीत काव्य मे प्रस्तुत रूप में लाए हुए पदार्थ और व्यापारों की संख्या परिमित होती है। इसमें मधुर ध्वनि-प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक पर्याप्त होती है।[४] मुक्तक काव्य में भाव की रस-पद्धति के अनुसार-अनुभाव, विभाव, संचारी आदि से—व्यंजना ही पर्याप्त है, परन्तु प्रबन्ध में परिस्थिति की अनुरूपता भी देखी जाती है।[५] आशय यह है कि प्रबन्ध काव्य जीवन की विविध परिस्थितियों का भी उल्लेख करता है। मुक्तक में इनको स्थान नहीं मिलता। प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य का भेद बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसङ्ग की परिस्थिति को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।[६]" एक स्थान पर शुक्लजी ने काव्य के लिए अनुकृत या प्रकृत काव्य तथा मुक्तक काव्य के लिए अतिरंजित या प्रगति शब्द का प्रयोग किया है और बतलाया है कि सच्चे कवि की परख जीवन के अनेक पक्षों की व्यंजना करने वाले प्रकृत काव्य में ही होती है, प्रगीत काव्य में नहीं। प्रगीत कवि शुक्लजी के अनुसार अतिरंजित वर्णन करते हैं, वास्तविकता का पल्ला छोड़ देते हैं।[७] शुक्लजी ने प्रगीत काव्य को कलावाद के समीप रखकर देखा है और इसीलिए उसको यथेष्ट महत्व नहीं दिया। काव्य के दो भेदों—स्वानुभूति—निरूपक (Subjective) तथा बाह्यार्थ-निरूपक (Objective)—में शुक्लजी ने अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण दूसरे भेदों को

---

१ जायसी-ग्रन्थावली (भू०) पृष्ठ ७१
२ --वही-- " २१०
३ गोस्वामी तुलसीदास " ६७
४ भ्रमरगीतसार पृष्ठ ६
५ जायसी ग्रंथावली ,, ६६
६ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २४७
७ गोस्वामी तुलसीदास ,, ६७, चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ ६१

ही श्रेष्ठ बतलाया है, क्योंकि उनके अनुसार वही काव्य सामान्य कोटि का और साधारणीकरण के अनुकूल हो सकता है।[1] शुक्लजी ने इस बात का भी संकेत किया है कि यह भेद ऊपरी और स्थूल कोटि का है[2] परन्तु उनका आग्रह सदैव इस भेद पर रहा है। प्रबन्ध और प्रगति को तात्विक अभेद का निरूपण तथा विचार एवं व्यवहार में इस सम्बन्ध की एकरूपता शुक्लजी में उपलब्ध नहीं होती।

गद्य-साहित्य में निबन्ध पर शुक्लजी ने कुछ अधिक विचार व्यक्त किए हैं। आधुनिक निबन्ध प्रमुख रूप से पश्चिमी देन है। इसलिए शुक्लजी ने उसकी जो परिभाषा की है वह पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार ही। अपने इतिहास में वे लिखते हैं—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो।" परन्तु शुक्लजी ने व्यक्तिगत विशेषता का जो अर्थ बताया है, वह साहित्य की सामान्य भूमि के बहुत समीप है[3]। व्यक्तिगत विशेषता का शुक्लजी यह अर्थ नहीं लेते कि जिसमें विचारों की शृंखला ही तोड़ दी जाय, भावों की ऐसी विचित्रता दिखाई जाय जो भाषा से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से हठयोगियों के आसन या सरकस करवाया जाय। वे निबन्ध को व्यक्तिगत रुचि का तमाशा नहीं मानते।[4] वे मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना मानसिक संघटन होता है और उसी के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है और किसी का किसी पर। ये सब सम्बन्ध-सूत्र पत्ते की नसों के समान एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। तत्व-चिन्तक या दार्शनिक किसी एक सूत्र पर सीधे चलता है, निबन्ध लेखक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार इधर-उधर फैली हुई सूत्र-शाखाओं पर भी विचरण करता है। यही निबन्ध-लेखक की अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है[5]। शुक्लजी ने पत्ते के प्रमुख सूत्र द्वारा निबन्धों में भी साहित्य की सामान्य भूमि की शोध कर ली है। वे निबन्ध में भी व्यक्ति-वैचित्र्य या स्वातन्त्र्य को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं थे, उन्होंने उसे बहुत कम स्थान दिया है।

नाटकों का लक्ष्य भी, परम्परानुसार, उन्होंने रसोद्रेक ही माना है। परन्तु इस मूल भारतीय लक्ष्य के साथ ही वे पश्चिमी अन्तःप्रकृति के वैचित्र्य को भी सफाई के साथ मिला लेना चाहते थे। प्रसाद और प्रेमी के नाटकों में रस-विधान और शील-वैचित्र्य के सामंजस्य का स्वागत किया है।[6]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास पृष्ठ ७६, ७७
२ —वही— ,, ७७
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास ,, ५०५
४ —वही— ,, ५०५
५ —वही— ,, ५०६
६ —वही— ,, ५५०

उपन्यास के सम्बन्ध में शुक्लजी ने देश के वर्तमान जीवन से माना है, परन्तु उथली राजनीति का ही चित्रण उन्हें अभीष्ट नहीं था। वे साहित्य को राजनीति से ऊपर की वस्तु मानते हैं। उनके अनुसार जन-समाज के बीच गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियों को गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी उनका विस्तार--मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासकार का काम है[१]। सामयिक परिस्थितियों से ऊपर उठकर जीवन के नित्य स्वरूप की विषमता का चित्रण करने वाले यूरोपीय उपन्यासों की भी उन्होंने प्रशंसा की है[२]। उपन्यासों में शील--वैचित्र्य की विशेषता को शुक्लजी ने झूठी विशेषता कहा है[३]। इस प्रकार शुक्लजी उपन्यासों में भी सामान्य कोटि के पात्रों का चित्रण चाहते थे।

विविध वाद

शुक्लजी ने व्यक्तिवाद का विरोध किया है, क्योंकि उसमें साधारणीकरण सम्भव नहीं है उसमें एक की भावना हजारों और लाखों तक नहीं पहुँचाई जा सकती है, जो काव्यका लक्ष्य है[४], उसमें भारतीय काव्य की उस भूमि के दर्शन नहीं होते जहां सब हृदयों का मेल हो जाता है, जहां अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है। शुक्लजी के अनुसार व्यक्तिवाद कोई व्यापक और स्थायी मनोवृत्ति नहीं है[५]। फ्रायड के मनोविज्ञान को भी शुक्लजी ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसका सिद्धान्त अतृप्त काम-वासना की अभिव्यक्ति काव्य तथा कलाओं में देखता है, शुक्लजी की सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि को यह कभी सह्य नहीं था[६]। अभिव्यञ्जनावाद को शुक्लजी ने कलावाद, वाग्वैचित्र्यवाद, वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान आदि नामों से स्मरण किया है तथा उक्ति-वैचित्र्य का ही पर्याय माना है। शुक्लजी के अनुसार इसका काव्य-वस्तु से, हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है[७]। वह कला की बेल बूटे वाली और नक्काशी की हल्की धारणा का कच्चा बच्चा है[८]। शुक्लजी के अनुसार क्रोचे ने काव्य का प्रधान रूप कल्पनात्मक माना, भावात्मक नहीं, कल्पना को ज्ञान कहा है और उसे आध्यात्मिक आभास की संज्ञा

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ५३६
२ —वही-- " ५३७
३ —वही-- " ५३९
४ चिन्तामणि (भाग १) " २३७
५ हिन्दी साहित्य का इतिहास " ६५७
६ चिन्तामणि (भाग १) " २६६--२६७
७ हिन्दी साहित्य का इतिहास " ५७२
८ चिन्तामणि (भाग २) " १६९

दी, परिणामस्वरूप उसका जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं रहा [१]। क्रोचे ने अलंकार और अलंकार्य में कोई भेद नहीं माना और अलंकार्य की नितान्त उपेक्षा की है [२]। शुक्लजी काव्य का जीवन और जगत् से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं तथा काव्य में वस्तु को प्रधानता देते हैं, इसलिए जैसा उन्होंने क्रोचे को समझा उसके अनुसार उसकी मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते। शुक्लजी की क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में जो धारणाएँ थीं, वे उनके परवर्ती समीक्षकों ने अब असिद्ध कर दी हैं। छायावाद के सम्बन्ध में भी शुक्लजी की दृष्टि अस्वीकार की ही रही है। सर्वप्रथम तो उन्हें छायावाद का विदेशीपन खटका था[३]। दूसरी शिकायत शुक्लजी को इस वाद से यह थी कि इसका लक्ष्य शैली की ओर था, वस्तु-विधान की ओर नहीं। इसमें वस्तु-भूमि या अर्थ-भूमि का बहुत संकोच हो गया [४]। तीसरी बात यह है कि इसमें अलौकिक प्रेम के बहाने प्रणय-वासना का उद्गार कामुक शब्दावली में व्यक्त किया गया।' रीति-काल की शृङ्गारी कविता—कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेंक कर चल रही है [५]।' शुक्लजी ने छायावाद को प्रतीकवाद चित्र-भाषावाद तथा अभिव्यंजनावाद का अनुकरण आदि कहा है। परन्तु शुक्लजी की छायावाद के सम्बन्ध मे धारणा धीरे-धीरे बदलने लगी थी [६]। शुक्लजी आदर्शवादी है, परन्तु उनका आदर्श व्यावहारिक है। शुक्लजी का मत है कि आदर्श व्यक्ति सिद्ध हो सकता है, परन्तु वह लोक-साध्य ही रहा है और ऐसा ही रहेगा। जिस दिन आदर्श लोक-सिद्ध हो जायगा, उस दिन यह लोक कर्म-लोक नहीं रहेगा, उस दिन इस लोक के रहने की भी आवश्यकता रहेगी या नहीं, नहीं कहा जा सकता। प्रयत्न ही जीवन की शोभा और सौन्दर्य है। आशय यह कि शुक्लजी एकांतिक आदर्शों के पुजारी नहीं हैं। वे लोकादर्शवादी है। शुक्लजी ने काव्य में रहस्यवाद का भी विरोध किया है। शुक्लजी का मत था कि कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है [७]। शुक्लजी के इस विवेचन में प्लेटो के अनुकृति-सिद्धान्त [८] की प्रतिध्वनि सुनाई

---

१ चिन्तामणि पृ० १८१, १८३
२ —वही— " १८९
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास " ६०३
४ —वही— " ६४७, ६५१
५ —वही— " ६५३, ६५४
६ —वही— " ६७४, ६६८, ६५५
७ चिन्तामणि (भाग २) " ४९, ५४
८ **The Making of Literature P. 40, 41**

पड़ती है । शुक्लजी काव्य का सम्बन्ध व्यक्त जगत से मानते हैं और रहस्यवाद का सम्बन्ध अव्यक्त सत्ता से है। इसलिए इसे स्वीकार करने में उन्हें कठिनाई रही है। परन्तु शुक्लजी ने रहस्यवादी कविता को आलस्य अकर्मण्यता और वैराग्य की वाणी कहा है, उसे स्याली पुलाव और कायर कल्पना बतलाया है [१]। उसे कनकौवा की संज्ञा दी है [२]। रहस्यवादियों को मतवाले साम्प्रदायिक कहा है [३]। यह सब शुक्लजी की व्यक्तिगत रुचि का ही परिणाम है और ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता के प्रति अन्याय है। शुक्लजी ने स्वयं व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं माना है [४]। शुक्लजी के इस 'दार्शनिक विपर्यय' का 'हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी' में भली भांति परिदर्शन कराया गया है [५]।

शब्द–शक्ति

'रस-मीमांसा' में शब्द-शक्ति की शास्त्रीय मीमांसा के साथ ही शुक्लजी ने कतिपय अपनी मान्यतायें भी व्यक्त की हैं। चिन्तामणि (भाग २) में भी इस विषय की कुछ चर्चा की गई है। शुक्लजी का मत है कि 'वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं [६]।' शुक्लजी के उनुसार वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना (रस के सम्पूर्ण अवयवों के साथ भाव-व्यंजना रस-व्यंजना बन जाती है) दो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं। वस्तु–व्यंजना में किसी वृत्त या तथ्य का बोध होता है पर भाव–व्यंजना में किसी भाव का मन में संचार होता है, उसकी अनुभूति उत्पन्न होती है। बोध या ज्ञान कराना तथा भाव जगाना स्पष्टतः भिन्न है। साहित्य ग्रन्थों में एक को संलक्ष्य क्रम व्यंग्य और दूसरी को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है। परन्तु वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने के क्रम का संलक्ष्य और असंलक्ष्य होना ही इनका एकमेव अन्तर नहीं है। रति, क्रोधादि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है। व्यंग्यार्थ वस्तु या तथ्य का ही होगा, भावानुभूति को व्यंग्यार्थ नहीं कहा जा सकता [७]। इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। शुक्लजी का मत है कि रस के सम्बन्ध में व्यंजना शब्द का प्रयोग कुछ असावधानी के साथ किया गया है। व्यंजना शब्द का अर्थ है प्रकट करना, प्रकाशन करना। इसके लिए वस्तु की सत्ता पहले से रहना आवश्यक है। पर अनुभूति के पूर्व रस की सत्ता नहीं

---

१ चिन्तामणि (भाग २) पृ० ५३
२ चिन्तामणि (भाग २) " ५७
३ —वही— " ६३
४ —वही— " ५७
५ हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी —श्री रामचन्द्र शुक्ल, ३
६ चिन्तामणि (भाग २) " १६८
७ —वही— " १६३

रहती। इसलिए यहाँ प्रकट करने का अर्थ होगा अनुभूति उत्पन्न करना, रस-व्यंजना का अर्थ होगा विशेष भाव का रस के रूप में आस्वाद लेने की अभिव्यक्ति। इस अर्थ वैभिन्य के कारण रस के प्रसंग में व्यंजना का प्रयोग उपयुक्त नहीं होगा। रस के प्रसंग में व्यंजना केवल इसी तथ्य की (भाव या रस की नहीं क्योंकि वे व्यंग्य नहीं हैं) होती है कि भाव की श्रोता या दर्शक के द्वारा रस-रूप में अनुभूति होने वाली है [१]। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के प्रदर्शन द्वारा भावानुभूति श्रोता या दर्शक के हृदय में रस-रूप में उत्पन्न होती है [२]। विभाव और अनुभाव श्रोता के मन में ज्ञान रूप में ही अवस्थित रहते हैं। 'इसलिए और विशुद्ध रूप में हम यों कह सकते हैं कि विभाव अनुभाव के ज्ञान से रस नामक अनुभूति उत्पन्न होती हैं।' रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं [३]। इसलिए उसकी व्यंजना नहीं हो सकती : वाच्यार्थ में काव्य को सिद्ध करने के लिए शुक्लजी ने 'जीकर हाय पतंग मरे क्या' उदाहरण देते हुए बतलाया है कि इसमें जो काव्यत्व है वह इसके वाच्यार्थ में ही है। इसके लक्ष्यार्थ 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे' में कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रहेगा [४]। वाच्यार्थ चाहे योग्य एवं उपपन्न हो अथवा अयोग्य एवं अनुपपन्न, काव्य की सत्ता उसी में रहती है। वाच्यार्थ के अयोग्य एवं अनुपपन्न होने पर वह लक्षणा एवं व्यंजना के द्वारा योग्य और उपपन्न बन जाता है [५]। हृदय को रमाने की योग्यता सुन्दर पदार्थ में होती है, पदार्थ के बुद्धिग्राह्य अर्थ, उससे उत्पन्न भाव में नहीं और पदार्थ का चित्रण वाच्यार्थ द्वारा होता है, अभिधा-शक्ति द्वारा होता है। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ वस्तु को प्रकट न कर उसके बुद्धिग्राह्य तथ्य या सत्य को प्रकट करते हैं [६]। शुक्लजी ने काव्य के दो पक्ष माने हैं अनुभूति-पक्ष तथा सौन्दर्य-पक्ष। उसका सौन्दर्य-पक्ष अभिधाधाम अथवा वाच्यार्थ में ही सुरक्षित है। अनुभूति-पक्ष लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ के माध्यम से व्यक्त होता है, पर अभिधा-धाम से बहिर्गत होने पर काव्य-सज्ञा से च्युत हो जाता है [७]। इसी बात को शुक्लजी ने इन प्रकार भी कहा है कि व्यंजक वाक्य में रस होता है।' शुक्लजी के इस मत को पण्डित रामदहिन मिश्र ने भ्रामक बतलाया है। उनका कहना है कि व्यंजक वाक्य रस का उद्बोधक होता है, रस उसमें नहीं रहता [८]। शुक्लजी भी यही मानते हैं। हम यह ऊपर देख चुके हैं। उन्होंने रस की सत्ता सहृदय में

१ रस-मीमांसा पृ० ४०८-४१०
२ —वही— " ४१४
३ —वही— " ४१५
४ अभिभाषण " १४
५ चिन्तामणि (भाग २) " १६६
६ रस-मीमांसा " ३१०
७ आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त " २३०
८ काव्यालोक द्वितीय उद्योत (द्वि० सं०) पृष्ठ २३७

मानी है। यहां वाक्य शब्द का अर्थ उसका वाच्यार्थ लेना होगा जिसमें शुक्लजी ने काव्यत्व (रस) की -या मिश्रजी के शब्दों में ही रसोद्बोधन की—शक्ति मानी है। वस्तुवादी शुक्लजी वाच्यार्थ को ही प्रमुखता दे सकते थे। उनकी दृष्टि व्यक्त वस्तु पर, उसके मूर्त और स्पष्ट रूप पर ही लगी हुई थी, उसकी अव्यक्त गतियों पर नहीं। अतः वस्तु को मूर्त करने में सर्व प्रमुख अभिधा ही उन्हें सर्वोपरि प्रतीत हुई।

शुक्लजी ने बहुत कुछ नया दिया है। उनमें मौलिकता है। परन्तु इन सबके उपरान्त भी शुक्लजी ने सबसे अधिक शास्त्र की ही चर्चा की है, रस-शास्त्र को ही संशोधित और विकसित किया है। उन्होंने रस के आलंबन और उद्दीपनों की, विभाव, भावानुभावों तथा संचारियों की अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि की, काव्य के गुण और दोषों की, नायक और नायिकाओं की, काव्य की परिभाषा, प्रयोजन आदि काव्य-दर्शन सम्बन्धी बातों की, शब्द–शक्तियों की विस्तृत चर्चाएं की है। ऐसा लगता है कि शुक्लजी ने भारतीय काव्य-शास्त्र के पुराने महल की मरम्मत ही की है, उसका नव-निर्माण नहीं किया। श्री वाजपेयीजी ने अपने 'आधुनिक काव्य-चिन्तन' शीर्षक लेख में इसी बात का संकेत किया है। उन्होंने लिखा है—'यदि शुक्लजी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र की ८० प्रतिशत व्याख्या उसके मूल रूप में की है, तो २० प्रतिशत ऐसी भी है जिसे हम शुक्लजी का अपना विचार कह सकते है [१]।

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ६३, अं० ३–४)
आधुनिक काव्य-चिन्तन—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी।

शुक्ल-परम्परा के समीक्षक

'भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य
का प्रतिपाद्य भाव या रस ही होता है।'

—बिहारी, पृष्ठ ६
पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

श्री चंद्रबली पाँडे

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी–समीक्षा पर व्यापक प्रभाव रहा है। शुक्लजी ने न केवल अपने सम-सामयिक साहित्य को ही प्रभावित किया बरन् परवती साहित्य के अनेक रूपों पर भी उनकी गहरी छाप लगी हुई है। शुक्लजी के प्रभाव का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके उपरान्त भी उनके मत पर चलने वाले अनेक समीक्षक सामने आए और उन्होंने भी समीक्षा-क्षेत्र में अपना स्थान बनाया। शुक्लजी का प्रभाव स्वच्छंदतावादी हिन्दी-समीक्षा पर भी पड़ा है। शुक्लजी के कई सूत्र इस समीक्षा में विकसित किये गए हैं। 'शुक्ल-निकाय' के समीक्षकों एवं स्वच्छंदतावादी या छायावाद-युग के समीक्षकों मे अन्तर यह है कि जहां 'शुक्ल–निकाय' के समीक्षक शुक्लजी के मतों का ही तद्वत् प्रयोग करते रहे, वहाँ छायावाद–युग के समीक्षकों ने शुक्लजी के सूत्रों का विकास किया है, उनमें कई संशोधन किए है और शुक्लजी की कई मान्यताओं को अस्वीकृत भी कर दिया है। 'शुक्ल–निकाय' के समीक्षक अधिकांश में केवल अनुकरण करते रहे है। इस अनुकरण में मूल मत की कई बार रक्षा नहीं हो सकी है और इसके साथ ही शुक्लजी की केन्द्रीय तत्व की मजबूत पकड़ उसकी विस्तृत व्याख्या एवं प्रतिपादन तथा गौण तत्वों का समानुपातिक उल्लेख भी यहां कम ही उपलब्ध होते हैं। शुक्लजी का स्पष्ट जीवन–दर्शन 'शुक्ल-निकाय' के किसी भी समीक्षक में व्यक्त नही हो सका है। उसके बिखरे हुए अल्प संकेत उनकी समस्त समीक्षाओं को एक सूत्र करने में असमर्थ हैं। जीवन-दर्शन ही वह रीढ़ है जिसके आधार पर साहित्य का शरीर आकार ग्रहण कर खड़ा हो सकता है। आज के अधिकांश लेखकों और समीक्षकों के पास उनका कोई निजी जीवन–दर्शन नही है। परिणामस्वरूप उनका साहित्य गीली मिट्टी के समान है जिसकी न तो कोई ठीक मूर्ति ही बन सकती और न उसमें प्राण-प्रतिष्ठा ही की जा सकती।' 'शुक्ल-निकाय' के समीक्षकों के पास ऐसा प्रतीत होता है कि, उनका कोई निजी जीवन–दर्शन नहीं है,

जो है भी वह आरोपित है, आंतरिक नहीं। शुक्लजी के जीवन-दर्शन को ये समीक्षक आत्मसात नहीं कर सके हैं। इसलिए इनकी समीक्षाओं में बिखरन अधिक मिलती है।

श्री चंद्रबली पांडे 'शुक्ल-निकाय' के समीक्षक हैं। शुक्लजी ने साहित्य और जीवन के सम्बन्ध को बड़ी दृढ़ता और विस्तार के साथ व्यक्त किया है। उनकी समीक्षा जीवन-तत्वों पर आधृत होकर सजीव हो गई है। पॉडेजी ने भी साहित्य और जीवन के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। पांडे जी ने रासो की यह विशेषता बतलाई है कि उसमें मानव-जीवन का कोई अंग नहीं छूटा है[१]। रासों में जीवन के अनेक क्षेत्र तथा भिन्न-भिन्न वर्गों का चित्रण हुआ है[२]। विद्यापति की पदावली की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाई गई है कि उसमें लोक-जीवन की अभिव्यक्ति हुई है, राज-जीवन की नहीं[३]। सूर-सागर की भी यही विशेषता बतलाई गई है कि उसमें समस्त-ब्रज-जीवन समेटकर रख दिया गया है। पद और खान-पान तथा भोज्य-पदार्थों का भी सूर-सागर में विवरण मिलता है, जैसे फल, मिष्ठान्न, अन्न, अचार आदि भी 'सूर-सागर' में उल्लिख हुए है[४]। पॉडेजी ने भक्तों की कविताओं में भी 'समय की झांकी' देखी है[५]। तुलसी-साहित्य के अध्ययन से युग और उसमें कवि का जीवन-परिचय प्राप्त हो सकता है, इस बात का पांडेजी ने संकेत किया है[६]। केशव के 'वीरसिंह देव चरित' के सम्बन्ध में पांडेजी ने इतिहास की शाही दृष्टि से विचार नहीं किया। उसमें उन्होंने जनता का जीवन और देश का इतिहास देखा है[७]। 'रामचरित मानस' में जीवन की सर्वांगिता को न देखकर अपनी एकांगी दृष्टि के कारण उसकी मखौल उड़ाने वाले समीक्षकों पर पाँडेजी ने कुछ रोष प्रकट किया है। वे 'रामचरित मानस' को जीवन की उलझन का (वह) एक अत्यन्त सुलझा हुआ ग्रन्थ मानते हैं[८]। इसके साथ ही पांडे जी ने 'रामचरित मानस' को 'सबका और सर्वकाल का काव्य' भी कहा है[९]।

रस-सम्बन्धी शास्त्रीय चिन्तन में भी पांडे जी ने शुक्ल जी का समर्थन और अनुसरण किया है और श्री केशवप्रसाद मिश्र तथा श्यामसुन्दर दास जी का विरोध किया है। पांडेजी का मत है कि रस शुद्ध सत्व की दशा में होता है। रज और तम की दशा में

---

१ हिन्दी कवि-चर्चा (चन्द बरदाई) पृष्ठ १४
२ —वही— " १६, १७
३ —वही— " ३३
४ —वही— " २६६
५ तुलसी की जीवन-भूमि निवेदन ड
६ —वही— " २६५
७ साहित्य-संदीपिनी (परिचय) " १
८ तुलसीदास " ८७
९ —वही— " ९६

नहीं। दूसरी बात यह कि कविता करते समय कवि अपर–प्रत्यक्ष की भूमि पर विचरण करता है, पर प्रत्यक्ष भूमि पर नहीं जैसा कि 'साहित्यालोचन' में विवेचित किया गया है[१]। आशय यह कि रस व्यक्ति की निर्विशेष अवस्था की अनुभूति है और वह जीवनानुभूति से भिन्न नहीं है। पांडेजी मानते हैं कि 'साधारणीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा असाधारण साधारण हो जाता है।' काव्य में असाधारण पात्र ही होते हैं, या उनके कार्य होते हैं। भाव तो उनके भी साधारण ही होते हैं। व्यक्ति की विशेषता के लोप होने पर उसका सामान्य धर्म ही शेष रह जाता है और तभी साधारणीकरण भी होता है[२]। साधारणीकरण जो साधारण नहीं है, उसको साधारण बना देता है, उससे पात्र का दुःख सुख नहीं बन जाता, भाव का परिवर्तन हो जाता है[३]। पाँडेजी के अनुसार साधारणीकरण सामान्यीकरण नहीं हैं, क्योंकि सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध 'प्रत्यक्ष' जीवन से है और साधारण एवं अद्‌भुत का सम्बन्ध काव्य-जगत से हैं। सामान्य पात्रों का साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है। विशेष पात्रों का झुकाव अद्‌भुत की ओर अधिक होता है। उनसे काव्य में कुतूहल अथवा चमत्कार की सृष्टि ही अधिक होती है। काव्योपयुक्त अद्‌भुत वही हो सकता है जो सर्वथा निराला न हो और वही विशेष चित्ताकर्षक होता है, जो साधारण भी हो। साधारणीकरण का विशेष से घनिष्ठ संबंध है[४]। पाँडे जी मानते हैं कि साधारणीकरण का सम्बन्ध सहृदय या सामाजिक से है कवि या रचयिता से नहीं[५]। परप्र-त्यक्ष और अपर-प्रत्यक्ष की ऊपर चर्चा हुई है।' पाँडेजी का मत है वस्तु अपर-प्रत्यक्ष में जो अर्थ रखती है, वही पर-प्रत्यक्ष में भी। आलम्बन की सूक्ष्मता से साधना सूक्ष्म अवश्य हो जाती है परन्तु चित्तावृत्ति बदलती नहीं[६]। पाँडेजी ने एक बात यह भी कही है कि रस अस्मिता में नहीं, अस्मिता के अभाव में है[७]। अपनी व्यावहारिक समीक्षकों में पाँडेजी की दृष्टि रस पर बराबर लगी रही। हाव-भाव और अनुभावों की अपेक्षा सूर में भाव प्रधान हैं तथा कोरे चमत्कार की अपेक्षा उन्हें रस इष्ट है; इस बात के लिए वे सूर की प्रशंसा करते हैं।[८]

अलंकारों पर पाँडेजी ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे विदित होता है कि वे

---

१ साहित्य-संदीपिनी पृष्ठ १८
२ —वही— " २२,
३ —वही— " २२, २३
४ —वही— " २३
५ —वही— " २४, ३८
६ —वही— " ३३
७ —वही— " ३९
८ —वही— " २६८

अलंकारों को साहित्य में प्रमुखता नहीं देते। उनके अनुसार अलंकार लक्ष्य के अनुकूल हो[१], रम्य एवं प्रसंग के लिए उपयुक्त हो[२], उससे कला रम्य, भव्य और सुन्दर बनती हो[३]।

तुलसीदासजी को भाषा की प्रशंसा में कहा गया है कि वह भाव के अनुकूल ही नहीं पात्र के अनुकूल भी हुई है और देशकाल के अनुसार भी[४]। तुलसीदासजी ने शिष्ट भाषा को छोड़कर, प्राकृत जन की भाषा में रचना की, परन्तु लोक-कल्याण के लिए संस्कृत एकदम नहीं छोड़ दी। उसका भी समय-समय पर प्रयोग किया है[५]। भाषा में आदान-प्रदान होता है, शब्दों के रूप बनते-संवरते रहते हैं। शब्द अपने स्थान से टस से मस न होने वाले जड़ तत्व नहीं हैं[६]। भाषा विकासशील होती है। सूरदास जी के भाषा-गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उनकी भाषा भाव और विचार के साथ चलने वाली पात्र और प्रसंग के अनुकूल, अधिकतर सरल, सुबोध और सशक्त है[७]। रसखान की भाषा के सम्बन्ध में भी प्रायः इन्हीं बातों का उल्लेख किया गया है[८]। पॉडेजी ने किसी जनपद की भाषा को उसकी जीभ कहा है। उनका मत है कि भाषा के बिना समाज का जीवन जाग नहीं सकता। जनपद में दो प्रकार के भाषा-रूप व्यवहृत होते हैं—रोटी-पानी की कामकाजी भाषा और शिष्ट भाषा। दोनों के परस्पर व्यवहार लेन-देन आदि में ही किसी लोक या राष्ट्र का कल्याण है। ये दोनों एक दूसरे की पूरक हों दूरक नहीं[९]।

छंदों के सम्बन्ध में भी पॉडेजी ने एक-दो स्थानों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'पद्मावत' में केवल दो छंदों का प्रयोग उन्हें खटका है। सभी भावों की व्यंजना एक ही छंद में उन्हें उचित नहीं लगी[१०]। पांडे जी की धारणा है कि विषय या भाव के अनुरूप छंद एवं राग की योजना होनी चाहिए।[११]

उपर्युक्त बातों में पांडेजी शुक्लजी से स्पष्टतः प्रभावित हैं। कई स्थानों पर तो वे शुक्लजी की शब्दावली का भी थोड़े-बहुत हेर-फेर से प्रयोग करते हुए देखे जा सकते हैं।

---

१ हिन्दी कवि-चर्चा पृष्ठ १४२
२ हिन्दी कवि-चर्चा " १४९
३ —वही— " २६३
४ तुलसीदास " २७६
५ —वही— " २७५
६ —वही— " २-८
७ हिन्दी कवि-चर्चा " २६७-२६८
८ —वही— " २८६
९ साहित्य संदीपिनी " २०४, २०५, २०६
१० हिन्दी-कवि-चर्चा " १४२
११ —वही— ,, २६५

शुक्लजी ने कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा, पांडेजी ने संतों की वाणी को पंचो की वाणी या पंचामृत की संज्ञा दी[१]। शुक्लजी ने जायसी की ठेठ अवधी की मिठास के लिए प्रशंसा की, तो पांडेजी ने भी जायसी की ठेठ भाषा में उच्च भावों को व्यक्त करने की क्षमता देखी। जायसी के विप्रलंभ और बारहमासा पर लिखते समय पांडेजी ने शुक्लजी जैसी शैली का ही प्रयोग किया है[२]। कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलना करते समय भी पांडेजी ने जायसी को ही अधिक महत्व दिया है और तर्क वे ही हैं जो शुक्लजी ने दिए हैं। पांडेजी ने कबीर में राग और द्वेष दोनों प्रबल देखे हैं और जायसी में उन्हें राग की ही प्रधानता मिली है। उनके अनुसार जायसी रसमय और रम्य हैं तथा कबीर की बोली रूखी और फटी हुई, आदि[३]। ये शुक्लजी के ही प्रभाव में हैं। सूफी कवियों को पांडेजी ने भी प्रेमयोगी कहकर बड़ी प्रशंसा की है और नवीन हिन्दी कविता के रहस्यवाद की खिल्ली उड़ाई है। उनका कहना था कि नवीन हिन्दी-कविता अलौकिकता के आग्रह से अनन्त के पार भागी जा रही है[४]। पांडेजी ने हिन्दी 'रामचरित मानस' के महत्व को उसके लोक-पक्ष के कारण ही स्वीकार किया है और उसकी वही ऐतिहासिक भूमिका दी है, जो शुक्लजी ने दी थी[५]। तुलसी के मत को उन्होंने लोकमत और लोकहित का मत माना है। इस बिषय पर उन्होंने 'मंगल-विधान' शीर्षक एक परिच्छेद भी दिया है[६]। शुक्लजी का भी एक लेख 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' चिन्तामणि (भाग २) में में संग्रहीत है। श्रीराम के शील, शक्ति और सौन्दर्य का भी पांडेजी ने शुक्लजी के नामोल्लेख के साथ, वर्णन किया है[७]। तुलसी भक्तियोगी हैं, पर उनके भक्तियोग में ज्ञान का सारा प्रसार समा जाता है। शुक्लजी को भी भक्ति का यही रूप स्वीकृत है[८]। शुक्लजी का मर्यादा-प्रेम भी पांडेजी में व्यक्त हुआ है[९]।

कुछ बातों में पांडेजी शुक्लजी से थोड़े-बहुत भिन्न भी प्रतीत होते हैं। कबीर और केशव की चर्चा पांडेजी ने अधिक सहानुभूतिपूर्वक की है। देश-प्रेम और विश्व-प्रेम

---

१ हिन्दी कवि-चर्चा पृ० ७८
२ —वही— " १४४, १४५
३ —वही— " ५५१, १५२
४ साहित्य-संदीयिनी " ९
५ —वही— " ५०, ५१
६ तुलसीदास " १५७
७ —वही— " ९९
८ —वही— " १३८
९ साहित्य-संदीपिनी " १४७-१४९

में शुक्लजी का झुकाव देश-प्रेम की ओर था और पांडेजी का झुकाव विश्व-प्रेम की ओर [१]। सूर और तुलसी में किसी को छोटा-बड़ा न बतलाकर वे दोनों को बराबर बतलाते हैं [२]। परन्तु शुक्लजी की प्रौढ़ समीक्षा यहाँ आकर शिथिल और दुर्बल ही हुई है। शुक्लजी ने जिस रसालंकार पद्धति को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया था, वह यहाँ पर आकर रसों और अलंकारों की गिनती में परिणत हो गई और छोटी-छोटी विश्लेषण तथा व्याख्या सम्बन्धी उद्भावनाओं में अपना चमत्कार दिखलाने लगी। शुक्लजी ने जितनी स्पष्टता और विस्तार से, बिना किसी खण्डन-मण्डन के, साधारणीकरण को समझाया है वह बात पांडेजी के 'साधारणीकरण' में नहीं है। कई स्थानों पर पांडेजी का साधारणीकरण उलझा हुआ भी लगता है। पांडेजी ने साधारणीकरण का सम्बन्ध केवल सामाजिक से माना है, रचयिता से नहीं। यह मत भी शुक्लजी की मान्यताओं के अनुकूल नहीं। उपमा और उत्प्रेक्षा की तुलना पांडेजी ने संभावना पर आश्रित उत्प्रेक्षा को अधिक महत्व दिया है [३]। इससे उनकी चमत्कार-प्रियता का परिचय मिलता है। देव की अपेक्षा बिहारी में आचरण ढूँढने की मनोवृत्ति समीक्षा की किसी गहरी भूमि पर आधारित नहीं कही जा सकती [४]। पांडेजी में शोध की प्रवृत्ति अधिक प्रतीत होती है। शुक्लजी ने कवि के सम्बन्ध में बहुत कम चर्चा की है और जो की भी है, वह पूर्ववर्ती इतिहासकारों से ली है। उनका विवेच्य विषय काव्य रहा है। पांडेजी ने काव्य के साथ ही कवि के जीवन पर भी विस्तार से चर्चा की है। 'तुलसी की जीवन-भूमि' ऐसा ही ग्रंथ है जिसमें कवि के जीवन-वृत्त को ही ग्रंथ का विषय बनाया गया है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी-समीक्षा में यह प्रवृति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। जिसमें काव्येतर शोधों में लोग संलग्न हुए हैं। पांडेजी का भी बहुत सा कृतित्व ऐसा है जिसका काव्य-समीक्षा की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, या बहुत कम मूल्य है।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

डा० बड़थ्वाल भी शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में ही गिने जाते हैं। ये शुक्लजी के शिष्य थे। साहित्य-समीक्षा के मार्ग में ये गुरु के चरण-चिन्हों पर चले हैं। डा० बड़थ्वाल की प्रमुख कृति उनका शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' है। 'मकरन्द' नाम से उनका एक निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। उनके शोध-प्रबन्ध में निर्गुण सम्प्रदाय

---

१ साहित्य-सन्दीपिनी पृष्ठ १७४-१७६
२ हिन्दी कवि चर्चा ,, २६६
३ तुलसीदास ,, २३४
४ साहित्य-सन्दीपिनी ,, १४३

के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है। निर्गुण सम्प्रदाय को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों, उसके प्रसारकों, दार्शनिक सिद्धान्तों, पन्थ की विशेषताओं स्वरूप तथा अभिव्यक्ति पक्ष पर डा० बडथ्वाल ने विस्तार से चर्चा की है। इस ग्रंथ में शोध की तथ्यान्वेषिणी दृष्टि प्रमुख है, साहित्यिक समीक्षा गौण हो गई है। अधिकांश शुक्लोत्तर समीक्षा, जो शुक्लजी के पथ पर चली है, तथ्य-परक अधिक हो गई है। शुक्लजी की समीक्षाओं में साहित्य के भावात्मक और कलात्मक पक्ष का अधिक उद्घाटन हुआ है, अन्य बातें प्रासङ्गिक रही हैं। डा० बड़थ्वाल मानते हैं कि सत्य की अभिव्यक्ति के लिए काव्य एक स्वाभाविक साधन है। आत्म-द्रष्टा की अनुभूति यदि व्यक्त होना चाहे तो वह संगीत की ध्वनि से गुंजित हो उठने वाले काव्य के रूप में ही प्रकट होती है।[१] कविता में दो बातें आवश्यक हैं—एक हृदय की सच्चाई और दूसरी कल्पना। काव्य का काव्यत्व इसी बात में है कि वह अन्तः जीवन व्यक्त करे। जिसमें भाव जीवन की अनुभूत नहीं, वह कविता कविता नहीं। परिश्रम से बनावटी कविता बनती है। उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। जीवन में जितनी गम्भीरता होगी, उतनी ही सरल और स्वच्छ उसकी अभिव्यक्ति होगी और उसी के अनुसार सच्चा काव्य भी होगा[२]। उत्तम काव्य की विशेषता उसके रूप में न होकर उसके विषय से सम्बन्ध रखती है[३]। कविता का अन्तरङ्ग या आत्मा भावों की तीव्रता है जिनका उद्भव हृदय की तल्लीनता के बिना असम्भव है[४]। कवि-सत्य साधारण या वास्तविक सत्य नहीं होता हार्दिक सत्य होता है। वह कवि की निजी वस्तु है। एक बार इसकी अनुभूति होने पर, वह कवि को अभिव्यक्ति के लिए बेचैन कर देता है और उसे व्यक्त करके ही कवि का हृदय हल्का होता है। इसीसे कवि की वाणी में अबाध प्रवाह और अप्रतिहत गति आती है जो सीधे श्रोता या पाठक के अन्तस्थल में पहुँचकर वहाँ भी उथल-पुथल मचा देती है[५]। "संक्षेप में अपने निरीक्षण से एकत्र की हुई सामग्री को विचारों के पुष्ट ढाँचे में ढालकर, उसे कल्पना का सौन्दर्य देकर तथा रागात्मिकता का उसमें जीवन फूँक कर ही सफल कवि कविता का जीता-जागता मनोहर रूप खड़ा कर सकता है।[६]"

साहित्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है। इसलिए सन्त-सम्प्रदाय की विचार-धारा को समझने के लिए आरम्भ में उन विशेष परिस्थितियों का परिचय कराया गया है

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ३७४
२ —वही— ,, ३८३-३८४
३ —वही— ,, ३८१
४ मकरन्द ,, ४४
५ मकरन्द ,, ५२
६ मकरन्द ,, ५६

जिनमें उसका जन्म हुआ [१]। रामानन्द और उनके कई अनुयायियों में समय की सीमायें बतलाई गई हैं। [२]

डा० बड़थ्वाल काव्य में विषय को उसके अन्तरङ्ग पक्ष को ही प्रमुख मानते हैं, परन्तु काव्य का बहिरंग भी उनके लिए उपेक्षणीय नहीं है। डा० बड़थ्वाल को निर्गुण कवियों में कला-पक्ष की कमी खटकी है [३]। उनका मत है कि काव्य में अलंकार स्वभावतः आए हुए हों, बल पूर्वक न लाए गए हों [४]। कवि-कल्पना हृदय-जात होनी चाहिए, मस्तिष्क की उपज मात्र नहीं [५]। काव्य की भाषा प्रांजल होनी चाहिए, काव्योपयोगी होनी चाहिए [६]। डा० बड़थ्वाल की ये मान्यतायें शुक्लजी के अनुरूप ही हैं। इसलिए इन्हें भी शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में गिना गया है। डा० बड़थ्वाल में शोध की प्रवृत्ति प्रमुख रही है, समीक्षा की गौण अतएव उनकी साहित्यिक मान्यतायें अल्प मात्रा में ही व्यक्त हो सकी हैं।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

श्री मिश्रजी का शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में महत्वपूर्ण स्थान है। शुक्लजी की रस-सम्बन्धी मान्यताओं और उनके लोकादर्श सिद्धान्त को मिश्रजी ने भी स्वीकार किया है। मिश्रजी मानते हैं कि "भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस ही होता है[७]।" इसलिए भाव या रस की जिन कवियों में प्रधानता रही है, उनकी मिश्रजी ने प्रशंसा की है। इसी दृष्टि से रीति-बद्ध, रीति-सिद्ध एवं रीति-मुक्त कवियों में रीति-मुक्त कवि घनानन्द, रसखान आदि ही उन्हें विशेष प्रिय हैं।

मिश्रजी के अनुसार रस-भूमि लौकिक है, अलौकिक नहीं। जो लोग काव्य को अलौकिक भूमि की वस्तु मानते हैं, उनका मिश्रजी ने विरोध किया है। इसके साथ ही यह रस-भूमि लोक-भूमि भी है और बहुत व्यापक है। इसमें हृदय का वह निर्विशेषत्व स्वीकृत हुआ है "जो जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय आदि के भेदों का त्याग किए हुए अथवा इन विशेषों से तटस्थ होकर अभेद की पताका फहरा रहा है।" प्रगतिवादियों की लोक-भूमि में यह व्याप्ति नहीं है।[८]

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ६६
२ —वही— ,, ९२, ३६२
३ —वही— ,, ३८०
४ —वही— ,, ३८६
५ मकरन्द ,, ५७
६ मकरन्द ,, ५, ५९
७ बिहारी ,, ६
८ हिन्दी का सामयिक साहित्य ,, ९८, ९९, २२३

प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति में मिश्रजी ने कोई भेद नहीं माना है। दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ मूलत: एक ही हैं। प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक या दु:खात्मक भावों के समय जो चेष्टाएँ या मुद्राएँ उत्पन्न होती हैं, काव्यानुभूति के समय भी वे ही चेष्टाएँ या मुद्राएँ उत्पन्न होती हैं, रसानुभूति के समय भी वे चेष्टाएँ या मुद्राएँ व्यक्त होती हैं।[१] परन्तु मिश्रजी ने काव्यानुभूति या रसानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा संस्कृत या परिष्कृत माना है। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक और दु:खात्मक दो प्रकार के भावों की अनुभूति होती है, सुखात्मक भावों में हमारा मन लगता है और दु:खात्मक भावों से हमारा मन हटता है, किन्तु काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से सुखात्मक या दुखात्मक किसी भी प्रकार के भावों की अनुभूति हो, मन की केवल एक ही स्थिति होती है, वह इन दोनों प्रकार के भावों में रमता है। मन के इसी रमण के कारण काव्यानुभूति संस्कृत या परिष्कृत कही गई है और इसे 'रस' की संज्ञा दी गई है।[२]

मिश्रजी ने यह मध्य मार्ग निकाला है। हम ऊपर देख चुके हैं कि शुक्लजी को रसानुभूति की अनिवार्य आनन्दात्मकता का आग्रह नहीं है। वे उसे जीवनानुभूति से अभिन्न मानते हैं। मिश्रजी ने प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति में एकता मानते हुए भी, कुछ भेद भी स्वीकार किया है। वे काव्यानुभूति को अनिवार्यत: रमणीय मानते हैं। परन्तु प्रत्यक्षानुभूति अनिवार्यत: रमणीय नहीं होती।

मिश्रजी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र के दो प्रवाह बतलाए हैं—चारुत्व प्रवाह और अनुभूति प्रवाह। पहले का सम्बन्ध काव्य या श्रव्य काव्य से और दूसरे का सम्बन्ध नाट्य या दृश्य काव्य से है। चारुत्व प्रवाह का त्रिकोण अलंकार, गुण और रीति से बनता है और इनमें सामान्य तत्व वक्रोक्ति का रहता है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में आगे चल कर नाट्य के अनुभूति-प्रवाह की प्रमुखता हुई और यह चारुत्व-प्रवाह उसी में विलीन हो गया। अनुभूति-प्रवाह के अंतर्गत, रस, ध्वनि, अनुमानित एवं औचित्य का विचार किया गया है। मिश्रजी ने रेखा-चित्र के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है।[३]

मिश्रजी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित किया है और उनमें रस को सर्वोपरि स्थान दिया है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में मिश्रजी ने शुक्लजी की मान्यताओं का ही अनुसरण किया है। मिश्रजी मानते हैं कि काव्य का वर्ण्य असाधारण होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए जिसका साधारणीकरण हो सके। असाधारण का अर्थ है वर्ण्य में ऐसे असाधारण गुणों का समावेश जो सब या अधिकांश साधारण, सामाजिक व्यक्तियों के हृदय में एक ही सी अनुभुति का उद्‌बोधन करने में समर्थ हो। असाधारणत्व का तात्पर्य है लोक-व्यापी

---

१ वाङ्मय-विमर्श पृष्ठ ९९-१००, २१९, २२१
२ —वही— ,, ९९, २२०
३ वाङ्मय-विमर्श ,, ९९, २२०

होना। वह ऐसा गुण है जिसे लोक के सब या अधिक से अधिक व्यक्ति अपने हृदय का आलंबन बना सकते हैं।[१]

'रस कहां होता है' इस प्रश्न के उत्तर में मिश्रजी ने अभिनव भारती का यह अंश कई बार उद्धृत किया है। अभिनव गुप्त के अनुसार "कवि में रस बीजवत् रहता है। कवि सामाजिक के तुल्य ही है। काव्य रस का थाला होता है। नटों के कार्य फूल होते हैं। सामाजिक का रसास्वाद फल होता है। सारा विश्व रसमय है।'

यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिक तुल्य एव। तनो वृत्तस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि नट व्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेनरसमयमेव विश्वम्[२]।

मिश्रजी ने घनानन्द के काव्य की, उसके हृदय पक्ष की प्रधानता के कारण, निम्न लिखित पंक्तियों में बड़ी प्रशंसा की हैं—

'यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रीति-बद्ध रचना में हृदय पक्ष दब गया था, कला-पक्ष उभर आया था। मस्तिष्क के पूरे व्यायाम के साथ उनका रीति-बद्ध काव्य अखाड़े में उतरता था। 'जग के कवि' काव्य के बहिरंग में ही लिपट कर रह गये, उसके अन्तरंग में प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से 'स्वच्छन्द कवि' हृदय की दौड़ के लिए राजमार्ग चाहते थे, रीति की सकरी गली में धक्कमधक्का करना नहीं। ये कविता की नपी-तुली नाली खोदने वाले न थे। ये काव्य का रस प्रवाहित करने वाले या मानस रस का उन्मुक्त दान देने वाले थे[३]।

इससे भी स्पष्ट है कि मिश्रजी काव्य में हृदय-पक्ष को प्रमुख मानते हैं। मिश्रजी ने कवियों की (विशेष रूप से बिहारी की) आलोचना करते समय रस-सिद्धान्त की सांगोपांग शास्त्रीयता का प्रयोग किया है[४]। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे रस को ही अपना काव्य-सिद्धान्त मानते हैं।

काव्य की अनुभूति जीवन की ही अनुभूति है। साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मिश्रजी साहित्य के इतिहास को जनता की मानस परम्परा का इतिहास

---

१ हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० १७१
२ अभिनवभारती, प्रथम खण्ड " ९५
हिन्दी का सामयिक साहित्य " १९३, २२२
३ घनआनन्द (वाङ्मुख) " १३
४ बिहारी " ११७-१४८

मानते हैं [१]। साहित्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है, रीतिकाल का साहित्य इस बात का प्रमाण है [२]। वह जनता के मन की छाया है, इसलिए जन-जीवन की अनेकरूपता उसमें प्रतिबिम्बित होती है। परन्तु साहित्य अनेकता में एकता की, भेद में अभेद की स्थापना भी करता है [३]। वह मानव-जीवन की आन्तरिक भावनाओं का प्रतिरूप है [४]। 'साहित्य का जीवन से अटूट सम्बन्ध हैं। जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर चलता है वह बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता। ज्यों-ज्यों जीवन-धारा बल खाती, फैलती, सिकुड़ती तीव्र होती, मंद पड़ती, स्वच्छ होती या गंदली होती हुई आगे बढ़ती है त्यों-त्यों साहित्य-धारा भी अपने रूप बदलती चलती है।.. साहित्य जीवन के आदर्शों को लेकर चलता अवश्य है. पर स्वरूप-निश्चय के अनन्तर वह जीवन को अपने साथ ले चलता है, अपना अनुगामी भी बना लेता है [५]। जीवन के आदर्श बदलते हैं, बिगड़ते हैं, परन्तु साहित्य के स्थायी आदर्श नहीं बदलते। इन्हीं से साहित्य जीवन का संस्कार करता है [६]।

साहित्य के आदर्श रूपी दर्पण में जीवन के मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस मुख के द्वारा ही सम्पूर्ण जीवन की झलक मिल जाती है। समष्टि-जीवन या लोक-जीवन ही जीवन-वपु का मुख है। साहित्य के आदर्श में इसी की झाँकी मिलती है। देशभेद से लोक-जीवन नहीं बदलता स्वरूप-भेदमात्र हो जाता है। लोक-जीवन की सभी झांकियों में एक-सी मानवी-मूर्तियाँ होती हैं। साहित्य अपने दर्पण में मानवता की इसी सर्व सामान्य झांकी का आभास देता है [७]। लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के साथ ही देश के सांस्कृतिक जीवन का भी साहित्य में दिग्दर्शन होता है [८]। हरिऔधजी के प्रिय प्रवास में कवि की लोक-दृष्टि की ही सर्वाधिक प्रशंसा की गई है [९]। वर्तमान रहस्यवादी काव्य के सम्बन्ध में उन्होंने यह शिकायत की है कि उसने लोक-भूमि त्याग दी [१०]। काव्य में उन्हीं वीरों का महत्व रहा है, जो लोकरंजक या लोक दुःखनिवारक रहे हैं। वैयक्तिक वीरता पर लिखे गये काव्य का लोक में कम आदर होता है। समाज अपनी दृष्टि से, अपनी तुला से

---

१ बिहारी पृ० ४
२ —वही— " ५३
३ घनआनन्द " ४
४ भूषण (अन्तर्दर्शन) " १
५ हिन्दी का सामयिक साहित्य " १
६ —वही— " १
७ —वही— " २
८ —वही— " ३
९ हिन्दी का सामयिक साहित्य " ५५
१० —वही— " ६०

काव्यों को परखता है। इसी से लोक-पारखी कवि लोक-हृदय का अनुरंजन करने वाली कविता लिखते हैं। वे ऐसे ही नायकों को चुनते हैं जो लोक-हृदय को प्रभावित कर सकें [१]। साहित्य में जिस वाणी का व्यवहार होता है, वह समाज की देन है। यही स्थिति अर्थ या वस्तु की भी है। हमारे अन्तःकरण में जो रूप सागर लहराता है वह समाज का ही होता है और उसी की वाणी द्वारा अभिव्यक्ति होती है। यदि समाज न हो तो साहित्य भी न होगा और यदि साहित्य है तो समाज भी होगा। समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित होती है। व्यष्टि या विशेष उसमें व्यवहार के लिए ही है। साहित्य में समष्टि व्यापक है और व्यष्टि व्याप्य [२]। मिश्रजी ने साहित्य के त्रिविध रूप माने हैं—सनातन, चिरंतन और अद्यतन। भारतीय साहित्य परम्परा में सनातन और चिरन्तन का जितना आग्रह है, उतना अद्यतन का नहीं। यहां सनातन प्रधान, चिरन्तन मध्यम और अद्यतन अधम माना गया है। सनातन और चिरन्तन गतिशील हैं और उन्हीं के माध्यम से अद्यतन का संकेत हुआ करता है। कांतासम्मिततया उपदेश के कारण अद्यतन को ग्रथित करने से प्रत्यक्ष कथन करना पड़ता था, जो सिद्धान्ततया ठीक नहीं था [३]। मिश्रजी मानते हैं साहित्य अतीत से अनुराग करता है—प्रधान रूप से [४]।

साहित्य में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इसका एक विशेष प्रकार है। काव्य या साहित्य-जीवन की व्याख्या है। परन्तु वह न तो दर्शनशास्त्र का सिद्धान्त-निरूपक सूत्रग्रंथ है और न समाजशास्त्र का विवेचन। काव्य लोक की छनी हुई शुद्ध भावात्मक सत्ता की अनुभूति भूमि है। उसमें धर्म, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थनीति, तत्व-चिन्तन आदि सब छने हुए रूप में गृहीत होते हैं और उनका छन्ना होता है भाव का विस्तृत पट [५]। साहित्य की साधना अन्तर्जगत की साधना है। साहित्य जीवन से संबद्ध अवश्य है, पर भीतर से, बाहर से नहीं [६]। साहित्य के निर्माण में तीन तत्व प्रधान रहते हैं—भाव, विचार और वस्तु। विचार तत्व के अंगी होने से निबन्ध का एवं वस्तु या कथात्मक तत्व के अंगी होने से कहानी का प्रणयन होता है [७]। काव्य में भाव-तत्व की प्रधानता होती है। साहित्य में 'अहम्' या 'व्यक्तित्व' के शमन या दमन का अभ्यास आवश्यक है। साहित्य योग है, इसके भी यम नियम हैं, इसके 'सहयोग' की साधना सिद्धि देती है [८]। जीवन के लिए बुद्धि और भाव मस्तिष्क और हृदय दोनों अपेक्षित हैं।

---

१ हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० १२६
२ —वही— " २२७, २२८
३ —वही— " १६४
४ हिन्दी साहित्य का अतीत (भक्तिकाल) " १०
५ —वही— " १३४
६ हिन्दी का सामयिक साहित्य " १०७
७ —वही— " १४५
८ —वही— " १४७

जीवन को दोनों की आवश्यकता है। साहित्य भी 'सहित' 'योग' 'समन्वय' से ही चलता है। साहित्य में शब्द और अर्थ का ही नहीं भाव और ज्ञान का भी योग रहता है। साहित्य के निर्माणात्मक पक्ष में भाव की प्रधानता रहती है और समीक्षात्मक पक्ष में ज्ञान की [१]। शास्त्र या वेद में 'शब्द' की प्रधानता रहती है, इतिहास पुराण में अर्थ की महत्ता है, परन्तु साहित्य में शब्द भी प्रधान है और अर्थ भी प्रमुख है। साहित्य में शब्द और अर्थ का सहितत्व ही कार्य करता है। इसकी व्याप्ति संसार की सभी प्रकार की विद्याओं से अधिक है। 'साहित्य का पेट बहुत बड़ा है, साहित्य का पेट बहुत लम्बा है और साहित्य की पेटी बहुत भारी है [२]।' साहित्य का निर्माण त्रिकोणात्मक होता है। इसके एक शीर्ष पर निर्माता, दूसरे पर वर्ण्य और तीसरे पर ग्राहक रहता है। अनुभूति या भाव की धारा तीनों में से प्रवाहित होती है [३]। भाव-वाङ्मय शीघ्र ही हमें उस मुक्तावस्था में पहुँचा देता है जिसकी संवेदना को 'लोकोत्तर आनन्द' कहा गया है। काव्य हमारे मनोवेगों को ही उत्तेजित करता है। काव्य दूसरों के साथ हमारा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है [४]।

काव्यकार सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों की योजना द्वारा लोक का रंजन करता है। वह हमें भावों में लीन करता है और इसके द्वारा हृदय की वृत्तियों का व्यायाम होता है। अतः काव्य का चरम लक्ष्य मनोवृत्तियों का परिशोधन है। 'निष्कर्ष यह निकला कि काव्य का उद्देश्य है हृद्गत वृत्तियों का परिष्कार और यह परिष्कार होता है रसमग्न होने से मन के रमने से। अतः काव्य का स्वरूप ठहरता है भावों की योजना करके रसमग्न करने वाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता उसका चरम उद्देश्य ठहरता है वृत्तियों का शोधन [५]।'

काव्य में कर्ता की दृष्टि से यश या तृप्ति का प्रयोजन प्रमुख हुआ करता है और अर्थ-प्राप्ति गौण। गृहीता (पाठक, श्रोता या दर्शक) की दृष्टि से काव्य का प्रधान प्रयोजन आनन्दानुभूति या रसमग्नता और गौण है कांतासंमित उपदेश [६]। साहित्य का कार्य जीवन के सर्वात्म-भाव की दृष्टि से उच्च विचार जगाना है। वह अपनी रंजकता और रसात्मकता के द्वारा पहले मन को अपने अधीन करता है, फिर उस पर अपना प्रभाव डालता है। वह समाज में कल्याण की सृष्टि करने वाला है। वह 'शिववादी' है।

---

१ हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० १८५
२ —वही— " २२५
३ —वही— " २२५
४ वाङ्मय-विमर्श " १३, १४
५ —वही— " २, ३
६ —वही— " ४, ५

वह कामनाओं को परिष्कृत करके काम को भस्म करके 'रसायन' प्रस्तुत करने वाला है। इसी से वह स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाता है [१]। 'संक्षेप में यों कह सकते हैं कि कि ज्ञान–योग, राजयोग की भांति साहित्य का भी 'भावयोग' है। यह व्यक्ति या व्यष्टि का समष्टि में लोप मानता है। यहां साध्य समष्टि है, साधक व्यक्ति है, साहित्य भाव–साधना है। समाज लक्ष्य है, सामाजिक ग्राहक है और सामाजिकता साहित्य धर्म है [२]।'

आज साहित्य में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य मानव के प्रति मानव के कर्तव्य की अनुभूति पाठक के हृदय में जगा कर उसे लोकमंगल की साधना में प्रवृत करे। इस प्रकार की सर्व-कल्याणकारी भावना का विस्तार भक्ति-काल में, विशेषकर तुलसीदास जी के साहित्य में हुआ। तुलसी के राम दिव्य सौन्दर्य के लोकरंजक एवं अदम्य कर्मठता के लोकमंगल-विधायक रूपों की समन्वित मूर्ति हैं। यह मंगल गत्यात्मक कोटि का है [३]। मिश्रजी का मत है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना का आधार अब 'वसुधैव कुटुंबकम्' होना चाहिये। इसके लिए हमें अपने साथ ही दूसरों का भी ध्यान रखना होगा। हमारे पूर्वजों के सम्मुख भी यही देश ही नहीं था, सम्पूर्ण वसुधा थी, उनका हृदय विश्व-हृदय के साथ तादात्म्य का अनुभव किया करता था। इस समय उसी व्यापक राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की आवश्यकता है [४]। इतना ही नहीं मिश्रजी का तो यह भी विश्वास है कि काव्य की अन्तश्चेतना मानवता के भी आगे जाने वाली है वह प्राणिमात्र के साथ समानुभूति या अनुकम्पन करने वाली है, वह परमाणु तक से हृदय का तार मिला देने की तैयारी में है [५]। साहित्य की परिभाषा त्रिकालाबाधित और देश–विदेशातिक्रांत है [६]। मिश्रजी ने गोस्वामी तुलसीदास जी की विश्व-कवि के रूप में ही अभ्यर्थना को है [७]।

शुक्लजी के समान मिश्रजी की दृष्टि भी सामाजिक मर्यादा पर लगी हुई है। लोक गीतों के ढर्रे पर बनी हुई तुलसी की कृतियों––जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू––में भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ है। मिश्रजी का मत है कि मर्यादा बांधने के लिए ही इनकी रचना हुई है [८]। प्रेमचन्द जी के मर्यादावाद की मिश्रजी ने प्रशंसा की

---

१ हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० १०५
२ —वही— " २२८–२२९
३ —वही— " ९५
४ —वही— " ९६, ९७
५ —वही— " १२२–१२३
६ —वही— " १८६
७ हिन्दी–साहित्य का अतीत (आ०म०)" २२७
८ —वही— " २४५-२४६

है और प्रगतिवादी साहित्य के कामुक रूप पर व्यंग किया है [१]। मिश्रजी साहित्य में औचित्य का विचार आवश्यक मानते हैं और मर्यादा को अपेक्षित तथा अनिवार्य बतलाते हैं [२]। काव्य के तीन गुण हैं—सत्य, शिव और सुन्दर। सत्यता और शिवता उसके आभ्यंतर गुण हैं और सुन्दरता वाह्य [३]। शृङ्गार का चषक पिलाने वाले रीति युगीन कवियों की मिश्रजी ने भर्त्सना ही की है [४]।

अलंकारों को मिश्रजी ने साधन के रूप में ही स्वीकार किया है। वे अलंकार को भावाभिव्यंजन का विशेष प्रकार, एक विशेष शैली मानते हैं। शैली का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता। वह तो भावों के साथ दूध-पानी के समान मिली रहती है। शैली को हम वस्त्रादि की उपमा नहीं दे सकते। भाव यदि शरीरी हैं तो शैली उसका झलमलाता हुआ बाहरी रूप है। अलंकारों का कविता से आभूषणों के समान अलग अस्तित्व नहीं है। अलंकार सौन्दर्य है। शब्द हाड़ मांस हैं, भाव शरीरी हैं [५]। समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुरूप अलंकार भी विभिन्न स्वरूपों में निर्मित हुए हैं। समाज में भाव-व्यंजना, कौशल-प्रदर्शन आदि प्रवृत्तियों के कारण इनकी रूप-भिन्नता होती है। अलंकारों का वास्तविक उद्गम मानव-समाज और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियां हैं [६]। काव्य के वर्ण्य होते हैं भाव और वस्तु। कभी-कभी अलंकार किसी भाव को तीव्र करने के लिए प्रयुक्त होता है और कभी-कभी किसी वस्तु का सम्यक् बोध कराने में सहायक होता है। अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म है। उसका उचित उपयोग भाव-प्रतीति या वस्तु–बोध में सहायक होना ही ठीक प्रतीत होता है [७]। काव्य में जिनका वर्णन होता है, जो लक्ष्य या अभिप्रेत हैं, उन्हें प्रस्तुत कहते हैं। उनके अतिरिक्त और सब कुछ अप्रस्तुत है। काव्य का विधि–विधान अप्रस्तुत होता है। काव्य का यह अप्रस्तुत-विधान, उसकी यह कारीगरी काव्य नहीं है [८]। काव्य में अलंकार का महत्व तभी है, जब वह किसी भाव या तथ्य तक पहुँचाता है। भाव या विषय से अलग अलग पड़ जाने पर अलंकार व्यर्थ हो जाता है और काव्य प्रायः बिगड़ जाता है [९]। जिन उक्तियों में रस या भाव की व्यंजना या उद्रेक नहीं होता, जो केवल चमत्कार-विधायक होती हैं, उन्हें काव्य न कहकर, सूक्तियों की संज्ञा दी गई है। [१०]

१	हिन्दी का सामयिक साहित्य	पृ० ९१, ९३
२	—वही—	" २२९
३	वाङ्मय-विमर्श	" २०७
४	बिहारी	" ६६
५	भूषण	" १, २
६	—वही—	" ५, ६
७	वाङ्मय–विमर्श	" ९०–९१
८	बिहारी	" १३५
९	—वही—	" १३७
१०	—वही—	" ८८

भाषा की गति भाव के अनुकूल मुड़ने वाली हो। वह अर्थ-सम्पत्ति से समृद्ध हो[१]। मिश्रजी ने व्यापक, प्रसाद गुण से मुक्त, सरल भाषा-शैली का समर्थन किया है[२]। वीर-काव्य ओजस्वी होना चाहिए। अतः उसमें ओजपूर्ण भाषा एवं तदनुकूल ध्वनि की आवश्यकता होती है[३]। भाषा के सम्बन्ध में मिश्रजी का मत है कि 'भाषा भावों' विचारों को व्यक्त करती है। भावों-विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा चाहे जो हो तो ठीक है, पर चाहे जैसी हो ठीक नहीं। उसे भाव-विचार के अनुरूप होना चाहिए[४]।

ऊपर जिन बातों की चर्चा की गई है, उन पर मिश्रजी के विचार आचार्य शुक्ल से मिलते-जुलते हैं। इनके अतिरिक्त भी कला, प्रकृति, अतीत, रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद आदि विषयों पर भी मिश्रजी ने शुक्लजी की विचार-परम्परा का अनुसरण किया है। इस दृष्टि से मिश्रजी को शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में स्थान दिया जाता है पहले कहा जा चुका है कि शुक्ल-निकाय के समीक्षकों में मिश्रजी का महत्वपूर्ण स्थान है।

मिश्रजी में कतिपय नवीनताएं भी दिखलाई पड़ती हैं। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के जिस युग को 'रीति-काल' की संज्ञा दी है, उसे मिश्रजी 'शृंगार-काल' कहना चाहते हैं। शुक्लजी ने घनानंद को 'रीतिकाल' की स्वच्छंद धारा में स्थान दिया था और उनकी भाषा के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रशंसा भी की थी। मिश्रजी ने घनानंद को रीतिकाल के कवियों में सबसे अधिक महत्व देना चाहा है और घनानंद की काव्यगत विशेषताओं के आधार पर एक स्वतंत्र काव्यधारा ही निरूपित की है। इसके साथ ही मिश्रजी रीति-काल का समय भी कुछ पीछे ले जाना चाहते हैं। रीति-काल को शृंगार-काल नाम देने के लिए मिश्रजी ने कतिपय तर्क दिए हैं। सर्वप्रथम तो उन्हें इस नाम के लिए शुक्लजी का ही अनुमोदन प्राप्त है। दूसरा तर्क यह है। साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य विषय की व्याप्ति से सम्बद्ध है। वर्ण्य विषय के दो पक्ष हैं—बाह्य और अभ्यंतर। वीर गाथा काल में वीर गाथा बाह्य पक्ष हुआ और वीर रस अभ्यंतर पक्ष। भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस ही होता है। इसलिए आदि काल को 'वीर-काल' या 'वीर-रस-काल' कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'यदि रीतिकाल नाम की ओर देखते हैं तो उसमें रीति अर्थात् रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, नायक, नायिका, पिंगल आदि काव्य रीति अवश्य वर्ण्य विषय

---

१ घनआनन्द पृष्ठ ५१
२ हिन्दी का सामयिक साहित्य " २८
३ भूषण " ५५-५६
४ बिहारी " १६०

ही है, पर रीति शब्द बाह्यार्थ का ही बोधक है, आभ्यान्तरार्थ का नहीं। उस काल का आभ्यन्तर वर्ण्य 'शृङ्गार' था [१]।" इसलिए मिश्रजी इसे 'शृङ्गारकाल' की संज्ञा देना चाहते हैं। अधिकांश 'रीति' की कृतियाँ शृङ्गार की हैं। वीर-रस और भक्ति की रचनायें थोड़ी सी ही हैं। वीर-रस के कवि भूषण भी शृङ्गार-रस से कोरे नहीं हैं। भक्ति की रचनाओं में भी राधा-कृष्ण के शृङ्गार का ही वर्णन किया गया है। रीतिकाल के सभी-रीतिबद्ध, रीति-सिद्ध और रीति-मुक्त—कवियों ने शृङ्गार का वर्णन किया है [२]। इस काल के अलङ्कार-ग्रन्थ भी शृङ्गार से ही भरे हुये हैं। तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करने से भी यह युग शृङ्गार ही ठहरता है। 'रीतिकाल' नाम ग्रहण करने से उस काल के अच्छे-अच्छे कवियों—आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा, द्विजदेव—को छाँटकर अलग करना पड़ा है। 'शृङ्गार-काल' नाम ग्रहण करने पर ये सब कवि एक ही नाम के अंतर्गत लिए जा सकते हैं। 'रीति' में उपविभाग का मार्ग भी संकीर्ण हो गया है। इन सब कारणों से मिश्रजी ने 'रीतिकाल' के स्थान पर 'शृङ्गारकाल' नाम सुझाया है [३]।

मिश्रजी ने 'शृङ्गार-काल' नामकरण के सम्बन्ध में जो तर्क दिए हैं वे वजनी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। रस या भाव के आधार पर नाम रखने का सुझाव भी सर्व-मान्य हो सकता है। परन्तु इस आधार पर आधुनिक युग का नामकरण करने में कठिनाई होगी, क्योंकि इस युग का कोई एक विशेष प्रतिनिधि भाव नहीं बतलाया जा सकता। जिसे मिश्रजी 'शृङ्गार-काल' कहना चाहते हैं, उस काल के प्रतिनिधि भाव या रस के संबंध में भी कतिपय विचिकित्साएँ की जा सकती हैं। इस युग में शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य भावों पर भी रचनाएँ की गई हैं और उनका भी पर्याप्त महत्व है। यदि साहित्य जन-मानस की अभिव्यक्ति है, यदि उसमें देश की जनता का मानस प्रतिबिम्बत होता है, तो यह कहना कठिन होगा कि संवत् १६०० से संवत् १९०० तक का हिन्दी-साहित्य 'शृङ्गार' का है और इस समय को 'शृङ्गार-काल' कहा जाय। जिस समय में महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल जैसे लोक नायक हुये हों, उस समय को साहित्यिक दृष्टि से 'शृंगार-काल' कहना कुछ विचित्र-सा लगता है। हमें जो इस समय का साहित्य उपलब्ध हुआ है, वह अधिकांश दर्बारी कवियों का है, जनता के कवियों का नहीं। इस सम्बन्ध में यहां यह सविनय निवेदन करना है कि इस काल के नामकरण पर अभी और विचार करने की आवश्यकता है। रीति-काल के कवियों में भी रीति-सिद्ध कवि ही शृंगारी कहे जा सकते हैं। रीति-बद्ध कवियों की दृष्टि प्रमुख रूप से शास्त्र पर थी और रीति-मुक्त कवि प्रेम के कवि थे, शृंगार के नहीं।

मिश्रजी का घनानन्द-सम्बन्धी विवेचन भी शुक्लजी के संकेतों पर ही हुआ है। परन्तु जो बात शुक्लजी ने प्रासंगिक रूप से, अत्यन्त संक्षेप में कही है, उसका मिश्रजी द्वारा

१ बिहारी पृष्ठ ५, ६
२ —वही— " ६, ७
३ —वही— " १०

आधिकारिक और विस्तृत विवेचन हुआ है। यहाँ पर भी यह नम्र-निवेदन है कि शुक्लजी का मन्तव्य घनानन्द को इतना महत्व देने का नहीं रहा होगा। रीति-काल की सापेक्षता में ही घनानन्द की नवीनताओं की शुक्लजी ने थोड़ी बहुत प्रशंसा की है। वे घनानन्द को सूर, तुलसी या जायसी जैसा भी महत्व नहीं देते। शुक्लजी की दृष्टि सामाजिक थी, घनानन्द की वैयक्तिक, शुक्लजी विराट जीवन के सौन्दर्य पर मुग्ध थे, घनानन्द ऐकान्तिक प्रेम-चर्या के पुजारी थे। ऐसी परिस्थिति में शुक्लजी द्वारा घनानन्द की प्रशंसा प्रसंग-प्राप्त ही कही जा सकती है। मिश्रजी ने घनानन्द को बहुत अधिक महत्व दिया है और 'रीति-काल' में एक स्वतन्त्र काव्य-धारा ही उनके निमित्त निरूपित कर दी गई है। घन आनन्द को मिश्रजी ने समर्थ कवि कहा है [१]। परन्तु घनानन्द की सामर्थ्य प्रेम की भावुकता भरी उक्तियों के सृजन में ही व्यक्त हुई है, जीवन का वैविध्यपूर्ण भाव-वैभव उसमें नहीं आ सका है। घनानन्द की अभिव्यक्ति भी आयासपूर्ण है, कई बार दुरूह हो गई है और उसमें भी चमत्कार-प्रदर्शन का प्रयास निहित है, जो बिहारी जैसे सधे हुए कवियों की तुलना में बहुत कम सफल हुआ है। घनानन्द ही नहीं बिहारी की प्रशंसा में भी मिश्रजी ने बड़े-बड़े विशेषणों का प्रयोग किया है और उन्हें अजर-अमर रस-सिद्ध कवि बतलाया है [२]। बिहारी के काव्य में भी प्रेम की उच्च भूमि के दर्शन किये हैं। 'बिहारी की सतसई में प्रेम उच्च भूमि के दर्शन वहाँ होते हैं जहां नायिका कभी प्रिय के द्वारा उड़ाई पतंग की छाया के पीछे-पीछे दौड़ती दिखाई पड़ती है, मरगजी माला भी गले में डाले फूली घूमती है, प्रिय के नख-क्षत को सूखने पर आया जान खोंट कर फिर हरा कर लेती है [४]।' घनानन्द का प्रेम भी अत्यन्त उदात्त कोटि का कहा गया है। यहां निवेदन इतना ही है कि शुक्लजी ने इन कवियों के सम्बन्ध में ऐसी बातें नहीं कही हैं। रसखानि की कविता की प्रशंसा करने के लिए सूर और तुलसी को शुक्लजी ने मत-प्रचारक कभी नहीं कहा [५]। शुक्लजी में जो कतिपय संकेत-बिन्दु हैं, मिश्रजी में उनका विस्तार शुक्लजी से कुछ दूर पड़ गया है, परन्तु उनके रेखांकित सिद्धान्त का और उनकी अनेक मान्यताओं का मिश्रजी ने दृढ़तापूर्वक अनुसरण किया है।

६१० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

शर्मा जी भी शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में ही आते हैं। परन्तु शर्माजी ने अपनी समीक्षा का क्षेत्र कुछ सीमित कर लिया है। उन्होंने अभी तक गद्य-साहित्य की ही

१ हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० ६७
६ बिहारी ,, १ ४
३ —वही— ,, ३०
४ —वही— ,, ३३
५ रसखानि (प्रस्तावना) ,, २

समीक्षा की है और विशेषकर नाटकों और कहानियों की। काव्य-क्षेत्र अभी उनसे अछूता ही बचा हुआ है। दूसरी बात यह है कि शर्माजी की अधिकांश समीक्षाएं व्यावहारिक हैं। सैद्धान्तिक विवेचन में वे एक प्रकार से उतरते ही नहीं। व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' उनका प्रमुख ग्रंथ है। शर्माजी ने प्रसाद जी के नाटकों की प्राचीन शास्त्र के आधार पर परीक्षा की है। इन नाटकों में उन्हें प्राचीन शास्त्र के साथ ही नवग्राहिता भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई है। सक्रियता के साथ व्यक्ति-वैचित्र्य और शोक-समुन्मेष के साथ कार्योत्साह का अनुबंध भी उनमें मिलता है। यह अनुबंध विशेषत: व्यक्तिगत चारित्र्य और संविधान के प्रसारगामी स्वरूप में स्फुट दिखाई पड़ता है[१]। इससे स्पष्ट है कि शर्माजी प्रसादजी के नाटकों के नवीन विधान के प्रति सतर्क अवश्य थे, परन्तु उनकी समीक्षा में शास्त्रीय दृष्टि ही प्रमुख रही है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर प्रसाद के नाटकों की परीक्षा करने में जो कठिनाइयां हो सकती हैं, उन सबका सामना शर्माजी को इस ग्रन्थ में करना पड़ा है। इस ग्रंथ में नए युग के नए नाटकों की प्रमुखत: प्राचीन प्रतिमान से परीक्षा हुई है।

'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास' ग्रंथ में शर्माजी की समीक्षा गद्य-शैली तक ही सीमित हो गई है। उपर्युक्त नाट्य-समीक्षा के ग्रंथ में शर्माजी ने नाटकों की सर्वांग शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। इस ग्रंथ में वे केवल शैली-विकास के दिग्दर्शन में ही संलग्न रहे हैं। शैली साहित्य का एक बहिरंग तत्व है। शर्माजी ने इस ग्रंथ में इसी की छानबीन की है। यहां उनकी व्यावहारिक समीक्षा साहित्य के वाह्य रूप में ही उलझी रही। 'हिन्दी-गद्य के युग निर्माता' नामक ग्रंथ में शर्मा जी की समीक्षा साहित्य के अंतरंग में प्रवेश करती है। यहां अन्य विषयों के साथ उन्होंने साहित्य में युग-धर्म, साहित्य में राष्ट्रीय भावना, लेखक का बीजभाव आदि विषयों की भी चर्चा की है।

इन सबसे कहीं अधिक महत्व का ग्रन्थ 'कहानी का रचना-विधान' है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें आधुनिक कथा–तंत्र की सूक्ष्म और विस्तृत व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य के अध्ययन और हिन्दी के विशाल कथा–साहित्य से निकाले हुए निष्कर्षों का योग है। हिन्दी कहानी के रचना-विधान को समझने के लिए यह ग्रन्थ एक अमूल्य कुंजी है। परन्तु इस ग्रन्थ में भी शर्माजी सैद्धान्तिक विवेचन में नहीं उतरे हैं। कहानी-रचना के वाह्य नियमों का यहां भी वर्णन किया गया है। वस्तुत: यह रचना-विधान का, कहानियों के अंग–विन्यास का ही ग्रन्थ है। इस प्रकार शर्माजी की समीक्षाओं में विशेषीकरण की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। वे गद्य की विशेष विधाओं के अध्ययन में संलग्न हुए हैं और उनका अध्ययन प्रमुखत: आंगिक है। शुक्लजी की समीक्षाओं में यह पक्ष बहुत कुछ उपेक्षित था। शर्माजी ने उस कमी की पूर्ति कर

---

१ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय-अध्ययन—आमुख, पृष्ठ २

एक महत्वपूर्ण कार्य कर दिया है।

शर्माजी के इन ग्रन्थों में उनकी साहित्यिक मान्यताएं भी इधर-उधर बिखरी हुई मिल जाती हैं। वे साहित्य का जीवन से अन्योन्य सम्बन्ध मानते हैं। समस्त साहित्य-प्रकारों का प्रधान उपजीव्य मानव ही है। साहित्य में मनुष्य के जीवन की ही कथा एवं आलोचना प्रतिबिम्बित होती है। मनुष्य ही साहित्य का विषय है और वही उसका आस्वादन भी करता है[१]। कहानियों में अध्ययन का विषय प्रमुखत: मनुष्य और उसका चरित्र ही होता है, कहानी का मूल भाव मनुष्य ही बनता है[२]। साहित्य का विषय जीवन और जगत् से ही संबद्ध होता है। जीवन और जगत् के व्यापक विस्तार से ही साहित्य प्रेरणा ग्रहण करता है[३]। इसके साथ ही साहित्य से समय प्रवाह का ज्ञान भी हो सकता है[४]। परिस्थितियों के साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता है[५]। साहित्य में देश-काल या युग धर्म की विकृति होती है[६]। युग-धर्म के साथ ही साहित्य में चिरंतन मानव अनुभूतियों का विश्लेषण भी आवश्यक बतलाया गया है[७]। साहित्य का संवेदन सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है[८]। यही रस है। शर्माजी ने साहित्य का मूल हेतु प्रतिभा को ही माना है और इस प्रकार अनुभूति-तत्व की महत्ता प्रतिपादित की है[९]। शर्माजी का मत है कि साहित्य की भाषा का निर्माण बोलचाल की भाषा से ही होता है। जन-सम्पर्क छूट जाने पर साहित्य की भाषा में जड़ता आ जाती है[१०]। भाषा के क्रमागत विकास का अध्ययन करने के लिए विचारों के विकास का अध्ययन आवश्यक है[११]। उनके अनुसार विषय, भाव और परिस्थितियों के अनुरूप शब्द-चुनाव होना चाहिए[१२]। लेखक की शैली भी विषयानुसार होती है[१३]। इसके साथ ही उस पर व्यक्तित्व की छाप

---

१ कहानी का रचना विधान पृष्ठ ८७
२ —वही— " ८९
३ हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता " १७१-१७२
४ —वही— " १७९
५ —वही— " ३-४
६ हिन्दी की गद्य-शैली का विकास " १८९
७ —वही— " १२
८ कहानी का रचना-विधान " ९१
९ हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता " १२२
१० हिन्दी की गद्य-शैली का विकास " ३
११ —वही— " २७८
१२ —वही— " १७९
१३ हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता " ६२

भी अनिवार्य हुआ करती है[1]। इन समस्त उपर्युक्त निर्देशों में शर्माजी ने शुक्लजी की मान्यताओं का ही समर्थन किया है। इस दृष्टि से वे शुक्ल परम्परा के समीक्षक हैं। परन्तु शर्माजी के इन ग्रंथों में शुक्लजी के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। हिन्दी-गद्य पर शुक्लजी ने पर्याप्त विचार नहीं किया। संभवतः इतिहास में शुक्लजी को इसका अवसर नहीं मिला, क्योंकि उनकी रुचि काव्य की ओर अधिक थी। शर्माजी ने गद्य को अपनी समीक्षा का क्षेत्र चुना है और उसकी अंग-विन्यास सम्बन्धी विशेषताओं पर दृष्टि जमाई है। इस प्रकार शर्माजी शुक्ल-परम्परा के समीक्षक हैं और उसके पूरक भी।

---

१ हिन्दी की गद्य-शैली का विकास पृ० ५७

६

द्विवेदी-शुक्ल-युग की समीक्षा-दृष्टि

बीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी–समीक्षा के क्षेत्र में एक पद्धति अत्यन्त रूढ़ शास्त्रीयता को लेकर चल रही थी, उसमें नवीनता का सर्वथा अभाव था दूसरे प्रकार की समीक्षाएं हमें अंग्रेजों की दिखलाई पड़ती है। इनकी समीक्षा-दृष्टि पर्याप्त पुष्ट होते हुए भी ईसाइयत की भावनाओं से भरी हुई साम्प्रदायिक कोटि की थी। इनके विरुद्ध भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की दृष्टि राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत एवं समयानुकूल भी थी। भारतेन्दु-युग में ही साहित्य और जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकृति मिल चुकी थी। भारतेन्दु-युग की समीक्षा में नवीनता थी, परन्तु बहुत कम। प्राचीन शास्त्र ही यहां प्रधान था। प्राचीन और नवीन के सम्पर्क के कारण उत्पन्न एक अनिश्चित–सी स्थिति इन समीक्षाओं में बड़ी स्पष्ट है।

भारतेन्दु-युग के समीक्षा-सूत्रों का द्विवेदी-युग में सम्यक विकास हुआ है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया है। वे साहित्य में सामयिकता को आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि इससे साहित्य में नवीनता आती है। सामयिक के साथ ही साहित्य के शाश्वत और सार्वभौम तत्वों पर भी द्विवेदीजी की दृष्टि लगी हुई थी। साहित्य के चिरंतन तत्वों की द्विवेदीजी ने एकदम उपेक्षा नहीं की है। काव्य में भाव-तत्व को ही वे सर्वोपरि मानते हैं। काव्य के भावात्मक स्वरूप का द्विवेदीजी ने स्पष्ट संकेत किया है। काव्य के भाव, द्विवेदीजी के अनुसार, स्वाभाविक और सार्वजनीन, विविध और गम्भीर होने चाहिए। भावों के इसी स्वरूप का शुक्लजी ने आगे चलकर विस्तृत विवेचन किया है। द्विवेदीजी में रस–सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन कहीं नहीं है, परन्तु द्विवेदीजी की समीक्षाओं में रस की नैतिक सामाजिक पृष्ठभूमि के साथ उसकी भावगत विशेषताओं का भी संकेत मिलता है। शुक्लजी में इन्हीं तत्वों का विकास हुआ है। इसीलिए शुक्लजी को द्विवेदी–युग का परिपक्व फल बतलाया गया है। आचार्य द्विवेदी को नवीनता का अत्यधिक आग्रह था और उन्होंने साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में क्रांति कर दी थी। परन्तु द्विवेदीजी शास्त्र

की परिपाटी से एकदम मुक्त नहीं थे। गुण-दोष-दर्शन की पद्धति में द्विवेदीजी ने भी शास्त्र का ही प्रमुख रूप से प्रयोग किया है। इतना ही नहीं रीति-युग की चमत्कारवादी दृष्टि से भी द्विवेदीजी बच नही सके हैं। इससे उनकी समीक्षाओं में कतिपय अन्तर्विरोध भी प्रतीत होते है। ये बातें शुक्लजी में नहीं हैं। द्विवेदीजी में प्रौढ़ एवं व्यवस्थित सैद्धान्तिक विवेचन का अभाव है। परन्तु उनकी परिस्थितियों में जितना कार्य उन्होंने किया है, वह कम नहीं है। वैसे, द्विवेदीजी का मत वक्रोक्ति सिद्धान्त के अधिक निकट प्रतीत होता है। फिर भी द्विवेदीजी की दृष्टि अत्यन्त उदार, प्रशस्त एवं प्रगतिशील तत्वों से परिपूर्ण थी। द्विवेदीजी के अनुसार साहित्य का प्रयोजन आनन्द ही था, मनोरंजन नहीं। परन्तु उनके आनन्द की धारणा विशिष्ट कोटि की थी। वे साहित्य के आनन्द को एक ओर तो स्थायी बतलाते थे और दूसरी ओर सामाजिक भी। इन दोनों में सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है, वह द्विवेदीजी नहीं बतला सके। आनन्द-तत्व की अपेक्षा द्विवेदीजी की दृष्टि साहित्य के उपयोगिता-तत्व पर अधिक स्थिर थी। समाज को शिक्षा देने वाले एवं ज्ञान-वृद्धि करने वाले विषयों को द्विवेदीजी ने काव्योपयुक्त माना है। सामयिक व्यावहारिक उपयोगिता द्विवेदीजी की समीक्षा का एक प्रमुख सूत्र है। रीति-शास्त्र की जटिलता से साहित्य की समीक्षा को मुक्त कर उसे जीवन से संबद्ध करने में द्विवेदीजी की उक्त समीक्षा-दृष्टि ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। द्विवेदीजी की दृष्टि अधिकतर साहित्य के अन्तरङ्ग तत्वों पर जमी रही। उन्होंने प्रतिभा को ही साहित्य में प्रमुख माना। शिक्षा और उभ्यास को एक प्रकार से अमान्य ही कर दिया। आन्तरिक प्रेरणा एवं सहजोन्मेष की द्विवेदीजी ने प्रशंसा की है। द्विवेदीजी की यह दृष्टि भी शास्त्र को ही सब कुछ मानने वालों से भिन्न थी। प्रसाद गुण को द्विवेदीजी ने सर्वोपरि स्थान दिया है, परन्तु माधुर्य और ओज के स्थान पर उन्होंने चमत्कार की प्रशंसा की है : यह वस्तुतः द्विवेदीजी पर रीति-काव्य का प्रभाव है, जिससे वे मुक्त नहीं हो सके। द्विवेदीजी का यह गुण-विरोध मैथिलीशरण जी के काव्य में चरितार्थ हुआ है। एक ओर तो वे प्रसाद–गुण के लिए प्रख्यात हैं और दूसरी ओर 'साकेत' में उनकी चमत्कार-प्रियता भी प्रकट हुई है। द्विवेदीजी का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व उनके छन्द, भाषा एवं विषयादि के निर्देशों मे व्यक्त हुआ है। द्विवेदीजी ने छन्दों को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना। इतना ही नहीं, द्विवेदीजी तुक के बन्धन को भी काव्य के लिए अनिवार्य नही मानते। सदियों की छन्द-परम्परा को द्विवेदीजी ने एक झटके में ही तोड़ दिया। परन्तु द्विवेदीजी की दृष्टि अत्यन्त उदार थी। उन्होंने छन्दों और रसों का सम्बन्ध भी स्वीकार किया है और नवीन छन्दों में काव्य–रचना की प्रेरणा भी दी है। भाषा के सम्बन्ध में भी द्विवेदीजी का मत एकदम नवीन था। गद्य और पद्य की भाषा में द्विवेदीजी कोई अन्तर नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी वर्डस्वर्थ से प्रभावित थे। परन्तु द्विवेदीजी का भाषादर्श शिक्षितों का था। शिक्षित लोगों की भाषा ही उनके लिए आदर्श थी, गंवारू भाषा नहीं। कहना न होगा कि भाषा का यही स्वरूप

शुक्लजी ने भी स्वीकार किया और प्रगतिवादी समीक्षकों के सैद्धान्तिक विवेचनों को छोड़ कर, परिनिष्ठित हिन्दी का आज यही स्वरूप मान्य है। द्विवेदीजी ने भाषा को साधन ही माना है और उसमें परिवर्तन के नियम को भी स्वीकार किया है। उसकी सामाजिक प्रकृति की ओर भी उनका ध्यान गया है। शब्द-चयन में भी द्विवेदीजी ने बड़ी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। द्विवेदीजी की प्रगतिशीलता का यह एक बड़ा प्रमाण है। भाषा की व्याकरणगत शुद्धि के लिए द्विवेदीजी का भगीरथ प्रयत्न ऐतिहासिक महत्व की वस्तु बन गया है। भाषा की भावानुकूलता द्विवेदीजी को मान्य थी और उसकी सरलता और क्लिष्टता को वे पाठक-सापेक्ष मानते थे। भाषा-सम्बन्धी द्विवेदीजी का मत नवीन और वैज्ञानिक था। शब्द-शक्तियों में द्विवेदीजी ने अभिधा की महत्ता स्वीकार की है। साहित्य का विषय-क्षेत्र द्विवेदीजी ने अत्यन्त व्यापक कर दिया। नायिका-भेद की नख-शिख परिपाटी के स्थान पर उन्होंने विराट विश्व के छोटे-बड़े सभी विषयों को साहित्य का वर्ण्य स्वीकार कर लिया। पश्चिमी समीक्षा के सम्पर्क से द्विवेदीजी में कतिपय नवीन तत्वों के भी दर्शन होते है। काव्य में कल्पना को वे आवश्यक मानते हैं, परन्तु प्रतिभा और कल्पना में उन्होंने साम्य भी स्थापित किया है। चरित्र-चित्रण में द्विवेदीजी ने नायिका-भेद की परिपाटी नहीं अपनाई है। चरित्र-तत्व का निरूपण उन्होंने पश्चिमी आधार पर ही किया है। द्विवेदीजी के समय तक कथा-साहित्य पर्याप्त मात्रा मे प्रकाशित हो चुका था। इसकी समीक्षा करते समय भी द्विवेदीजी को पश्चिमी समीक्षा से सहायता लेनी पड़ी है। द्विवेदीजी की समीक्षाओं में नैतिक दृष्टि सर्वोपरि है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण द्विवेदीजी ने मिश्र बन्धुओं के 'नवरत्न' की देव-विवेचना की समीक्षा करते समय दिया है। नीति भी द्विवेदीजी की समीक्षा का एक प्रधान सूत्र है। द्विवेदीजी के विवेचनों में स्वच्छंदतावादी समीक्षा के बीज भी निहित है। द्विवेदीजी ने विशुद्ध शास्त्रीय और विशुद्ध वैज्ञानिक दोनों पद्धतियों को भ्रांत कहा है। इन सबके ऊपर द्विवेदीजी की दृष्टि राष्ट्रीय थी। देश-हित की भावना द्विवेदीजी की समीक्षा को आद्यन्त अनुप्राणित करती रही है। उनकी यही दृष्टि एक ओर तो नीति-चिन्तन में निरत है और दूसरी ओर सामाजिक उपयोगिता में व्यक्त हुई है। नीति और उपयोगिता द्विवेदीजी की राष्ट्रीय दृष्टि के दो पहलू हैं।

नव रीतिवादी समीक्षकों में मिश्रबन्धु पं० पद्मसिंह शर्मा कृष्णबिहारी मिश्र एवं लाला भगवानदीन के नाम आते हैं। मिश्रबन्धुओं पर पश्चिमी समीक्षा का प्रभाव कुछ अधिक था। अपनी समीक्षाओं में उन्होंने हिन्दी में कतिपय नवीन तत्वों का भी समावेश किया। मिश्रबन्धुओं ने लेखकों की जीवनियां भी दी हैं और उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि पर भी प्रकाश डाला है। कतिपय सामान्य मनोविज्ञान के संकेत भी इनकी समीक्षाओं में मिल सकते हैं। इतना सब होते हुए भी मिश्रबन्धु अपनी समीक्षा को किसी उदात्त स्तर पर नहीं प्रतिष्ठित कर सके। उनकी दृष्टि अधिकांशतः शास्त्रीय और आलंकारिक रही है। देव कवि को सूर और तुलसी के समकक्ष रखकर मिश्रबन्धुओं ने अपने असंतुलित जीवन-

दर्शन का ही विज्ञापन किया है। मिश्रबन्धुओं की समीक्षा, कतिपय नवीनताओं के अतिरिक्त, शास्त्र-बद्ध थी और कई बार शब्दाडम्बर में भी उलझ गई थी।

इसमें सन्देह नहीं कि पं० पद्मसिंह शर्मा में काव्य-विवेक पर्याप्त था। उन्होंने काव्य में भावों को प्रमुख माना है, काव्य-प्रयोजन हृदय का संस्कार बतलाया है और काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता पर भी दृष्टि रखी है। परन्तु शर्माजी अलंकारवाद के मोह से पीछा नहीं छुड़ा सके। उनकी दृष्टि काव्य में सबसे पहले और सबसे अधिक चमत्कार की खोज करती थी। इसलिए उनकी समीक्षा-दृष्टि बिहारी जैसे कवि के लिए ही उपयुक्त थी।

श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने भी अपनी समीक्षाओं में शास्त्र को ही प्रमुखता दी है। उनका ध्यान 'रस' के चमत्कार पर लगा हुआ था। यदि शर्माजी को अलंकारों का चमत्कार प्रिय था तो मिश्रजी को रस का चमत्कार। दोनों समीक्षकों की दृष्टि चमत्कार पर लगी हुई थी और शास्त्रीय थी। मिश्रजी तो धुंधले धुयें में प्रकाश देखने की अभिलाषा रखते थे। लाला भगवानदीन भी इन्हीं शास्त्रीय दृष्टि वाले चमत्कार-प्रेमी आलंकारिकों की श्रेणी में आते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसी उदात्त और व्यापक समीक्षा-दृष्टि का इन लोगों में अभाव है। इनकी समीक्षा जीवन और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं करती। उसमें नवीन साहित्य का प्रतिमान बनने की योग्यता नहीं है। संक्षेप में नवरीतिवादी समीक्षकों की दृष्टि रूढ़ शास्त्रीयता पर आधारित थी, उसमें प्रगतिशीलता का अभाव था।

द्विवेदीजी की परम्परा आचार्य शुक्ल में ही आकर विकसित हुई। द्विवेदीजी के बिखरे हुए समीक्षा-सूत्रों को शुक्लजी ने प्रौढ़ शास्त्रीय आधार दिया। हम ऊपर देख चुके हैं कि द्विवेदीजी की समीक्षा नीति और उपयोगिता के तत्वों पर आधारित है एवं उसमें भाव पक्ष की प्रधानता भी स्वीकार की गई है। परन्तु द्विवेदीजी ने रस-सिद्धान्त की चर्चा नहीं की (कदाचित् उन्हें इसका अवसर ही नहीं मिला)। शुक्लजी ने उक्त सूत्रों के आधार पर रस की प्रतिष्ठा की है। शुक्लजी हिन्दी के पहले रसवादी आचार्य हैं जिन्होंने रस सिद्धान्त का प्रौढ़, बहुत कुछ मौलिक और व्यवस्थित विवेचन किया है। शुक्लजी का यह रस-सिद्धान्त परम्परागत है उन्होंने किसी नये सिद्धान्त का आविष्कार नहीं किया, परन्तु उन्होंने प्राचीन रस-मत की ही नवीन व्यवस्था की है। शुक्लजी की इस व्याख्या में पूर्व और पश्चिम का, प्राचीन और नवीन का, शास्त्र और स्वच्छन्द चिन्तन का समन्वय हुआ है। शुक्लजी ने रस के शास्त्रीय ढांचे को बना रहने दिया, परन्तु उसमें नई प्राण-प्रतिष्ठा की है। एक ओर तो शुक्लजी ने रस को आधुनिक मनोविज्ञान की गहरी नींव दी है और दूसरी ओर उसे सामाजिक जीवन की ठोस भूमि भी। इस प्रकार शुक्लजी का रस-शास्त्र सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से संयुक्त है। शुक्लजी की ज्वलंत नैतिक और राष्ट्रीय चेतना ने इस रस-भवना को दृढ़ बनाने में सीमेन्ट की

काम किया है। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में रस-विवेचन के समय, शुक्लजी की दृष्टि रस-वैविध्य एवं सूक्ष्मता पर रही है। इससे उनकी समीक्षा एक ओर तो जीवन के विस्तार से सम्बद्ध है और दूसरी ओर उसकी गहराई से भी।

शुक्लजी के रस-विवेचन में पर्याप्त नवीनता है। रस के भाव और विभाव दो पक्षों में शुक्लजी ने विभाव-पक्ष को प्रधान माना और उसमें भी आलंबन को। शुक्लजी आलंबन के चित्रण को ही काव्य में पर्याप्त मानते थे। शुक्लजी वस्तुवादी थे। रस को भी उन्होंने वस्तुगत ही माना है। आशय यह कि वस्तु में ही वे रसोद्रेक की शक्ति मानते हैं। यह वस्तु पूर्णत: लौकिक है, उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता नहीं है। काव्यानुभूति और भावानुभूति में शुक्लजी ने कोई अन्तर नहीं माना। इस प्रकार शुक्लजी ने जीवन-विमुख एवं शास्त्र में अवरुद्ध रस की धारा को जीवन की भूमि पर लाने का प्रयास किया और दूसरी ओर अलौकिता के नाम पर उसमें होने वाली कोरी कल्पना की क्रीड़ा एवं असंयत भावावेगों पर भी रोक लगा दी। शुक्लजी का रस-निरूपण रस की शास्त्रीय परंपरा से बहुत कुछ भिन्न है। शुक्लजी न तो रसानुभूति को अनिवार्यत: आनन्दमयी मानते हैं और न अखण्ड ही। इन बातों से वे साहित्यदर्पणकार से बहुत दूर चले गए हैं। शुक्लजी का यह विवेचन न तो शास्त्रीय ही रह सका और न मनोवैज्ञानिक ही। वह बहुत कुछ वैयक्तिक सा हो गया है। वस्तुवादी भूमि अपनाने और रस की लौकिक व्याख्या करने के कारण शुक्ल जी को कतिपय समीक्षकों ने यथार्थवादी समीक्षक की संज्ञा दी है। परन्तु शुक्लजी न तो यथार्थवादी हैं और न कोरे आदर्शवादी ही, वे तो साहित्यादर्श के अनुयायी हैं जहां आदर्श और यथार्थ दोनों हिल-मिलकर काम करते हैं। शुक्लजी ने हृदय की मुक्तावस्था को रस-दशा कहा है। उनकी इस रस-व्याख्या में एक ओर तो लोक-सामान्य भूमि का संकेत निहित है और दूसरी ओर केथार्सिस का सूक्ष्म-सा संकेत भी। शुक्लजी ने रस की बड़ी व्यापक व्याख्या की है। वे वस्तु के काव्य-वर्णन से ही रसानुभूति संभव नहीं मानते, उसके प्रत्यक्ष दर्शन में भी रसानुभूति स्वीकार करते हैं। इसी आधार पर शुक्लजी ने प्रकृति एवं अतीत में रस-सत्ता सिद्ध की है। शुक्लजी का यह निरूपण नया है और भारतीय शास्त्र का विस्तार करता है। इसके द्वारा शुक्लजी, अभी तक काव्य में ही बहने वाली, रस की धारा को जीवन-भूमि पर भी सिद्ध कर सके हैं। काव्य में नहीं, प्रत्यक्ष जीवन में भी रस है, शुक्लजी की यह उपपत्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। शुक्लजी का यह रस-मत नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित है। इस बात का ऊपर संकेत भी हो चुका है। गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्य में उनका यह नैतिक प्रतिमान पूर्णत: चरितार्थ हो सका है। तुलसीदासजी में सामाजिक रीति-नीति का पूर्ण पालन हुआ है। शुक्लजी इसी के हामी थे। अतएव वे तुलसी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं, आत्मानन्दी सूर की नहीं। वैसे सूर और तुलसी में तत्वत: कोई भेद नहीं है। आत्मा की अमर सत्ता में दोनों का विश्वास है। परन्तु तुलसी उसके व्यक्त प्रसार में रमे हैं और सूर उसके आनन्द-केन्द्र तक ही अपने को सीमित रखते हैं। जो भी हो शुक्लजी

ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया और इसलिए उनका रस-निरूपण बाह्य नैतिकता में ही उलझा रहा, वह काव्यात्मा—उसकी चिरन्तन भाव-सत्ता—में प्रवेश नहीं कर सका।

शुक्लजी पर कोरे समाज-शास्त्री होने का आरोप भी लगाया गया है। यह ठीक है कि शुक्लजी ने रस की सामाजिक पृष्ठभूमि का बड़े समारोह के साथ उद्‌घाटन किया है, परन्तु उनका रस-विवेचन कोरा सामाजिक या समाज-शास्त्रीय ही नहीं है, रस की कलात्माक पृष्ठभूमि का भी उन्होंने साग्रह निरूपण किया है। साहित्य का कलात्मक स्वरूप शुक्लजी को मान्य है, यह उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं से स्पष्ट है। शुक्लजी ने साहित्य में कला का नहीं कलावाद का विरोध किया है। जीवन से असंपृक्त कोरी कलाकारिता शुक्लजी को कभी मान्य नहीं हुई। काव्य और सूक्ति का अन्तर वे सदैव ध्यान में रखते हैं। भाव-तत्व को साहित्य में प्रधान मानते हुये भी वे उसे निरी निर्बुद्धिक रचना नहीं बनाना चाहते। अतिरंजित भावुकता से शुक्लजी ने साहित्य को दूर रखना ही श्रेयस्कर समझा है। अतिशय भावुकता के कारण भी वे छायावादी कवियों के सम्बन्ध में ठीक धारणा नहीं बना सके। साहित्य में बुद्धि-तत्व के महत्व को शुक्लजी ने स्वीकार किया है। परन्तु वे साहित्य को बुद्धि के नियन्त्रण में नहीं रखना चाहते। साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता ही उन्हें मान्य रही है। शुक्लजी अतिवादों से बचकर चले हैं। उनकी समीक्षा मध्यमार्गीय रही है, जिसमें समन्वय की ओर उनका झुकाव है। उपयोगिता का तत्व भी शुक्लजी की समीक्षाओं में कहीं-कहीं पर व्यक्त हुआ है, पर द्विवेदीजी की अपेक्षा कम। द्विवेदीजी सामयिक उपयोगिता पर अधिक बल देते थे, शुक्लजी की उपयोगिता की दृष्टि कुछ अधिक स्थायी है और नीति-निहित है। शुक्लजी ने कवि की अन्तः प्रवृत्तियों के उद्‌घाटन करने की चर्चा भी एकाधिक स्थलों पर की है। परन्तु यह कार्य वे अधिक नहीं कर सके। यह कार्य शुक्लजी के उपरान्त सम्यक् रूप से सम्पन्न हुआ।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि शुक्लजी ने साहित्य का जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है। इसलिए जिन कवियों या लेखकों में जीवन की उपेक्षा है, या सर्वांग जीवन नहीं है, उनकी शुक्लजी अधिक प्रशंसा नहीं कर सके। समय का साहित्य पर प्रभाव पड़ता है, इसे वे स्वीकार करते हैं। इसी कारण वे साहित्य के गतिशील रूप का भी दिग्दर्शन करा सके हैं। परन्तु साहित्य के सार्वभौम एवं शाश्वत तत्वों पर भी उनकी दृष्टि थी। शुक्लजी का विवेचन वस्तु पर आश्रित है, भाव-तत्व पर नहीं। इसलिए उनमें साहित्य के सामयिक और शाश्वत स्वरूपों में समन्वय कठिन हो गया है।

शुक्लजी की जीवन में प्रगाढ़ अनुरक्ति थी। उनका सामाजिक सिद्धान्त लोकादर्शवाद था। जीवन के प्रवृत्ति-मार्ग की उन्होंने प्रशंसा की है, निवृत्ति-मार्ग की नहीं। लोकधर्म के विरोधी निर्गुणियों एवं लोक-धर्म से उदासीन कृष्ण-भक्तों की शुक्लजी ने तीव्र समीक्षा की है और तुलसीदासजी के भक्ति-मार्ग की सराहना की है। भक्ति-मार्ग व्यक्ति और

समाज दोनों के लिए कल्याणकारी है। शुक्लजी की दृष्टि लोक-धर्म से भी आगे विश्व-धर्म तक व्यापक हुई है, परन्तु उनकी व्यावहारिक समीक्षाएं लोक-भूमि तक ही सीमित हैं। उनका रस-सिद्धान्त इसी लोक-भूमि पर आधृत है।

शुक्लजी ने कविता को हृदय की मुक्ति-साधना या भाव-योग की संज्ञा दी है और उसे ज्ञान-योग के समकक्ष ठहराया है। काव्य की शुक्लजी ने यह नई व्याख्या की है जिसमें काव्य की अलौकिता का भी आभास है और उसकी लौकिक परन्तु उदात्त भूमि भी स्पष्ट है। काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में शुक्लजी की स्पष्ट धारणा थी कि मनोरंजन जैसी हलकी वस्तु काव्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। काव्य का उद्देश्य इससे गम्भीर है। काव्य का उद्देश्य तो रसोद्रेक करना ही है। यह कार्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण कर उनसे हृदय के सामंजस्य द्वारा सम्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत था कि आलंबन का चित्रण रसोद्रेक के लिए पर्याप्त होता हैं। पूरे रस-परिवार का सांगोपांग वर्णन करना इसके लिए आवश्यक नहीं। भाव-प्रदर्शन का शुक्लजी ने विरोध किया है। भावों के विस्तार और तीव्रता को शुक्लजी ने काव्य की कसौटी माना है।

द्विवेदीजी के समान ही समस्त सचराचर प्रकृति को शुक्लजी ने साहित्य का विषय घोषित कर दिया है। परन्तु शुक्लजी का मत था कि काव्य में बिम्ब-ग्रहण के लिए विषय मूर्त होना चाहिए तथा उसमें प्रत्येक पाठक में भावों को उद्दीपन करने की क्षमता हो इस-लिए उसे उसके मूल रूप में भी दिखाना चाहिए। साहित्य का विषय मूल रूप में हो और मूर्त हो। साहित्य में मूल रूपों के द्वारा शुक्लजी उसके स्थायी विषयों को सामने लाए हैं। परन्तु इससे गतिशील साहित्य के मूल्यांकन में बाधा भी होती है। शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि इसी कारण स्थिर कोटि की कही गई है।

शुक्लजी ने आलंबन का या आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण माना है। परन्तु परवर्ती समीक्षकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि साधारणीकरण समस्त कवि-व्यापार का होता है, आलंबन या उसके धर्म का ही नहीं। शुक्लजी की दृष्टि इस सम्बन्ध में निश्चय ही वस्तुनिष्ठ थी।

शुक्लजी ने अपने रस-विवेचन में अलंकारों को भी अन्तर्भूत कर लिया है। वे विभाव-पक्ष की अप्रस्तुत-योजना के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। अलंकारों को वे वर्णन करने की चमत्कारपूर्ण शैलियां एवं काव्य के अनित्य धर्म मानते हैं। शुक्लजी की यह दृष्टि आचार्य विश्वनाथ से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। उनके अनुसार भावानुभव में वृद्धि करने का गुण ही अलंकार है, कोरा सादृश्य नहीं।

भाषा को भी शुक्लजी ने भावों की अनुगामिनी ही माना है और उसका लोक-जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है। परन्तु जनसाधारण की भाषा में और काव्य-भाषा

में शुक्लजी ने भी अन्तर माना है। शुक्लजी का यह मत दान्ते की 'प्रसिद्ध भाषा' से बहुत कुछ समानता रखता है। हिन्दी की नई समीक्षा में जन--भाषा की ओर अधिक रुझान दिखाई पड़ रही है। शुक्लजी ने साहित्य की भाषा का एक विशिष्ट स्तर निश्चित कर लिया था।

छन्दों को शुक्लजी ने भाव–प्रेषणीयता में सहायक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत छन्द के आग्रह का ही प्रतीत होता है। द्विवेदीजी की दृष्टि कुछ भिन्न थी।

शुक्लजी ने पश्चिमी समीक्षा का भी गहन अध्ययन किया था। उन पर उनके इस अध्ययन का भी प्रभाव है। कल्पना के सम्बन्ध में पश्चिमी समीक्षा–साहित्य में बहुत चिन्तन हुआ है। शुक्लजी ने भी उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया है। शुक्लजी ने कल्पना–व्यापार को भावन–व्यापार के समान बतलाया है। उनके अनुसार कल्पना भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तवृत्ति है जो भाव--पोषक स्वरूपों का निर्माण करती है। भाव–प्रवर्तक स्पष्ट मूर्ति विधान के लिए कल्पना आवश्यक है। कल्पना भाव का बोध-पक्ष है। वह एक प्रकार से मानसिक रूप–विधान है। उसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों का निर्माण करती है। जीवन से असम्बद्ध कोरी चमत्कार-प्रदर्शन करने वाली कल्पना शुक्लजी को अभिप्रेत नहीं है। कल्पना का सम्बन्ध शुक्लजी ने रूप--विधान से जोड़ा है और यही 'रूप' शुक्लजी के लिए काव्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, अतएव कल्पना का भी काव्य में महत्व असंदिग्ध है।

सौन्दर्य--तत्व की भी शुक्लजी ने चर्चा की है। सौन्दर्य को शुक्लजी ने वस्तुगत ही माना है, व्यक्तिगत नहीं। यद्यपि शुक्लजी के इस विवेचन में एकरूपता का अभाव है, उन्होंने सौन्दर्य के वैयक्तिक आधार का भी उल्लेख किया है उसके सामान्य और विशेष दोनों रूपों की चर्चा की है, परन्तु उसकी वस्तुनिष्ठता ही अन्ततः मान्य है।

शुक्लजी की वस्तुवादी बाह्य दृष्टि का प्रमाण उनके प्रबन्ध और प्रगीत काव्य सम्बन्धी निर्देशों में भी मिलता है। शुक्लजी ने प्रबन्ध काव्य को, उसके वस्तु–विस्तार के कारण, प्रकृत काव्य कहा है और प्रगीतों को, बाह्य वस्तु के अभाव के कारण, अतिरंजित बतलाया है। शुक्लजी ने अपनी इसी दृष्टि के कारण वाच्यार्थ में ही काव्य देखा है, काव्य--सौन्दर्य को अभिधा–धाम बतलाया है। प्रत्यक्ष वस्तु और प्रत्यक्ष अर्थ दोनों शुक्लजी में एक साथ चले हैं।

निबन्धों और नाटकों के सम्बन्ध में शुक्लजी ने जो मत व्यक्त किए हैं उनमें पूर्वी और पश्चिमी मतों का समन्वय हुआ है।

शुक्लजी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि का ही विस्तार और व्यवस्था है। द्विवेदीजी में शास्त्रीय व्यवस्था का अभाव है और साथ ही सैद्धान्तिक विषयों पर उनमें ईप्सित विस्तार भी नहीं है। शुक्लजी ने इन दोनों कमियों की पूर्ति कर दी

है। साथ ही साहित्य की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का भी उद्‌घाटन किया है। शुक्लजी की समीक्षा नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित है। यदि द्विवेदीजी में उपयोगिता की दृष्टि प्रमुख थी तो शुक्लजी ने नीति की। काव्य के अन्तरङ्ग में इन दोनों का योग होते हुये भी ये वहाँ प्रधान नहीं हैं। स्पष्ट है कि शुक्लजी रस के बाह्य रूप पर ही दृष्टि जमाए रहे। शुक्लजी की समीक्षाओं में राष्ट्रीय भावना का योग भी हुआ है। उनके निबन्ध--साहित्य में इसका अधिक उल्लेख हो सका है। शुक्लजी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने हिन्दी के जीवन से असंपृक्त साहित्य--शास्त्र की एक अत्यन्त प्रौढ़ और उदात्त लोकादर्श की भूमि पर प्रतिष्ठित किया है और उसकी नई व्याख्या प्रस्तुत की है।

शुक्लजी के उपरान्त उनके मत का कई लोगों ने अनुकरण किया। परन्तु शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में न तो शुक्लजी की प्रौढ़ पकड़ दिखलाई पड़ती है और न उनके आदर्श के प्रति अटूट आस्था ही। शुक्लजी की समीक्षा--दृष्टि का वास्तविक विकास स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में ही हो सका।

तृतीय खण्ड

स्वच्छंदतावादी समीक्षा

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

'काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।'

—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४०७

काव्य-सिद्धान्त — रस (काव्य-संवेदन)

श्री वाजपेयी जी रसवादी आचार्य हैं। 'रस' ही उनका काव्य-सिद्धान्त कहा जा सकता है, परन्तु उनका रसवाद प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त और एक उदात्त तथा व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। प्राचीन रस-सिद्धान्त में उन्होंने कतिपय भावों की ओर इंगित किया है। उनका मत है कि रस का शास्त्रीय रूप काव्य की विवेचना के लिये अपर्याप्त है। उससे रस की कमी-बेशी का परिचय नहीं मिलता। वह सिद्धान्त गीत-काव्य पर पूर्णतः घटित नहीं होता [१]। इसकी अलौकिकता से भी साहित्य में बड़ा अनिष्ट हुआ है। अलौकिकता के नाम पर लौकिकता ही बढ़ती गई, कितनी ही उच्छृंखल सप्त शतियों की रचना हुई तथा कविता व्यक्तिगत होती गई और अन्ततः दरबारी कवियों की सृष्टि हुई [२]। रसवादियों का अलंकार-विरोध ऊपरी था, वस्तुतः वे अलंकारों को अपनी रस-सिद्धि का साधक—अपनी कामधेनु का गोपाल—बनाते रहे हैं [३]। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में सर्वप्रथम रस की चर्चा मिलती है। 'नाट्यशास्त्र' विश्लेषण और वर्गीकरण प्रमुख ग्रंथ है तथा उसके विधि-निषेध नाटकों के अङ्गों से ही सम्बन्ध रखते हैं। 'नाट्यशास्त्र' का साहित्यिक विवेचन नाट्य शरीर के साहित्यिक विश्लेषण तक सीमित है।

---

१ हिन्दी-साहित्य—बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ६५
२ —वही— " ६७
३ —वही— " ६८

बाद में रूपकों का वही रसवाद काव्य में लाकर चरितार्थ कर दिया गया और काव्य-विवेचन शब्द और अर्थ में सीमित हो गया [१]। सारांश यह कि रसवाद पहले बाह्यार्थ-परक एव आंगिक था और काव्य में उसका आलंकारिक एवं ह्रासोन्मुख रूप ही प्रचलित था [२]। रस-सम्प्रदाय ने भ्रष्ट से भ्रष्ट कविताओं और निम्न कोटि के कवियों को प्रोत्साहन दिया है [३], एक-एक पंक्ति में रस ढूंढने की प्रथा चलाई है और सहस्रों नायक-नायिकाओं के भेद-प्रभेद गिना दिये हैं। रस-पद्धति की विश्लेषण-क्रिया से रचनाकार की भीतरी और बाहरी परिस्थितियों का भी परिचय नहीं मिलता [४]। प्राचीन रस-सिद्धान्त 'स्थूल, अगतिशील नीति-चक्र' बन गया था [५]। वह जीवंत साहित्य की समीक्षा में अक्षम सिद्ध हुआ। सूरदास के पदों के सम्बन्ध में इससे अनेक द्विधायें उत्पन्न होती हैं। 'सूर-सागर' का प्रधान रस साहित्य-शास्त्र की रस-कोटि में नहीं आता। यदि साहित्य का रस अलौकिक है तो सूर का काव्यानन्द अलौकिक से भी अलौकिक है। सूर और तुलसी के नायक साहित्य-शास्त्र के साधारण नायक नहीं हैं, वे चराचर नायक हैं [६]। यूरोप में कलावाद और भारत में रसवाद रीतिबद्ध तथा जीवन-निरपेक्ष साहित्य-सृजन के कारण बने हैं। रस की अलौकिकता से साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता बन गई और जीवन में कम महत्व की बातें साहित्य में स्थान पाने लगी [७]। भरतमुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' में राम और रावण के चरित्र एक दूसरे के विरुद्ध रखे हैं। यही बात धीरोदात्त, धीर-ललित नायकों में आगे चल कर और भी स्पष्ट हुई है। इससे 'नाट्यशास्त्र' के रस-सम्बन्धी नैतिक आधार का परिचय मिलता है [८]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस के इसी नैतिक रूप का प्रतिपादन किया है। वे राम के काव्यात्मक निरूपण में रस मानते हैं, रावण के निरूपण में नहीं, परन्तु वास्तविक रस किसी नीतिवाद पर आश्रित नहीं है। शुक्लजी नीति-चक्र के फेर में पड़ गये हैं [९]। दूसरी बात, शुक्लजी का विवेचन निस्संग और निष्पक्ष भी नही रह सका है। उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं से उनकी समीक्षा-दृष्टि बहुत दूर तक प्रभावित हुई है। साहित्यिक विवेचन में जिस मनोवैज्ञानिक तटस्थता की

---

१ हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी पृ० ७०-७१
२ --वही-- " ७१
३ --वही-- " ७२
४ --वही-- " ७२
५ --वही-- " ७३
६ महाकवि सूरदास " ८५-८६
७ आधुनिक साहित्य " २८७
८ आलोचना अङ्क २६ " २
९ हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी " ७४

आवश्यकता है, वह शुक्लजी में नहीं दिखलाई पड़ती[1]। उन्होंने सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भाव-सत्ता को स्थापित किया। यही उनका काव्यात्मक लोकवाद है तथा यही उनका मुख्य साहित्यिक सिद्धान्त है। साहित्य के क्षेत्र में शुक्लजी लोकादर्शवादी हैं। शुक्लजी ने काव्य की आत्मा—उसके विषय का महत्व प्रतिपादित किया, परन्तु आत्मा के स्थूल रूप—व्यवहार या नीति—पर ही उनकी दृष्टि अटकी रही। शुक्लजी काव्य की भाव-सत्ता को व्यवहार-निरपेक्ष नहीं स्वीकार कर सके। वे रस को सिद्धान्त अवश्य मानते हैं, परन्तु उसके आनन्द-पक्ष, उसके संवेदनात्मक स्वरूप पर उनकी दृष्टि नहीं गई। उनकी रस-व्याख्या भाव—व्यंजना या अनुभूति पर आश्रित नहीं है[2]। शुक्लजी ने रस और अलंकार और अभिव्यंजना में आत्यंतिक विच्छेद भी स्वीकार किया है। प्रकृति वर्णन के द्वारा वे काव्य के स्थायी विषयों का मत भी सामने लाए हैं[3]। रागात्मक वृत्ति का एक ही नित्य व स्थिर रूप मानने के कारण वे काव्य के देशकालानुरूप स्वरूप की उपेक्षा कर गए हैं[4]। काव्य के अखंड और निर्विशेष स्वरूप पर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी[5]। एक विशेष काव्य के अनुरूप भारतीय काव्य-शास्त्र की व्याख्या करना शुक्लजी की विशेषता रही है, अतएव काव्य-शास्त्र की व्यापकता में अवरोध भी उत्पन्न हुए हैं[6]। इस प्रकार शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि में वैज्ञानिकता नहीं आ सकी।

यह बाजपेयीजी के काव्य—सिद्धान्त का पूर्व-पक्ष है जिसमें उन्होंने प्राचीन रस-मत और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि की कमियों का उल्लेख किया है। इसी पृष्ठभूमि पर उनके काव्य—सिद्धान्त को समझा जा सकता है। श्री बाजपेयीजी 'रस' विरोधी नहीं हैं, रस मत की रूढ़ियों के विरोधी हैं। उन्होंने हमारे परम्परागत रस-सिद्धांत को ही निर्विशेष और व्यापक स्वरूप प्रदान किया है और उसे नवीन परिस्थितियों में उत्पन्न नए काव्य की परीक्षा के उपयुक्त क्षमता दी है।

बाजपेयीजी का मत है कि किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परीक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धान्त सीमित हैं, कला की कोई सीमा नहीं है। उसे किसी भी बन्धन में नहीं बांधा जा सकता। केवल सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, परन्तु सौन्दर्य की परख के कोई निश्चित आधार नहीं बतलाए जा सकते[7]।

---

१ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ७८
२ आधुनिक साहित्य " २७६-७७
३ —वही— " २७७
४ —वही— " २७८
५ —वही— " २७८
६ आलोचना अंक २५ " ४
७ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ८३

काव्य का वास्तविक सौन्दर्य कवि के काव्योत्कर्ष की भावात्मक परीक्षा में निहित है[१]। भावना, अनुभूति या संवेदन ही वह तत्व है जिसके आधार पर समीक्षा के स्थायी माप-दण्ड का निर्माण किया जा सकता है। इसी में कला का सौष्ठव निहित है। युग, समाज और संस्कृतियों के बदल जाने पर भी, काव्य-शैली, विचार-धारा एवं साहित्यिक मान्यताओं में परिवर्तन हो जाने पर भी कला का सौष्ठव चिर दिन की वस्तु होगा और उसके आधार पर उसकी परीक्षा की जाती रहेगी। इसके द्वारा हम किसी भी प्रकार का 'लेबल' लगे हुए साहित्य की परीक्षा कर सकते हैं। इस सौन्दर्य या सौष्ठव के अन्तर्गत कला के समस्त उपकरणों का समावेश हो जाता है। सबका स्वतन्त्र अस्तित्व इसमें विलीन होकर एक सम्यक संवेदन की उपलब्धि होती हैं और यही काव्यालोचन का प्राण है। 'काव्य-संवेदन' के अन्तर्गत जीवन-सौन्दर्य और अभिव्यक्ति सौष्ठव दोनों निहित हैं[२]। यह संवेदन प्रणाली असाधारण, विरल और कुछ अंशों में रहस्यात्मक ढंग की है। इसके द्वारा विविध और विधा-बहुल आज के साहित्य की सरलता से परीक्षा की जा सकती है[३]। यह संवेदन काव्यात्मक अनुभूति का ही पर्याय है[४]।

उपर्युक्त विवेचन में एक बात बड़ी स्पष्ट दिखलाई पड़ेगी। प्राचीन शब्दावली के स्थान पर नवीन शब्दावली का प्रयोग आधुनिक समीक्षा में अधिक होने लगा है। भारतीय काव्य-शास्त्र की जटिल प्रक्रियाओं के स्थान पर सीधी और सरल मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाई जाने लगी है। रस-सिद्धान्त का साधारणीकरण व्यापार अपनी विस्तृत ऊहापोह के साथ यहां एकदम छूट गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण की बड़े विस्तार से चर्चा की है। 'रस-मीमांसा' रस की शास्त्रीय व्याख्या की परम्परा का ही विस्तार है, यद्यपि नए और महत्वपूर्ण संदर्भों की उसमें कमी नहीं है। फिर भी शुक्लजी में शास्त्र प्रमुख हैं। उनका रस-सिद्धान्त शास्त्र-बद्ध ही कहा जायगा। 'रस' की स्वच्छंद और स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन बाजपेयीजी के द्वारा हुआ है। बाजपेयीजी का 'काव्य-संवेदन' भारतीय रस-मत के बहुत कुछ समान है और पश्चिमी काव्य-शास्त्र के बहुत कुछ समीप है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस तत्व की प्रतिष्ठा नीति और व्यवहार की स्थूल-भूमि पर की थी। बाजपेयीजी ने उसकी प्रतिष्ठा सूक्ष्म आध्यात्मिक अथवा आत्मिक स्तर पर की है। वाजपेयीजी की दृष्टि उसके आनन्द-पक्ष पर रही है, नैतिक स्वरूप पर नहीं। काव्य की इस भाव-मूलक या आध्यात्मिक सत्ता में जीवन और कला, वस्तु और शैली में

---

१ महाकवि सूरदास पृ० १५
२ आधुनिक साहित्य " ३०५-३०७
३ —वही— " ३०५-३०७
४ —वही— " ४१७

सामंजस्य हो जाता है। काव्य यहां आकर अखंड स्वरूप ग्रहण करता है। वह नैतिक और व्यावहारिक भाव-भूमियों को आत्मसात् करके भी उनके परे पहुंच जाता है[1]। काव्य के इसी स्वरूप के अनुसार उनकी काव्य-समीक्षा भी 'आत्म-परक भाव सत्ता' तक पहुंच गई है[2]। यह भाव-सत्ता भाव-विन्यास से भिन्न वस्तु है। भाव-विन्यास चमत्कार-प्रियता के निकट की वस्तु है। वह काव्य के अंतरंग से दूर एक आलंकारिक आयोजन अधिक है। 'साकेत' में भाव-विन्यास का चमत्कार अधिक है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि इसी की ओर लगी हुई थी[3]।

श्री वाजपेयीजी ने रस का सम्बन्ध मानवतावाद से भी स्थापित किया है। वे मानते हैं कि जीवन से कतिपय मूलभूत तथ्य हुआ करते हैं। इनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। समाज और समाज के आदर्श बदला करते हैं, परन्तु जीवन के ये मूल तथ्य ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इन्हीं को हम मानवतावाद की संज्ञा दे सकते हैं। इसी मानवतावाद के आधार पर काव्य-श्रेष्ठता की परख की जाती है। भारतीय आचार्यों का रस यही जीवन की मौलिक और मूल्यवान मानव-भावना है। 'जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वस्तुतः काव्य है, मानव समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। रस शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानवतावादी सत्ता से ही है[4]।'

वाजपेयीजी ने रस की यह नवीन व्याख्या देकर रस-सिद्धान्त को युग के नवीनतम दार्शनिक चिन्तन से संबद्ध कर दिया है। वे रस के अन्तर्गत भावात्मक, नैतिक एवं बौद्धिक अनुभूतियों का अध्याहार करते हैं। इससे रस अधिक व्यापक भूमि पर आ जाता है और एक पूर्णता प्राप्त कर लेता है। अभी तक रस के अन्तर्गत भावात्मक और नैतिक अनुभूतियां ही सन्निविष्ट थीं। हमारी अनंत बौद्धिक अनुभूतियां रस की सीमा से बाहर पड़ी हुई थीं। श्री वाजपेयीजी ने बौद्धिक अनुभूतियों को भी रस की नवीन व्याख्या में सन्निविष्ट कर रस को नए युग का काव्य-निकष बना दिया है। वाजपेयीजी का यह निर्देश रस-सिद्धान्त के विकास की नवीनतम कड़ी है।

वे रस वैयक्तिक अनुभूतियों के प्रकाशन में नहीं मानते। काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दुःख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुःख की भूमि में पहुंचने

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ २७६
२ —वही— " २८०
३ —वही— बीसवी शताब्दी " ११
४ आलोचना अंक २२ " ५

में है। व्यक्तित्व की आत्म-सीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि हो सकती है [१]। इसी को रस का साधारणीकरण व्यापार कहा गया है।

काव्य की रूप-सत्ता उपयुक्त अभिव्यंजना द्वारा आह्लादकता का गुण प्राप्त करती है। वैयक्तिक मानस से संबद्ध होने से रूप-योजना व्यक्तिगत हुआ करती है, वाणी की शक्ति से वह सार्वजनिक बनती है। वाणी की शक्ति ही काव्य में सार्वजनिक आह्लाद (रस) का संचार करती है। कवि का अन्तःसौन्दर्य वाणी का परिधान पहनकर अपूर्व रमणीय बन जाता है [२]। रस और ध्वनि का प्रयोजन ही काव्य-कल्पना को व्यक्तिगत परिधि से हटा कर लोक-सामान्य आस्वादकता के क्षेत्र में पहुँचा देना है। इसलिए रस और ध्वनि मतों पर ऐकांतिकता एवं जीवन-निरपेक्षता का आरोप अयथास्थान है [३]।

रस-सिद्धान्त में साधारणीकरण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगों ने कहा है कि देवता और पूज्य व्यक्तियों के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं होगा। इसे वे असाहित्यिक दलील मानते हैं। उनका कथन है कि कवि के लिए भी तो ये देवता और पुण्य चरित्र उतने ही पूज्य हैं, जितने दर्शक या श्रोता के लिए। इसलिए उन पात्रों के सम्बन्ध में जो अनुभूति कवि को हुई है वही दर्शकों को भी होगी। कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति हो ही नहीं सकती। 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं [४]।'

आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण आलंबनत्व-धर्म का माना है [५]। आलंबन की अपेक्षा आलंबनत्व-धर्म अधिक सूक्ष्म और व्यापक है, परन्तु समस्त कवि-व्यापार की मनोवैज्ञानिक व्याप्ति उसमें भी नहीं है। वाजपेगीजी की यह रस-व्याख्या अधिक व्यापक है। डा० नगेन्द्र ने भी साधारणीकरण समस्त कवि-व्यापार का ही माना है [६]।

वाजपेयीजी रस-सिद्धान्त को पूर्ण और अकाट्य मानते हैं। भारतीय आचार्यों ने रस के प्रसंग में विभाव और भाव दो पक्षों की चर्चा की है, परन्तु दोनों ही रस-संचार के लिये हैं। रस-निष्पत्ति ही काव्य का लक्ष्य है। विभाव के अन्तर्गत आलंबन के रूप में मानव-जगत और उद्दीपन के रूप में प्रकृति को ग्रहण कर लिया गया है। अनुभावों और संचारियों के अन्तर्गत मनुष्य की समस्त भावात्मक और मानसिक सत्ता का समावेश

---

१ आलोचना अंक २० पृ० ५
२ नया साहित्य : नये प्रश्न निष्कर्ष " १०
३ —वही— " ११
४ —वही " १२२
५ चिन्तामणि भाग १ " २३०
६ विचार और विवेचन " ३३

हो गया है। इस दृष्टि से रसाङ्गों का निरूपण पूर्ण और अकाट्य है। उसमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं देखी जा सकती [१]। विभाव और भाव-पक्ष का सम्बन्ध रस-सिद्धान्त में बहुत स्वष्ट है। वस्तु-वर्णन और चरित्र-चित्रण (विभाव-पक्ष) काव्य में भावानुयायी हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं [२]। इसीलिये भारतीय आचार्यों ने रस को अखण्ड अनुभूति कहा है [३]। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में भी काव्य एक अखण्ड व्यापार माना गया है। उसमें साध्य और साधन, विषय और विषयी, वस्तु-चित्रण और भाव-निरूपण पृथक्-पृथक् नहीं होते। एक ही कल्पना-व्यापार समस्त काव्य में व्याप्त होता है, उसी से कृति को काव्यत्व प्राप्त होता है [४]।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का हिन्दी-समीक्षा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल ने अपने ढङ्ग से, उसका विरोध किया है। परन्तु क्रोचे की मान्यतायें अब स्पष्ट रूप से सामने आई हैं। क्रोचे कला को अखण्ड व्यापार मानता है। यह बात भारतीय आचार्यों ने बहुत पहले कह दी थी। श्री वाजपेयीजी ने सर्वश्रेष्ठ पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ भारतीय समीक्षा सिद्धान्तों की तुलना कर उनका महत्व दिखलाया है।

रसानुभूति सुखात्मक है या दुःखात्मक ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में उनका मत है कि रसानुभूति सुखात्मक दृश्यों पर भी अवलंबित रह सकती है और दुःखात्मक दृश्यों पर भी। रस का सम्बन्ध काव्यानुभूति मात्र से है। जीवन के किसी क्षेत्र की अनुभूति को काव्य से बहिष्कृत करना रस-विधायकों का काम नहीं है [५]। इसीलिये साहित्य में सभी रसों को स्थान दिया गया है। साहित्य के क्षेत्र में आशा-निराशा, करुणा और वीर सबका समान स्थान है। परन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त करनी होगी, निरुद्देश्य और अस्त-व्यस्त नहीं। भवभूति की करुणा शक्तिहीनता और निर्बलता नहीं उत्पन्न करती। वह हमारी भावनाओं का इस प्रकार स्पर्श करती है कि उससे जीवन के सुन्दर लक्ष्यों के प्रति हमारी आस्था बढ़ती है। दुःखमूलक भावों या अनुभूतियों का चित्रण करते समय हमें इसी उन्नयिनी परिपाटी की रक्षा करनी होगी [६]। प्राचीन भारतीय आचार्यों की रस-धारणा सीमित और स्थूल नहीं थी [७]। काव्य में राम और रावण, सत् और असत्, सुख और दुःख सभी कल्पना और अनुभूति के विषय बनकर आते हैं और वे सभी काव्य-जगत् में आस्वाद्य हैं। कीथ का आरोप था कि रस भारतीय

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ७२–७३
२ —वही— ,, ७३
३ सत्वोद्रेक खण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः। साहित्य-दर्पण (३ प० २ श्लोक)
४ आधुनिक साहित्य पृ० ७३
५ —वही— ,, २२८
६ आधुनिक साहित्य ,, ३२८
७ —वही— ,, २२८

दार्शनिकता का अनुचर है। परन्तु, रस अतिशय स्वतन्त्र, सार्वत्रिक और अव्याहत काव्य तत्व है [१]।

आचार्य शुक्ल रसानुभूति को सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की मानते हैं। वे मानते हैं कि काव्यानुभूति भावानुभूति से भिन्न नहीं है। वह आनन्द-स्वरूप है या नहीं इस बात का शुक्लजी को आग्रह नहीं है [२]। बाजपेयीजी ने भी रसानुभूति को दोनों प्रकार की माना है, परन्तु वे उसकी 'उन्नयिनी परिपाटी' का आग्रह भी करते हैं। इस प्रकार वे प्राचीन रस-मत के अधिक समीप हैं जिसमें रस अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति मानी गई है [३]। डा० नगेन्द्र ने इसी प्रश्न का मनोवैज्ञानिक उत्तर दिया है। इसे हम आगे चलकर देखेंगे।

रस का आनन्द अलौकिक कहा गया है या लोकोत्तर बतलाया गया है। इस अलौकिता से बड़ा अनर्थ भी हुआ है। इस बात का ऊपर उल्लेख हो चुका है। परन्तु, बाजपेयीजी रस की अलौकिकता को अस्वीकार नहीं करते। वे रस को अलौकिक इसी अर्थ में बतलाते हैं कि वह नैतिक और व्यावहारिक भूमियों को आत्मसात करके भी उनके परे पहुँच जाता है [४]। प्राचीन रसवाद जीवन-निरपेक्ष हो गया था, नीति और व्यवहार की उपेक्षा करने लगा था, इसलिए उससे वास्तविक काव्य की समीक्षा नहीं बन सकी। बाजपेयीजी ने उसके अशक्त स्वरूप का उद्घाटन कर उसे नई दीप्ति दी है।

बाजपेयीजी ने रस का सम्बन्ध उदात्त नैतिक चेतना से माना है, परन्तु जिस अर्थ में शुक्लजी ने रस में नीति को स्थान दिया है, उसका वे विरोध करते हैं। उनका मत है कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने नीति को अयोग्य पाया। उन्होंने नीति के स्थान पर रस में ऐकांतिक कल्पना और वैयक्तिक अनुभूत का समावेश किया। ये तत्व उसमें पहले नहीं थे। इस युग में रस-सिद्धान्त में संशोधन हुए हैं। रस-सिद्धान्त को उसके कालगत भार से मुक्त कर उससे उसकी पुरानी अमूल्य गृहस्थी छीन ली गई और उसे व्यक्ति-मात्र बनाकर अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया है। अब नई जीवन दृष्टि और नई सैद्धान्तिक शब्दावली का प्रयोग होने लगा है। [५]

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ २२८

२ चिन्तामणि भाग २ ,, १८८

३ हेतुत्वं शोकहर्षादिगंतेभ्यो लोक संश्रयात्। शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिका:॥६॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्य: काव्यमुश्रयात्। सुखं संजायते तुभ्यं सर्वेभ्योऽपीति का क्षति: ॥७॥
—साहित्यदर्पण, तृ० परि०

४ आधुनिक साहित्य पृष्ठ २७९

५ आलोचना अङ्क २६ ,, ८

रस–निष्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत के साहित्य–शास्त्र में बड़ा मतभेद है। कई आचार्यों ने, भरत मुनि सूत्र की व्याख्या द्वारा, रस–निष्पत्ति को समझाने का प्रयास किया है और उनके मत एक दूसरे के विरुद्ध रखकर देखे गए हैं। वाजपेयीजी ने भट्ट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के रस सम्बन्धी विभिन्न मतों में एक अन्वित लाने का प्रयास किया है। परम्परागत धारणा के अनुसार प्रथम तीन आचार्यों के मत अतात्त्विक माने जाते हैं और चौथा मत ही सिद्धान्त रूप से मान्य है। परन्तु जिस तार्किक क्रम से ये प्रस्तुत किए गए हैं और इन्हें जिस तत्परता से सुरक्षित रखा गया है, इनसे यही सिद्ध होता है कि इनमें भी कुछ–न–कुछ तत्त्व अवश्य देखा गया है। अभिनवगुप्त के मत की तुलना में ये भले प्रामाणिक प्रतीत न हुए हों, परन्तु उन्हें एकदम निरर्थक नहीं बतलाया गया। वाजपेयीजी का तर्क यह है कि "क्रमागत परम्परा द्वारा ये मत क्रमशः मीमांसा, न्याय, और सांख्य मतों के प्रतिरूप—साहित्यिक प्रतिरूप–माने गए हैं। जिस प्रकार वेदान्त मत रहते हुए भी अपने–अपने स्थान पर मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति मत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियाँ निरी निरर्थक नहीं हो जातीं [१]। भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। भट्टलोल्लट नायक में रस मानते हैं। नायक और नायिका के अभाव में काव्य–रस सम्भव नहीं है। कवि के नवीन सृजन में ही उसकी सौन्दर्य–भावना (रस) निहित रहती है [२]। शंकुक का मत, अभिनय–योजना के द्वारा, नायक–नायिका के रस को सार्वजनिक बनाता है। वह उत्पत्तिवाद से एक कदम आगे की वस्तु है [३]। शंकुक का मत केवल नाटकों पर ही लागू होता है। इसी को भट्टनायक ने अधिक व्यापक और शास्त्रीय रूप दिया है। शंकुक का अनुमिति- मत अभिनय–कला के द्वारा काव्य-वस्तु को प्रेक्षक की अनुभूति का विषय बनाता है। भट्टनायक का साधारणीकरण–सिद्धान्त केवल काव्य–सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। इस प्रकार काव्य और सहृदय के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दिशा में भट्टनायक का मुक्ति–मत अनुमिति–मत से एक कदम आगे है [४]। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट और तात्त्विक रूप प्रदान किया। आचार्य अभिनव का मत काव्य–रचना और उसकी सहृदय की प्रतीति में किसी व्यवधान या अंतर्वर्ती स्थिति को स्वीकार नहीं करता। इस मत की दूसरी विशेषता यह है कि यह रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति नहीं करता है। संस्कार रूप से भावों की सत्ता प्रत्येक सहृदय

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न पृष्ठ ११९–२००
२ —वही— " १२०
३ —वही— " १२०–१२१
४ —वही— " १२२

में निहित है और वही विभावादि के साक्षात्कार से जागृत होकर रस के आस्वाद का आधार बनती है [१]। इस प्रकार ये चारों मत काव्य की प्रेषणीयता और रसास्वाद की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक पहलू से सम्बद्ध है। "कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य-प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षों की व्याख्या करने वाले ये मत, हमारी दृष्टि में, काव्य की एक अत्यन्त व्यापक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किए गए हैं। यह बात दूसरी है कि खण्डन-मण्डन के बाग्जाल में पड़ जाने से उनका मूलवर्ती आशय या प्रयोजन भुला दिया गया हो। परम्परा सुरक्षित है, किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है [२]।

वाजपेयीजी का रस-सम्बन्धी यह विवेचन, उनका रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों में एक अन्वित लाने का प्रयत्न, निश्चय ही रस के इतिहास का नया विकास माना जायगा। उन्होंने भरत मुनि से लेकर आचार्य शुक्ल तक बहने वाली रस-धारा को और भी आगे बढ़ाया है और उसे नया बल तथा नई गति दी है।

काव्य के इसी विशुद्ध, निर्विशेष और व्यापक तत्व को वाजपेयीजी ने अपनी समीक्षा का मानदण्ड माना है। उनकी समीक्षा—का केन्द्र—बिन्दु यही है। इसी को हम उनकी साहित्यिक दृष्टि की संज्ञा दे सकते हैं। इसको छोड़कर किसी अन्य दृष्टि से साहित्य की परीक्षा करना उचित नहीं है। साहित्य की अपनी संस्कृति अलग होती है, उसके विधि-विधान भी अलग हुआ करते हैं। साहित्य साहित्य-बाह्य वस्तुओं का भार-वाही नहीं है [३]। समीक्षा के लिए काव्य-दृष्टि पर साहित्यिक दृष्टि की आवश्यकता है। युग-प्रवर्त्तक रचनाएँ भी इस दृष्टि से परखी जाने पर हेटी सिद्ध हो सकती हैं [४]। साहित्य की स्वतंत्र सत्ता, स्वतंत्र प्रक्रिया और उसकी परीक्षा स्वतंत्र साधन हैं। मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति के परिणाम साहित्य की परीक्षा बाह्य स्थूल व्यापार या बौद्धिक संस्कारों के द्वारा नहीं की जा सकती [५]। ऊँचे-ऊँचे आदर्श, नैतिकता और बौद्धिकता साहित्य का नियन्त्रण नहीं कर सकते। साहित्य में साहित्यिक मूल्य ही प्रमुख हो सकते हैं, वैज्ञानिक मूल्य नहीं। साहित्य के क्षेत्र में विशेषज्ञता का जोर बढ़ने से उसके निजी मूल्य दबने लगते हैं [६]। कोई वस्तु कितनी ही महत्वपूर्ण और मूल्यवान क्यों न हो, वह साहित्यिक मूल्यां-

---

१ नया साहित्य : नए प्रश्न पृष्ठ १२२
२ —वही— " १२३
३ हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी " ९७
४ —वही— (विज्ञप्ति) " १
५
६ आधुनिक साहित्य (भूमिका) " ४४

क्त में बाधक नहीं बन सकती। राष्ट्र-प्रेम जैसी महत्वपूर्ण वस्तु भी साहित्यिक परीक्षा का आधार नहीं बनाई जा सकती [१]। भक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, लोक-कल्याण आदि से काव्यत्व का कोई सम्बन्ध नहीं। उसका एकमात्र मानदण्ड है अनुभूति [२]। साहित्य की आज अनेक आधारों पर व्याख्या की जा रही है। कोई समाजशास्त्र के आधार पर साहित्य की व्याख्या करता है तो कोई मनोविज्ञान के आधार पर। परन्तु इन सबकी सार्थकता साहित्यिक समीक्षा-पद्धति से मिलकर काम करने में है। समीक्षा की साहित्यिक शैली ही व्यापक, अनुभूत और निरापद होने के कारण सर्वाधिक उपादेय है [३]।

विशुद्ध साहित्यिक, अनुभूति या संवेदना पर आश्रित, मानदण्ड को लेकर चलने के कारण वाजपेयीजी ने बार-बार साहित्येत्तर आधारों का, समीक्षा-दृष्टियों का कड़ाई के साथ विरोध किया है। एक ओर तो वे आदर्श-प्रेम का विरोध करते हैं और दूसरी ओर नैतिकता तथा बौद्धिकता का। उपयोगितावादी दृष्टि भी उन्हें अमान्य है और कलावादी दृष्टि भी। इनमें से किसी भी दृष्टि को वे साहित्य-समीक्षा का आधार मानने के लिए तैयार नहीं हैं। द्विवेदी-युगीन साहित्य नीतिवादी, बुद्धिवादी तथा आदर्शवादी साहित्य है। परन्तु काव्य-कला की दृष्टि से वह गौरवप्रद नहीं हो सका [४]। ऊँचे से ऊँचे आदर्श भी महान काव्य के निर्माण में सब समय सहायक नहीं होते [५]। द्विवेदी-युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्घाटन न कर सकी। किसी प्रकार का नैतिक या बौद्धिक प्रतिबन्ध न होने के कारण प्रसाद का काम निर्बाध, स्वच्छन्द एवं बहुमुखी सृष्टियों में प्रगट हुआ [६]। शुक्लजी का लोकादर्शवाद एक उदात्त बौद्धिक मत है। परन्तु उसके द्वारा काव्य-समीक्षा में बाधा ही उत्पन्न हुई है [७]। रचना में सुनिश्चित विचारों की अभिव्यक्ति से वह उपदेशात्मक, कृत्रिम और असम्बद्ध हो जाती है। अतिरिक्त दार्शनिकता या बौद्धिकता के समावेश से साहित्य का सौरस्य नष्ट होने लगता है [८]।

अतिरिक्त बुद्धि-तत्त्व की रोक-थाम के लिए ही वाजपेयीजी ने स्थल-स्थल पर

---

१ आधुनिक साहित्य (भूमिका) पृष्ठ १८८
२ —वही— " ४१७
३ नया साहित्य : नए प्रश्न " ४६
४ हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी " ७-८
५ —वही— (वि०) " ८
३ —वही— (,,) " २
२ —वही— " ८१
८ आधुनिक साहित्य " १५३-५४

अपनी समीक्षाओं में वादों का विरोध किया है। किसी भी मतवाद की दृष्टि से साहित्य की परीक्षा करना अनुचित है। उनका मत है कि उच्च कविता को वादों के बखेड़े से दूर रखकर ही हम उसके साथ न्याय कर सकते हैं [१]। किसी भी कलाकृति को किसी वाद के अंतर्गत रखना खतरे का काम है। इससे रचना उपदेशात्मक, असंबद्ध और कृत्रिम हो सकती है [२]। वादों के माध्यम से बड़ी नपी-तुली विचार-दृष्टि पाठकों को दी जाती है। साहित्य के क्षेत्र में मतवादों की अधिकता और उनकी कट्टरता के कारण खण्ड-दृष्टियाँ बढ़ रही हैं, गिरोह बन रहे हैं। स्वतन्त्र रचनाकारों के मार्ग में इनसे बाधा भी उत्पन्न हो रही है। रचनाकारों की सृजन-स्वच्छंदता, अनुभव तथा विचार-स्वातन्त्र्य संकटग्रस्त हो रहे हैं। मतवादों की अधिकता से साहित्य-जगत में संशय और फूट भी फैल रहे हैं। एक ही कृति की एक सम्प्रदाय के लोग आसमानी प्रशंसा करते है और दूसरा सम्प्रदाय उसी कृति की रसातली निन्दा करता है। पाठक भ्रम में भटकता है [३]। काव्य की रसानुभूति सब वादों से ऊपर हुआ करती है, इसलिये साहित्य को किसी भी मतवाद की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता।

वाजपेयीजी ने साहित्य में एक ओर उपयोगितावाद का विरोध किया है और दूसरी ओर कलावाद का भी। कला के लिए कला, अनुशीलन के लिए अनुशीलन की भूमिका साहित्य के लिए अनुपादेय है। हमारे समस्त अनुशीलनों में हमारी साहित्यिक चेतना सजग रहनी चाहिये, बिना इसके सारा कार्य यन्त्र-गतिक हो सकता है अथवा उसमें असंतुलन आ सकता है [४]। कला और तत्व में वाजपेयीजी ने तत्व को ही प्रमुखता दी है। कलावादी का झुकाव कला की ओर अधिक हुआ करता है [५]। श्री जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय के कलात्मक मूल्य को स्वीकार करते हुए भी वाजपेयीजी ने उनकी तत्व-सम्बन्धी भूमि पर बड़े आक्षेप किये हैं। इसी प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की उपयोगितावादी दृष्टि को भी उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में अधिक महत्व नहीं दिया है। साहित्य में केवल साहित्यिक मूल्यों का ही महत्व हो सकता है।

आदर्श-प्रेम, नैतिकता, बौद्धिकता, कलावाद, उपयोगितावाद आदि का वाजपेयीजी ने साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में बार-बार विरोध किया है, परन्तु यह विरोध उन्हीं स्थलों पर हुआ है जहां ये दृष्टियां स्वतन्त्र रूप से साहित्य का मूल्यांकन करने लगी हैं। साहित्य-समीक्षा के निजी क्षेत्र में जब भी इन बाहरी आधारों का अलग से प्रयोग किया

---

१ जयशंकर प्रसाद पृष्ठ ६७
२ प्रेमचन्द : सा० वि० ,, १४७-४८
३ आलोचना १८ ,, २
४ महाकवि सूरदास ,, ८
५ आधुनिक साहित्य ,, १६२

गया, तभी वाजपेयीजी ने इनसे उत्पन्न होने वाले अनिष्ट की ओर असंदिग्ध शब्दों में इङ्गित किया है। परन्तु साहित्य के पंचामृत में तो उन्हें आदर्श भी अभीष्ट है और नीति भी, बुद्धि की भी आवश्यकता है और उपयोगिता की भी। इसी प्रकार कला-तत्वों की भी उन्होंने महत्ता प्रतिपादित की है। ये सब तत्व साहित्य की सत्ता में तदाकार एकरस होकर ही साहित्यिक दृष्टि का निर्माण करते हैं।

इस बात को भूलकर और उनके छुट-पुट लेखों को पढ़कर ही कतिपय समीक्षक कहने लगे हैं कि वाजयेयीजी की समीक्षाओं में बड़े अन्तर्विरोध मिलते हैं। वे एक स्थान पर कुछ कहते हैं और दूसरे स्थान पर बिलकुल दूसरी बात कहने लगते हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि अनेक असंगतियों से भरी हुई है। ऐसे मत-दाता समीक्षकों से अनुरोध है कि वे एक बार वाजपेयीजी की समस्त कृतियों का आद्योपांत अध्ययन करने का कष्ट करें और फिर निष्पक्ष निर्णय लें। उन्होंने लिखा है 'काव्येतर समस्त तत्व, वाद और साधना-क्रम स्वतन्त्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें, परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर उन सबका पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अन्तर्गत हो जाना चाहिये [१]।'

वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि में आदर्श और नीति का महत्वपूर्ण स्थान है। वे आदर्शवादी समीक्षकों की श्रेणी में ही आते हैं और यथार्थवादियों की कड़ी आलोचना करते हैं। परन्तु उनके आदर्श और नीति साहित्य की निजी सत्ता में घुल-मिलकर प्रगट होते हैं, वे अपना अलग अस्तित्व नहीं रखते। आचार्य शुक्ल की समीक्षा का आधार ही एक प्रकार से आदर्शात्मक और नैतिक रहा है। वहां एक विशेष प्रकार का आदर्श-प्रेम साहित्यिक दृष्टि पर प्रधान हो गया है। वाजपेयीजी ने आदर्शों को मान्यता दी है परन्तु साहित्यिक तत्वों के माध्यम से। वाजपेयीजी सामाजिक आदर्शवाद के समर्थक हैं जिसपर सामयिक जीवन की पूरी छाप है। एक ओर तो वे आचार्य शुक्ल के प्राचीन काव्य-विशेष पर आधृत आदर्शवाद को अस्वीकार करते हैं और दूसरी ओर बौद्धिकता की नींव पर खड़े हुए वैयक्तिक आदर्शों को भी अमान्य कर देते हैं। जैनेन्द्रकुमार का आदर्शवाद जीवन-प्रवाह से दूर, वैयक्तिक और तार्किक ढङ्ग का है [२]। शुक्लजी का आदर्शवाद रूढ़ नैतिकता पर आश्रित है। उन्होंने आदर्शों की ऐतिहासिक प्रगति और परिवर्तन की चिन्ता नहीं की [३]। वाजपेयीजी का आदर्शवाद न तो प्राचीन है और न वैयक्तिक ही, वह प्रगति-शील और सामाजिक आधारों को लेकर चला है।

इसी प्रकार रूढ़ नैतिकता को अस्वीकार कर वाजपेयीजी ने काव्य की सत्ता में समन्वित उदात्त नीति-तत्व की अनिवार्यता स्वीकृत की है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ३२०-२१
२ —वही— " १५६
३ हिन्दी साहित्य — बीसवीं शताब्दी (वि०) पृ० २८

की रचनाओं में प्राप्त एक सात्विक ज्योति की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की है [१]। जीवन के नैतिक मूल्य उन्हें मान्य हैं, परन्तु ये मूल्य काव्य की सीमा को नहीं लांघ सकते [२]। नवीन युग के प्रकोप में उदार (?) होते हुए नैतिक नियमों, यूरोपीय प्रभाव से बहने वाली व्यक्तिवाद की प्रखर धारा में उखड़ते हुए सामाजिक आधारों के सम्बन्ध में उन्होंने गहरी चिन्ता व्यक्त की है [३]। वे स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं 'यूरोप की बात यूरोप जाने, हम कभी भी समाज की आचार-मान्यता की आलोचना नहीं कर सकते। समाज की शक्ति समष्टि की शक्ति है, सामाजिक रीति-नीति, संस्कार, सदाचार सब इसी के अन्दर आते हैं। इस विषय में यूरोप की नवीन विचार-धारा हमारे यहां से मेल नहीं खा सकती।' सर्व शक्तिमान आत्मा की शक्ति आचार की भित्ति है। हम अपने इस वैदिक ज्ञान-आत्मवाद को, अध्यात्म तथा नीति को नहीं छोड़ सकते [४]। वे रूढ़िबद्ध सामाजिक नैतिकता के हामी नहीं हैं। परन्तु सामाजिक व्यवहारों की इतिश्री भी उन्हें अभिप्रेत नहीं है। समाज के नैतिक मूल्य बदल सकते हैं, परन्तु वे एकदम असामाजिक और औचित्य-रहित नहीं हो सकते [५] पात्रों की सांस्कारिकता एकदम ही समाप्त नहीं की जा सकती [६]।

बुद्धि का विरट परिचालन जीवन और साहित्य दोनों के लिए अनावश्यक है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य-सृष्टियां निर्बुद्धिक होने लगें। जो लोग साहित्य को बुद्धि-रहित प्रक्रिया से सम्बद्ध करना चाहते हैं उनकी आलोचना करते हुए वे लिखते हैं 'साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि से नहीं, यह उक्ति बहुत अधिक अर्थ-गर्भ है। बुद्धि केवल दर्शन, विज्ञान, नीति के लिए है, यह और भी अनोखी बात है। बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति सब साहित्य के लिए है, यदि साहित्य मनुष्य के लिए है। केवल साहित्य की प्रणाली यह है कि वह बुद्धि, दर्शन, नीति, विज्ञान सबको रसमय बना कर उपस्थित करता है।' साहित्य रसमय तभी होता है जब साहित्यकार अपनी अभिव्यंजित 'वस्तु' से पूर्णतः परिचित हो, दूसरों को दिखाने के पहले वह स्वयं उसका दर्शन करले और यह दर्शन कल्पना, बुद्धि पर विवेक के द्वारा ही सम्भव है।' 'प्रत्येक कला-वस्तु को बाहर से चाहे जितना रसमय बनाने का परिश्रम किया जाय जब तक उसके अन्तर में कृतिकार की चैतन्य आत्मा नहीं झलकती, बज तक विवेक प्रसूत एक दर्शन रक्त-प्रवाह की भांति उस कला-शरीर को सजीवता नहीं प्रदान करता, तब तक क्या हम उसे सम्यक् अर्थ में कला-

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी पृ० १२
२ --वही-- ,, ३३
३ हिन्दी साहित्य — बीसवीं शताब्दी (वि०) ,, ३७
४ --वही-- ,, ३७
५ आधुनिक साहित्य ,, १६१
६ --वही- ,, १७२

कृति कह सकते हैं ? हम तो रचयिता की सम्पूर्ण कृतियों में एक अन्तर्निहित चेतना-धारा देखना चाहते हैं [१]।' वाजपेयीजी साहित्य में लेखक का जीवन-दर्शन देखना चाहते हैं। प्रेमचन्द जैसे साहित्यकार में इस जीवन-दर्शन की कमी उन्हें खटकी है। इसी को वे रचना का मेरुदण्ड मानते हैं। एक समृद्ध बौद्धिक एकतानता के अभाव में प्रेमचन्दजी का साहित्य प्रथम श्रेणी का नहीं बन पाया [२]। दूसरी ओर निराला के काव्य की अतिशय बौद्धिकता के लिए वे रस-सिद्धान्त को व्यापक बनाने के लिए भी तैयार दिखलाई पड़ते हैं [३]।

प्रयोगवादी रचनाओं पर विचार करते समय प्रयोगों की साहित्यिक और सामाजिक उपयोगिता भी आवश्यक बतलाई गई है उनके लाभ और हानियों पर विचार किया गया है [४]। जीवन के असदंशों या परिस्थिति के वैचित्र्यों पर बहुत अधिक ज्ञान-प्रदर्शन अनुपयोगी होता है [५]। प्रचारात्मक कहानियों की व्यावहारिक उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी उनकी अनेक स्पष्ट हानियों का संकेत किया गया है और मत-प्रचार को स्वाभाविक कला-निर्माण में बाधक बतलाया गया है [६]। प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति की उपयोगिता भी उन्होंने स्वीकार की है। कविता के क्षीण सामाजिक आधार को पुष्टि और निराशापूर्ण ऐकांतिक अभिव्यक्तियों से मुक्ति ये दो इस समीक्षा-पद्धति के लाभ हैं, परन्तु शिष्ट और साहित्यिक समीक्षा का ह्रास इसकी बड़ी स्पष्ट हानि भी है। आशय यह कि वाजपेयीजी साहित्य-रचनाओं और समीक्षा-पद्धतियों की उपयोगिता और अनुपयोगिता, उनसे लाभ और हानि दोनों पक्षों पर पूर्णतः विचार करते हैं [७]। पश्चिमी सिद्धान्तों, विचार-धाराओं एवं रचना-पद्धतियों के अंधानुकरण की उपयोगिता पर भी उन्होंने शंका प्रकट की है [८]।

जीवन के लिये उपयोगी आशा और आस्था के सूत्रों से उनकी साहित्यिक दृष्टि सदैव बंधी रही है। वाजपेयीजी आशावादी हैं। श्री बच्चन की निराशा से भरी हुई काव्य-रागिनी का वे स्वागत नहीं कर सके हैं। प्रेमचन्दजी में उन्हें जीवन के प्रति आस्था और विश्वास दिखलाई पड़े हैं और इनके लिये वे प्रेमचन्दजी की प्रशंसा करते हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य — बीसवीं शताब्दी पृ० ६२
२ हिन्दी साहित्य — बीसवीं शताब्दी ,, ६५
३ —वही— ,, १३७
४ आधुनिक साहित्य ,, ५३
५ —वही— ,, १२
६ —वही— ,, १२
७ —वही— ,, २८३
८ आलोचना १८ ,, ४

साहित्य में निराशा की फुलझड़ियां छोड़ना अनुपयुक्त है। साहित्य में ह्रासोन्मुखी या जीवन-विघातिनी प्रवृत्तियां, क्षय के लिए क्षय, मृत्यु के लिये मृत्यु की कामना आदि का स्थान नहीं हो सकता [१]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि में भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का समन्वय है। इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि इन अनुभूतियों का सम्बन्ध समाज के स्थितिशील और गतिशील दोनों प्रकार के तत्वों से है। इस बात की पुष्टि के लिए हम 'आलोचना' (२२-पृष्ठ ४) का एक उदाहरण देंगे—

'पूछा जा सकता है कि साहित्य और समाज के बीच में वे स्थिर और गत्यात्मक सम्बन्ध क्या हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गई, और उन सम्बन्धों की गहराई से क्या आशय है तथा उस गहराई की पहचान क्या होगी ? प्रसाद के 'कामायनी' काव्य को सम्मुख रखकर ही हम इस प्रश्न का उत्तर देंगे। 'कामायनी' में नारी और पुरुष की संघर्षमयी जीवन-कथा कही गई है, जिसमें सुख और दुःख को चरम स्थितियाँ आती हैं और काव्य उन स्थितियों से परिचालित होकर दोनों दिशाओं में दूर तक पीगें भरता है। यह काव्य की भावात्मक स्थिति है जो सुख और दुःख की गहराइयों में जाने के कारण अतिशय उदात्त हो उठी है। परन्तु सुख और दुःख के ये गहरे झोंके हम जिस काव्य में अनुभव करते हैं, वह एक सुन्दर हिंडोले की भांति एक मजबूत डाल में एक मजबूत रस्सी से बंधा हुआ है। वह मजबूत रस्सी बौद्धिक या दार्शनिक चेतना की रस्सी है, जिसमें बंधे होने के कारण यह काव्य इतने और ऊँचे झोंके दे पाया है। और यह दार्शनिक चेतना की रस्सी जिस मजबूत डाल से बंधी हुई है, वह नैतिक संवेदना की डाल है। प्रसाद के 'कामायनी' काव्य की नैतिक भूमिका कितनी सुदृढ़ है, यह इतने से ही जान सकते हैं कि इस काव्य की नायिका 'कामायनी' नैतिक तत्व की ही प्रतिनिधि है। ऊपर के इस संक्षिप्त विश्लेषण से हम यह समझ सकते हैं कि श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रतिभा तत्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीनों तत्व गहरे अनुभवों और अनुभूतियों पर आश्रित हैं और इन गहरे अनुभवों का संबंध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्वों के दुहरे रूपों से है। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगूढ़ चेतना में इन तीनों तत्वों का समावेश रहता है।'

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ३२८

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि बाजपेयीजी ने जीवन और समाज के स्थिर और गतिशील दोनों प्रकार के तत्वों पर दृष्टि रखी है। एक ओर तो वे युग की बदलती हुई परिस्थितियों पर दृष्टि रखते हैं और दूसरी ओर शाश्वत तत्वों को भी महत्वपूर्ण मानते हैं : आचार्य शुक्ल की दृष्टि जीवन और समाज के स्थिर नैतिक तत्वों पर लगी हुई थी। वाजपेयीजी साहित्य का सामयिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं, इसलिए साहित्य की समीक्षा करते समय युग-जीवन के अनिवार्य प्रभावों को भी देखते जाते हैं। नए कवियों में राष्ट्र और समाज के प्रति उत्तरदायित्व की कमी की उन्होंने बार-बार शिकायत की है[1]। आई० ए० रिचर्ड्स के मत पर उनका एक आरोप यह भी है कि देश-काल की भिन्नता का आकलन इस मत के द्वारा नहीं किया जा सकता[2]। वे समीक्षा का भविष्य उन प्रतिभा-सम्पन्न अध्ययनशील तरुण लेखकों पर अवलम्बित मानते हैं जो साहित्यिक परम्पराओं के साथ ही समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानते हैं[3]। सामयिक समस्याओं और विचार-धाराओं का, प्रचलित परिस्थितियों का अध्ययन आज की आलोचना का अनिवार्य आधार है। यह साहित्य का क्षर अंश है। इसे वाजपेयीजी ने साहित्य की कच्ची सामग्री (रा मेटीरियल)—चूना, गारा, मिट्टी कहा है। इसी पर साहित्य की सुन्दर इमारत बनती है। सबसे पहले इसी का ज्ञान आवश्यक है[4]। वाजपेयीजी के पहले सामयिक जीवन का समीक्षा के क्षेत्र में इतना सघन योग नहीं हो सका था। वाजपेयीजी ने साहित्य और उसकी समीक्षा को युग-जीवन की परिवर्तित प्रगतिशील परिस्थितियों के अनुरूप बनाया है।

आरम्भ में जीवन के इस क्षर अंश की, जीवन की परिवर्तनशील सामयिक परिस्थितियों की परख कर लेने के उपरांत वे जीवन के अक्षर अंश को ही देखना चाहते हैं। और इन दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं मानते। प्रगतिवादी समीक्षक जीवन के इस क्षर अंश को ही सर्वस्व मान लेते हैं, और कुछ पुराने समीक्षक अक्षर अंश को ही साहित्य में एकमेव दृष्टव्य वस्तु मानकर चलते हैं। परन्तु अक्षर की अभिव्यक्ति क्षर के बिना नहीं होती, बिना गारा-मिट्टी के महल नहीं बनता, उसी प्रकार सामयिक जीवन के दंड पर ही शाश्वत आदर्शों की पताका उड़ा करती है। जीवन की गति और स्थिति दोनों एक दूसरे से लगे हुए हैं, उनमें विरोध कहाँ है[5] ? दोनों के इस अविरुद्ध पारस्प-

---

१ आधुनिक साहित्य (भूमिका) पृष्ठ ३५
२ —वही— " ५३
३ —वही— " २९८-२९९
४ —वही— " ३००
५ आधुनिक साहित्य पृष्ठ ३०१

रिक सम्बन्ध को समझने की आवश्यकता है । क्योंकि उसे न समझकर हम वाजपेयीजी की समीक्षाओं में मत–विरोध की शिकायत कर सकते हैं।

जीवन के इन्हीं शाश्वत आदर्शों को वाजपेयीजी ने मानवतावाद की संज्ञा दी है। और इस मानवतावाद का सम्बन्ध उन्होंने रस–सिद्धान्त से जोड़ा है। यहां हम 'आलोचना' से एक उद्धरण फिर देंगे—

'बाल्मीकि के काव्य में तत्कालीन समाज की छाया के साथ मानव–जीवन के कतिपय स्थायी आदर्शों का प्रभावशाली आलेख भी है। यही साहित्य की गुण सापेक्षता और युग–निरपेक्षता है। समय बदलता है, सामाजिक आदर्श बदलते हैं परन्तु कतिपय मूलभूत जीवन-तथ्यों में परिवर्तन नहीं आता। इन्हीं मूलभूत जीवन-तथ्यों को हम मानवतावाद अथवा मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की स्थायी देन कह सकते हैं। काव्य–श्रेष्ठत्व का प्रमुख उपादान उसमें निहित यही मानवतावाद है। भारतीय आचार्यों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य और साहित्य को 'रसात्मक' कहा हैं। 'रस' शब्द से भी उनका आशय उसी मौलिक और मूल्यवान मानव-भावना से है, जिसकी श्रेष्ठ काव्यों में सृष्टि होती है। जब हम कहते है कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लाद-कारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होता ही है। रस शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानवतावादी सत्ता से ही है[१]।

शुक्लजी का रस सिद्धान्त लोकादर्शवाद पर अधृत था और यह लोकादर्शवाद प्राचीन और भारतीय आदर्शों के आधार पर निर्मित हुआ था। वाजपेयीजी का रस-सिद्धांत युग–युगीन, सार्वभौमिक मानवतावाद पर आश्रित है जिसमें नीति, भावना एवं दर्शन का समन्वय हुआ है। केवल व्यवहार और नीति की नींव पर ही उन्होंने अपने सिद्धांत को नहीं उठाया। यहां आकर हिन्दी समीक्षा की सैद्धान्तिक सीमाएं अधिक व्यापक, अधिक उदार बन गई हैं। टालसटाय मानवतावादी दृष्टि का प्रेरक आचार्य माना जाता है। उसने उन्नायक और मंगलमय भावों को ही कृति की 'वस्तु' होने के योग्य माना है और वह करुण और विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं में ही यह मंगल विधायिनी शक्ति मानता है[२]। वाजपेयीजी का मानवतावाद इतना सीमित और एकांगी कोटि का नहीं है। वह नैतिक आधारों से बहुत ऊपर उठा दिया गया है। उसे किसी साहित्य-सम्प्रदाय की वस्तु नहीं कहा जा सकता, वह तो कला के प्राण–तत्व के रूप में प्रतिष्ठित है। इससे भिन्न किसी भी दृष्टि में संकीर्णता और एकांगिता आ जाती है। यह दृष्टि 'मनुष्य को उसके प्रवृत

---

१ आलोचना २२ पृष्ठ ५
२ आलोचना २ " ७

रूप में देखती है और प्रत्येक स्थिति में नैतिक अथवा वैचारिक पक्षपात से विरहित होकर मूल तथ्य के समीप रहती है यह दृष्टि मनुष्य के स्वीकार में दूसरी सारी सत्ताओं को गौण मानती है[१] । इस दृष्टि के अनुसार साहित्य की प्रकृति मानव-जीवन की प्रकृति के समान ही बहुमुखी और विशाल बन गई है। साहित्य और कलाएं देश और काल से प्रेरणा लेकर भी स्थायी मानव-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं। छायावादी युग के समीक्षक इसी मानवतावादी दृष्टि के पुरस्कर्ता कहे गए हैं[२]।

छायावादी समीक्षा अपनी पूर्ववर्ती समीक्षा से और भी कई बातों में भिन्न हो गई है। सबसे पहली बात तो यह कि छायावाद में काव्य जीवन अंतरंग से, आत्मिक या आध्यात्मिक पक्ष से संबद्ध माना गया। उसका केन्द्र अनुभूति-विशुद्ध और निर्विशेष है। उसके पहले वह सीमित और सविशेष थी। आचार्य शुक्ल ने अपनी दृष्टि से साहित्य की परीक्षा की है। समीक्षा की यह शास्त्रीय विधि है। परन्तु वाजपेयीजी का मत है कि हमें कलाकार की दृष्टि से साहित्य की परीक्षा करनी चाहिए[३]। पहले अपना अलग मत बना लेना और फिर उसके आधार पर किसी कृति की परीक्षा करना सबसे बड़ी बाधा है। अपने मत की छानबीन करने वाला कला के अपने सौन्दर्य की परीक्षा क्या करेगा[४] ? किसी भी पूर्व निश्चित दार्शनिक या साहित्यक सिद्धांत से कला की परीक्षा नहीं की जा सकती। आलोचक समीक्षा करते समय उन्हीं निष्कर्षों तक पहुँच सकता है, परन्तु आलोचना के पहले वह किसी निष्कर्ष का प्रयोग नहीं कर सकता[५]। हमें कृति में अपना दृष्टिकोण न देखकर लेखक के दृष्टिकोण और उसके सम्यक निर्वाह पर दृष्टि रखनी चाहिए[६]। समीक्षक के लिए आवश्यक है कि वह कवि से तादात्म्य स्थापित कर ले। 'हमारे लिए सबसे सुन्दर उपाय यही है कि हम कवि की आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाकर—विकास की प्रत्येक दिशा में उसके साथ तन्मय होकर उसका अध्ययन करें।[७] छायावादी समीक्षा विषय और विषयी, वस्तु और व्यक्ति दोनों को महत्व देकर चली है। यह अपनी पूर्ववर्ती समीक्षा के समान न तो विषय प्रधान है और न नई मनोवैज्ञानिक समीक्षा के समान विषयी-प्रधान है। छायावादी समीक्षक एक ओर तो काव्य के विषय पक्ष को उचित महत्व देते हैं और उसके विषयी-पक्ष, कवि की वैयक्तिक भाव चेतना को भी मूल्य प्रदान करते हैं[८]।

---

१ आलोचना २३ पृष्ठ ४
२ " २५ " ५
३ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी " ८६
४ —वही— " ८४
५ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी " ८३
६ —वही— " १५०
७ महाकवि सूरदास " ८३
८ आलोचना २५ " ५

छायावादी समीक्षा–दृष्टि स्वच्छन्दतावादी है। समीक्षा में लेखक के दृष्टिकोण को प्रमुखता देना स्वच्छन्दतावाद की ही विशेषता है। वाजपेयीजी की समीक्षाओं में इसी विषयी-प्रधान समीक्षा की ओर बराबर झुकाव दिखलाई पड़ता है। इसे एक प्रकार से हम पश्चिमी समीक्षा का भी प्रभाव कह सकते हैं। परन्तु वाजपेयीजी ने विषयी–पक्ष के साथ ही विषय-पक्ष को भी महत्व दिया है। आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में विषय-पक्ष की प्रधानता है, शुक्लजी की दृष्टि शास्त्रीय है। वाजपेयीजी की समीक्षाओं में दोनों पक्ष सन्तुलित हो गए हैं। अनेक दृष्टियों से वाजपेयीजी समन्वयवादी आचार्य हैं। उन्होंने शास्त्रवादी (क्लासिक) और स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) समीक्षा–सिद्धान्तों में संतुलन स्थापित किया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि उन्होंने रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों में एक अपूर्व अन्विति ला दी है। इसी प्रकार उन्होंने विभिन्न साहित्यक सम्प्रदायों की विकसमान् अटूट परम्परा का भी प्रतिपादन किया है। पश्चिमी समीक्षा के क्षेत्र में जो स्थान आचार्य लैसिङ्ग का है, वही हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में वाजपेयीजी का है।

साहित्य के कलागत मूल्यों पर भी वाजपेयीजी की दृष्टि सदैव बनी रही है, यद्यपि वस्तु और कला में उन्होंने वस्तु को प्रमुखता दी है। श्री जैनेन्द्र और अज्ञेय में कला–संबंधी प्रौढ़ता असन्दिग्ध है, परन्तु तत्त्व की दृष्टि से प्रेमचन्द से इनकी कोई तुलना नहीं [१]। कलावादी प्रवृत्तियों का वाजपेयीजी ने सदैव विरोध ही किया है। परन्तु उनकी समीक्षा-दृष्टि जीवन और कला का सामंजस्य लेकर चली है, इस बात को हम पहले ही देख चुके हैं। वे अनेक अन्य बातों के साथ आज के समीक्षक की सौन्दर्यानुभूति एवं कला–प्रधान दृष्टि में एक निश्चित प्रगति देखते हैं [२]। उन्होंने साँचे, शैलियों, बन्दिशों, साहित्य-प्रकारों और प्रणालियों का अध्ययन भी साहित्य की समीक्षा में आवश्यक बतलाया है [३]। वे कलाकार की उदात्त कल्पना–शक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण तथा प्रौढ़ अभिव्यक्ति की भी प्रशंसा करते हैं [४]। 'बीसवीं शताब्दी' में उन्होंने कवि के मानसिक उत्कर्षापकर्ष की परीक्षा के उपरान्त कलात्मक सौष्ठव को ही मान्यता दी है जिसके अन्तर्गत कवि की मौलिकता, शक्ति–शक्ता, सृजन की लघुता–विशालता (सूत्र दो—एस्थेण्टिक एप्रिसियेशन) रीतियों, शैलियों ओर रचना के बाह्यांगों का अध्ययन (सूत्र ३—स्टेडी आफ टेक्नीक) आदि को परिगणित किया है [५]।

यहाँ तक हमने एक प्रकार से उन्हीं तत्त्वों की चर्चा की है जिनके आधार पर

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ १६२, १७४
२ --वही-- " २८५
३ --वही-- " ३०५
४ महाकवि सूरदास " १४२
५ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " २०

वाजपेयीजी ने अपनी समीक्षा-दृष्टि का निर्माण किया है। अब हम कतिपय उन बातों की ओर भी इङ्गित करेंगे जिनसे उनकी इस समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में सहायता मिली है और जिन्होंने उनकी साहित्यिक दृष्टि का परिष्कार किया है। यूरोप में नए ज्ञान-विज्ञान और साहित्यिक सिद्धान्तों का वाजपेयीजी ने अपनी समीक्षाओं में खूब प्रयोग किया है। आज साहित्य-सृजन और समीक्षा के क्षेत्रों में मनोविज्ञान की बड़ी धूम है। बड़े-बड़े मनोवेत्ताओं के निष्कर्षों का इन दोनों क्षेत्रों में धड़ाके से प्रयोग किया जा रहा है। वाजपेयीजी ने भी इस नए विज्ञान का प्रयोग अपनी समीक्षाओं में किया है। परन्तु वे मनोविज्ञान को साहित्य का साध्य नहीं मानते। साहित्यिक मर्यादाओं के भीतर ही सहायक और सहयोगी तत्त्व के रूप में वे मनोविज्ञान का प्रयोग करते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी अपनी समीक्षाओं में मनोविज्ञान का, कहीं--कहीं पर, प्रयोग किया है। परन्तु वे सामाजिक व्यवहार की भूमि पर सामान्य मानवीय विशेषताओं के रूप में इसको ग्रहण कर सके हैं। वाजपेयीजी ने इस तत्त्व-ज्ञान का अधिक गहराई से प्रयोग किया है। जिस स्वच्छन्दतावादी मानदण्ड को लेकर वाजपेयीजी बढ़े हैं वह स्वयं मनोवैज्ञानिक आधारों पर आश्रित है। वाजपेयीजी यह मानते हैं कि काव्य का महत्व कवि के व्यक्तित्व के कारण है, किसी बाहरी वस्तु या विषय के कारण नहीं [१]। यदि लेखक के व्यक्तित्व में ही ह्रास के बीज हों तो साहित्य का पतन निश्चित है [२]। इसलिए वे 'रचना में कवि की अंतर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the Poetic Spirit)" को अपनी समीक्षा का प्रथम सूत्र निर्धारित करते हैं [३]। लक्षण-ग्रंथों की एक बड़ी भारी कमी उन्होंने यह बतलाई कि उनमें रचनाकार की मानसिक स्थिति का पता नहीं लगता [४]। साहित्यकार के अपने संस्कारों के कारण ही उसका साहित्य ऊँचा उठता है, या नीचे गिरता है। समीक्षक इस बात की परीक्षा करना चाहता है। मनोविश्लेषण उसके लिए बड़े महत्व की वस्तु है। रचनाकार के गढ़े हुए पात्रों के द्वारा भी उसकी मानसिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है [५]। काव्य में निराला के अनुपमेय निर्लेप व्यक्तित्व को देखकर वे मुग्ध हुए हैं [६]। सूरदास के काव्य की परीक्षा करते समय वाजपेयीजी ने मनोविज्ञान का भरपूर प्रयोग किया है और उसके द्वारा सूर के उदात्त मानसिक स्तर तथा उससे उत्पन्न श्रेष्ठ काव्य की भली भाँति परीक्षा की है। कवि की

---

१ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ९
२ —वही— " २२
३ —वही— " २९
४ —वही— " ५६
५ —वही— " ६१
६ —वही— " ११

आत्मिक साधना के कारण ही उसका काव्य लौकिक या अलौकिक स्तर का हुआ करता है। "राम और कृष्ण का यशोगान करने वाले भक्त क्या इसी कारण उच्च हैं कि उन्होंने अपने वर्ण्य-विषय का नाम राम और कृष्ण रखा है ? अथवा उनमें कोई ऐसी वस्तु है जो अन्य कवियों में नहीं पाई जाती। बहुत से कवि राधा और कृष्ण की आड़ में अपने हृदय के मलिन उद्‌गार ही प्रकट करते रहे हैं, तो क्या उनके उद्‌गारों की गणना आध्यात्मिक साहित्य में की जा सकेगी [१] ?" कवि की मनःप्रक्रिया कहीं भी छिपी नहीं रहती। इसके आधार पर भक्ति और शृङ्गार की कविता का विभाजन सरलता से किया जा सकता है [२]। कृष्ण-काव्य की चीर-हरण लीला को भी एक दृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार दिया गया है। दुःखान्त गोपी-चरित की अवतारणा के लिए अनुराग के विशद आकर्षण की यह भूमिका थी [३]। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाजपेयीजी ने मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का एक सहयोगी सिद्धान्त के रूप में प्रयोग किया है। अपने प्रमुख काव्य-मत संवेदन' को भी उन्होंने मनोविज्ञान की भूमि पर ही आधृत किया है। कवि का यह 'संवेदन' स्वस्थ है या अस्वस्थ इसकी बराबर परीक्षा किया करते हैं। असंयत, अश्लील, भावुकतापूर्ण रचनाओं पर वाजपेयीजी ने कड़ी निगाह रखी है। मानसिक दुर्बलता की वे कभी भी प्रशंसा नहीं करते। साहित्य सदैव सबल दृष्टि हुआ करता है, यह उनकी दृढ़ धारणा है [४]। उन्होंने लिखा है "महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा-कदा श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो—और क्रान्तिकाल में ऐसा हो भी जाता है—पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल का ही हिमायती होता है [५]।

जब साहित्य में साहित्यकार के व्यक्तित्व का उद्‌घाटन होने लगा, तो समीक्षक को निश्चय ही तटस्थ रहना होगा। समीक्षाओं में मनोवैज्ञानिक तटस्थता का वाजपेयीजी ने बार-बार आग्रह किया है। आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में उनका आरोप है कि शुक्लजी अपनी समीक्षाओं में तटस्थ नहीं रह सके हैं। उनके व्यक्तिगत मत के कारण वैज्ञानिक अनुशीलन में बाधा हुई है। वे मानते हैं कि "रचनाकार और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार-क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुंजाइश नहीं। उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी।" यह तटस्थता निर्विकल्प कोटि की नहीं होती है। समीक्षक का सामाजिक सम्पर्क तो इसमें भी बना रहता

---

१ महाकवि सूरदास पृष्ठ २६
२ —वही— " १३६
३ —वही— " १२१
४ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी " २३
५ —वही— " ६०

है। तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त कही गई है। इस प्रकार मनोविज्ञान के आधार पर वाजपेयीजी ने हिन्दी-समीक्षा में कवि-मानस के विश्लेषण, उसके उत्कर्ष-अपकर्ष, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य की परीक्षा तथा समीक्षा की तटस्थता का निर्देश किया हैं।

मनोविज्ञान के साथ ही समाजशास्त्र का भी वे अपनी समीक्षाओं में बराबर प्रयोग करते हैं। प्रगतिशील साहित्य के तीन सूत्रों की वाजपेयोजी ने चर्चा की है, वे हैं जीवन आस्था (जीव-चेतना), परिवर्तन की पहचान और उपचार तथा कलात्मक स्वरूप का नियोजन [१]। उनके पहले सूत्र का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है, जिसे हम पहले देख चुके हैं। दूसरे सूत्र का सम्बन्ध समाज-शास्त्र से है और तीसरे का कला से। यहां हमें उनके दूसरे सूत्र की ही कुछ चर्चा करनी है। साहित्यकार के लिए परिवर्तन के क्रम को समझना, नवीन समस्याओं के सम्पर्क में आना और नवीन ज्ञान का उपयोग करना आवश्यक है। जो कवि सामयिक जीवन की जितनी महान हलचलों के बीच से गुजरेगा और जितना अनुभव-प्रवण होगा, वह उतना ही बड़ा कवि बन सकता है [२]। यह प्रगतिशीलता समय-सापेक्ष्य वस्तु होती है। वह कोई स्थिर वस्तु नहीं है। फिर भी व्यवहार में हमें वर्तमान अवस्था देखनी पड़ती है। समय का झुकाव ही निर्णायक वस्तु मानी जा सकती है। 'हम किस दिशा में क्रियाशील हैं और किन प्रश्नों को कितनी सफाई के साथ और कितने प्रभावशाली रूप में सामने रख रहे हैं, इतना ही समझ लेना पर्याप्त है [३]।' इस सूत्र से वाजपेयीजी ने ये निष्कर्ष निकाले हैं — (१) परिवर्तन के अन्तर्गत प्रगतिशील शक्तियों को पहचानना, (२) परिवर्तन से उत्पन्न हुई विचारधारा के शब्द-संकेतों का मनोयोग के साथ अध्ययन और प्राचीन प्रगतिशील विचार-धारा की शब्दावली और उसके उद्देश्यों की नवीन उद्देश्यों से तुलना, (३) नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल, (४) प्राचीनता के मोह का परित्याग, (५) नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रेरणा उत्पन्न करना, (६) रूढ़ियों के प्रति शंका उत्पन्न करना और (७) ह्रासोन्मुखी और अस्तंगत होते हुए जीवन के यथार्थ (ह्रासोन्मुख) स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन [७]। स्पष्ट है कि वाजपेयी जी की समीक्षाओं में न केवल सामाजिक चेतना का योग है वरन् उसे उन्होंने समाज-शास्त्रीय आधार पर भी ग्रहण किया है।

इतिहास, दर्शन और संस्कृति का भी वाजपेयीजी की समीक्षाओं में प्रयोग किया गया है। वे साहित्य की एक अविच्छिन्न परम्परा में विश्वास करते हैं। साहित्य का सम्बन्ध उसके प्राचीन साहित्य से हुआ करता है [५]। उसके महत्व को जानने के लिए इस

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ३३५
२ —वही— ,, ३२९
३ —वही— ,, ३३०
४ —वही— ,, ३३१
५ —वही— ,, १८८

सम्बन्ध की जानकारी आवश्यक है। उनका मत है कि काव्य के परिवर्तनशील ऐतिहासिक अङ्ग की उपेक्षा किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। कुछ लोग पूर्ववर्ती काव्य की एकदम अवहेलना कर देते हैं और कुछ लोग पूर्ववर्ती काव्य को ही सब कुछ मान लेते हैं। इन खतरों से बचने के लिए, काव्य की वास्तविक कलात्मक परीक्षा और काव्य में व्यक्त युग के सांस्कृतिक प्रवर्तनों को स्पष्ट करने के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण अनिवार्य है [१]। 'इतिहास के आलोक में हमें कवि की कृति की ऐसी भूमिका तैयार करनी चाहिये जिससे साहित्य और संस्कृति के विकास में उस कवि के स्थान और उसकी सच्ची देन का परिचय मिल जाय और उसी भूमि पर खड़ी हुई कवि के व्यक्तित्व और उसकी कलाकृति का स्वरूप ठीक तरह से देखा जा सके [२]।'

प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है और उसी के अनुरूप उसके साहित्य का सृजन भी होता है। अतएव साहित्य के मूल्यांकन के लिए देश की तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन भी आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने समस्त सांस्कृतिक जीवन की अपेक्षा देश की राजनीतिक हलचल की ही पृष्ठभूमि दी है। वाजपेयीजी राष्ट्र-जीवन के अन्तराल में भी प्रवेश करते हैं और देश के साथ ही विश्व-व्यापी हलचलों पर भी दृष्टि रखते हैं [३]। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में सांस्कृतिक अध्ययन की प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक प्रगाढ़ होती गई हैं।

वाजपेयीजी की समीक्षा के दो सूत्र और भी रह गये हैं। प्रत्येक लेखक की अपनी विशेष जीवन-दृष्टि, काव्य-संदेश हुआ करता है। वह अपने विचारों की—व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक—साहित्य में अभिव्यक्ति करता है। आज की समीक्षा में लेखक से दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारों का अध्ययन भी आवश्यक हो गया है [४]। वाजपेयीजी कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन भी आवश्यक मानते हैं [५]। व्यक्तिगत जीवनी के अध्ययन से कवि के मानस-विश्लेषण में सहायता मिलती है।

वाजपेयीजी की समीक्षाओं में विश्लेषण का समारोह है, ऐतिहासिक अध्ययन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता है। इन बातों का शुक्लजी में अभाव रहा है [६]। साहित्य के

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ३०१
२ —वही— ,, ३०२
३ हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) ,, १३
४ —वही— ,, २९
५ —वही— ,, २९
६ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) ,, २८

मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का मूल्यांकन वाजपेयीजी का प्रधान उद्देश्य रहा है, साथ ही साहित्य की सामयिक प्रेरणाओं का भी समय-समय पर आलेख होता रहा है [१]। उनकी समीक्षाओं में मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, इतिहास, दर्शन, संस्कृति आदि का वस्तून्मुखी अध्ययन हुआ है। शुक्लजी का अध्ययन उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं से प्रभावित बतलाया गया है [२]। वे आगामी साहित्य में निस्संग वैज्ञानिकता और अधिकाधिक वस्तुमत्ता की शुभाशंसा प्रगट करते हैं [३]। वाजपेयीजी की समीक्षा 'काव्य-संवेदन' के ऐसे व्यापक मानदण्ड पर आधृत है जिसके द्वारा प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम के समस्त साहित्य की एक साथ परीक्षा की जा सकती है। समीक्षा के प्रतिमान की यह व्याप्ति इसके पहले नहीं आई थी। उन्होंने रस-सिद्धान्त को विशुद्ध मनोविज्ञान की व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है [४]। शुक्लजी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा वे सौन्दर्यानुभूति और कला-प्रधान दृष्टि को लेकर चले हैं [५]। इतिहास और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर कवियों के जीवन-दर्शन का उनकी जीवनी और मानसिक गतिविधि से सम्बन्ध स्थापित कर काव्य की कलात्मक व्याख्या को वे आज की समीक्षा मानते हैं [६]। वे रस और अलंकार के रूढ़ मार्ग को छोड़कर स्वच्छंद अनुभूति-प्रवाह और अभिव्यक्ति के स्वतन्त्र सौन्दर्य के मार्ग पर चले हैं [७]। उन्होंने काव्य के अंतरंग का ही विश्लेषण नही किया है उसके वस्तु-संघटन और रचना-कौशल पर भी प्रकाश डाला है [८]। सारांश यह कि 'छायावाद-युग में एक नये धरातल पर समीक्षा-दृष्टि का उन्नयन हुआ कला की अधिक शुद्ध और सूक्ष्म चेतना, नीति-परक दृष्टि के स्थान पर मानववादी दृष्टि को आग्रह, नियम के स्थान पर संवेदनशीलता का उत्कर्ष और काव्य-सौष्ठव के प्रति अधिक अभिरुचि उसकी मुख्य विशेषतायें थीं। इसके साथ ही हिन्दी-समीक्षा में अनेकमुखी वस्तु-परकता का आगमन भी हुआ। विज्ञान और मनोविज्ञान, इतिहास और समाज-शास्त्र की नई शोधों का आकलन, साहित्य-समीक्षा के धरातल पर किया गया। एक अधिक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई और सांस्कृतिक भूमिका पर साहित्यिक मूल्यांकन की प्रवृत्ति दृढ़मूल हुई [९]।

---

१ हिन्दी साहित्य-बीसवी शताब्दी (विज्ञप्ति) पृ० २६
२ —वही— " ८७
३ —वही— " २१२
४ आधुनिक साहित्य " २८०
५ —वही— " २८५
६ —वही— " ३२१
७ —वही— " २८६
८ —वही— " २६२
९ आलोचना २३ " २-३

एक बात का और उल्लेख करके इस प्रसंग को समाप्त किया जायगा। पश्चिमी विचार-धाराओं और सिद्धान्तों के ग्रहण और उपयोग की समस्या पर भी वाजपेयीजी ने स्थल-स्थल पर विचार व्यक्त किए हैं। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि वाजपेयीजी अपने लेखों में पश्चिमी मतों का भारतीय काव्य पर प्रयोग किया करते हैं। जहां तक पश्चिमी समीक्षा के इतिहास और सिद्धांतों के विश्लेषण का प्रश्न है, किसी भी सामान्य लेखक को आधार बनाकर यह कार्य किया जा सकता है। इस पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। दो हजार वर्ष से भी अधिक समय में फैले हुए पश्चिमी काव्य-शास्त्र को, निजी विचारों के साथ, एक ही निबन्ध की सीमा में बांधने का महत्प्रयास मैं समझता हूँ, हिन्दी में अभी भी दूसरा नहीं हो सका है[1]। जहां तक पश्चिमी सिद्धान्तों के भारतीय काव्य पर प्रयोग का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में बाजपेयीजी की कुछ मान्यताएं हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक साहित्यिक सिद्धान्त की अपनी राष्ट्रीय प्रकृति होती है, उसकी एक अपनी विशिष्ट परम्परा होती है। विशेष सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में वह उत्पन्न होता है। ऐसी परिस्थिति में पश्चिमी साहित्यिक मतों को आंख बन्द कर ग्रहण कर उपयोग करने लगना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। यदि हिन्दी साहित्य और पश्चिमी समीक्षा की जोड़ी अनमिल है, तो हमें उसे तोड़ देने में संकोच नहीं करना चाहिए। इसके साथ हिन्दी की अपनी वर्द्धमान समीक्षा की भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते[2]। वाजपेयीजी के इन विचारों को देखते हुए उपर्युक्त आरोप की असंगति स्वयं सिद्ध हो जाती है। फिर भी बाजपेयीजी ने पश्चिमी साहित्य-ज्ञान का अपनी समीक्षाओं में प्रचुर प्रयोग किया, इसे हम ऊपर देख चुके हैं। शुक्लजी ने तो केवल अपने मत की पुष्टि के लिए पश्चिमी मतों का प्रयोग किया, वाजपेयीजी ने पूर्व और पश्चिम के साहित्यिक सिद्धांतों का समन्वय कर रस-सिद्धांत को एक उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

साहित्य और जीवन

श्री वाजपेयीजी के साहित्यिक सिद्धांत को समझने के लिए उनके साहित्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले विचारों की कुछ विस्तार से चर्चा करनी होगी। सर्वप्रथम तो हमें यह मान लेना होगा कि वाजपेयीजी साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। साहित्य जीवन-सापेक्ष है, जीवन से बाहर उसकी कोई सत्ता नहीं है। कलावादियों का, शुक्लजी के ही समान, उन्होंने भी विरोध किया है।

---

१ पाश्चात्य समीक्षा : सैद्धांतिक विकास, नया साहित्य : नए प्रश्न पृष्ठ ५८
२ नया साहित्य : नए प्रश्न " ५८

उनका मत है कि 'साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष्य है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रांति है, जीवन-सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धांत है।' (आ० सा०, पृष्ठ ४०७)

इस जीवन का स्वरूप क्या है ? जीवन व्यक्ति का हो सकता है, समाज का हो सकता है, किसी राष्ट्र का हो सकता है और विश्व का भी। व्यक्तिगत जीवन की भावनाओं को वे साहित्य में स्थान नहीं देते। व्यक्तिवादिता चाहे वह फिर कितनी ही बड़ी क्यों न हो—साहित्य में पनप नहीं पाती। साहित्य तो जीवन की सामान्य अनुभूतियों के अधिक समीप रहता है[१]। उसमें असाधारण या अल्प-संख्यक वर्ग की अपेक्षा लोक-सामान्य के जीवन-चित्रण की अभिरुचि हुआ करती है[२]। व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर लिखे हुए साहित्य को उन्होंने 'निरीह निर्माण' की सज्ञा दी है जो अस्थायी हुआ करता है[३]।

रस-सिद्धांत सामजिक है। उसके साधारणीकरण व्यापार में सारी व्यक्तिसत्ता, सारी विशेषताएं निःशेष हो जाती हैं। इसलिए वाजपेयीजी ने साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से नहीं माना है। साहित्य का सम्बन्ध वस्तुतः सामाजिक जीवन से है। यह समाज किस प्रकार का है ? वाजपेयीजी का मत है कि यह आज का समाज है और यह प्रगतिशील है। नए और प्रगतिशील जीवन-प्रवाह का ही वे साहित्य में स्वागत करते हैं, प्राचीन और स्थिर समाज का नहीं[४]। साहित्य में ताजगी होनी चाहिए बासीपन नही। गौरवपूर्ण अतीत के भी अनुकरण पर रचा हुआ साहित्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है, युग का अनिवार्य काव्य नहीं बन सकता। 'उत्कृष्ट साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है[५]।' प्रगतिशील साहित्य का एक सूत्र युग-तत्व बतलाया गया है। परिवर्तन के क्रम को समझना, नवीन समस्याओं के सम्पर्क में आना और नवीन ज्ञान का उपभोग करना साहित्कार के लिए आवश्यक है। 'अपनी प्रशस्त कल्पना के द्वारा जो वर्तमान हलचलों का यथार्थ स्वरूप और आगम की झलक जितनी स्पष्टता से देख सकेगा, वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होगा[६]। वे प्रगतिशीलता को समय-सापेक्ष्य वस्तु मानते हैं। अतएव बीते हुए कल की अपेक्षा आज की परिस्थितियां प्रगति की मापक होती हैं। साहित्य का इन्हीं से सम्बन्ध रहता है। साहित्य पर युग का

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ १७
२ —वही— " ३३
३ —वही— " ३२७
४ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " ७ (वि०)
५ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी पृष्ठ २१
६ आधनिक साहित्य " ३२९

अनिवार्य प्रभाव पड़ा करता है[१]। अपने युग की सीमाएं भी साहित्य में प्रतिम्बित होती हैं[२]। साहित्य के उपादान समय के साथ बदला करते हैं[३]। कवि समय की सामूहिक प्रेरणा के द्वारा संचालित होता है[४]। देश-काल की बदलती हुई परिस्थितियां कवि को प्रभावित करती हैं और इन्हीं को ग्रहण कर कवि प्रगतिशील बनता है[५]।

आज के इस समाज का कौन सा रूप उन्हें अभीष्ट है, यह बात भी यहीं पर स्पष्ट हो जानी चाहिए। वे मानते हैं कि साहित्य समाज की सर्वाधिक सजग और शक्तिशाली चेतना को प्रभावित करता है। समाज के अतिशय महत्वपूर्ण और गंभीर भाव-स्तर का ही साहित्य से सम्बन्ध रहना चाहिए। राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन के सारभूत अंश का ही साहित्य में चित्रण होना चाहिये। वे 'साहित्य के सर्वोच्च और सबसे अधिक शक्तिशाली तथा सारवान अंश का सम्बन्ध समाज के तदनुरूप मूल्यवान और शक्तिशाली अंश से देखना चाहते हैं[६]। साहित्य में सामाजिक जीवन के प्रति अनास्था, अविश्वास आदि नकारात्मक प्रवृत्तियों के लिए स्थान नहीं है। आस्थावान और संतुलित जीवन-दृष्टि वाले लेखकों के हाथों में ही वे हमारे साहित्य और सामाजिक जीवन की सुरक्षा देखते हैं[७]। साहित्य की भावनाओं पर विचार करते समय इस प्रसंग की कुछ चर्चा और की जा सकेगी।

स्पष्ट ही यहां समाज अपनी सम्पूर्णता-अपने सबल-दुर्बल, भले-बुरे के साथ स्वीकृत नहीं हुआ है। वे साहित्य में समाज के स्वस्थ एवं विकासोन्मुख रूप की ही प्रतिष्ठा चाहते है। इस प्रकार वाजपेयीजी यथार्थवादी नहीं हैं। वे आदर्शवादी आचार्य हैं, रस-युक्त निर्दोष काव्य-सृष्टि चाहते हैं।

राष्ट्रीयता

समाज से एक कदम आगे वे साहित्य का राष्ट्र-जीवन से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। हिन्दी-समीक्षा के विकास के साथ उसमें राष्ट्रीय दृष्टि का भी विकास हुआ है। हिन्दी की समीक्षा के आरम्भ में हम अंग्रेज समीक्षकों को पाते हैं। अनेक साहित्यिक तत्वों के

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ २८२, ३३७, ४०८
२ —वही— " ३८
३ —वही— " ३०४
४ —वही— " ४०६
५ —वही— " ४०८
६ आलोचना अंक २२ " ३
७ —वही— " ८

होते हुए भी उनमें ईसाइयत की साम्प्रदायिक भावना बड़ी प्रमुख थी। इस देश और उसके साहित्य के लिए यह दृष्टि न केवल अराष्ट्रीय थी वरन् राष्ट्र-विरुद्ध भी थी। हिन्दी-समीक्षा का श्रीगणेश राष्ट्र-विरोधी तत्वों के साथ हुआ है। भारतीय समीक्षकों के आगमन के साथ समीक्षा में भारतीय दृष्टि का भी समावेश हुआ परन्तु हिन्दी की समीक्षा एकदम राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित नहीं की जा सकी। भारतेन्दु और उनके सहयोगी रचनात्मक साहित्य में तो पूर्णत: राष्ट्र-प्रेमी परिलक्षित होते हैं, परन्तु विवेचना करते समय वे प्राचीन साहित्यिक मानदंडों का ही कुछ हेर-फेर के साथ, प्रयोग करते रहे। श्री पद्मसिंह शर्मा की दृष्टि कलात्मक अधिक थी और मिश्र-बंधुओं की दृष्टि आलंकारिक। निश्चय ही महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के आगमन से सामयिक उपयोगिता के आधार पर साहित्य की प्रशंसा की जाने लगी। सामयिक आदर्श साहित्य की कसौटी बनने लगे। द्विवेदीजी की यही समीक्षा-पद्धति शुक्लजी में विकसित और पुष्ट हुई है। परन्तु शुक्लजी ने रस-भूमि पर साहित्य की व्याख्या कर उसे मानवीय आदर्शों से संपुष्ट कर दिया है। शुक्लजी के निबन्धों और उनकी समीक्षाओं में उनके देश-प्रेम सम्बन्धी उद्‌गार भी यत्र-तत्र व्यक्त हुए हैं। पर द्विवेदीजी के सामयिक आदर्श की राष्ट्रीय परिणति शुक्लजी द्वारा नहीं हो पाई। शुक्लजी ने द्विवेदीजी के सामयिक आदर्शों को मानवीय आदर्शों में परिणत कर दिया है। बीच की राष्ट्रीय भूमि पर्याप्त परिपुष्ट नही हो पाई है। शुक्लजी एक कदम आगे बढ़ गये हैं।

हिन्दी-समीक्षा के इसी परिवेश में वाजपेयीजी का कृतित्व प्रगट हुआ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरांत हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय जीवन की शतविधि अभिव्यक्ति हुई। स्वतन्त्रता के पूर्व भी हिन्दी के लेखकों का एक बड़ा वर्ग सीधे राष्ट्रीय जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है और उसने भारती के भण्डार को कई अमूल्य रत्नों की भेट भी की है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरांत तो इस क्षेत्र में और भी तीव्रगति से कार्य हुआ है। इस वर्ग के साहित्यकारों में नई-नई प्रतिभाओं का आविर्भाव हुआ है। परन्तु इस विशाल साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सका। इसके कारण स्पष्ट हैं। हिन्दी का रचनात्मक साहित्य राष्ट्रीय जीवन के साथ-साथ बहुत पहले से चलने लगा है, परन्तु उसका विवेचनात्मक साहित्य आज तक इस पवित्र भूमि में प्रवेश करने से संकोच कर रहा है। यदि हमारा साहित्य राष्ट्रीय जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है, तो उसकी समीक्षा उसी राष्ट्रीय आधार पर क्यों न की जाय ? यदि हिन्दी की समीक्षा राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्टित हो गई तो उसे अनायास ही एक अभीप्सित औदात्य मिल जायगा। उसकी सारी समस्याएं यहाँ आकर मुलझ जायेंगीं। वह दिन अब दूर नहीं दिखलाई पड़ता जब हिन्दी-समीक्षा में राष्ट्रीय तत्वों का बोलबाला होगा और संकीर्ण तथा अस्वस्थ दृष्टियों की डोंगी डूब जायगी। अस्तु।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध बतलाते हुए इस बात की ओर संकेत किया गया

है कि वाजपेयीजी साहित्य का राष्ट्र-जीवन से सम्बन्ध मानते हैं। सर्वतोव्यापी सक्रिय राष्ट्रीयता का प्रभाव हमारे युग के साहित्य पर अनेक रूपों में अनेक प्रकार से पड़ा है। व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही हमारा नया साहित्य पनपा और फूला-फला है। वे मानते हैं कि इस अभूतपूर्व जाग्रति-केन्द्र से पृथक रखकर हम अपने साहित्य को परख नहीं सकते। हमारे इस युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है, समीक्षकों को यह बात समझनी होगी[१]। साहित्य तो राष्ट्रीय चेतना का दीपक होता है। उन्होंने हिन्दी के लेखकों को चेतावनी दी है कि 'यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियों को नहीं समझते तो वे किसी भी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिए जाने चाहिये। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हों[२]।' हिन्दी के साहित्य पर पश्चिमी साहित्य छापा मार रहा है। हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य का अन्धानुकरण चल रहा है। अनुकरण की इस प्रवृत्ति को वे असांस्कृतिक मानते हैं। वे तो साहित्य की स्वतंत्र चेतना और राष्ट्रीय प्रकृति की पूर्ण रक्षा के हामी हैं[३]। पश्चिम की सभी साहित्य-सम्बन्धी विचार चर्चा हमारे साहित्य के लिए उपादेय नहीं हो सकती। इसका कारण है हमारी राष्ट्रीय चेतना और संस्कृति निर्माण की अवस्था में है और पश्चिम इस समय समृद्धि पर है। हमें साहित्य में अपनी राष्ट्रीय चेतना को सुरक्षित और संवर्द्धित करना है[४]। पश्चिम की अनुकृति करने वालों में मौलिक दृष्टि-दोष है[५]। वे अपनी राष्ट्रीय सत्ता का मर्म नहीं समझते और न उन्हें राष्ट्र की वर्तमान नाड़ी गति का ज्ञान है। उनकी राष्ट्रीय भावना अविकसित और दृष्टि निर्जीव है[६]। वाजपेयीजी ने राम और कृष्ण को भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के सुपक्व फल माना है। इस तरह के भक्ति-काव्य का भी राष्ट्रीय आधारों पर मूल्यांकन करते है[७]। छायावाद को वे राष्ट्रीयता का ही परिणाम मानते हैं। राष्ट्रीय इतिहास की स्पष्ट प्रेरणाओं से ही यह उत्पन्न हुआ है[८]। राष्ट्रीय शक्ति के महान उपासक होने के नाते ही, उन्होंने प्रेमचन्दजी की अभ्यर्थना की है[९]।

---

१ आधुनिक साहित्य (भू०) पृ० २१
२ —वही— " ५०
३ —वही— " १६६-१६७
४ —वही— " ५१
५ महाकवि सूरदास प्राक्कथन १ " ५
६ —वही— " ११२
७ —वही— " १२०
८ हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) " १२-१३
९ —वही— " ६५

साहित्य-निर्माण के लिए राष्ट्रीय इतिहास, राष्ट्रीय परम्परा का अध्ययन आवश्यक है। बिना इसके शक्ति का अपव्यय होता है और राष्ट्रीयता के निर्माण में अड़चने आती हैं[१]। आज भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अनेक भाषाएं बोली जा रही हैं और उनमें साहित्य की रचना भी की जा रही है, परन्तु उसके भीतर एक मूलभूत एकता भी देखी जा सकती है। यह हमारे राष्ट्र की अखंड चेतना का ही प्रमाण है भारतीय साहित्य की एकता से राष्ट्रीय एकता को अक्षय प्रेरणा प्राप्त होती रही है[२]। प्रत्येक देश और जाति का साहित्य और उसकी संस्कृति स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। 'भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की उपज है, अतएव उस साहित्य के मानदण्ड भी यथासंभव राष्ट्रीय ही होने चाहिये[३]।' लेन-देन की किसी को मनाही नहीं है। परन्तु मौलिक सिद्धान्त राष्ट्रीय ही होने चाहिए[४]। अनुकरण हमारे लिए उपादेय नहीं होगा। साहित्य की सत्ता ध्वनि में है, प्रतिध्वनि में नहीं[५]। आज हिन्दी-साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य का दायित्व पूरा करना है। इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दी के लेखक सारे राष्ट्र की धरोहर को अपनी धरोहर समझ राष्ट्र की विकासोन्मुख गतिविधि का चित्रण करें। इसके लिए महान राष्ट्रीय चेतना — राष्ट्रीय जीवन और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था— की आवश्यकता है। साहित्य का आज यही महदुद्देश्य हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'आज की स्थिति में ये ही हमारी समीक्षा-सम्बन्धी कतिपय मान्यतायें हैं[६]।' इस प्रकार वाजपेयीजी की समीक्षा दृष्टि स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय हो गई है। उनके नवीन —' आलोचना' के संपादकीय—लेखों में यह दृष्टि प्रखर रूप से सामने आई है। वे यहां हिन्दी-साहित्य के विकास में राष्ट्रीय चेतना का दिग्दर्शन करने लगे हैं। समग्र हिन्दी साहित्य यहां राष्ट्रीय मूल्यों की कसौटी पर परखा जाने लगा है[७]। कितने ही वादों की चाहे जितनी चर्चा साहित्य के क्षेत्र में की जाय। परन्तु साहित्य-जगत सम्प्रदायों

---

१ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) पृ० २११
२ नया साहित्य : नये प्रश्न ,, १३२
३ नया साहित्य : नये प्रश्न ,, १३५
४ —वही— ,, १३३
५ आलोचना, अङ्क २३ ,, ५
६ नया साहित्य : नये प्रश्न ,, १३८-१३९
७ 'किन्तु यदि हिन्दी-साहित्य को विकास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर देखा जाय, तो छायावाद वस्तुतः हरिश्चन्द्र और द्विवेदी युग की राष्ट्रीय विकास भूमियों को अधिक गहराई, उर्वरता और प्रसार ही देता है। वह किसी भी अर्थ में साहित्य का पश्चात्-गामी या पीछे ले जाने वाला युग नहीं है।'
आलोचना—अङ्क १८ पृ० ६

की चर्चा से अनुशासित नहीं हो सकता। साहित्य की परख के लिए सांस्कृतिक और राष्ट्रीय मूल्य-मान आवश्यक हैं [१]। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त का हमारा राष्ट्रीय परिवेश साहित्य में एक नये और मूल्यवान युग की सम्भावना लेकर आया था। परन्तु इस नये परिवेश के अनुरूप विशिष्ट स्तरीय साहित्य-सृष्टि हमारे यहां कम हो रही है। हमारे लेखक और कवि राष्ट्रीय परिवेश से लगाव छोड़कर व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं और उद्‌गारों को व्यक्त कर रहे हैं [२]। उच्च कोटि के साहित्य में कुछ बातें आवश्यक होती हैं। इसमें कोई न कोई श्रेष्ठ नैतिक मान रहता है। वह मान राष्ट्रीय दायित्व से सम्पन्न रहता है तथा वह स्वीकृत राष्ट्रीय मानों का उन्मूलन करता है [३]।

स्पष्ट है कि साहित्य का राष्ट्रीय वास्तविकता से सम्बन्ध है और इसकी परख किए बिना साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। परन्तु यह राष्ट्रीयता किस प्रकार की है, इसे भी यहां पर समझ लेना आवश्यक है। क्या इसका सम्बन्ध देश की सामयिक राजनीति से है? क्या यह राष्ट्रीयता कोई संकीर्ण, स्थूल वस्तु है और क्या वह साहित्य के शाश्वत और सार्वभौम मानों का विरोध करती है? राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों का उत्तर लिए बिना राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट रूप-रेखा नहीं बन पाती।

बाजपेयीजी की राष्ट्रीय धारणा स्थूल और संकीर्ण नहीं है, वह सूक्ष्म और व्यापक है। राष्ट्रीयता से उनका आशय राजनीति से कभी नहीं रहा। राजनीति से सीधी और तात्कालिक प्रेरणा ग्रहण करने से काव्यात्मक व्यापकता में बाधा पहुँचती है। राष्ट्रीय आन्दोलन के कतिपय पहलुओं को तत्काल ज्यों का त्यों चित्रित कर देना कवि की कल्पना और भावना का अधूरा आयास है। इतनी प्रत्यक्षता साहित्य के लिए हितकर नहीं [४]। 'साहित्य कोरी राजनीति नहीं है न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वास मात्र है। साहित्य वास्तव में कवि की भाव-सत्ता के साथ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है [५]।' सनेही नेपाली जैसे कवि एवं प्रेमचन्दजी जैसे उपन्यासकार इसी सामयिक राष्ट्रीयता से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। परन्तु केवल राष्ट्रीयता की भावना देश और समाज के सांस्कृतिक जीवन के बहुमुखी पहलुओं का स्पर्श नहीं करती और एक बड़ी सीमा तक एकांगी बनी रहती है [६]। यूरोप में राष्ट्रीयता एवं प्रादेशिक भावनाओं के विस्तार के कारण साहित्य

---

१ आलोचना – अङ्क २० पृ० ७
२ –वही–अङ्क २१ ,, १, अङ्क २२, पृ० ६, अङ्क २५, पृ० ११
३ –वही–अङ्क २१ ,, ६
४ आधुनिक साहित्य (भूमिका) पृ० २३
५ –वही– ,, २३
६ –वही– ,, २७

राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटन का प्रयोग-साधन बन गया था [१]। इसलिए केवल और कोरी राजनीति से वे साहित्य को दूर रखना चाहते हैं। वहाँ साहित्य स्वयं साध्य न रहकर साधन बन जाता है, वह उपस्थानीय वस्तु बन जाता है, अपने ही साम्राज्य में वह शासित हो जाता है। साहित्य में किसी भी राजनीतिक मतवाद के लिए स्थान नहीं है, चाहे वह कितना ही बड़ा और महत्वपूर्ण क्यों न हो। एक ओर तो उन्होंने गान्धी–दर्शन और नीति [२] तथा दूसरी ओर पुनरुत्थानवादी श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की उग्र-राष्ट्रीयता [३] का साहित्य के क्षेत्र में विरोध किया है। मार्क्स के मत पर तो शताधिक स्थलों पर टीका-टिप्पणी की गई है। क्योंकि वह एक सामाजिक मतवाद के घेरे में साहित्य को बांधना चाहता है।

साहित्य का सम्बन्ध स्थूल और परतन्त्र राष्ट्रीयता से नहीं है। तो क्या साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु है? आज कल कुछ क्षेत्रों में यह चर्चा की जाने लगी है कि साहित्य अधिक व्यापक भूमि की वस्तु है। उसका सम्बन्ध किसी एक देश की नीति से न होकर समस्त विश्व से है। उसमें ऐसी ही बातों का चित्रण किया जाना चाहिये जिनका सम्बन्ध समस्त राष्ट्र-मण्डल से हो। साहित्य के क्षेत्र में इन अन्तर्राष्ट्रीयता का भी वाजपेयीजी ने समर्थन नहीं किया। उनका मत है कि साहित्य पहले राष्ट्रीय वस्तु है, फिर वह अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। साहित्य में सार्वभौमता का गुण है, पर वह राष्ट्रीय माध्यम से ही उपलब्ध किया जा सकता है। राष्ट्रीय विशेषता से साहित्य को व्यक्तित्व मिलता है और उसी राष्ट्रीय स्वरूप के माध्यम से अभिव्यक्त हमारी कला सार्वभौम बनती है। विशिष्ट व्यक्तित्व के बिना सार्वभौमता तो नहीं ही मिलेगी, उल्टे साहित्य के राष्ट्रीय और कलात्मक मूल्य भी नष्ट हो जावेंगे। साहित्य बह 'विश्व-नागरिक' बन जायगा जिसे कोई भी देश रखने के लिये तैयार नहीं [४]।

अन्तर्राष्ट्रीयता की एक सीमित धारणा भी आजकल प्रचलित है। पश्चिमी यूरोप ही यदि अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रतीक है, तो यह एक सीमित धारणा होगी। आज संसार में दो प्रधान सांस्कृतिक धारायें बह रही हैं। एक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका की धारा है और दूसरी एशिया, अफ्रीका और अन्य पूर्वी देशों की। शिल्प के क्षेत्र में यूरोप अभी भी आकर्षण का कारण बन सकता है, पर विश्व-इतिहास की सप्राणता के प्रश्न पर हमें पूर्व पर ही दृष्टि रखनी होगी। यहां हमें उपर्युक्त सीमित अन्तर्राष्ट्रीयता से बचना होगा [५]।

---

१ आधुनिक साहित्य (भूमिका) पृ० ४२१
२ —वही— ,, ३१
३ नया साहित्य : नये प्रश्न ,, १६९
४ आलोचना, अङ्क २३ ,, ५
५ —वही— ,, २५ ,, ९

एक ओर तो राष्ट्र की सामयिक गति-विधि को साहित्य के लिए अनुपयुक्त बतलाया गया है और दूसरी ओर यह बतलाया गया है कि राष्ट्रीय विशेषता से साहित्य को व्यक्तित्व मिलता है। बिना इस व्यक्तित्व के साहित्य सार्वभौम वस्तु नहीं बनता। साहित्य राष्ट्रीय पहले है और फिर अन्तर्राष्ट्रीय है। हमें देखना यह है कि ये मंतव्य परस्पर विरोधी तो नहीं हैं। राष्ट्रीयता से उनका आशय क्या है? सोहनलालजी द्विवेदी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है--'यहाँ राष्ट्रीयता से मेरा आशय किसी राजनीतिक मत या सिद्धान्त विशेष से नहीं है। यहां राष्ट्रीयता ये मेरा मतलब स्वदेश-प्रेम की व्यापक भावना से है [१]।' उनके लिए स्वदेश-प्रेम या राष्ट्र-प्रेम मानव-प्रेम का ही दूसरा नाम है [२]।' राष्ट्रीयता की भावना को वे मानवता की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं जहां संकीर्णता और सामयिकता आदि के बन्धन भस्मसात हो जाते हैं और एक उच्चतर अनुभूति शेष रह जाती है। वाजपेयीजी की समीक्षाओं में राष्ट्रीयता का अनुग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है, परन्तु राष्ट्रीयता का यह उदार आशय उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। जहां उन्होंने सामयिक राष्ट्रीयता के आग्रह की चर्चा की है 'वहां उनका अभिप्राय खोखली अन्तर्राष्ट्रीयता के विरोध का रहा है अथवा पश्चिमी प्रभावों को रोकने का। जहां वे सामयिक या तात्कालिक राष्ट्रीय प्रेरणाओं का साहित्य में विरोध करते हैं वहाँ उनका अभिप्राय उनकी स्थूलता के विरोध का है। ऊपर कहा जा चुका है कि उनकी राष्ट्रीयता सूक्ष्म और व्यापक है, स्थूल और संकीर्ण नहीं।

उनकी राष्ट्रीय दृष्टि कतिपय उदाहरणों से भली भाँति स्पष्ट हुई है। श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जयशंकर प्रसाद एवं श्री निराला के राष्ट्र-गीतों की तुलना करते हुए बतलाया गया है कि गुप्तजी के गीत में देश की स्थूल चौहद्दी और उसकी विशेषताओं का आग्रह है, प्रसाद के गीत को कोई भी देश-प्रेमी अपने देश के लिये गा सकता है और निराला का गीत तो स्थूल देश-प्रेम से अत्यन्त दूर एवं मानव ऐक्य का निर्देशक है [३]। प्रसाद और निराला की राष्ट्रीयताओं के ही वे प्रशंसक रहे हैं। गुप्तजी की 'भारत-भारती' एवं 'जयद्रथ-वध' इन दो रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष 'जयद्रथ-वध' में ही बतलाया गया है। क्योंकि इसमें कवि की उज्ज्वल अभेदकारी ज्योति के साथ वीर-पूजा की निर्विकल्प भावना भी मिल गई है। 'भारत-भारती' की प्रेरणा साम्प्रदायिक और सामयिक अधिक है [४]। साहित्य के उपवन में, प्रकाश की किरणें कहीं से भी आती रहें, परन्तु उसके वृक्ष, फूल-फल उसी की भूमि के होंगे। उन वृक्षों की जड़ें उसी भूमि में

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ६७
२ नया साहित्य : नये प्रश्न " २२१
३ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) " १५
४ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " ३५-३६

होंगी, चाहे उनका विस्तार कहीं भी हो। साहित्य-वट देश की भूमि में उत्पन्न होकर विश्व के आकाश में कितना ही फैल सकता है।

इस राष्ट्रीय भूमि से भी आगे बढ़ कर वे साहित्य को देशकाल की सीमाओं से परे पहुँचा देते हैं। वे साहित्य और जीवन का सम्बन्ध इसी व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं तथा देश-काल की सुविधाओं के मोह को त्याज्य बतलाते हैं। साहित्य की इयत्ता समस्त सौर-मण्डल—समस्त संसार तक है [१]। महान कलाकार देश-काल की सीमा भङ्ग करने में ही सुख मानते हैं। वे तो सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्व है जितना वह विराट, सर्वकालीन जीवन-कल्पना में सहायक बन सकता है [२]। सामयिक उपयोगिता और आवश्यकता के आधार पर साहित्य की परख करने वाले स्थूल दृष्टि लेकर चलते हैं [३]। साहित्य का मानव-जीवन की चिरंतन भावनाओं से सम्बन्ध है वह शाश्वत और सार्वभौम वस्तु है [४]। यह शाश्वत और सार्वभौम भूमि मानवीय है। साहित्य की सच्ची नींव यही है। इसी स्तर पर उसकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिये [५]। साहित्य अपने नैसर्गिक आह्वान से अनन्त युगों को चकित विस्मित किया करता है [६]।

साहित्य में यह चिरंतन तत्व कहां से आता है? इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। साहित्य अपनी कलात्मकता के कारण सब समयों में समान रूप से उपयोगी रहता है और दूसरी बात यह, जिसका समावेश पहली के अन्तर्गत भी किया जा सकता है, कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य की शाश्वत भाव-सत्ता से है [७]। वह मनुष्य की प्रकृत अनुभूतियों से संबद्ध होने के कारण सार्वजनीन एवं शाश्वत है [८]। साहित्य जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों का जीता-जागता चित्र, सामाजिक इतिहास का स्मारक तथा समाज की श्रेष्ठतम संस्कृति का द्योतक है। समाज और इतिहास के बदल जाने पर भी स्मारक नहीं बदला करता [९]।

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ४००
२ —वही— " ४०३
३ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " ११ (विज्ञप्ति)
४ नया साहित्य : नये प्रश्न " ३
५ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " १२८
६ आधुनिक साहित्य (भूमिका) " ३२
७ नया साहित्य : नये प्रश्न " ५
८ आधुनिक साहित्य " ४०८
९ —वही— " ४०६

साहित्य समाज की प्रगतिशीलता, राष्ट्रीय चेतना या युग-प्रेरणाओं का प्रतिनिधि होकर जीवन के चिरन्तन तत्त्वों से किस प्रकार सम्बद्ध है ? वह सामयिक प्रभावों से युक्त होकर भी शाश्वत किस प्रकार हो सकता है ? बाजपेयीजी का मत है कि सर्वकालीन जीवन-कल्पना में जहां तक सामयिक जीवन सहायता पहुंचाता है, वहाँ तक वह साहित्यकार के लिए उपयोगी है। सामयिक सामाजिक जीवन में दो प्रकार के आदर्श देखे जा सकते हैं। कुछ आदर्श स्थायी कोटि के होते हैं। इनके संबंध में हमारे मन में कभी शंका नहीं होती। समाज के कुछ श्रेष्ठ आदर्श परिवर्तनशील हुआ करते हैं। ये नए सामाजिक परिवेशों में नया रूप-रङ्ग ग्रहण करते हैं। साहित्यकार का झुकाव समाज के स्थायी आदर्शों की ओर होता है [१]। समाज के स्थायी आदर्श उसका अक्षर तत्त्व है, परिवर्तनशील आदर्श क्षर तत्त्व। इन्हीं को युग के संवादी एवं विवादी स्वर कहा गया है [२]। साहित्य युग के क्षर तत्त्व को छोड़ देता है और अक्षर तत्त्व का संग्रह कर लेता है। इस प्रकार साहित्य युग विशेष के सर्वश्रेष्ठ सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधि होता है और उस जीवन के दर्पण में मानवता अनन्त युगों तक अपना प्रतिबिम्ब देखा करती है। युग-जीवन के क्षर और अक्षर के तत्त्व की पहचान साहित्कार के लिए आवश्यक बतलाई गई है। "प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का रूप देना उसका (कवि का) कार्य है आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है, किन्तु, हृदय के चिरन्तन सौन्दर्य-तारों को स्पर्श करने वाला कवि कभी पिछड़ता नहीं[३]।" युग के चिरन्तन सौन्दर्य-तारों का स्पर्श करने के कारण साहित्य का युग से भी सम्बन्ध रहता है और युग-युगों से भी। लोकोत्तर रस की लोकांतर्गत लुप्त पृष्ठभूमि यहाँ भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। बाजपेयीजी ने रस की एक प्रगतिशील स्थायी सामाजिक आदर्श पर प्रतिष्ठा की है और उसके सामाजिक एवं शाश्वत उपकरणों को स्पष्ट किया है।

साहित्य से जीवन का सम्बन्ध किस प्रकार का है ? साहित्य से जीवन का सम्बन्ध सीधा नहीं, कुछ अप्रत्यक्ष रूप में है। साहित्य और जीवन के बीच एक सीधी रेखा नहीं खींची जा सकती। जीवन अथवा समाज, साहित्यकार और साहित्य ये तीनों मिलकर एक त्रिकोण का निर्माण करते हैं। समाज साहित्यकार को प्रभावित करता है और साहित्यकार उन प्रभावों को साहित्य में अभिव्यक्त करता है। इसी रूप में वे साहित्य और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध मानते हैं। उन्होंने एक उदाहरण दिया है कि साहित्यिक दृष्टि से सैनिक शब्द का स्वतः कोई महत्व नहीं। साहित्य में तो सैनिक शब्द का भावार्थ, सैनिक

---

१ आलोचना अङ्क २२ पृष्ठ ३
२ आधुनिक साहित्य " ३४८
३ —वही— " ४०८-४०९

की आत्मा का प्रकाश ही स्तुति का विषय बन सकता है [१]। साहित्य--जीवन की नहीं, जीवन के कवि–अनुभवों की, कवि की आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है। कवि का सबसे पहला उत्तरदायित्व अपनी अनुभूतियों के ही प्रति बतलाया गया है [२]। ऊपर हम देख चुके हैं कि साहित्य की स्वतन्त्र परन्तु जीवन–सापेक्ष्य सत्ता स्वीकार की गई है [३]। इसका यही आशय है कि कवि पर व्यक्तिगत और सामाजिक संस्कार पड़ते हैं, परन्तु कविता इन संस्कारों का संग्रह ही नहीं है। कविता समय और समाज में आबद्ध कवि की स्वतन्त्र जीवन-कल्पना, उसकी असाधारण अनुभूति है [४]।

श्री वाजपेयीजी की समीक्षाओं में रसवाद और स्वच्छन्दतावाद का समन्वय हुआ है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के अनुसार आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य है। यही मत क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जीवन–निरपेक्ष रूप ले लेता है। परन्तु बाजपेयीजी ने उसकी जीवन–सापेक्ष्य सत्ता को मान्यता दी है। स्वच्छन्दतावादी दृष्टि अपनाते हुए भी वे उसके अतिरेक तक नहीं गए हैं। काव्य के दृढ़ सामाजिक आधार का भी वे आकलन करते हैं। दूसरी ओर, यथार्थवादियों के समान प्रत्यक्ष पर स्थूल जीवन भी काव्य का विषय नहीं बतलाया गया। वे जीवन और साहित्य का सूक्ष्म सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इससे रस--परम्परा के अनुकूल, काव्य की मूल भावात्मक प्रकृति की भी रक्षा हुई है।

ऊपर जीवन और साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध की चर्चा की गई है। परन्तु दोनों में अन्तर भी है। साहित्य में जीवन-धारा की प्राणदायिनी और रमणीय बूँदे ही रहती हैं। जीवन के अनन्त आकाश में साहित्य के नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं। जीवन नियमित अनियमित दोनों प्रकार का हो सकता है, साहित्य के कुछ निश्चित नियम होते हैं। साहित्य में वर्तमान जीवन के साथ ही भूत और भविष्य की झलक भी रहा करती है। साहित्य सार्व-भौमिक और सार्वकालिक वस्तु है। "साहित्य की अतिशयोक्तियां भी इन्द्रधनुष सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक और रूखे अस्तित्त्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनायें जो अनन्त जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है, तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा–उत्कण्ठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है, तभी तो उसका नाम साहित्य है, तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्ग-द्रष्टा भी रहता आया है [५]।"

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ४०२
२ —वही— " २३
३ —वही— " ४०७
४ —वही— " ४०६
५ —वही— " ४०४

आशा है कि साहित्य और जीवन का सम्बन्ध बतलाने वाली उनकी मान्यताएँ एक अन्वित रूप में आ गई हैं। वे साहित्य का व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध नहीं मानते। साहित्य सामाजिक वस्तु है। परन्तु उसमें समाज की सजग और शक्तिशाली स्वस्थ चेतना ही व्यक्त होनी चाहिए। इतना ही नहीं, वे साहित्य को राष्ट्र-जीवन का प्रतिबिंब मानते हैं। साहित्य जहां एक ओर युग-सत्य से सम्बद्ध है, वहीं उसका दूसरा छोर शाश्वत सत्य के समीप होता है, उतना ही वह महान भी बन जाता है। इस प्रकार साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु साहित्य जीवन का प्रतिबिंब ही नहीं है वह उससे बहुत कुछ अधिक भी है। वह जीवन की संचित रमणीयता है और है उसका आलोक। वह जीवन की अनन्त कामनाओं का कोष है और जीवन का नियामक और मार्ग-द्रष्टा है। साहित्य और जीवन में यह अन्तर भी है।

कतिपय विद्वानों ने बाजपेयीजी के निबन्धों में अन्तर्विरोध देखे हैं [१]। उन्हें साहित्य और जीवन सम्बन्धी उनकी धारणाओं में भी ऐसा ही अन्तर्विरोध मिल सकता है। परन्तु हमने देखा है कि उनकी साहित्य और जीवन के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली धारणाओं में एक क्रम-विकास है। वे साहित्य का उत्तरोत्तर व्यापक जीवन से सम्बन्ध जोड़ते गए हैं और अन्त में सारी जीवन-सत्ता से भी आगे वे साहित्य को जीवन का नियामक और मार्ग-द्रष्टा भी बतलाते हैं। बाजपेयीजी के विचार उनके अनेक निबन्धों में बिखरे हुए मिलते हैं। वे धारावाहिक रूप से कम ही लिख सके हैं। इसलिए एकाध निबन्ध के आधार पर ही उनके उस विषय से संबंधित समस्त विचारों को जान लेना कठिन है। उनके मत से परिचित होने के लिए सुधीर अध्यवसाय की आवश्यकता है।

तत्त्व

अनुभूति

आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता, अध्ययन और अभ्यास काव्य के हेतु बतलाए हैं [२]। संस्कृत के आचार्यों में इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। कतिपय आचार्य प्रतिभा (शक्ति) को ही काव्य का हेतु मानते हैं [३] और कुछ दूसरे आचार्य अभ्यास और व्युत्पत्ति को भी महत्व देते हैं। कभी अभ्यास और व्युत्पत्ति को हेतु कहा गया है, कभी प्रतिभा-

---

१ समीक्षा की समीक्षा पृ० २३६

२ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ —काव्यप्रकाश (प्र०प० सूत्र ३)

३ काव्यं तु जायते जातु कस्यचित प्रतिभानतः। —काव्यालङ्कार

संस्कारक और कभी उन्हें प्रतिभा के भेदों में गिना दिया गया है। काव्य में प्रतिभा की प्रधानता सभी ने स्वीकार की है चाहे वे रसवादी हों या अलङ्कारवादी अथवा समन्वयवादी। संस्कृत के रसवादी आचार्य काव्य के आन्तरिक पक्ष–प्रतिभा को महत्व दें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु भामह और दण्डी [१] जैसे अलङ्कारवादी भी यदि प्रतिभा को ही काव्य--कारण निरूपित करें तो आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। एक प्रकार से संकृत का समग्र साहित्य–शास्त्र प्रतिभा के महत्व को एक स्वर से स्वीकार करता है। प्रतिभा काव्य का आन्तरिक तत्त्व है और बहुत कुछ अंशों में नैसर्गिक है। भारतीय और यूरोपीय आचार्यों में प्रतिभा के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मत–वैभिन्य है। यूरोपीय आचार्यों में कुछ प्रतिभा को एकदम अंतर्मुखी तत्त्व घोषित करते हैं और कुछ आचार्य उसे बाह्य तत्त्वों से भी सम्बद्ध कर देते हैं। प्रतिभा के अंतर्गत भावातिरेक, अनुभूति की तीव्रता, अंतर्दृष्टि जैसे तत्त्वों का समावेश किया गया है [२]।

श्री वाजपेयीजी 'आत्मानुभूति' को साहित्य-हेतु मानते हैं। आत्मानुभूति शब्द से दार्शनिक ऊहापोह की सम्भावना है, इसलिए अनुभूति शब्द ही उपयुक्त माना गया है [३]। अनुभूति–रहित काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। वे रस और ध्वनि सिद्धान्तों के मूल में अनुभूति के महत्व को स्वीकार करते हैं [४]।

अनुभूति के स्वरूप पर विचार करते समय क्रोचे के मत का उल्लेख किया गया है। क्रोचे के अनुसार अनुभूति वही है जो काव्य और कलाओं में अभिव्यक्ति हो सकती है। अभिव्यक्ति क्षमता के बिना वह अनुभूति नहीं कही जा सकती कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र होगी। क्रोचे के अनुसार अनुभूति ही अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। इन तीनों में पूर्ण तादात्मय है। समस्त रचनाकारों में एक ही अखण्ड अनुभूति रहती है और वह समरूप और समरस है। इससे काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध होती है [५]।

बाजपेयीजी ने भी अनुभूति को अखण्ड सत्ता माना है। काव्य के आत्माभिव्यंजक (Subjective) एवं वस्तुगत (Objective) वर्गीकरण को उन्होंने भ्रामक कहा है, क्योंकि अनुभूति दोनों प्रकार के काव्य में अनिवार्य है, वह काव्य–मात्र की विशेषता है। सब साहित्य–प्रकारों में अनुभूति की अजस्र एकरूपता मिलती है। काव्यत्व की भूमि पर सब समान हैं [६]।

---

१ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाऽभियोगो स्याः कारणं काव्य संपदः ॥—काव्यादर्श (प्र० प०–सूत्र १०३)

२ समीक्षा–दर्शन (भाग २) पृष्ठ २१

३ आधुनिक साहित्य " ४१२

४ —वही— " ४१४

५ —वही— " ४१५

६ —वही— " ४१६

अनुभूति के स्वरूप-विवेचन में वाजपेयीजी क्रोचे से प्रभावित हैं। परन्तु क्रोचे अनुभूति को ही अभिव्यक्ति मानता है। उसके लिए अनुभूति की वाह्य अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं हैं। परन्तु वाजपेयीजी अनुभूति की वाह्य अभिव्यक्ति भी आवश्यक मानते हैं। यहां वे क्रोचे से भिन्न मत व्यक्त करते हैं। उन्होंने लिखा है 'केवल अनुभूति काव्य का कोई उपादान नहीं। अनुभूति चाहे जितनी हो काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य—निर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचना—कौशल नहीं है, अनुभूतिपूर्ण रचना—कौशल है [१]। यहां वाजपेयीजी पश्चिमी अभिव्यंजनावादियों की अपेक्षा सौन्दर्यवादियों के अधिक समीप हैं जो अनुभूति के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति को भी महत्व देते हैं। अभिव्यक्ति की आवश्यकता बतलाते हुए उन्होंने लिखा है — अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति—मात्रा और कीमतीपन में अंतर हुआ करता है, और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने की सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है, इसलिए काव्य-विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है।'

—आधुनिक साहित्य—पृ० ४०८

अनुभूति की अभिव्यक्ति आवश्यक है और अभिव्यक्ति का माध्यम कोई भी हो सकता है। वह कलाकार की रुचि और समार्थ्य पर अवलंबित है। पर एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक होगी। शब्द के स्थान पर शब्द और छन्द के स्थान पर छन्द नहीं रखा जा सकता। [२] इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति में अंतरंग अनन्यता निर्विवाद है। [३] आदर्श अभिव्यक्ति का संकेत हमें प्लेटो के विवेचन में भी मिलता है।

काव्य—प्रेरक अनुभूति या भावना का कल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल्पना और अनुभूति में कार्य—कारण सम्बन्ध माना गया है। अनुभूति प्रेरक तत्व है और कल्पना उसका क्रियाशील स्वरूप। परंतु तत्वतः दोनों में एकरूपता भी है। कला—दर्शन में कल्पना काव्य-सृष्टि की संपूर्ण साद्यंत प्रक्रिया की द्योतक मानी गई है। कल्पना की मूल अनुभूति है और परिणति है अभिव्यंजना (रूपात्मक अभिव्यंजना)। इस प्रकार कल्पना अनुभूति से अभिव्यंजना तक विस्तृत है। [४] इसी अधार पर क्रोचे ने अनुभूति और कल्पना स्वयंप्रकाशज्ञान एवं अभिव्यंजना में अभेद स्थापित किया है। [५]

---

१ जयशंकर प्रसाद पृ० ४२
२ आधुनिक साहित्य ,, ४१७
३ —वही ,, ४१८
४ नया साहित्य ,, १४६
५ —वही— ,, १४७

अनुभूति क्या है उसकी परिभाषा क्या है ? 'वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगों और मानस-छवियों का नियमन और एकान्वय करती है अनुभूति कहलाती है । अतएव अनुभूति काव्य का निर्णायक और केन्द्रीय तत्व है जिसका क्षरण और विन्यास काव्य-कल्पना तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूपों में होता है। इस भावात्मक अनुभूति में मानव-व्यक्तित्व और मानवता के ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं जिनसे काव्य में मूल्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती हैं' [१] ।

अनुभूति में तीन उपकरण या तत्वों का सन्निवेश है अनुभव का विषय, विषयी या अनुभव करनेवाली आत्मा एवं विषय तथा विषयी के संघात से उत्पन्न अनुभव या संवेदना । अनुभूति में इन तत्वों का संयोग है, इसलिए उसके स्वरूप और वैशिष्ट्य में असंख्य भेद स्वभाविक हैं । परन्तु काव्यात्मक अनुभूति अत्यन्त उच्चस्तर का अनुभव होने के कारण समरस और समरूप हुआ करती है [२] । 'उसमें देश और काल के अनुसार गतिशीलता का तत्व भी होता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुरूप उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्राएं रहती हैं' [३] ।

यह अनुभूति इन्द्रियता पर आधारित नहीं है । कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करनेवाली आत्म-प्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर उस कल्पना-व्यापार का संचालन करती है जिससे काव्य बनता है । यह अनुभूति नित्य और शाश्वत भी है । यह अनुभूति वैयक्तिक नहीं, सामाजिक कोटि की होती है । यह अनुभूति समष्टि की भाव-चेतना के जितनी अधिक निकट होगी उतनी ही वह स्थिर और मूल्यवान होगी [४] ।

श्री वाजपेयीजी के अनुभूति विवेचन से स्पष्ट है कि वे अनुभूति को ही काव्य-कारण मानते हैं । इसके बिना काव्य की सत्ता ही सम्भव नहीं है । यह अनुभूति एक आदर्श अभिव्यक्ति में प्रकट भी होती है । वह एक अखण्ड व्यापार है, नित्य और शाश्वत है, समरूप और समरस है । अपने निर्माता उपकरणों के कारण उसके भेद भी सम्भव हैं । काव्य के कल्पना-व्यापार की वह प्रेरक है और एक अर्थ में उससे अभिन्न भी । देश और काल की विशेषताओं के कारण उसमें गतिशीलता का तत्व भी है ।

साहित्य और जीवन के सम्बन्ध के प्रसंग में हमने देखा है कि साहित्य का सम्बन्ध शाश्वत जीवन से भी है और युगीन जीवन से भी । उसमें कुछ स्थिर तत्व भी हैं और कुछ गतिशील तत्व भी। इसी धारणा के अनुरूप वे अनुभूति का स्वरूप भी निरूपित करते हैं । अनुभूति या भाव-तत्व को काव्य का प्रेरक अथवा निर्णायक बतला कर वे रस-सिद्धान्त का ही महत्व प्रतिपादित करते हैं । रसवादियों ने भावों की संख्या अत्यन्त सीमित

---

१ नया साहित्य: नये प्रश्न पृ० १४७
२ —वही— ,, १४७
३ आधुनिक साहित्य ,, ४१६
४ आलोचना (अंक १६) ,, ७

कर दी थी, परन्तु वाजपेयीजी ने अनुभूति-सत्ता की असीमता स्वीकार की है। इस विवेचन में भारतीय प्राचीन शब्दावली के स्थान पर नवीन शब्दावली का प्रयोग किया गया है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा अथवा शक्ति को काव्य का हेतु कहा था, वाजपेयीजी ने उन शब्दों के स्थान पर 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग किया है और उसका सम्बन्ध परिचय के कल्पना-व्यापार से जोड़ कर भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्रों को समन्वित कर दिया है। यह अनुभूति तत्वत: प्रतिभा आदि से भिन्न नहीं है, उनका ही नवीन रूप है। अवश्य ही उसका निरूपण नवीन मनोविज्ञान की भूमि पर हुआ है तथा उसके शाश्वत एवं गतिशील दोनों रूपों की प्रतिष्ठा हुई है। भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट व्युत्पत्ति और अभ्यास जैसे बाह्य तत्वों को यहाँ काव्य-हेतुओं में स्थान नहीं दिया गया। अनुभूति की व्याप्ति में ही ये सब समाविष्ट हो गये हैं। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। हिन्दी का यह नवीन साहित्य-शास्त्र साहित्य का सम्बन्ध जीवन के अन्तरङ्ग तत्वों से ही स्थापित करता है। साहित्य में बाह्य तत्वों की आवश्यकता के प्रति वह सजग अवश्य है, परन्तु एक उपेक्षा भरी दृष्टि से अधिक महत्व इन्हें नहीं मिल सका है।

तत्व

कल्पना

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के प्रभाव से कल्पना नामक एक नये तत्व का हिन्दी की समीक्षाओं में प्रवेश हुआ है। आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में ही कल्पना-तत्व दिखलाई पड़ने लगा था। शुक्लजी ने भी कल्पना और अनुभूति के घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर इंगित किया था तथा भावना और कल्पना का अभेद स्थापित कर [१] उसके मन:शास्त्रीय मूर्ति-चक्र का उल्लेख भी किया था [२]। कल्पना के इसी स्वरूप को वाजपेयीजी ने और भी स्पष्ट किया है।

साहित्य में मानव-जीवन की अभिव्यक्ति होती है और वह अभिव्यक्ति कल्पना-प्रकार के द्वारा की जाती है। कल्पना के माध्यम को छोड़ कर किसी अन्य माध्यम से मानव-जीवन की साहित्य में अभिव्यक्ति नहीं की जाती। इस प्रकार कल्पना ही काव्य या साहित्य का नियामक तत्व सिद्ध होता है। कल्पना का स्वरूप रूपात्मक है और रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अत: साहित्य भावाश्रित 'रूप' ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य में कोई दूसरी वस्तु-सत्ता नहीं रह सकती। साहित्य में वस्तु-पक्ष और

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृ १६१
२ ,, (भाग २) ,, ८८

रूप-पक्ष एक दूसरे से अनुस्यूत हैं, अलग-अलग नहीं [१]। अपने व्यापक अर्थ में 'रूप' या 'भावाश्रित' रूप एक मनोवैज्ञानिक पदार्थ हैं जिसके विविध उन्मेष 'स्वप्न' 'दिवा-स्वप्न', 'बाल-कल्पना' तथा साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में देखे जाते हैं [२]।' कल्पना व्यक्ति करता है परन्तु 'रूप' बहुजन-संवेद्य होता है। इसीलिए इस रूप में अङ्ग-संगति, अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। यह सारी सामग्री शब्दों का परिधान धारण कर उपस्थित होती है, अतएव शब्द-रहित रूप की अपेक्षा शाब्दिक रूप अपनी अलग विशेषता रखता है [३]।

अनुभूति और कल्पना का सम्बन्ध अनुभूति के प्रसंग में बतलाया जा चुका है। बाजपेयीजी ने लिखा है — 'मोटे तौर पर कल्पना और अनुभूति का काव्य में कार्य-कारण सम्बन्ध माना जाता है। अनुभूति या भावना काव्य का प्रेरक तत्व है, उसकी मूलभूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील स्वरूप है। कल्पना और अनुभूति में यह व्यावहारिक भेद स्वीकार किया जाता है, परन्तु तत्वत: दोनों की एकरूपता भी सिद्ध की जाती है। कला-दर्शन में कल्पना शब्द उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का द्योतक है जो काव्यसृष्टि में आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। इस प्रक्रिया में गतिमान तत्व अनुभूति है और इस प्रकार कल्पना अनुभूति से अभिव्यंजना तक विस्तृत है [४]। कल्पना अनुभूति का क्रियमाण रूप है, इसलिये उसमें वे सारी विशेषतायें रहती हैं जो अनुभूति में पाई जाती हैं। अस्पष्ट और हल्की अनुभुति से अस्पष्ट और विशृंखल कल्पना उत्पन्न होती है। कभी-कभी काव्य में कल्पना—व्यापार भावना से अनुशासित न होकर स्वतन्त्र रूप से मानस-बिम्बों और मानस-छवियों का आकलन करने लगता है। ऐसी रचनाओं में कल्पना का अतिरेक हो जाता है और वे काव्य-दृष्टि से असंतुलित हो जाती है [५]। पश्चिमी आचार्यों ने कल्पना को सर्वत: स्वतन्त्र और काव्य की निर्मात्री कहा है। अतएव पश्चिमी विवेचन में कल्पना की अवास्तविक एवं अबाध उड़ान के लिये जगह छूट गई है [६]। भारतीय आचार्यों ने कल्पना के दो रूप माने हैं—काव्य कल्पना और काव्य-बाह्य कल्पना। भाव को हृदय-ग्राही बनाने वाली कल्पना ही कवि-कल्पना मानी गई है, भाव-विरहित कल्पना कवि-कल्पना नहीं है [७]। कल्पना भावानुचरी होनी चाहिये, वह सुशीला स्त्री के समान

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न (निष्कर्ष) पृ० ३
२ —वही— " ३
३ —वही— " ३-४
४ नया साहित्य : नये प्रश्न " १४६-१४७
५ —वही— " १४७
६ आधुनिक साहित्य " ७२
७ —वही— " ७२

काव्य-पुरुष की अनुगामिनी हो [१]। क्लिष्ट और ऊँची कल्पनाएं प्रशंसनीय नहीं हो सकतीं [२]। कल्पना इतनी क्लिष्ट नहीं होनी चाहिए कि उससे ईप्सित सौन्दर्य की झांकी न मिल सके। कल्पना सीधी और चोट करने वाली हो। उसका प्रत्यक्ष रूप सहज ही आंखों के सामने आता हो, इसके साथ ही वह हमारे सौन्दर्य-संस्कारों के प्रतिकूल भी न हो [३]। कल्पना एकतान, प्रसारित और अटूट शृंखला के रूप में तथा उदात्त हो [४]। कल्पना से लाभ यह है कि उसके प्रकर्ष में कवि का जड़ व्यक्तित्व छूट जाता है वह स्वछंद होकर व्यापक और निर्लेप हो जाती है। परन्तु कल्पना के अतिरेक से कविता जीवन से असंपृक्त और ऐकांतिक बन जाती है [५]। कल्पना शैली और विषय दोनों में हो सकती है। जहाँ एक ओर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि शैली के उपकरणों द्वारा वह काव्य में रमणीयता का विस्तार करती है, वहीं दूसरी ओर वह अनुभूति के क्षेत्र में, प्रेम और रहस्य के लोक मे अबाध विचरण भी करवाती है[६]।

भाषा

भाषा साधन है, साध्य नहीं। कवि की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक भाषा उपयुक्त हो सकती है[७]। भाषाएं अपने आप में निर्दोष होती हैं और वे सांस्कृतिक विनिमय का साधन भी बन सकती है, परन्तु उनका प्रयोग सहज विधि से किया जाना चाहिए। भाषाएं अपनी विपरीत या वक्रगति से संस्कृतियों एवं राष्ट्रीय समूहों का विघटन या व्यपघात भी कर सकती है[८]। राष्ट्र-भाषा जन-भाषा है, सम्पूर्ण जन समूह को सुलभ रहती हैं तथा उस जन-समूह की सारी जीवन-विधि तथा उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं को प्रतिफलित करती है। वह किसी एक व्यक्ति या संस्था के मान की नहीं होती[९]। कवि के लिए भाषा का ज्ञान उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है। क्योंकि प्रत्येक भाषा का एक जीवन उसकी आत्मा, गति-प्रगति, स्वतंत्र व्यक्तित्व और वातावरण होता है। भाषा की

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी पृष्ठ १४६
२ --वही- " १४७
३ —वही— " १७०
४ —वही— " १७४
५ —वही— " १५२
६ —वही— " १५२
७ —वही— " २३
८ नया साहित्य : नये प्रश्न " २०६
९ —वही— " २०८

अपनी शक्ति, अपने इच्छा और संस्कार होते हैं। समय के साथ उसमें भी परिवर्तन होते हैं। वह हमारे भाव और विचारों का वाहन मात्र नहीं है ठोक-पीटकर सब समय उसे इच्छानुरूप नहीं बनाया जा सकता[1]। उसका सौन्दर्य चलित है, स्थिर नहीं[2]। भाषा-शैली परिस्थिति की उपज होती है, परिस्थिति के अनुरूप उसमें परिवर्तन होते हैं[3]। भाषा की सफलता अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने में है। इसके लिए भाषा शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुन्दर होनी चाहिए। भाषा की शुद्धि व्याकरण का विषय है, सामयिकता से आशय उसकी स्वाभाविकता और प्रसंगानुकूलता से है; सार्थक शब्द प्रतिभा के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं और 'पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो, जिसके ध्वनन मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृत अभिन्न अंग बनकर वहीं निवास करने लगे[4]।' नाटक की भाषा का विषय, वातावरण, पात्र और प्रभाव से समीकरण आवश्यक है। उसमें विविधता हो, पर विशृंखलता न हो, सजीवता हो पर अतिशय अलंकृति न हो। परम्परा-प्राप्त भाषा की अपेक्षा नए प्रयोगों से युक्त, नवार्थ संकेतिनी भाषा सजीव व सप्राण होती है[5]।

भाषा की तीन शक्तियों में से प्राचीन आचार्यों ने व्यंजना-शक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। ध्वनि-मूलक या व्यंग्य काव्य हमारे यहां उत्तम काव्य कहा गया है। वाजपेयीजी का मत है कि ये काव्य-वस्तु के भेद नहीं हैं, ये तो अभिव्यक्ति की प्रणालियां हैं। अभिधा-प्रणाली इस स्पष्टतावादी युग की मनोवृत्ति के अनुकूल है। अभिधा में स्पष्टता अधिक है। व्यंजना से काव्य को मूर्त आधार मिलता है और उसके अतिशय से काव्य-चातुरी बढ़ती है, जो सदैव अभीष्ट नहीं कही जा सकती[6]। इसी प्रकार लाक्षणिकता भी काव्य में वहीं तक अपेक्षित है, जहां तक वह काव्य के धारावाहिक सौन्दर्य में रोड़े न अटकावे[7]। काव्य में लक्षणा को प्रधानता नहीं मिलनी चाहिए। सत्काव्य के लक्ष्यार्थ की सदा आवश्यकता नही होती[8]। काव्य में अभिधा और व्यंजना की प्रधानता के सम्बन्ध में

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी पृष्ठ २४
२ —वही— " २५
३ —वही— " १५
४ —वही— " १४
५ आलोचना, अङ्क १९ " ७-८
६ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " १३९
७ —वही— " १७५
८ महाकवि सूरदास " १३१

संस्कृत में भी विवाद था और हिन्दी में भी है। ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यजना को प्रमुख माना है। वाजपेयीजी अभिधा को प्रमुखता देते हैं।

शैली

शैली काव्य का बहिरंग पक्ष माना जाता है। परन्तु वाजपेयीजी के अनुसार 'काव्य मे बहिरंग और अंतरंग का ऐसा कहीं भेद नहीं है। सार्थक सुप्रयुक्त शब्द यथा--योग्य छंद—ये सब भावों के अभिन्न अंग हैं। बाह्य और अंतरंग यहां कुछ नहीं[१]।' शैली से उनका आशय भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंग्यात्मक अथवा मधुर, प्रासादिक और ओजस्वी आदि शैलियों से है। लेखक अपनी प्रतिभा के अनुरूप एक या अनेक शैलियों का प्रयोग कर सकता है। समीक्षक को उसकी परीक्षा उसकी गृहीत शैली की भूमिका पर ही करनी चाहिए[२]। कवियों की प्रवृत्तियों तथा युग--भेद से शैलियां भिन्न हुआ करती हैं। साहित्य के इतिहास में अनुभूति की तीव्रता अथवा क्षीणता के युग आते हैं, कभी उसमें बहिर्जगत की प्रधानता होती है कभी अंतर्जगत् की। शैली-भेद इन्हीं बातों पर आधारित है[३]। काव्य में बुद्धि-ग्राह्य शैली की अपेक्षा प्रत्यक्ष शैली मार्मिक होती है। काव्य की शैली बलपूर्वक हम पर अधिकार कर हमें अपना परिचय करा देती है[४]। सर्वजन सुलभ, स्वच्छ और सपाट नवीन और स्पष्ट शैली प्रशंसा प्राप्त करती है, परिश्रम-साध्य और अनावश्यक ऐश्वर्य से पूर्ण शैली नहीं[५]। इसीलिए रत्नाकर जी की ऐश्वर्यशालिनी शैली के स्थान पर युग-काव्य ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की लाइन-क्लियट-जैसी सीधी और सरल शैली को अपनाया[६]। मैथिलीशरण गुप्त को सरस अभिव्यक्ति उनकी प्रथम और प्रधान विशेषता है। इसी के द्वारा कविता लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होती है और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करती है। सरल शैली सारग्राहिणी सामर्थ्य रखती है[७]। चमत्कार बहुल और श्रम–साध्य शैली मध्यम श्रेणी के सौन्दर्य प्रिय कवि ही काम में लाते हैं और इससे वे अपनी भावना के अभाव की पूर्ति किया करते हैं[८]। शैली अथवा अभिव्यंजना ही

---

१ हिन्दी साहिय–बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) पृष्ठ १५३
२ नया साहित्य : नए प्रश्न (निष्कर्ष) " ६
३ —वही— " १४७
४ महाकवि सूरदास " १३०
५ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) " १६
६ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " ६
७ —वही— " ३२
८ —वही— " २९

काव्य नहीं है। 'काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानस जगत् और मानस-वृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का सम्बन्ध सौन्दर्य-पूर्ण प्रकाशन से है [१]।' आज का सामूहिक मनोविज्ञान सरल और तीक्ष्ण शैली के पक्ष में है [२]।

छन्द

काव्य और छंद दो पृथक तत्व नहीं हैं, वे एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं किए जा सकते। भाव-पक्ष और शैली-पक्ष के नाम से इनका विभाजन और विवेचन काव्य-रूढ़ियों को उत्पन्न करने वाला और असंगत आयोजन है [३]। युगानुकूल छदों के रूप में भी परिवर्तन हुआ करता है [४]। निराला मुक्त-छंद के कवि है। 'मुक्त छंद के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसकी कविता में सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण या अलंकार न हों। कहीं लटें बिखरी हों, कहीं खुली धूप में मुंह तमतमाया हो। स्वच्छंदता का जो अबाध स्वरूप निरालाजी की रचनाओं में देखा जाता है, उसकी तुलना इस युग के किसी दूसरे कवि से नहीं हो सकती [५]। छंदों का सौन्दर्य शब्दों का ही सौन्दर्य नहीं है उसमें छंद का संघटन, पंक्तियों की पारस्परिक सन्निधि और उस सन्निधि में सन्निहित संगीत की परख की जाती है [६]। छंद का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व हुआ करता है और उसमें भावानुकूल रूप-परिवर्तन की शक्ति होती है। भावानुकूलता का आशय भावना की क्षिप्र-दीर्घ गति से ही नहीं है, उस सम्पूर्ण वातावरण से है, जिसे उपस्थित करने में छंद की शक्ति लगनी चाहिए [७]। भावना के पौरुष और प्रसार के लिए कवित्त छंद उपयोगी होता है। इससे भी अधिक प्रलंब छन्द की सृष्टि की जा सकती है। मुक्त छंद इस कार्य के लिए और भी अधिक उपयोगी है। खड़ी बोली के छंदों में दूरी (लांग पर्सपैक्टिव) की अभिव्यक्ति करने वाले छंदों की कमी है [८]।

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ५८
२ —वही— " ६९
३ आधुनिक साहित्य (भूमिका) " २८
४ —वही— " २९
५ —वही— " २९
६ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " २९
७ —वही— " ४९-५०
८ —वही— " ५१

अलंकार

साहित्य में रस के उपरान्त दूसरा तत्व अलङ्कार का रहा है। बाजपेयीजी अलङ्कारों को साहित्य के लिए अनावश्यक ही नहीं अहितकर भी मानते हैं। इस दृष्टि से वे रस-वादियों से एक कदम और आगे हैं। रसवादी मानते हैं कि अलङ्कार काव्य की शोभा तो हैं ही, कविता के अपेक्षित साधन भी हैं [१]। परन्तु उनका मत है कि अलङ्कार काव्य साधना की पहली सीढ़ी हैं। वे मूर्ति-पूजा की भाँति चरम साधना नहीं हैं, चरम सिद्धि तो हैं ही नहीं। अलङ्कार चित्र हैं और चित्रों की सहायता एक सीमा तक ही आवश्यक हैं। "कविता जिस स्तर पर पहुंचकर अलङ्कार-विहीन हो जाती है वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं [२]।" उत्कृष्ट कविता में अलङ्कार वही काम करते हैं जो दूध में पानी। उनसे कविता फीकी पड़ जाती है, वह अनेक प्रकार से पतित होने लगती है [३]।

जिस प्रकार बाजपेयीजी ने प्राचीन रस-सिद्धान्त की त्रुटियां दिखाकर उस पर अनेक प्रकार से आक्रमण किया है, परन्तु अन्ततः उसीका परिष्कार कर उस पर अपना मत आधृत किया है, उसी प्रकार अपनी आरम्भिक कृतियों—विशेषकर 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' —में अलङ्कार—मत पर भी उन्होंने आपत्ति उठाई है और एक रसवादी आचार्य के समान उसकी अनुपयोगिता सिद्ध की है, परन्तु अपनी परवर्ती कृतियों में वे अलङ्कारों के उपयोगी रूप का भी प्रतिपादन करते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि उनका विरोध काव्य-मतों की जर्जर रूढ़ियों से ही था, उनके स्वस्थ और उपयोगी स्वरूप से नहीं।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के इतिहास में बाजपेयीजी ने, अलङ्कार सम्प्रदाय की उपयोगिता स्वीकार की है। रस के दार्शनिक, इतिवृत्तात्मक एवं भावुकता प्रधान हो जाने पर काव्य को विशिष्ट एवं व्यक्त स्वरूप देने में अलङ्कार और रीति सम्प्रदायों ने महत्वपूर्ण योग दिया है। इन सम्प्रदायों ने काव्य के प्रत्यक्ष एवं स्पृश्य उपकरणों को स्पष्ट किया है [४]।

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।। —काव्य-प्रकाश
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।। (दशम परि०-१) साहित्य दर्पण

२ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ६८

३ —वही— " ६९

४ आलोचना, अंक २६ " ३

इस सम्बन्ध में उन्होंने अलंकार सम्बन्धी आधुनिक धारणा का भी उल्लेख किया है। वे अलंकार का काव्य के मौलिक स्वरूप से गहरा सम्बन्ध मानते हैं। आधुनिक युग का बिम्ब-विधान अलंकारों की मुख्य वस्तु है। बिम्ब-योजना अव्यक्त को व्यक्त रूप देती है। काव्य को देखने पर सर्वप्रथम उसका व्यक्त स्वरूप ही हमारे सामने आता है। इसलिए अलंकार को काव्य की आत्मा मानना अंतत: काव्य के विशिष्ट स्वरूप की ही प्रतिष्ठा करना है। अलंकार सिद्धांत ने भाव के साथ काव्य में कलात्मकता का भी योग किया। इससे काव्य में आरम्भिक अभाव की पूर्ति हुई और एक सन्तुलन की योजना हुई [१]।

वाजपेयीजी के अलंकार-सम्बन्धी इन दो मतों में वैपरीत्य दिखलाई पड़ेगा। परन्तु उनका पहला मत अलंकार–सम्प्रदाय के रूढ़ या ह्रासोन्मुख रूप से सम्बन्ध रखता है और दूसरा मत उसके आरम्भिक और उपयोगी रूप से सम्बद्ध है। अलंकार-मत के दो विभिन्न स्वरूपों पर मत–वैभिन्न्य हो सकता है।

साहित्य का स्वरूप

काव्य या साहित्य का मूल रूप भावात्मक है। उन्होंने लिखा है "काव्य का क्षेत्र भावों की क्रीड़ा-भूमि है, कविता के इस मूल स्वरूप को हम सभी स्वीकार करते हैं। यह तो काव्य और कलाओं की पहली कोटि है जिसके अभाव में उनका अस्तित्व ही असम्भव है, किन्तु इसके अतिरिक्त किसी दूसरे कोटि-क्रम की आवश्यकता नहीं है। भावों का उद्रेक कविता द्वारा होना चाहिए यह अनिवार्य है, किन्तु और कुछ अनिवार्य नहीं। भावों की व्यंजना, ध्वनन, अभिव्यक्ति यही कविता और कला का व्यक्तित्व है [२]।" साहित्य का नैसर्गिक तत्व भावना है [३]। वह भावाश्रित रूप है [४] उसका क्षेत्र भावों और मानव के चिर दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है [५]। उसका अन्तरङ्ग भाव-सौन्दर्य से निर्मित हुआ है और अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग में पूर्ण समरसता है, इसलिए सम्पूर्ण काव्य भावात्मक है [६]। काव्य में किसी भी वस्तु–योजना का महत्व उसकी मूलवर्ती भावसत्ता पर ही आश्रित है [७]।

---

१ आलोचना अंक २ पृष्ठ ३
२ महाकवि सूरदास ,, ८२
३ आलोचना ,, ४
४ नया साहित्य : नए प्रश्न (निष्कर्ष) ,, ३
५ —वही— ,, ५
६ —वही— ,, १४१
७ आधुनिक साहित्य ,, ४९

काव्य की भावनाएं विशेष प्रकार होती हैं। साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं के लिए स्थान नहीं है। साहित्य की भावनाएं सामाजिक होती हैं और ये सामाजिक भावनाएं भी स्वस्थ एवं विकासोन्मुख हुआ करती हैं [१]। साहित्य में सामाजिक जीवन की अनास्था, अविश्वास आदि नकारात्मक प्रवृत्तियों के लिए भी स्थान नहीं है। साहित्य में इनका चित्रण किया जा सकता है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यिक की जीवन-दृष्टि इनके द्वारा आक्रान्त और स्खलित न हो जाय [२]। पराजय से आक्रान्त विक्षत अनुभूतियों [३], अमर्याद शृङ्गार एवं यौन-वर्जनाओं, अतिशय भावुकता आदि [४] का स्वस्थ और सबल जीवन-सङ्गीत के उच्च साहित्य से कोई संबंध नहीं है। अतिशय शृङ्गारोन्मुख तथा उदासीन प्रवृत्तियाँ केवल कौतूहल तथा मनोरंजन प्रगतिशील साहित्य के लिए उपादेय एवं पर्याप्त नहीं है। साहित्य के ये निदर्शन बौद्धिक ही हैं। यह साहित्य का बुद्धि सूत्र, साहित्य की आत्मा या जीव-चेतना कहा गया है [५]। साहित्य में अनावश्यक परिवर्तन को रोका जाता है एवं आवश्यक परिवर्तन का उद्घाटन होता है [६]। यह साहित्य का बुद्धि-व्यवसाय ही है। साहित्य का मूल तत्व भावना ही है, परन्तु वह बुद्धि-रहित नहीं है। उसमें बुद्धि का भी उचित समावेश है। व्यापक दृष्टि से साहित्य में बुद्धिवाद आवश्यक है। एक प्रगतिशील चेतना के रूप में बुद्धि सदैव विकास के साथ रही है। बुद्धि-सूत्र के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक निदर्शन साहित्य में मान्य रहे हैं [७]। साहित्य निर्बुद्धिक रचना नहीं है। निरालाजी के काव्य का उत्कर्ष साहित्य में सचेत बुद्धि तत्व के प्रवेश में परखा गया है [८]। परन्तु साहित्य में बौद्धिकता का अतिरेक भी अवांछित है। बुद्धि साहित्य के निजी तत्वों का नियन्त्रण नहीं कर सकती। बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति मनुष्य के लिए उपयोगी है, इसलिए वे साहित्य के लिए भी उपयोगी होंगे, "केवल साहित्य की प्रणाली यह है कि वह बुद्धि, दर्शन, नीति, विज्ञान सबको रसमय बनाकर उपस्थित करता है [९]।" जब तक इस रसमय प्रणाली से ये दर्शन, विज्ञान आदि साहित्य में उपस्थित नहीं होंगे तब तक वे साहित्य-बाह्य माने जायेंगे और साहित्य के लिए भार-स्वरूप होंगे [१०]। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के परवर्ती काव्य एवं श्री जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ ३२७
२ आलोचना अंक २२ ,, ८
३ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) ,, २
४ आधुनिक साहित्य ,, ४८-४९
५ —वही— ,, ३२९
६ —वही— ,, ३०७
७ —वही— ,, २२९
८ हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी ,, १४१
९ —वही— ,, ९२
१० —वही— ,, ९७

में बढ़ती हुई दार्शनिकता की उपादेयता के प्रति शंका प्रकट की गई है। वाद को प्रमुख मानकर लिखने वाले साहित्यकारों का भी स्थल-स्थल पर विरोध किया गया है। वाद की दृष्टि से लिखने पर साहित्य गौण बन जाता है और साहित्य के क्षेत्र में ही साहित्येतर तत्वों का शासन होने लगता है। "किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना, न केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुण्ठा है, मनुष्यता के लिए एक पंगुकारी रोग है [१]।" वे मतवाद के घेरे के भीतर लिखने वाले साहित्यकारों का जीवन की खुली धूप में आह्वान करते हैं [२]। कोई भी वाद काव्य की कसौटी अथवा उसका नियामक नहीं बन सकता। उससे काव्य की प्रेरक शक्तियों को समझने में सहायता ली जा सकती है [३]। सभी वादों और विद्याओं का साहित्य से सम्बन्ध है, परन्तु अनुवर्ती रूप में, नियामक या अधिकारी के रूप मे नहीं [४]।वाद एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि है और साहित्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं में अन्तर है, दोनों का क्षेत्र पृथक और कार्य-शैली भिन्न है [५]। आशय यह है कि किसी मतवाद के अन्तर्गत साहित्य की रचना नहीं की जानी चाहिए। वादों की बौद्धिकता साहित्य के लिए भार बन जाती है। इस बात का ध्यान रखते हुए साहित्य में बुद्धि तत्व का उचित उपयोग होना चाहिए। बौद्धिक तत्व ही जीवन-दृष्टि को दिशा देता है। बौद्धिक क्षमता जीवनानुभवों से उत्पन्न होती है और उन अनुभवों को परिपुष्ट एवं विस्तृत भी करती है। बिना अनुभव के बुद्धि शुष्क और एकांगी है और बिना बुद्धि के अनुभव निर्जीव है, अतएव साहित्य में बुद्धि-तत्व का महत्व असंदिग्ध है [६]।

प्रगतिशील साहित्य का एक सूत्र कला-निर्माण का भी है। जिस समय हम विशुद्ध काव्य-कला का अध्ययन करना चाहते हैं, उस समय यह सूत्र प्रमुख हुआ करता है। इसी कला-सूत्र के कारण साहित्य सब समयों में समान रूप से आनन्द दिया करता है। इसके अंतर्गत हम यह नहीं देखते कि कवि ने क्या कहा और किस वर्ग के लिए कहा है? हम देखते हैं कि जीवन का समष्टि-रूप, प्रभाव की दिशा एवं कला-परिपाटियाँ [७]। रचयिता प्रशस्त विचार-धारा का स्वामी न भी हो तो भी जीवन के विविध अंशों और अवसरों के चित्रण की दक्षता, उसकी समाहार-शक्ति, चित्र की विराटता, भाषा-शैली आदि से उसकी

---

१ आधुनिक साहित्य (भूमिका) पृ० ४३
२ —वही— " ४३
३ —वही— " ४०६
४ —वही— " ४०७
५ —वही— " ४१०-४११
६ प्रेमचन्द " १९३
७ आधुनिक साहित्य " ३३३

रचना शक्ति का परिचय मिल सकता है। इन निदर्शनों में हम देखते हैं कि वाजपेयीजी साहित्य को विशुद्ध कला के रूप में ग्रहण करने के लिए भी तैयार हैं। परन्तु वे कला का सम्बन्ध कोरी कलाकारिता से नही मानते और दूसरे उसमें उच्चतम नैतिक मूल्यों का समावेश आवश्यक मानते हैं। कला जब जीवन-तत्व से सम्बन्ध छोड़ देती है या उसके बाह्य तत्वों की ओर अधिक झुक जाती है तब वह कला न रहकर कलाकारिता बन जाती है। अधिक कल्पना-सज्जा कीमती परिधान की भांति प्रकृत सौन्दर्य को आवृत कर लेती है[१]। वे साहित्य में कलात्मकता चाहते है, कलाकारिता नहीं, साहित्य एक कला है और इसी दृष्टि से उसकी परीक्षा की जानी चाहिए। कोई बाहरी उपयोगिता उसका मूल्य-निर्धारण नहीं कर सकती। कोई लौकिक उपकार साहित्य की कसौटी नहीं बन सकता और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक ही हो सकता है[२]।

श्री वाजपेयीजी कलावादी नहीं हैं, 'कला के लिए कला' सिद्धान्त का वे समर्थन नहीं करते। कला को वे जीवन-सापेक्ष्य मानते हैं, जीवन के लिए उसकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं, परन्तु उसके कलात्मक मूल्यों की भी अवहेलना नहीं करते। उनके रस-सिद्धान्त में कला-तत्वों का भी समाहार हुआ है। भाव-सूत्र जिसे वे सर्व-प्रमुख मानते हैं और जिसकी प्रमुखता रस-सिद्धान्त के अनुकूल है, बुद्धि-सूत्र और कला-सूत्र इन तीनों के समाहार से श्रेष्ठ साहित्य का स्वरूप निर्धारित होता है[३]।

वाजपेयीजी के इस विवेचन में एक ओर तो साहित्य की मूल प्रकृति भावात्मकता का सन्निवेश है, दूसरी ओर उसमें बुद्धि-सूत्र के द्वारा नीति-तत्व का एवं कला-सूत्र के द्वारा कला के उपकरणों का समावेश हुआ है। साहित्य के दो प्रथम सूत्र उसके अन्तरङ्ग का निर्माण करते हैं और तीसरा सूत्र उसके बहिरङ्ग से संबद्ध है, यद्यपि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में कोई पार्थक्य नहीं माना गया है। साहि य की यह त्रिगुण—भावात्मक, नैतिक (बौद्धिक) एवं कलात्मक—प्रकृति यहां स्वीकृत हुई है। प्राचीन रस-मत प्रमुख रूप से साहित्य की भावात्मक प्रकृति को ही लेकर चला था। इस युग ने उसमें नीति के तत्व का घनिष्ठ योग कर उसे सामाजिक भूमि पर दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित किया है और कला-तत्वों के समावेश से उसके अभिव्यक्ति पक्ष को भी संवारा है।

परिभाषा

अब हम इस स्थिति में आ गये हैं कि साहित्य को एक परिभाषा दे सकें। वाजपेयीजी ने निम्नलिखित शब्दों में काव्य की परिभाषा दी है—

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी पृ० १६-१७ (विज्ञप्ति)
२ —वही— " ९८
३ प्रेमचन्द " १९३

'काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावत: अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं [१]।

काव्य की यह परिभाषा स्पष्ट भी की गई है। प्रकृत मानव-अनुभूतियों के कारण काव्य एक सार्वजनीन वस्तु है। इसमें वे कृत्रिम अनुभूतियां सम्मिलित नहीं हैं जो विशेष लोगों की होती हैं या साम्प्रदायिक कोटि की हैं। नैसर्गिक कल्पना की उद्भाविका प्रतिभा होती है, परिश्रम नहीं। सार्वजनीन होने के कारण सौन्दर्य तत्व नित्य और शाश्वत है [२]।

उपर्युक्त परिभाषा में पूर्व-विवेचित भावना, कल्पना एवं बुद्धि के तत्वों का समाहार हो गया है। इसके साथ ही इस परिभाषा में भारतीय एवं पश्चिमी सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयास भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतीय दृष्टि रस-परक रही है और पश्चिमी दृष्टि-सौन्दर्य परक। पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र में कल्पना-तत्व प्रमुख और व्यापक रहा है। इस परिभाषा में कल्पना और सौन्दर्य का रस से अटूट सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। यह साहित्य की रस-परक नवीन व्याख्या है।

साहित्य की एक और परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती है, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दिशा में ले जाने का प्रबल सामर्थ्य रखती हैं [३]।

इस परिभाषा में साहित्य की मूल भावात्मक प्रकृति की ओर इङ्गित है। इसमें साहित्य की शक्ति, उसकी युग को अपने संकेत पर चलाने की सामर्थ्य का उल्लेख भी हुआ है। यह परिभाषा अधिक व्यापक है। इसमें काव्य की केवल दो शर्तें ही रखी गई हैं—उसकी मूल भावात्मक प्रकृति और शक्ति पूर्णता। इसमें वैयक्तिक और सामाजिक अनुभूतियां आदर्शवाद और यथार्थवाद सभी काव्य में स्थान पा सकते हैं। यह परिभाषा मनोवैज्ञानिक अधिक है।

साहित्य की एक अन्य परिभाषा में कहा गया है— 'विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है [४]।'

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ४०८
२ —वही— ,, ४०८
३ आलोचना अंक २२ ,, ३
४ नया साहित्य : नये प्रश्न (निष्कर्ष) ,, ३

इस परिभाषा में विकास के तत्व द्वारा युगीन सत्य एवं मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति द्वारा शाश्वत सत्य को एक ही सूत्र में संग्रथित कर दिया गया है।

साहित्य की ये परिभाषायें उनके साहित्यिक मत का सार-संग्रह हैं। इनसे स्पष्ट है कि वाजपेयीजी रस को काव्य-सिद्धान्त मानते हैं जो हमारी स्वाभाविक अनुभूति-सत्ता पर आधृत है, अतएव सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है। इसमें नैसर्गिक कल्पना का भी योग हुआ है, जो प्रतिभा-जन्य होती है। इससे काव्य कलाकारिता नहीं बन पाता, फिर भी उसमें कलात्मकता का समावेश होता है। काव्य में अनुभूति का चित्रण किया जाता है, कल्पना साधन का काम करती है। यह चित्रण सौन्दर्यमय होता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को वाजपेयीजी ने सदैव महत्व दिया है। मनुष्य-मात्र में अनुरूप भावोच्छ्वास का उत्पन्न होना रस-सिद्धान्त के अनुकूल ही स्वीकृत हुआ है। अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनव गुप्त का भी यही मत था। अवश्य ही रस का भोक्ता समाज यहाँ अधिक व्यापक कर दिया गया है। वाजपेयीजी 'मनुष्यमात्र' में इस सौन्दर्य-संवेदन की क्षमता देखते हैं, परन्तु आचार्य भरत, विश्वनाथ, अभिनव आदि ने अल्प सँख्यक 'सहृदय' समाज को ही रस-मात्र निरूपित किया है [१]।

उद्देश्य

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के अनेक लक्ष्य बतलाये हैं। भरत मुनि ने सार्वजनिक मनोरंजन को नाट्य-प्रयोजन माना [२]। आचार्य भामह ने प्रमुख रूप के शास्त्रादि ज्ञान, कीर्ति और प्रीति अथवा आनन्द को काव्य का उद्देश्य माना है [३]। आचार्य मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन—यशप्राप्ति, अर्थ-लाभ, आचार-ज्ञान, अमंगल निवारण, रस या आनन्द और सरस उपदेश—माने हैं [४]। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य और काव्य-समीक्षा

---

१ आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकः। —आचार्य भरत
येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुटे
वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। —आचार्य अभिनव
साहित्य-दर्पण (तृ० प०) ४, ८।

२ वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्। विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
(नाट्यशास्त्र)

३ धर्मार्थकाममोक्षेषु वेचक्षण्यं कलासु च।
प्रीति करोति कीर्ति च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ (काव्यालंकार १-२)

४ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे। (काव्य-प्रकाश १-२)

दोनों का प्रयोजन चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति माना है [१]। संस्कृत के आचार्यों के इस निरूपण में एक बात स्पष्ट दिखलाई पड़ेगी कि वे काव्य के दो प्रकार के प्रयोजन मानते रहे हैं। उनके कतिपय प्रयोजनों का सम्बन्ध लोकोपयोगिता से है और कतिपय अन्य प्रयोजन काव्यानन्द से सम्बन्ध रखते है। इस प्रकार काव्य एक ओर लोकोपयोगी हुआ है और दूसरी ओर उससे आनन्द की सृष्टि होती रही है।

पश्चिमी समीक्षा में भी काव्य के इन दो प्रयोजनों का बराबर उल्लेख होता रहा है। ड्रायडन ने कहा था कि काव्य का सामान्य उद्देश्य आनन्दपूर्ण शिक्षा है [२]। ड्रायडन का यह मत काव्य प्रकाशकार के कान्तासम्मित उपदेश के ही समान है। सामरसेट नाम का मत था कि किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन उसके परिणामों से होना चाहिए, यदि वे अच्छे नहीं है तो वह व्यर्थ है। कला का मूल्य सौन्दर्य में नहीं, उसके शुभ कार्य में है [३]। आई० ए० रिचर्ड्स ने जीनवानुभवों के समान ही काव्यानुभव को भी मूल्यवान माना है [४]। दूसरी ओर कालरिज का मत था कि काव्य का प्राथमिक उद्देश्य आनन्द है, सत्य नहीं [५]। जिन समीक्षकों की दृष्टि जीवन को प्रमुखता देकर चली, वे साहित्य की उपयोगिता को उसका प्राथमिक प्रयोजन मानते हैं और जिनकी दृष्टि साहित्य-कला पर अन्ततः अटकी है, वे उसके आनन्द-पक्ष को महत्व देते है। श्री वाजपेयीजी के काव्य-मत में इन दोनों प्रयोजनों—काव्य की जीवन के लिए उपयोगिता और उसकी आनन्दात्मकता का समन्वय हुआ है।

श्री वाजपेयीजी ने बतलाया है कि आज साहित्य के सम्मुख तीन प्रकार के उद्देश्य हैं—(१) साहित्य किसी भी प्रकार के भले या बुरे प्रभाव की सृष्टि कर सकता है, (२) साहित्य सदैव अच्छे प्रभाव की सृष्टि करता है, (३) अच्छे या बुरे प्रभाव की सृष्टि

---

१ चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव मतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥
(साहित्य दर्पण १-२)

2 "To just rent delightfully is the general end of all poetry" Dryden as quoted by F. L. Lucas in Literature and Psy p. 286

3 "The work of Art must be judged by its fruits, and if these are not good, it is valueless." "The value of art is not in beauty, but in good action," (Litt. & Psy. P. 293)

4 "The first point to be made is that poetic experiences are valueable [when they are] in the same ways as any other experiences." [Critical Approaches to Litt. P. 139]

5 "The immediate object of poetry is pleasure, not truth. Same P. 10

करना साहित्य का उद्देश्य नहीं है। साहित्य का उद्देश्य तो जीवन के किसी मार्मिक स्वरूप या स्थिति विशेष की जानकारी मात्र करा देना है [१]।

हमारे प्राचीन साहित्य का उद्देश्य सद्भावना या रस-सृष्टि का था। आज का साहित्य बड़े अच्छे प्रभाव की सृष्टि के साथ ही बुरे प्रभाव की सृष्टि भी करने लगा है। इस बुरे प्रभाव में नग्न-चित्रण, अश्लीलता, निराशा और निष्क्रियता भी सम्मिलित हैं। प्राचीन साहित्य के शोक और करुणा के चित्रण भी आह्लादक होते हैं और वे उदार संवेदना उत्पन्न करते हैं। साहित्य नग्नता का प्रचारक नहीं हैं। वह निराशा और निष्क्रियता नहीं फैलाता [२]। साहित्य लक्ष्यहीन नहीं होता। दूसरी ओर साहित्य जानकारी मात्र भी नहीं है। यह जानकारी अपने में स्वयं एक अधूरी वस्तु है। क्योंकि एक वैज्ञानिक बहुत कुछ जानते हुए भी उसे अपने जीवन का अंग नहीं बना पाता। इस बात की पूर्ति साहित्य के द्वारा ही होती है [३]। इसके साथ ही साहित्य किसी छोटे या बड़े मतवाद के प्रचार का लक्ष्य भी नहीं रखता। वह प्रत्यक्ष या प्रतिदिन बदलने वाले, किसी राष्ट्रीय कार्यक्रम का साथी भी नहीं है। यह 'वालेंटियरी वृत्ति' उसे शोभा नहीं देती [४]। साहित्य सामाजिक यथार्थ मनोवैज्ञानिक यथार्थ अथवा राष्ट्र के सामयिक यथार्थ के चित्रण का लक्ष्य नहीं रखता। उसका उद्देश्य इन सब यथार्थवादी भूमियों से ऊपर है।

कुछ लोग साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन मानते हैं। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे साहित्य का गौण उद्देश्य माना है। वे मनोरंजन को चित्तवृत्ति को रमाने वाला एक साधन भर मानते हैं [५]। मनोरंजन के सम्बन्ध में वाजपेयीजी ने भी ऐसी ही धारणायें व्यक्त की हैं। विनोद- हास्य, व्यंग्य, दिल-बहलाव और मनोरंजन के लिए भी साहित्य लिखा जाता है, पर यह साहित्य युग-प्रतिनिधि नहीं कहा जाता [६]। 'गोदान की समीक्षा में भी इस बात की चर्चा की गई है कि कोई भी उपन्यासकार पाठकों के मनोरंजन के लिए अपने लक्ष्य से बाहर जाकर सामग्री नहीं जुटाएगा [७]।

साहित्य का लक्ष्य या उद्देश्य क्या है? 'रूप, या सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा उच्च कोटि के लौकिक या अलौकिक आनन्द का उद्रेक ही साहित्य और कलाओं का लक्ष्य

---

१ आधुनिक साहित्य (भूमिका) पृष्ठ ४७
२ —वही— " ४७
३ —वही— " ४८
४ —वही— " ४८–४९
५ चिन्तामणि भाग १ ,, १६२
६ आलोचना, अङ्क २१ ,, ७
७ आधुनिक साहित्य ,, १४८

है [१]। सौन्दर्य के द्वारा आनन्द की सृष्टि यही वाजपेयीजी के अनुसार साहित्य का लक्ष्य है। यह आनन्द और कुछ नहीं भारतीय रस ही है। रस–सृष्टि साहित्य का सीधा और सरल लक्ष्य है। उन्होंने लिखा भी है—'काव्य का प्रयोजन भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करना है [२]। इसके अतिरिक्त साहित्य को किसी दूसरे उद्देश्य की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी उपयोगितावादी तुला पर नहीं तोला जा सकता। वह अपना उद्देश्य आप स्वयं भी है। साहित्य–सृजन में ही एक सुख और परितोष निहित है। वह किसी अन्य उद्देश्य का बंधुवा नहीं माना जा सकता [३]। साहित्य के उद्देश्य संबंधी उनकी यह धारणा उपर्युक्त भूमिका के सदर्भ में रखकर ही देखी जानी चाहिए। उनका आशय इतना ही लिया जा सकता है कि साहित्य समग्र और समाज की स्थूल उपयोगिताओं से ऊपर की वस्तु है। किसी मोटे मानदंड से उसकी परीक्षा नहीं की जानी चाहिए।

वे तो यह विश्वास करते हैं कि साहित्य का उद्देश्य जीवन के लिए उपयोगी होना है। साहित्य स्वस्थ, उल्लासपूर्ण एवं विकासोन्मुख भावनाओं के उद्रेक का लक्ष्य रखता है। जिन साहित्यकारों की सृष्टियां इस आशय की पूर्ति करती हैं, वे उनकी प्रशंसा के पात्र बने हैं और जिनमें इन तत्वों की कमी से उनके मानसिक एवं साहित्यिक विकास पर शंका प्रगट की गई है [४]। समाज और जीवन के रचनात्मक पक्षों एवं अनुभूतियों को लेकर ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हो सकती है। साहित्य इन्हीं के चित्रण का लक्ष्य रखता है [५]। साहित्य से समाज और जीवन को कोई उदात्त प्रेरणा मिलनी चाहिए, जिसकी पश्चिम के यथार्थवादी उपन्यासों में बड़ी कमी है [६]। अब तो उनकी दृष्टि सामयिक जीवन की उपयोगिता पर भी अटक जाती है। उनकी नवीन कृतियों में यह दृष्टि स्पष्ट होने लगी है। वे स्वस्थ और विकासोन्मुख राष्ट्रीय जीवन का चित्रण साहित्य में चाहते हैं। आज वे साहित्य के राष्ट्रीय जीवन का चित्रण साहित्य में चाहते हैं। आज वे साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप का भी साग्रह प्रतिपादन करते हैं। भारतीय जनतंत्र की नैतिक और मौलिक उन्नति को ही वे हमारा सम्पूर्ण लक्ष्य प्रतिपादित करते हैं। रचनात्मक जनतंत्र को देश में कार्यान्वित करना हमारा पहला लक्ष्य है। दूसरा लक्ष्य एशिया और अफ्रीका के साम्राज्य शासित देशों को सहानुभूति देना तथा उन्हें साम्राज्यशाही के भार से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध रहता है। इसके साथ ही एटम सभ्यता की

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न (निकष) पृ० ४
२ जयशंकर प्रसाद " ११३
३ आधुनिक साहित्य (भूमिका) " १०
४ —वही— " ४५
५ —वही— " ४८
६ आधुनिक साहित्य " १३२

विभीषिका से संसार को त्राण दिलाना भी हमारा एक बड़ा उद्देश्य होगा [१]। इस प्रकार साहित्य की राष्ट्र-जीवन के लिए महती उपयोगिता है।

वाजपेयीजी की यह उपयोगितावादी दृष्टि जीवन के शाश्वत सौन्दर्य से अभिन्न होकर आई है। इसीलिए वे सैद्धान्तिक भूमि पर विचरण करते हुए साहित्य की उपयोगिता की चिन्ता नहीं करते और उल्टे उसकी उपेक्षा भी कर जाते हैं। परन्तु व्यवहार की भूमि पर वे साहित्य की जीवन-सापेक्ष्यता एवं उपयोगिता को पल भर भी नहीं भूल सके हैं। उनकी समीक्षाओं में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक भूमि में कभी-कभी विभिन्न स्वर सुनाई पड़ते हैं। परन्तु वस्तुतः उनमें विरोध नहीं हैं। सिद्धान्तों की व्याप्ति में ऐसे अनेक तत्व अन्तर्निहित रहते हैं जो स्वतन्त्र रूप से विपरीत भी नहीं दिखलाई पड़ सकते हैं।

वे काव्य-कला के समस्त उपकरणों का प्रयोजन हमारे हृदयों में जीवन-सौन्दर्य की कला खिलाना मानते हैं [२]। काव्य-कला का उद्देश्य सौन्दर्य का उन्मेष करना है, क्योंकि सौन्दर्य चेतना और चेतना जीवन है। मनुष्य अपने चारो ओर फैली हुई सौन्दर्य राशि का बहुत कम अनुभव करता है। कविता उसकी आंखें खोलती है। अतएव कविता प्रथमतः हमें अनुभूतिशील और भावनाशील बनाती है। उसका उच्च लक्ष्य तो सचेतन जीवन परिमाणुओं को संघटित करना और उन्हें दृढ़ बनाना है [३]। यहां पर काव्य का उद्देश्य सौन्दर्योन्मेष कहा गया है, परन्तु परवर्ती परिभाषाओं में सौन्दर्य माध्यम बन गया है और रसोद्रेक उद्देश्य का स्थान ले लेता है। इस उद्देश्य से मानव-जीवन की स्थायी एवं कलात्मक आकांक्षाओं की पूर्ति भी हो जाती है। साहित्य का उद्देश्य जहाँ एक ओर समाज की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है वहीं दूसरी ओर वह जीवन के सार्वभौम और शाश्वत मूल्यों का स्पर्श भी करता है। साहित्य एवं उसके लक्ष्य के द्विमुखी स्वरूप को पहचानने की आवश्यकता हैं।

साहित्य का वर्गीकरण

वाजपेयीजी साहित्य में रस एवं ध्वनि सिद्धांत के नव प्रयोग-कर्त्ता हैं। ध्वनि के व्यवस्थापकों में आचार्य मम्मट का नाम उल्लेखनीय है। मम्मट ने ध्वनि के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद बतलाए हैं। उत्तम काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रमुख होता है, मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है और

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न (निष्कर्ष) पृष्ठ २६
२ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " १४५
३ —वही ,, १४६

अधम काव्य में व्यंग्यार्थ रहता ही नहीं [१]। रस–ध्वनि और वस्तु ध्वनि (अलंकार एवं वस्तु दोनों) उत्तम, गुणीभूत व्यंग्य मध्यम एवं चित्रकाव्य अधम या निकृष्ट कोटि में रखे गए हैं [२]। वाजपेयीजी ने काव्य का वर्गीकरण करते समय ध्वनि के इन भेदों को स्वीकार कर लिया है। काव्य का यही कोटि-क्रम उन्हें भी मान्य है। परन्तु रस की सापेक्ष्यता मे ही ध्वनि का यह वर्गीकरण उन्हें मान्य हुआ है। रस–निरपेक्ष ध्वनि को वे स्वीकार नहीं करते। वस्तु-वर्णन एवं भाव–निरूपण के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए ही ध्वनि–सिद्धांत पर दृष्टि डाली गई है और यह सिद्ध किया गया है कि काव्य में आया हुआ समस्त वस्तु-वर्णन (प्रकृति-चित्रण, चरित्र-चित्रण) रस के अन्तर्गत ही है। रस की सत्ता से बाहर पड़ जाने पर वह निकृष्ट या ही हीन काव्य बन जाता है[३]।

'हिन्दी–साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में साहित्यकारों की कतिपय श्रेणियां बनाई गई हैं। असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न लेखक प्रथम श्रेणी में रखे गए है। कुछ लोग प्रथम श्रेणी के निकट के भी हैं। ध्वनि की शब्दावली में ये ही लक्ष्य - क्रम व्यंग्य के उदाहरण होंगे। मध्यम श्रेणी में ऐसे साहित्यकार रखे गए है जिनकी कुछ कृतियां साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं। परन्तु पर्याप्त साधना एवं सृजन–शक्ति के अभाव के कारण ये लोग दूसरे प्रयोग करने लगे हैं। इनमें अभ्यास, परिश्रम तथा कला की प्रमुखता मिल सकती है। अन्त में समय के पीछे आने वाले अनुगामियों की श्रेणी रखी गई है। संभवतः यह वाजपेयीजी की तृतीय श्रेणी है। इनका स्थान साहित्य की रंगभूमि में बहुत उँचा नहीं माना गया। इन श्रेणियों में साहित्य की प्राण-शक्ति का क्रमशः ह्रास होता गया है। दो साहित्यिक युगों के बीच की 'कड़ियां' बनाने वाले लेखकों की भी एक श्रेणी उल्लिखित हुई हैं।[४]

इस श्रेणी–विभाजन में ध्वनि-सिद्धांत की प्रेरणा ही काम करती हुई प्रतीत होती है। यह दूसरी बात है कि प्राचीन शब्दावली का यहां साग्रह प्रयोग नहीं किया गया है और साहित्य की संजीवनी शक्ति-जीवन–संभूत रस पर उनका ध्यान अधिक है।

स्वाभाविक रसात्मकता को ध्यान में रखते हुए काव्य का अन्योक्ति-काव्य, समासोक्ति काव्य एवं प्रकृत काव्य में भी विभाजन किया गया है। कबीर का काव्य अन्योक्ति, जायसी का समासोक्ति एवं 'कामायनी' प्रकृत काव्य के उदाहरण हैं। अन्योक्ति काव्य में दार्शनिक तथ्य का निरूपण प्रमुख होता है, वहां काव्य की अपनी स्वाभाविकता नहीं रहती। इसमें वस्तु–निरूपण एवं भाव–निरूपण दोनों ही कृत्रिम और आलंकारिक होते

---

१ काव्य प्रकाश — सूत्र २, ३, ४
२ –वही– — देखिए चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ उल्लास
३ जयशंकर प्रसाद — पृष्ठ ११७–११८
४ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) " १–५

हैं, वास्तविक नहीं। समासोक्ति काव्य में रूपक एवं प्रकृत दोनों पक्ष समान रूप से मिले रहते हैं। अप्रस्तुत के निर्देश के साथ ही इसमें कथा एवं चरित्र का स्वतन्त्र महत्व भी प्रगट रहता है। समासोक्ति में अप्रस्तुत की या रूपक की स्थिति प्रमुख नहीं होती। दोनों पक्ष इसमें स्वतन्त्र और निरपेक्ष रह सकते हैं। इसलिए अन्योक्ति की अपेक्षा समासोक्ति काव्य के अधिक निकट है [१]। प्रकृत काव्य में वस्तु-निरूपण एवं भाव-निरूपण स्वाभाविक रहा करते हैं और वे अपने साध्य आप ही होते हैं। प्रकृत काव्य में किसी अन्य प्रतीकार्थ को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है [२]।

यह अन्योक्ति, समासोक्ति एवं प्रकृत काव्य का वर्गीकरण भी रस-भूमि पर ही प्रतिष्ठित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अन्योक्ति और समासोक्ति की चर्चा जायसी के प्रसंग में की थी। समासोक्ति काव्य की वे प्रशंसा भी कर चुके हैं [३]। परन्तु समासोक्ति काव्य में भी एक अप्रस्तुत पक्ष बना ही रहता है। जिसके कारण काव्य अपनी प्रकृत रस-भूमि पर नहीं पहुंच पाता या देर से पहुंचता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह वर्गीकरण काव्य की रसवत्ता के अधिक समीप एवं समीचीन कहा जा सकता है।

साहित्य अथवा काव्य का यह वर्गीकरण उन्होंने साहित्य की व्यवहार भूमि पर ही स्वीकार किया है। अन्यथा साहित्य का यह श्रेणी-विभाजन, क्रोचे के समान ही उन्हें भी मान्य नहीं है। भारतीय और यूरोपीय दोनों ही ओर के आचार्यों ने काव्यानुभूति को अखंड माना है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की अखंड सत्ता स्वीकार की है [४]। इसलिए काव्य और कलाओं का श्रेणी-विभाजन करना अतात्विक होगा और केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए ही स्वीकार किया जायगा। व्यावहारिक भूमि पर तो क्रोचे को भी काव्य और कलाओं का श्रेणी-विभाजन करना पड़ा है।

कुछ समीक्षकों ने काव्य के व्यक्तिगत और वस्तुगत (Subjective और Objective) दो भेद किए हैं। परन्तु यह भेद अवास्तविक है। 'वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किए ही नहीं जा सकते, उसकी तो अखंड सत्ता है [५]।' काव्य को महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रगति काव्य आदि वर्गों में भी विभक्त किया गया है और

---

१ जयशंकर प्रसाद — पृष्ठ ११३-११४
आधुनिक साहित्य — " ७१-७२
२ जयशंकर प्रसाद — " ११४
३ जायसी ग्रंथावली (भूमिका) — " ५७-५८
४ सत्वोद्रेकादखंड स्वप्रकाशानंद चिन्मयः। — (साहित्य-दर्पण)
५ आधुनिक साहित्य — " ४१६

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समीक्षकों ने महाकाव्य को प्रगीत काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है। निस्सन्देह उन्होंने अपने कारण दिए हैं जो काव्य की व्यावहारिक भूमि पर उपयोगी भी हैं। परन्तु सिद्धान्ततः काव्य की अखण्ड अनुभूति को खण्डों में रखकर नहीं परखा जा सकता। यही बात रसों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। समस्त रस एक ही अखण्ड अनुभूति की अजस्र धारा से बने हैं। उनमें कोई न्यूनाधिक नहीं है। "सभी रसों में एक ही अनुभूति–धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नहीं है कि उसमें काव्य की सत्ता किसी लघु गीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार–प्रकार और परिमाण आदि के अन्तर भले ही हों।––यदि अनुभूति की सत्ता में अन्तर होता तो इनमें से किसी एक दो या सबको काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि ये सभी काव्य साहित्य के अंग हैं, तो इनमें अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही [1]।" काव्यानुभूति तो एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है। उसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खण्ड–व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। काव्य के अनन्त भेद हो सकते हैं परन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसंवेद्य अनुभूति प्रवणता में ही रहेगा [2]। "काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में समस्त वर्ग–भेद और वाद–भेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव–कल्पना का यह अनुभूति–लोक नित्य और शाश्वत है। चिरन्तन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जायगी [3]।"

वाजपेयीजी का यह वर्गीकरण तात्विक और सैद्धान्तिक भूमि पर आधृत है। शुक्लजी का श्रेणी–विभाजन व्यावहारिक सीमाओं से आगे नहीं आ पाया यद्यपि शुक्लजी ने भी काव्य के शाश्वत एवं सार्वभौमिक स्वरूप का विवेचन किया है फिर भी वे, कारण कुछ भी रहे हों, उसे उसकी तात्विक गहराइयों में नहीं ले जा सके। हिन्दी का काव्य–शास्त्र उत्तरोत्तर तात्विक और सैद्धान्तिक भूमि पर पहुंचता गया है। वाजपेयीजी की समीक्षायें इस बात की प्रमाण हैं।

वाजपेयीजी ने जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य की अखण्ड सत्ता स्वीकार की है, वहां व्यावहारिक दृष्टि से वे उसके अनन्त भेदों को भी स्वीकार करते हैं। इनमें से कतिपय भेदों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कुछ कृतियां कोरी भावना पर आधारित होती हैं उस भावना का कोई सुनिश्चित बौद्धिक आधार नहीं रहता। उनके मूल में कहीं भी—आदि से अन्त तक—दृढ़ता नहीं मिलती। इनमें न सुदृढ़ मनोविज्ञान होता और न

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ ४१६
२ —वही— " ४१८
३ —वही— " ४१९

उच्चतर कल्पना तथा काव्योत्कर्ष ही दिखलाई पड़ता है। केवल भावना ही भावना के बहाव में ये कृतियां बहा करती हैं। यह काव्य भावुकतापूर्ण (सेण्टीमेण्टल) कहा गया है। इसमें रसवत्ता नहीं होती। कोरी भावना में रस नहीं है। रसपूर्ण काव्य का कोई सुनिश्चित एवं सुदृढ़ बौद्धिक अथवा मनोवैज्ञानिक आधार होता है और यह आधार--आदि, मध्य एवं अन्त--कहीं पर दिखलाया जा सकता है। ऐसा काव्य शक्तिपूर्ण होता है अशक्त नहीं [१]। यहां पर भी रस का सिद्धान्त दृष्टि-पथ से ओझल नहीं हुआ है।

इस भूमि पर वे महान दिग्विजयी विराट प्रतिभा के स्वामी कवियों एवं विनयावनत दीन तथा दरिद्र देश के प्रतिनिधियों दोनों ही का महत्व स्वीकार करते है [२]। "जिनके मस्तिष्क की भगीरथ शक्ति संसार में नवीन विचार-धारा प्रवाहित करती है 'ते नरवर थोरे जग मांहीं' किन्तु जो नई नहरें निकालकर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिए सुगम कर देते है, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी माने गए हैं।

साहित्य रूप

श्री वाजपेयीजी की समीक्षाओं से यह बात भली भाँति स्पष्ट है कि वे साहित्य के कला-पक्ष को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। साहित्य के लक्ष्य की दृष्टि से रसवादी हैं, यह उसका आत्म-तत्व है। साहित्य की सामग्री का सङ्कलन वे राष्ट्रीय जीवन से चाहते हैं, इससे उसके शरीर--निर्माण के उपकरण (रक्त, मांस, अस्थि आदि) जुटाए जाते हैं। इन्हीं उपकरणों के समुचित विन्यास से साहित्य का शरीर निर्मित होता है और विन्यास की विविधता से साहित्य-रूपों की अनेकता उत्पन्न होती है। वाह्य शरीर-पक्ष की दृष्टि से वे विशेष अर्थ में, कलावादी भी कहे जा सकते हैं। वाजपेयीजी ने साहित्य के आत्म-तत्व और शरीर-तत्व दोनों की विस्तार से चर्चा की है, यद्यपि दोनों की अभेदत्व,दोनों की अविच्छेद्य स्थिति का असंदिग्ध शब्दों मे बार-बार प्रतिपादन भी किया है। शरीर के बिना आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती और बिना आत्मा के शरीर निर्मूल है तथा शरीर के माध्यम से ही आत्मा की अभिव्यंजना होती है, अतएव दोनों की एकरसता के बिना श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। आधुनिक हिन्दी-समीक्षा में साहित्य का यह शरीर--पक्ष बहुत कुछ उपेक्षित हो रहा है,उसके कला-तत्वों की ओर समीक्षकों की दृष्टि कम जाती है और जिनकी दृष्टि जाती भी है वह साहित्यिक शरीर तक न पहुंचकर उसकी वेशभूषा, आलंकारिक चमक-दमक में ही अटक कर रह जाती है। ऐसी स्थिति में वाजपेयीजी की समीक्षा हिन्दी--समीक्षा के बहुमुखी अभावों की पूर्ति करती हुई उसे प्रगति--पथ पर अग्रसर कर रही है। वाजपेयीजी

---

१ जयशंकर प्रसाद पृष्ठ ७५--७६
२ हिन्दी साहित्य--बीसवीं शताब्दी " ४१--४२

की यह कलात्मक दृष्टि उनके एक--दो निबन्धों में नहीं, उनके समस्त समीक्षा–ग्रंथों में बिखरी हुई है। उनकी इस कलात्मक दृष्टि को समझने के लिए विविध साहित्य–रूपों पर विचार किया जाना चाहिए।

काव्य

विविध साहित्य--रूपों पर वाजपेयीजी ने विस्तार से चर्चा की और इस चर्चा में भी उनके साहित्यिक मत पर प्रकाश पड़ता है, इसलिए उन पर भी यहां थोड़ा--बहुत विचार किया जा रहा है। क्रोचे के समान ही वाजयेयीजी भी कला के क्षेत्र में विभेद और विभाजन को स्वीकार नहीं करते। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें यह सब मान्य है। महाकाव्यों की व्यावहारिक समीक्षा करते समय वाजपेयीजी का ध्यान भारतीय साहित्य–शास्त्र पर अवश्य रहा है, परन्तु उसकी समस्त उपपत्तियों को वे स्वीकार नहीं करते। उनके स्थान पर वे कतिपय पश्चिमी तत्वों का भी समावेश करते है। वाजपेयीजी ने महाकाव्य के तीन लक्षण बतलाए हैं—रचना का प्रबन्धात्मक या वर्गबद्ध होना, उसकी शैली का गांभीर्य तथा विषय की व्यापकता और महत्व [१]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी प्रबन्ध काव्य की तीन प्रमुख विशेषतायें बतलाई हैं—सम्बन्ध-निर्वाह, कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान तथा दृश्यों की स्थानगत विशेषता [२]। वस्तुत: दोनों आचार्यों में यहां कोई भेद नहीं है। हिन्दी का महाकाव्य अब विषय की व्यापकता, महत्व और मार्मिकता के आधार पर परखा जाता है और दूसरी ओर उसमें शैली का गांभीर्य भी अपेक्षित है। महत्वपूर्ण मार्मिक वस्तु एवं तदनुरूप उदात्त शैली, ये ही दो प्रमुख तत्व हैं जिनसे कोई रचना महाकाव्य की संज्ञा पाती है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र की विस्तृत विशेषताएँ यहां सब छूट गई हैं [३]। संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य में जीवन के बाह्य वस्तु–व्यापारों को प्रमुखता दी है। इन व्यक्त वस्तुओं के वैविध्य और उनके समारोहपूर्ण वर्णन से महाकाव्यों में एक औदात्य आ जाता है [४]। 'रामायण' और 'महाभारत' में बाह्य संघर्ष सभूत गरिमा है,'कामायनी' में अन्तरङ्ग संघर्ष की प्रचुरता है और उसमें भी काव्योचित महत्व का समावेश हुआ है [५]। इस प्रकार आधुनिक समालोचना में प्राचीन और नवीन दोनों के

काव्य

विविध साहित्य--रूपों पर वाजपेयीजी ने विस्तार से चर्चा की और इस चर्चा में भी उनके साहित्यिक मत पर प्रकाश पड़ता है, इसलिए उन पर भी यहां थोड़ा--बहुत विचार किया जा रहा है। क्रोचे के समान ही वाजयेयीजी भी कला के क्षेत्र में विभेद और विभाजन को स्वीकार नहीं करते। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें यह सब मान्य है। महाकाव्यों की व्यावहारिक समीक्षा करते समय वाजपेयीजी का ध्यान भारतीय साहित्य–शास्त्र पर अवश्य रहा है, परन्तु उसकी समस्त उपपत्तियों को वे स्वीकार नहीं करते। उनके स्थान पर वे कतिपय पश्चिमी तत्वों का भी समावेश करते है। वाजपेयीजी ने महाकाव्य के

पर विचार करते समय वाजपेयीजी ने केवल कार्यावस्थाओं की ही चर्चा की है। अर्थ-प्रकृतियों और संधियों के शास्त्रीय विवरण में वे नहीं गए हैं। 'कामायनी' का वस्तु-विधान भी पश्चिमी दु:खांत रचनाओं के अनुरूप बतलाया गया है। परन्तु समस्त भारतीय और यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के भी परे 'कामायनी' का उपसंहार है जो शाकुन्तल के आदर्श पर काव्य की दार्शनिक और आलंकारिक पूर्ति करता है। वाजपेयीजी की समीक्षाओं में भारतीय और यूरोपीय साहित्य-शास्त्र का सम्मिलित प्रयोग तो हुआ ही है, परन्तु उनकी दृष्टि में शास्त्र प्रमुख नहीं है काव्य प्रमुख है। वे काव्य के अनुरूप शास्त्रीय सीमाओं का भी विस्तार कर लेते हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि प्रमुख रूप से शास्त्र पर नहीं, काव्य पर आधृत हैं, शास्त्र उसका सहायक है, नियामक नहीं।

वे महाकाव्य का संबंध राष्ट्रीय उत्कर्ष के संस्कार से जुड़ा हुआ मानते हैं। महाकाव्य में युग की सर्वोच्च राष्ट्रीय चेतना और विकास की झलक मिलती है। इसलिए महाकाव्य में प्राय: कोई बड़ा संघर्ष या युद्ध ही केन्द्रीय घटना हुआ करती है और उसका सम्पूर्ण वातावरण वीर-भावना से ओत-प्रोत रहा करता है। महाकाव्य को राष्ट्रीय जीवन और भावनाओं का प्रतिबिम्ब या मुकुट कहा जा सकता है [१]। हम राष्ट्रीयता के प्रसंग में देख चुके हैं कि वाजपेयीजी की समीक्षाएँ अब स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय धरातल पर उतर आई हैं और मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वाजपेयीजी राष्ट्रवादी समीक्षक हैं। उनका रस-सिद्धान्त राष्ट्रीय भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। 'धीरेन्द्र वर्मा' विशेषांक में 'राष्ट्रीय साहित्य' शीर्षक लेख का आरम्भ ही इन पंक्तियों से किया गया है—"साहित्य के विवेचन में दो तथ्य आज प्राय: स्वीकृत किए जा चुके हैं। एक यह कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, और द्वितीय यह कि राष्ट्रीय होकर ही कोई साहित्य सशक्त और सारवान हो सकता है।" इस निबन्ध में विस्तार से भारतीय राष्ट्रीयता की चर्चा भी की गई है। वे राष्ट्रीय जीवन के उत्साह को ही महाकाव्य का विषय मानते हैं, इसलिए प्रेमाख्यानों में महाकाव्योचित औदात्य नहीं मानते [२]। महाकाव्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महा-प्रवाह, सभ्यता के उद्गम, संगम प्रलय, किसी महच्चरित्र के विराट उत्कर्ष अथवा आत्म-तत्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिये की जाती है[३]।" महाकाव्यों के चरित्र-सम्बन्धी क्रमागत मान्यता में भी वे परिवर्तन स्वीकार करते हैं। 'साकेत' में वीर-चरित्र के स्थान पर साधु भरत की साधनामयी जीवनी अंकित की गई है। इसमें धीरोदात्त नायक की गरिमा के स्थान पर अधिक सरल और मानवीय भावों की योजना की गई है तथा पारिवारिक भावनाओं का विकास दिखलाया गया है [४]।

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ १५२
२ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी " ४७
३ —वही— " ४४-४५
४ आधुनिक साहित्य " ४७

वे गीत-काव्य को सर्वाधिक व्यक्तिगत साहित्यिक विधा मानते हैं, परन्तु साथ ही यह भी मानते हैं कि श्रेष्ठ गीतों में व्यक्ति अपने को समष्टि में लीन कर लेता है। वहां कवि-व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विषय नहीं रह पाते [१]। इस प्रकार गीतों में भी सामाजिक भूमि अपेक्षित है, बिना इसके वे श्रेष्ठ गीत नहीं बनते या उनमें रसोद्रेक की क्षमता नहीं आती। सूरदास के गीतों की विवेचना करते हुए उन्होंने दो प्रकार के गीतों की ओर संकेत किया है--मुक्तक गीत और कथाश्रित गीत [२]। प्रतिभा-प्रबल काव्य में नई-नई साहित्यिक विधाओं का जन्म हुआ है, और उनके अनुरूप ही साहित्य-शास्त्र भी अपना विस्तार करता है। साहित्य-शास्त्र का अनुवर्ती नहीं है, वाजपेयीजी का गीत-विवेचन इस बात का एक और प्रमाण है। प्रगीत में कवि की भावना और कल्पना, अभिव्यंजना और उसके द्वारा निर्मित रूप में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इन विविध तत्वों के अभेदत्व में ही प्रगीत का प्रगीतत्व, प्रगीत का वास्तविक उत्कर्ष निहित है। प्रगीत की निर्मात्री भावना और प्रगीत—भाजन में तात्विक एकता होती है [३]। 'संगीत के स्वरों की भांति प्रगीत के शब्द भी कवि की भावना इकाइयों के परिचायक होते हैं और इस प्रकार शब्द और अर्थ, छंद और लय, रूप और निरूप्य में एक अविच्छेद्य सम्बन्ध बन जाता है [४]: यह 'वागर्थ या 'गिरा अरथ' का 'अखण्ड' सम्बन्ध परम्परागत ही कहा जायगा। युगानुरूप ही काव्य-भाजन या काव्य-रूप विकसित होते हैं। प्रगीत के निर्माण में भी युग की काव्य-भावना कार्य करती रही है [५]। प्रगीत व्यक्तिनिष्ठ आत्माभिमुखी कला है। छायावादी युग में सामान्य जनता की उत्साहहीनता, निष्क्रियता, तथा समाज की अनिश्चित स्थिति से कवियों का संगीत, उल्लास, नव-निर्माण की उत्कट अभिलाषा एवं सारी जागरण-चेतना व्यक्ति-मुखी हो गई और काव्याभिव्यक्ति प्रगीतात्मक। छायावाद की प्रतिनिधि काव्य-शैली प्रगीतों की ही है [६]। वाजपेयीजी ने न केवल काव्य का सम्बन्ध युग-तत्व से जोड़ा है, वरन् काव्य-रूपों का सम्बन्ध भी युग-तत्व से जोड़ दिया है। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य युग संबद्ध हुआ है। वस्तु और शैली दोनों में एक समरूपता स्थापित की गई है और उसका आधार मनोवैज्ञानिक है।

वे तत्वत: प्रबन्ध और प्रगीत में कोई भेद नहीं मानते। समस्त काव्य-व्यापार एक अखण्ड सत्ता है। इसलिए न तो कोई प्रबन्ध है और न कोई प्रगीत है, यदि कुछ है तो

---

१ महाकवि सूरदास पृ० ८५
२ —वही— " १४४
३ आधुनिक साहित्य (भूमिका) " २५
४ नया साहित्य : नये प्रश्न " १४६
५ आधुनिक साहित्य (भूमिका) " २५-२६
६ नया साहित्य : नए प्रश्न " १४८

वह काव्य ही है। इसलिए जो लोग प्रबन्ध काव्य में बाह्य सौन्दर्य एवं प्रगीत काव्य में अन्तः सौन्दर्य बतलाया करते हैं, उन्हें भारी भ्रम है। "कविता की समीक्षा में न कहीं गीत काव्य है, न कहीं अगीत काव्य। न कहीं अन्तः सौन्दर्य है, न कहीं बाह्य-सौन्दर्य। सब प्रकार के काव्य में सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है[१]। सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य-साँचे की बन्दिनी नहीं है, इसलिए विभाजन असंगत है[२]। तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है, इसलिए व्यावहारिक धरातल पर दोनों काव्य-रूपों को समान महत्व दिया गया है, दोनों में उच्चकोटि के काव्य एवं जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सम्भव मानी गई है[३]। फिर भी वाजपेयीजी का झुकाव प्रगीत काव्य की ओर अधिक है। उन्होंने लिखा है --'प्रबन्ध काव्य यदि कोई रसीला फल है जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिए आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत-रचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल घूंट-घूंट पी सकते हैं[४]।' यहाँ वाजपेयीजी ने युग-रुचि का ही साथ दिया है। वे मानते हैं कि प्रबन्ध-काव्य का सौन्दर्य आवृत और आच्छादित होता है, अनावृत सौन्दर्य तो प्रगीत में ही मिलता है। प्रबन्ध काव्य में बहुत सा इतिवृत्त रहता है, अनेक दृश्य एवं वस्तुएं अंकित होती हैं, परन्तु प्रगीत में कवि की आत्माभिव्यंजना निर्बन्ध हुआ करती हैं[५]। आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य को प्रगीत काव्य से श्रेष्ठ माना है[६]। शुक्लजी की दृष्टि वाह्य जीवन-व्यापारों पर लगी हुई थी। वाजपेयी जी ने बाल्मीकि और तुलसी की तुलना करते हुए बतलाया है कि बाल्मीकि में जगत्तत्व प्रमुख है, तुलसी में आत्म-तत्व, इसी प्रकार काव्य-समीक्षा में शुक्लजी की दृष्टि जगत-तत्व पर लगी हुई है और वाजपेयीजी की दृष्टि काव्य के आत्म-तत्व पर केन्द्रित है, एक हिन्दी समीक्षा के क्लासिक आचार्य की दृष्टि है और दूसरी रोमेन्टिक आचार्य की, परन्तु सौन्दर्य के दोनों ही उपासक हैं, वह चाहे जहाँ पर हो। शुक्लजी आत्म-सौन्दर्य को विराट विश्व में प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं और वाजपेयीजी विश्व-सौन्दर्य को आत्मा के मुकुर में प्रतिबिम्बित करना चाहते हैं। बात एक ही है, सौन्दर्य की अखण्ड सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए प्रबन्ध काव्य हो चाहे प्रगीत काव्य, दोनों ही श्रेष्ठ होंगे, दोनों में समान सौन्दर्य होगा। ऊपर हम देख चुके हैं कि वाजपेयीजी ने यह बात स्पष्ट कर दी है। सौन्दर्य (रस-ब्रह्म) के आनन्द तत्व में वाजपेयीजी की चित्तावृत्ति अधिक रमती है, इसीलिए वे

---

१ जयशंकरप्रसाद पृ० ६५
२ —वही— ,, ६४
३ —वही— ,, ६५
४ आधनिक साहित्य (भूमिका) ,, २४
५ —वही— ,, २४
६ जायसी-ग्रंथावली (भूमिका) ,, १७६, २१०

आत्मानन्दी सूर की तन्मय होकर प्रशंसा कर सके हैं, इसीलिए प्रगीत काव्य में उनकी रुचि अधिक है। शुक्लजी को चित्तवृत्ति सौन्दर्य के सत्-तत्व में अधिक रमती थी, इसी लिए वे तुलसीदास को अधिक महत्व देते हैं, प्रबन्य काव्य को प्रगीत से श्रेष्ठ बतलाते हैं। सौन्दर्य के ये दोनों तत्व एक दूसरे से अभिन्न हैं, इसलिए भेद-बुद्धि व्यर्थ है।

उपन्यास और कहानी

वाजपेयीजी मानते हैं कि उपन्यास नए व्यक्तिवादी युग की रचना है, व्यक्ति-वादिता के विकास के साथ उपन्यासों का विकास सम्भव हुआ है। उपन्यासों में व्यक्तियों का वास्तविक जीवन एवं साधारण दैनिक घटनायें चित्रित की जाती हैं। धार्मिक विचारो के युग में यह सम्भव नही था। धीरे-धीरे उपन्यास जीवन से तद्रूप हो गया। फिर कला होने के नाते जीवन से कुछ भिन्न भी रहा। उसमें वास्तविक जीवन-घटनाओं की छाया अंकित की गई है [१]। यहां हम देखते है कि उपन्यासों का भी युग-जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया गया है और उसके कलात्मक रूप की रक्षा भी की गई है। काव्य और उपन्यास का अन्तर बतलाते हुए, उपन्यास का जीवन से किस प्रकार का सम्बन्ध है, इस बात पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने लिखा है कि काव्य में कवि के भावों की अभि-व्यक्ति की जाती है। कवि के भावों को प्रेरित करने वाला स्थूल चित्र तो कवि की पीठ के पीछे रहता है। उपन्यासकार के सामने ही जीवन और उसका चित्र रहा करता है। उपन्यास में जीवन और समाज के व्यक्त रूपों और घटनाओं का चित्रण किया जाता हैं [२]। 'वर्णनात्मक शैली में कल्पना के आधार पर यथार्थ प्रतीत होने वाली जीवन-घटना का चित्रण करना उपन्यासों का प्राथमिक लक्ष्य था। कल्पना-निर्मित वास्तविक जीवन-कथा ही उपन्यास है [३]।' आधुनिक हिन्दी में कल्पना के सहारे सामाजिक जीवन के किसी स्वरूप का यथार्थ आभास देते हुए उस जीवन की मार्मिक व्यवस्था करना उपन्यास का लक्ष्य माना गया है [४]। यदि उपन्यास में जीवन की एक सम्पूर्ण झांकी दिखाई जा सकी है और यदि उसके द्वारा जीवन--मर्म की तात्विक और दार्शनिक निष्कर्षों के साथ झांकी दी जा सकी है, साथ ही उन निष्कर्षों से उत्पन्न बौद्धिकता में, हमारे मन मस्तिष्क एकाग्र हो उठे हैं, तो कथा की स्वल्पता नगण्य होगी [५]।

---

१ आधुनिक साहित्य " १२३
२ —वही— " १३७
३ —वही— " १२६
४ —वही— " १३७
५ आधुनिक साहित्य " १६४

व्यक्तिवादी उपन्यासों के उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि रोम्यां रोलां, ज्यां क्रिस्तोफा और डोस्टावस्की के उपन्यास व्यक्तिवादी होते हुए भी सामाजिक उद्देश्य से पूर्ण हैं। अतएव ये व्यक्तिवादी कृतियां पूर्णतः सामयिक भी बनाई जा सकती हैं। कभी कभी व्यक्ति के महान संकल्पों का चित्रण समाज और राष्ट्र को नया जीवन प्रदान करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिवादी उपन्यासों की भी उपयोगिता हो सकती है [१]। कला की दृष्टि से भी व्यक्तिवादी उपन्यासों में प्रभावशालिता और अन्त-संघर्ष अप्रतिम कहे जा सकते हैं। थोड़े से पात्रों का संश्लिष्ट तल-व्यापी चित्रण जो नाटकीय और मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है, वह पात्र-बहुल सामाजिक उपन्यास में कम सम्भव है [२]। वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि में सामाजिक सूल्य प्रमुख हैं और उसमें कलात्मकता का भी समावेश है। यह बात ऊपरी विवेचन से स्पष्ट है।

अतिरिक्त बौद्धिकता या वैचारिकता के साहित्य में प्रयोग का भी वे बार-बार विरोध करते रहे हैं। उनका मत है कि किसी विशेष विचार-धारा को स्वतन्त्र रूप में उपन्यास या कहानी में स्थान नहीं दिया जा सकता [३]। किसी भी कलाकृति को किसी वाद या विचार-धारा के अन्तर्गत रखना खतरे का और असाहित्यिक कार्य भी कहा जा सकता है। इससे रचना के उपदेशात्मक, कृत्रिम और बेढङ्गी हो जाने का भय रहता है।

कहानी की सबसे आवश्यक वस्तु प्रभावशाली एवं असाधारण जीवन-मर्म को पूर्ण रूप से व्यक्त करने वाला घटना-सँकलित कथानक का प्रसार है [४]। इस प्रकार जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति ही कहानी का उद्देश्य माना गया हैं। यह जीवन-मर्म कहानी का प्राण-तत्व है, कथानक उसका शरीर है [५]। कहानी में इस प्राण-तत्व या उद्देश्य की व्यंजना होनी ही चाहिये। केवल दैनिक जीवन की किसी घटना के चित्रण में या किसी तथ्य के स्पष्टीकरण में कहानी कला निहित नहीं है। उसमें किसी तल-स्पर्शी प्रयोजन का रहना अनिवार्य है [६]। छोटी कहानी को वाजपेयीजी ने अणिमा की संज्ञा दी हैं। इसमें जीवन-मर्म की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। इसकी विशेषताएं इस प्रकार बतलाई गई हैं—'जीवन के निगूढ़ मर्मों की सूझ और पहचान और साथ ही शिल्प की ऐसी अप्रतिम योजना जिसमें सकेतों का बाहुल्य हो—पुनरुक्तियों से नितान्त अछूती। छोटी कहानी के सम्बन्ध में यह कहना सुसंगत है कि या तो वह सारवान है अतः ग्राह्य है अथवा निस्सार

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न पृ० १८६
२ —वही— " १८६
३ —वही— " १९०
४ —वही— " १९१
५ आधुनिक साहित्य " १८९
६ —वही— " १९०

है और भूल जाने योग्य है [१]।' जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण छोटी कहानी प्रशंसार्ह बन गई है। वह सारवान होकर ही ग्राह्य हो सकी है।

नाटक

नाट्य-विवेचन में वाजपेयीजी पूर्वी और पश्चिमी मतों को सामने रखकर चले हैं। एक ओर तो नाट्य-शास्त्र में वर्णितावस्तु, पात्र सभी को यथावत् ग्रहण कर लिया गया है [२]। और दूसरी ओर नाटक के देशकाल, आलाप-संलाप वाले नवीन समारम्भ को भी स्वीकार किया गया है। नाट्य विवेचन में अरस्तू के नियमों का भी पालन हुआ है [३]। नाटकों की परीक्षा भारतीय रस एवं पश्चिमी संघर्ष दोनों के आधार पर की गई है। श्री जयशंकरप्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक को उन्होंने काव्योपजीवी रस-प्रधान नाटक कहा है [४]।

ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि उनमें पूरी निर्माणात्मक मौलिकता के लिए स्थान नहीं रहता। 'कला यदि मानव-कल्पना का परिणाम है तो, स्वतन्त्र कल्पना में जो इतिहास–सम्बन्धी या अन्य प्रतिबन्ध लगेंगे, वे बाधा ही उत्पन्न करेंगे [५]।' ऐतिहासिक नाटककार चरित्र–निर्माण में स्वतन्त्र नहीं रहता [६]। नाटक में इतिहास प्रबल होने पर उसका कला-पक्ष दुर्बल हो जाता है [७]। ऐतिहासिक नाटकों में कला-पक्ष के दुर्बल होने की सम्भावना है, इसीलिए वे ऐतिहासिक नाटककार को विशुद्ध नाट्य रचयिता की कोटि में नहीं मानते [८]। वे साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं और उसमें मानवीय जीवन की सजीवता के साथ सामाजिकता का समावेश भी चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है कि कोरी राजनीतिक या ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर ही नाटक में मानवीय मनोभावना की स्वाभाविकता नहीं आ सकती। पात्रों के सामाजिक जीवन के साथ ही पात्र की वैयक्तिक रुचि और सत्ता को भी चित्रित करना आवश्यक है। इसी कारण से 'स्कंदगुप्त' का कथानक दो पार्श्वभूमियों पर चित्रित किया गया गया है [९]।

---

१ आलोचना अंक २३ पृ० ८
२ आधुनिक साहित्य " २१०
३ —वही— " २१५
४ —वही— " २४८
५ —वही— " २३२
६ —वही— " २३२
७ —वही— " २४७
८ आधुनिक साहित्य " २३२
९ —वही— " २४७

भारतीय नाटकों की सुखांत-व्यवस्था पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने बतलाया है कि भारतीय आदर्शवाद जीवन की वास्तविकता, जीवन के अनिवार्य संघर्षों और दुःखों की अवहेलना नहीं करता। जीवन के दोनों पक्षों पर भारतीय नाट्य-रचयिताओं की सदैव दृष्टि रही है [१]। रस सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के दृश्यों पर अवलंबित रहता है [२]। आशय यह है कि भारतीय नाटकों का सम्बन्ध वे जीवन की वास्तविकता से मानते हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों की चर्चा करते हुए समस्या मूलक नाटकों पर भी विचार व्यक्त किये गये हैं। वे मानते हैं कि समस्या-मूलक नाटकों के रचयिता प्रायः बुद्धिजीवी होते हैं। नाट्य-रचना उनका साधन है। समस्या-विवेचन प्रमुख एवं नाटकीय तत्वों की गौणता ऐसे नाटकों का प्रमुख दोष है [३]। हम ऊपर देख चुके हैं कि वे उपन्यासों में भी किसी वाद या विचार-धारा का प्रवेश हितकर नहीं मानते, इसी प्रकार नाटकों में भी अधिक बौद्धिकता का समावेश उन्हें दोषयुक्त प्रतीत होता है। वे राष्ट्रीय जीवन की गम्भीरता वाले नाटकों का अभिनय ही फलप्रद और उपयोगी मानते हैं। इन्हीं के द्वारा राष्ट्रीय रंगमंच की नींव डाली जा सकती है जिसका सूत्रपात आवश्यक है [४]। रंगमंच की नव प्रतिष्ठा को वे एक राष्ट्रीय आवश्यकता मानते हैं [५]। वाजपेयी जी की समीक्षाओं में राष्ट्रीय दृष्टि उत्तरोत्तर स्पष्ट और विकसित होती गई है। अभिनेय नाटकों को वे राष्ट्र के लिये सर्वाधिक उपयोगी कला मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'गम्भीर अभिनेय नाटक कला की सर्वोत्तम सृष्टि है। मानव-चरित्र को शक्ति और गति देने में, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में जीवन का नव-निर्माण करने में—जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है उतना दूसरी कोई कला-कृति नहीं। नाट्य-कला ही समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोच्च कला रही है। विविध राष्ट्रों के कला-सम्बन्धी उत्कर्ष को मापने के लिये नाटक ही सर्वप्रमुख उपादान रहा है [६]।' सामूहिक उपयोग के लिये नाटक ही प्रधान साहित्यांग है, इसलिये अत्यन्त महत्वपूर्ण भी। वे मानते हैं कि 'नाटक के लिये वही निष्ठा और अनुभूति मूल्यवान है जो सार्वजनिक निष्ठा और सार्वजनिक अनुभूति के समीप हो।' वे नाटक के प्रश्न को वैयक्तिक अनुभूति की सचाई और गहराई का उतना नहीं मानते जितना अनुभूति की सार्वजनिक ग्राह्यता का मानते हैं। नाटक के सुखांत अथवा दुःखान्त सम्बन्धी प्रश्न को भी उन्होंने सामूहिक जीवन से ही सम्बद्ध किया है। नाटक का अन्त वैयक्तिक सुख-दुःख के संवेदन पर आधृत नहीं है, उसका

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० २२७
२ —वही— ,, २२८
३ नया साहित्य : नये प्रश्न ,, १६५
४ आलोचना १९ ,, २
५ —वही— ,, ३
६ आलोचना १९ ,, ४

निर्णय सामूहिक सुख या दुःख के संवेदन पर ही होगा [१]। स्पष्ट ही यह विचार-धारा रस-सिद्धान्त के अनुकूल होगी जिसमें वैयक्तिकता निःशेष होकर एक सामूहिक भाव-भूमि की प्रतिष्ठा होती है।

विविधवाद

आदर्शवाद

वाजपेयीजी की साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं को समझने के लिए विविध वादों पर उनके विचारों को देखना आवश्यक है। इससे उनके साहित्यिक मत को समझने में सहायता मिलेगी। वे आदर्शवादी परम्परा के समीक्षक हैं, यद्यपि उनका आदर्शवाद अनेक नवीनताओं से संयुक्त है। आशामय वातावरण का आलोक, उत्साह और उदात्त कार्य आदर्शवादी कृतियों में देखे और पहचाने जा सकते हैं [२]। आदर्शवाद उच्च अध्यात्म पर अवस्थित है। अतएव वह अनेकता में एकता, विशृंखलता में शृंखला, निराशा में आशा, दुःख में सुख की प्रतिष्ठा का उद्देश्य रखता है। वह मानवीय जीवन की उच्च संभावनाओं पर आश्रित है [३]। आदर्शवाद का श्रेष्टतम स्वरूप उच्चतम अध्यात्म पर ही आश्रित है, दूसरा स्वरूप नीति और मर्यादा पर आश्रित है। तुलसी का आदर्श आध्यात्मिक है और मैथिलीशरण जी का नैतिक [४]। सामाजिक रूढ़ियों के एवं वीर पूजा के पथ पर चलने वाले [५] अथवा धर्म से घिरे हुए आदर्शवाद को वे जीवन-विमुख एवं संकीर्ण कोटि का मानते हैं [६]। तार्किक अतिवाद की सीमाओं पर पहुंचकर वह विकृत आदर्शहीन रूप धारण कर लेता है, जैसा कि जैनेन्द्रजी की रचनाओं में प्राप्त होता है [७]। आदर्शवाद में कतिपय त्रुटियां आ जाती हैं। ऐसे साहित्य में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान हो जाता है और वैज्ञानिकता कम होने लगती है और ऐसी कृतियाँ भावात्मक हो जाती हैं [८]। भावुकता के अतिरेक का भी, बुद्धि के अतिरेक के समान ही वाजपेयीजी ने विरोध किया है। वे साहित्य में संतुलित दृष्टि के समर्थक हैं। आदर्शवादी कृतियां जीवन की कठि–

---

१ आलोचना पृष्ठ ७
२ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " १२
३ आधुनिक साहित्य " ३९३
४ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी " ३८
५ —वही— " १२
६ आधुनिक साहित्य ,, ३९५
७ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) ,, १८
८ आधुनिक साहित्य " १४४

नाइयों को आँखों से ओझल कर असाधारण और अलौकिक पात्रों की सृष्टि करती हैं। अतएव ऐसी रचनाएं अबास्तविक और अविश्वसनीय भी हो जाया करती है [१]। अपने अतिवादी रूप में आदर्शवाद साहित्य के मूल रूप से दूर जा पड़ता है और कोरे उपदेशों का संग्रह मात्र रह जाता है [२]। धार्मिक आदर्शवाद ने मानव जीवन के महत्व को फीका किया और मानवीय आचारों के बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक आधार की भी उपेक्षा की [३]। वाजपेयीजी की आदर्शवाद सम्बन्धी धारणायें रस-सिद्धांत से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। आदर्शवाद में इष्ट का चित्रण किया जाता हैं, उसमें सत् के प्रति पक्षपात व्यक्त होता है। यह वस्तुतः रस-सिद्धांत की सामाजिक पृष्ठभूमि ही है। आदर्शवाद की आध्यात्मिकता अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है। आदर्शवाद में असाधारण वातावरण और उदात्त वर्णन होते हैं। रस भी लोकोत्तर चमत्कार-कारी कहा गया है। जीवन से विमुख होकर आदर्शवाद अपना महत्व खोने लगता है, रस के लिए भी यही बात कही गई है। आदर्शवाद का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप उच्चतम अध्यात्म पर अवस्थित है और सर्वश्रेष्ठ रस का स्वरूप भी। वस्तुतः यह अध्यात्म जीवन के सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक आधार का ही प्रति-रूप और आदर्शवाद एवं रस की इसी भूमि पर प्रतिष्ठा की गई है। इस प्रकार वाजपेयीजी के रस-मत में और आदर्शवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका रस-सिद्धांत आदर्श की नींव पर ही आधृत है।

यथार्थवाद

वाजपेयीजी ने हिन्दी-साहित्य में प्रचलित यथार्थवाद के अनेक रूपों में सबसे प्रथक और स्वस्थ प्रसाद और प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा को माना है। जिसमें राष्ट्र की विकासोन्मुख गति-विधि का चित्रण किया गया है, जिसमें लेखक राष्ट्रीय चेतना से संपन्न है एवं राष्ट्रीय जीवन और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था रखता है [४]। यथार्थवाद की इसी परम्परा को पहचानना, उसकी रक्षा करना तथा उसे और आगे बढ़ाना आज के लेखक और समीक्षक का कर्तव्य है [५]। यथार्थवाद की एक विचार-धारा प्राचीन काल से यहां प्रचलित रही है। इसमें भले-बुरे के अनुसंधान की अपेक्षा समस्त प्रगतिशील मानव-व्यापारों के स्वतंत्र परीक्षण की प्रवृत्ति मिलती है [६]। पुराने आदर्शवादियों के समान

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ १४५
२ हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) ,, २२
३ जयशंकर प्रसाद ,, ८२
४ नया साहित्य : नये प्रश्न ,, १३९
५ —वही— ,, १३८
६ जयशंकर प्रसाद ,, ८२-८३

भले-बुरे, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि के द्वन्द्वों का समाहार एक नित्य सत्ता में करते हैं और उस सत्ता की सम्पूर्ण लीला का रस लेते हैं। इसी लीला को वे रस मानते हैं [१]। जीवन के इसी उच्चतम यथार्थ को रहस्य' की संज्ञा दी जा सकती है। 'कामायनी' ऐसा ही 'यथार्थोन्मुख मानव–रहस्य–काव्य' है [२]। साहित्य में यथार्थवाद भी स्वागत-योग्य है। यदि उसका लक्ष्य अनैतिक नहीं है और सामाजिक परिष्कार में उससे सहायता पहुँचती है, तो उसका भी साहित्य में स्थान हो सकता है [३]। हिन्दी के क्षेत्र में अस्वस्थ यथार्थवाद का ही अधिक प्रचलन हुआ है जिसमें एक नये संसार के स्थान पर नाना-विध कुण्ठाओं से ग्रस्त रोगियों से भरा हुआ अस्पताल दिया गया है [४]। अपने अतिरेक पर यथार्थवाद 'कला के लिये कला', सत्य तथा वैज्ञानिकता के नाम पर महत्वहीन एवं अनिर्दिष्ट बातों में भी उलझ जाता है [५]। नये यथार्थवाद की दृष्टि भौतिक है और ऊँची सांस्कृतिक भूमियों का इससे सम्बन्ध नहीं है [६]। वे आदर्शवाद और यथार्थवाद में कोई वस्तुगत भेद नहीं मानते, दृष्टि-भेद मात्र स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में ये एक ही वस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं [७]। दोनों जीवन के लिए उपयोगी हैं। एक जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक आधारों को पुष्ट करता है और दूसरा सांसारिक सत्य का साक्षात्कार कराता है। अपनी उन्नत अवस्था में ये एक-दूसरे के सहकारी हैं, परन्तु कट्टरता बढ़ने पर एक दूसरे के विरुद्ध ही हो जाते है। अतिवादों के मध्य में बहने पर ये काव्य-सलिलायें मानवता को एक सा जीवन-रस प्रदान करती हैं [८]।

वाजपेयीजी वस्तुतः आदर्शवादी ही हैं। यथार्थवाद के उसी रूप का वे समर्थन करते हैं जिसमें वह आदर्शवाद का सहकारी बन गया है जब उसका लक्ष्य अनैतिक नहीं है और जब वह राष्ट्रीय जीवन और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था रखता है। यथार्थवाद का आधुनिक अस्वस्थ रूप उन्हें स्वीकार्य नहीं है। वाजपेयीजी का समर्थित यथार्थवाद आदर्शवाद से, शैलीगत भेद के अतिरिक्त, सर्वथा अभिन्न है।

---

१ जयशंकर प्रसाद पृ० ८४
२ —वही— " ८१
३ नया साहित्य : नये प्रश्न (निकष) " ११
४ आधुनिक साहित्य " ३२५
५ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी (विज्ञप्ति) " २२
६ जयशंकर प्रसाद " ३८–३९
७ हिन्दी साहिय–बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) " १९७
८ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी " १९९

छायावाद

वाजपेयीजी छायावाद को आध्यात्मिक काव्य मानते हैं। मध्यकाल का भक्ति-काव्य भी आध्यात्मिक कोटि का है। परन्तु भक्ति कालीन आध्यात्मिकता अलौकिक और असाधारण है, संसार से दूर ले जाने वाली, संसार का तिरस्कार करने वाली और बहुत कुछ साम्प्रदायिक और धार्मिक ढङ्ग को है [१]। किन्तु छायावादी अध्यात्म की मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है, अलौकिक या धार्मिक नहीं। छायावाद मानव-जीवन के सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है। इसलिए इस काव्य में समस्त मानवीय अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी है। मध्य कालीन काव्य में मानव चरित्र और दृश्य जगत् अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे। मध्यकालीन कवि के लिए जगत् असत्य रहा है और छायावादी के लिए सत्य [२]। छायावाद में जीवन की स्वीकृति है, निषेध नहीं इसीलिए वाजपेयीजी ने इस काव्य को मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। छायावादी काव्य की आध्यात्मिकता बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया तथा भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की युगानुकूल नव प्रतिष्ठा है। इसमें जीवन की नई परिवर्तनशील परिस्थितियों और विचार-धाराओं का योग है [३]। छायावादी काव्य का अध्यात्म प्रकृत भूमि पर प्रतिष्ठित है। इसमें धार्मिक या अलौकिक अध्यात्म के स्थान पर पूर्ण मानव या प्रकृत अध्यात्म का आगमन हुआ है। यहां लौकिकता और अलौकिकता के भेद मिट गये हैं [४]। पूर्ववर्ती काव्य में देवत्व का मानवत्व बतलाने का प्रयास हुआ है, यहां मानवत्व का देवत्व प्रदर्शित किया गया है। अधिकांश छायावादियों की दार्शनिक भित्ति वेदान्त या उपनिषद हैं। वे आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। दुःख या निरात्म उनका अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और न उनमें स्थूल इन्द्रियता का उल्लेख है। उनकी सौन्दर्य भावना मानवीय है, परन्तु अतिशय सूक्ष्म—आध्यात्मिक [५]। छायावादी की मानवीय भूमि, उसके प्रगाढ़ जीवन-सम्बन्ध एवं उसकी उपयोगिता का वाजपेयीजी ने बार-बार उल्लेख किया है। वे छायावाद को युग की स्पष्ट प्रेरणाओं से उत्पन्न मानते हैं। उससे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। इसकी नींव बलिष्ट भूमि पर रखी गई है [६]।

---

१ आधुनिक साहित्य पृष्ठ ३१८
२ —वही— " ३२०
३ —वही— " ३२०
४ —वही— " ३१९
५ —वही— " २०३
६ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति)" १२-१३

वे इसे राष्ट्रीय काव्य भी मानते हैं, क्योंकि इसमें स्वातन्त्र्य–लालसा, शक्ति की अभिज्ञता तथा सांस्कृतिक द्वन्द्व की अनिर्दिष्ट स्थिति भी अभिव्यक्त है। ये सब तत्व एक कल्पनाशील, व्यापक सहानुभूति सम्पन्न विशिष्ट दर्शन के अङ्ग हैं। इस दर्शन में कल्पना–भावना और कर्म–चेतना का योग है। यह केवल संघर्ष का दर्शन नहीं है, जो प्रगतिवादियों को मान्य है [१]। छायावादी काव्य का दार्शनिक आधार इसी देश का है। इसी के अनुरूप उसका शब्द–संचय है। यह काव्य इस देश की प्रकृति और जलवायु के अनुकूल है। छायावादी प्रायः नैतिक और आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करते हैं, व्यक्तिगत और सामूहिक चारित्र्य पर जोर देते हैं और साधना पर विश्वास करते हैं [२]। रहस्यवाद की अपेक्षा वाजपेयीजी की दृष्टि छायावाद की ओर झुकी हुई है। रहस्यवाद उच्चतम अध्यात्म पर आधारित है, उसका एक विशाल साहित्य इस देश में हैं, परन्तु उसमें जीवन की उपेक्षा का भाव भी सन्निहित है, वह वैयक्तिक साधना की अपेक्षा रखता है और उसका आधार अतिमानवीय है। दूसरी ओर छायावाद का आधार मानवीय है, वह मानव–काव्य है, उसका जीवन और जगत् से घनिष्ठ सम्बन्ध है और उसकी दृष्टि सार्वजनिक अनुभूतियों पर है। वाजपेयीजी जीवन और साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं, इसलिए रहस्यवाद की अपेक्षा उन्हें छायावाद अधिक रुचिकर लगा है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के सम्बन्ध में वाजपेयीजी की प्रतिक्रिया विरोध की है। प्रगतिवाद में उन्हें साहित्य के कलात्मक, भावात्मक एवं मानवीय मूल्यों का तिरस्कार दिखलाई पड़ता है। परन्तु उन्होंने उदारतापूर्वक प्रगतिवाद के कुछ लाभ भी स्वीकार किए हैं। वे मानते हैं कि इसने हमारे नव-युवकों को एक तेजस्विता प्रदान की है, एक नया आत्म-बल दिया है [३]। दूसरी बात यह है कि इस पद्धति के द्वारा यह स्पष्ट हुआ है कि साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और साहित्य का मूल्य इसी के प्रति सजग संवेदनशील रहने में है। जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक, प्रतिक्रियावादी, सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी और साहित्यिक दृष्टि से हीन और ह्रासोन्मुख होगा [४]। यथातथ्यवादियों, प्रकृतिवादियों एवं मनोविश्लेषण के तत्व-

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति) पृष्ठ १३३
२ आधुनिक साहित्य " ३४४–३४५
३ नया साहित्य : नये प्रश्न " ४६
४ —वही— " ४७

ज्ञान को लेकर चलने वालों की अपेक्षा प्रगतिवादियों का साहित्य-सृजन अधिक उदार और सामाजिक चेतना सम्पन्न है[१]। प्रगतिवादियों में मतवाद का आग्रह और नैतिक चेतना की कमी ये दो ही बातें उन्हें अभी तक खटक रही हैं।

प्रयोगवादी काव्य में शैली को प्रमुख मानते हैं। बाजपेयीजी वस्तु को प्रमुख मानते हैं, शैली को नहीं। उनकी जीवन-दृष्टि आशा और विश्वास से परिपूर्ण है, निराशा और नकार से भरी हुई नहीं है। सबसे महत्व की बात यह है कि उन्हें राष्ट्रीय परम्पराओं की, राष्ट्रीय जीवन और साहित्य की सर्वाधिक चिन्ता है। वे विदेशी अनुकरण पर साहित्य के पौधे को नहीं पनपाना चाहते हैं[२]। वे व्यक्तिवादी नहीं है, उनकी दृष्टि सामाजिक है और यह समाज भी सुनिश्चित सांस्कृतिक व्यक्तित्व वाला है, वर्गीय अथवा निर्गुण और निराकार नहीं है। वाजपेयीजी की समीक्षाएँ अतिरेकों से बचकर, मध्य मार्ग पर चली हैं। वाजपेयीजी ने समीक्षा को दृढ़तापूर्वक राष्ट्रीय भूमि पर प्रतिष्ठित कर एक ठोस आधार दिया है और साथ ही समीक्षा को युग को दौड़ में समानान्तर भी कर दिया है।

व्यावहारिक समीक्षा

'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयीजी ने द्विवेदी-युग को काव्य-कला के लिए अनुर्वर बतलाया है। वे साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता के समर्थक हैं। ऊँचे आदर्शों के प्रति आसक्ति (जैसी गुप्तजी में है) उच्च दार्शनिक सिद्धान्त (जैसा शुक्लजी में है) और आदर्शवाद (जैसा प्रेमचन्दजी में मिलता है) साहित्य की कसौटी नहीं बन सकते।

प्रसादजी को वाजपेयीजी ने मानवीय जीवन का कवि कहा है, जीवन की बहुरूपता का निरूपक बतलाया है। उनके रहस्यवाद की मानवीय नींव का उन्होंने साग्रह उद्घाटन किया है। 'आंसू' को उन्होंने जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार कहा है। कवि की निश्छल एवं निर्भीक आत्माभिव्यक्ति की यहाँ वाजपेयीजी ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। 'आंसू' को उन्होंने सब प्रकार से मानवीय विरह-काव्य कहा है। परन्तु इसके प्रेम-वर्णनों में स्थूलता नहीं है, एक सूक्ष्मता, आत्मिकता है। यह प्रेम-गीत अवश्य है, परन्तु दर्शन-शासित, इस बात का भी उन्होंने उल्लेख किया है। 'कामायनी' की प्रशंसा कई आधारों पर की गई है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों का विश्लेषण हुआ

---

१ आलोचना २२ पृ० ७
२ आधुनिक साहित्य " २३

है, अतएव उसका आधार शाश्वत है। साथ ही उसमें उच्चकोटि की दार्शनिकता भी अनुस्यूत है। नीति के स्थान पर इस काव्य में आनन्द तत्व की प्रधानता है। सांस्कृतिक निर्माण की दृष्टि से भी इस काव्य का महत्व है। काव्योत्कर्ष में भी यह काव्य अपने युग का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। प्रसाद जी के काव्य में आधुनिक युग की जटिल समस्याओं का दिग्दर्शन और समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। श्री मैथिलीशरण गुप्त की सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि मध्य युग की बतलाई गई है। प्रसादजी का साहित्य युग के साथ-साथ चला है। प्रसादजी की अनुभूति गहरी है, सूझ बड़ी सूक्ष्म है, प्रतिभा ऊँची है। उनमें नई चेतना एवं नई कल्पना मिलती है।

निरालाजी के काव्य की प्रशंसा का प्रमुख आधार उनकी बौद्धिकता है। निराला की प्रमुख देन यह है कि उन्होंने भावना और कल्पना--मूलक काव्य में बुद्धि--तत्व का प्रवेश कर दिया है। दूसरी बात यह कि निरालाजी काव्य में कला--पक्ष के प्रति भी पर्याप्त सचेत रहे हैं। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि निराला का व्यक्तित्व सदैव अस्खलित रहा है। प्रसाद और पन्त में यह शैथिल्य भले ही मिल जाय, परन्तु निराला में यह बात नहीं है। इसलिये निराला का काव्य बहुत ऊँची भूमियों का स्पर्श कर सका है।

श्री जैनेन्द्रकुमार में तार्किक अतिवादिता और चिन्ताप्रद भावुकता का दिग्दर्शन कराया गया है तथा उनके चरित्रों की आदर्शहीनता एवं असामाजिकता का भी उद्घाटन किया गया है। श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी में सेक्स सम्बन्धी अतृप्ति उनकी असफलता का मूल कारण निरूपित की गई है। श्री अंचल के काव्य में भी यही अतृप्ति, अपरिष्कृत व्यक्तित्व उभरा हुआ है तथा श्री नरेन्द्र में भी क्षयशील उपकरण भरे पड़े हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा की काव्य--भूमि अधिकतर वैयक्तिक रही है, अतिशय अलंकृति के कारण उनका काव्य सर्व जन--सुलभ कभी नहीं रहा। इसके साथ ही मीरा में जैसा नैसर्गिक भावोद्रेक है, वैसा महादेवी में नहीं है। विशुद्ध काव्य--दृष्टि से वे मीरा जैसी ऊँचाई पर कम ही पहुंचती हैं।

पन्तजी की पूर्ववर्ती रचनाओं में उनकी नवनवोन्मेषशालिनी अज्ञेय और अप्रतिम कल्पना शक्ति की वाजपेयीजी ने बड़ी प्रशंसा की है। कल्पना के प्रकर्ष से कवि का जड़ व्यक्तित्व छूट जाता है और वह स्वच्छन्द होकर व्यापक एवं निर्लेप सृष्टि करता है। पन्तजी में कल्पना का प्रकर्ष है, जीवन--सम्पर्क छुड़वा देने वाला अतिरेक नहीं। भाव और भाषा के अभिन्न सम्बन्ध--स्थापन के लिये भी पन्तजी की प्रशंसा की गई। 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में एक दार्शनिक अनुबन्ध को देखकर, वाजपेयीजी ने प्रसन्नता प्रकट की थी और उसके निराशामूलक स्वरों में भी एक

दार्शनिक तटस्थता और जीवन के लिए आश्वासन को देखकर सन्तोष व्यक्त किया था। परन्तु पन्तजी में बढ़ती हुई उपदेशात्मकता को देखकर उन्होंने चिन्ता व्यक्त की थी। पन्तजी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती ही गई है और उसी अनुपात में काव्य-प्रवेग क्षीण होता गया है।

प्रयोगवादी साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने बतलाया है कि यह अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त है और पूरी तरह काव्य की सीमा में नहीं आता। प्रयोगवादी रचनाओं में वैचित्र्य-प्रियता की प्रवृत्ति मिलती है। ये रचनायें वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं। ये प्रयोग शैली-पक्ष तक ही सीमित हैं और इसी लक्ष्य को लेकर चल रहे हैं। ये साहित्यिक पम्परा से टूटे हुए हैं। प्रयोगवादियों की योजना शून्य-गामी है। जीवन से इनका सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध तो केवल शब्द, भाषा, शैली, छन्द आदि के प्रयोगों से ही है। शृङ्गारिक वर्णनों में प्रयोगवादी अश्लीलता की सीमा तक पहुंच गये हैं। प्रयोगवाद हिन्दी में बैठे-ठाले का धन्धा बनकर आया है। इनके पास कोई कथनीय वस्तु नहीं थी। यह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों का बीहड़ अड्डा भर था। पिछले कुछ दिनों से इसमें मध्य वर्ग के निष्क्रिय व्यक्तियों के निराश मन की भी अभिव्यक्ति होने लगी है।

अज्ञेय की 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर एक अत्यन्त निरंकुश व्यक्ति है। वह अत्यधिक व्यक्तिवादी और अहंवादी व्यक्ति है। उसका विद्रोही चरित्र अत्यधिक आसक्ति-पूर्ण, यातनामय, असामाजिक, नृशंस और घातक व्यक्ति का चरित्र है। शेखर एक आत्म-हननकारी और पर-हननकारी व्यक्ति के रूप में उपस्थित हुआ है। शेखर की क्रूरता, स्वनिष्ठा और असामाजिकता मन में तीव्र विरक्ति उत्पन्न करती है। शेखर लेखक के मनो-वैज्ञानिक प्रयोगों का पुतला प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में लेखक का लगाव किसी स्वस्थ केन्द्र से नहीं है, उच्च उद्देश्यों के प्रति उसकी आस्था नहीं है। इसमें विषण्ण वातावरण की सृष्टि होती है और आशा का कोई सूत्र पाठक के हाथ नहीं लगता। साहित्य के महान और स्थायी मूल्यों के आधार पर अज्ञेयजी के शेखर और भुवन के व्यवहारों को नैतिक, चारित्रिक या मनोवैज्ञानिक भूमिका पर देखने से श्री अज्ञेय की कला निसर्गजात कमी का परिचय सहज ही मिल जाता है। श्री अज्ञेय प्रकृतिवादी भूमि पर ही विचरण करते प्रतीत होते हैं।

दिनकरजी के 'कुरुक्षेत्र' में नवयुग की नवयुवक-जागृति और न्याय और समता के लिए उत्पीड़ितों की क्रांति की जोरदार आवाज उठाई गई है। ग्रन्थ के इस सामयिक सन्देश का उन्होंने सहर्ष स्वागत किया है। श्री सोहनलालजी द्विवेदी को राष्ट्रीयता का अनन्य प्रेमी और वीरोपासक कवि कहा गया है तथा उनमें राष्ट्रीय महाकाव्य की कमी पूरी होने की सम्भावना देखी गई है। 'कृष्णायन' के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि

उसमें प्राचीन पद्धति के भीतर नवीन राष्ट्रीय आदर्शों को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। इसमें देश-व्यापी सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता का लक्ष्य रखा गया है। प्रसादजी के नाटकों में अन्य विशेषताओं के साथ ही यह भी बतलाया गया है कि उनके ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय वातावरण की सम्पूर्णता के कारण एक भास्वरता और सम्पन्नता है। प्रसाद जी के नाटकों में देश-प्रेम का भाव अतीत के आधार पर अंकित किया गया है। वे साहित्य में राष्ट्र-प्रेम को प्रमुखत: उज्जीवित देखना चाहते हैं और आज के साहित्य के लिये इतना ही पर्याप्त मानते हैं।

ऊपर दिए हुए उल्लेखों से वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि को समझने में सहायता मिल सकती है। इसी उद्देश्य से यहां इनका संकलन हुआ है।

———

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षता से बचा न सके जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर-दुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

—अशोक के फूल, पृष्ठ १७६

मानवतावाद

मनुष्य के स्वभाव में ही ऐसा कुछ है कि वह दूसरे का दुःख नहीं देख सकता। सहानुभूति उसका सहज स्वभाव है। मनुष्य के लिए मनुष्य हो चाहे पशु, किसी का भी दुःख देखना या सुनना असह्य होता है। मनुष्य के इसी स्वभाव पर मानवतावादी दर्शन आधारित है[1]। मानवतावादी सिद्धान्त सार्वभौम सहानुभूति की अत्यंत व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। मनुष्य मात्र ही इस सहानुभूति के विषय नहीं हैं, वरन् समस्त जीव जगत योग्यतानुरूप इसका पात्र है। मानवतावाद के अन्तर्गत मानव प्रेम एवं जीव-दया दोनों का समावेश है[2]। मानवतावाद का यह अर्थ नहीं है कि जीवों की निम्न श्रेणियां भी मनुष्यों के समान समझी जाएं, उसका आशय इतना ही है कि हमें प्राणियों को अनावश्यक कष्ट नहीं देना चाहिए[3]। मानवतावाद मनुष्यता के विकास में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग के सिद्धांत में विश्वास करता है। मानवतावादी सिद्धांत की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य-हृदय की असंख्य सद्वत्तियां एकत्र हो गई हैं। उसमें सरलता इतनी है कि उसे एक बालक भी समझ सकता है और उससे एक प्रबुद्ध दार्शनिक भी संतुष्ट हो सकता है[4]। इसीलिए मानवतावाद को एक सामान्य और व्यावहारिक जीवन दर्शन कहा गया है[5]। पाश्चात्य दृष्टि में मानवता की हित-चिन्ता धार्मिक नहीं, नैतिक गुण है। यह एक

1. Encychlopaedia of Religion and Ethics, Vol. 6, P. 836
2. do Vol. 6, P. 837
3. do Vol. 6, P. 838
4. do Vol. 6, P. 839
५. मैथलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकांत पाठक, पृष्ठ ११६

आदर्शवादी चिन्तन पद्धति है। इसका स्वरूप तथा प्रकार अनुभव-गम्य है, दर्शन स्वच्छंद है और इसलिए न रूढ़ है न जड़। इसमें जीवन का स्पंदन है और व्यष्टि समष्टि का एकात्मभाव भी [१]। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना इसकी प्रधान विशेषता है [२]। टालसटाय ने अपनी 'कला क्या है' नामक पुस्तक में बतलाया है कि वे ही रचनाएं कला मानी जायेंगी जो मनुष्य और मनुष्य को भ्रातृत्व में बांधने वाली भावनाओं व्यक्त करेगी अथवा जिनमें सार्वभौम एकता का प्रतिपादन होगा। इसके अतिरिक्त जितनी भी रचनाएं होंगी वे हानिकारक होंगी और जनमत के द्वारा निरादर की दृष्टि से देखी जाएंगी —

Only those productions will be considered art which transmit feelings drawing men together in brotherly union, or such universal feelings as can unite all men. Only such art will be chosen, tolerated, approved, and diffused. But art transmitting feelings blowing from antiquated, worn-out religious teaching,--church art, patriotic art, voluptuous art transmitting feelings of superstitions fear, of pride, of vanity, of estatic admiration of national heroes--art exciting exclusive love of one's own people or sensuality, will be considered bad, harmful art, and will be censured and despised by public opinion [३]. टालसटाय मानवतावादी लेखक माने जाते हैं। उनके उपर्युक्त उद्धरण से उनकी मानवतावादी कलादृष्टि का पूर्ण परिचय मिलता है। मानवतावाद मनुष्य-मात्र के हित का महत् उद्देश्य लेकर चला है। वास्तविक रूप के मानवतावाद १८ वीं शताब्दी की देन है। पाश्चात्य मध्ययुगीन धार्मिकता का इसने विरोध किया है। श्री नन्ददुलारेजी वाजपेयी का मत है कि मानवतावाद शास्त्र-ज्ञान एवं परम्पराओं के प्रति एक विद्रोह का भाव लेकर आया। उसमें बुद्धि की अपेक्षा भावना को प्रमुखता दी गई और उसमें समाज की अपेक्षा व्यक्ति केन्द्र बन गया। वह मनुष्य की मुक्ति का सन्देश सुनाता है। वे मानवतावादी लेखकों को अधिक भावुक और आदर्श प्रेमी मानते हैं [४]।

मानवतावाद से ही मिलता-जुलता एक और वाद है जिसे मानववाद की संज्ञा दी गई है। मानवतावाद (Humanitarianism) और मानववाद (Humanism) में कुछ अन्तर है। मानववाद में मनुष्य की सम्पूर्ण वृत्तियों का निस्संग चित्रण किया जाता

---

१ मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकांत पाटक पृ० ११७

२ —वही— " ११८

3 What is Art--Tolstoy Chap. XIX P. 167

४ आलोचना १० अक्टूबर ५६ पृ० ५

है। वह यथार्थोन्मुख अधिक है [१]। वह विशुद्ध मानवीय दर्शन है मानववाद वह चिन्तन या कार्य-पद्धति है जो अतिमानवीय तत्व की अपेक्षा मनुष्य को ही प्रधानता देता है। मनुष्य इसका केन्द्र-विन्दु है। ईसा की १५ वीं शताब्दी का यह आन्दोलन विशेष रूप से तत्कालीन धर्म-शासन के प्रति एक विद्रोह था और यही आधुनिक वैचारिक, वैज्ञानिक और सामाजिक विकासों का मूल कारण था [२]। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रकृतिवाद और निरपेक्षवाद का विरोधी है। मानववाद की यह मूलभूत मान्यता है कि सत्य और स्वत्व मानव के लिये है, मानव द्वारा प्राप्य है और मानव-विकास के पर्याप्त साधन हैं। मानव-वादी चिन्तन के समस्त विज्ञानों की स्वतन्त्रता छीनकर उन्हें मानव सापेक्ष बना दिया है। मानववाद के अनुसार हमारे विचारों और कार्यों का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य का ऐहिक सुख और विकास है। वह मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाना चाहता है। भविष्य में आत्मा की मुक्ति एवं किसी अतिमानवीय सर्वोपरिसत्ता में उसका विश्वास नहीं है। वह मनुष्य को जीवन की महान देन को स्वतन्त्रता और आनन्दपूर्वक स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। मानववाद के अनुसार जीवन ही जीवन का लक्ष्य है। यही वास्तविक दृष्टि है अमरत्व के स्वप्नों से यह कहीं अधिक सुन्दर और महत्वपूर्ण है [३]। कार्लिस लेमांट ने बीसवीं शताब्दी के मानववाद को सम्पूर्ण मनुष्यता के सर्वाधिक कल्याण की इस प्रकृत विश्व में बौद्धिक और प्रजातान्त्रिक पद्धति पर आनन्दपूर्ण सेवा का दर्शन कहा है—To define Twentieth-Century Humanism in the briefest possible manner, I would say that it is a philosophy of joyous service for the greater good of all humanity in the natural world and according to the methods of reason and democracy [४].

संक्षेप में मानववाद प्रकृति को ही सब कुछ मानता है, इस लोक से परे किसी सत्ता में उसका विश्वास नहीं है, इसी महान प्रकृति से मनुष्य का विकास हुआ है और यह मनुष्य उसके शरीर और व्यक्तित्व से अभिन्न है, मृत्यु के उपरान्त कुछ भी शेष नहीं रहता। मानववाद का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य है और इस मनुष्य में तार्किक एवं वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा अपनी समस्याओं के समाधान की शक्ति है। मानववाद मनुष्य को सर्वथा स्वतन्त्र और अपना भाग्य-विधायक मानता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता को कम करने वाले सारे विधि-विधानों से उसका विरोध है। मानववाद का सर्व प्रमुख लक्ष्य मनुष्य की सर्वतो-मुखी ऐहिक प्रगति है। जाति, धर्म और राष्ट्र से ऊपर, मानववाद सम्पूर्ण मनुष्यता की

---

१ आलोचना २० अक्टूबर ५६ पृ० ५
2 Encychlopaedia Britannica, Vol. 11, P. 876
3 Encychlopaedia of Religion and Ethics, Vol. 6, P. 830
4 Humanism as a Philosophy--Corliss Lamount--Third Edi. P. 273
5 -do- -do- P. 18

मंगल–कामना से प्रेरित है। मानववाद विश्व में, विश्व के प्रत्येक राष्ट्र में, सहयोग की भावना पर आधृत प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था के आधार पर एक परिपूर्ण शान्ति से मुक्त प्रजातन्त्र की स्थापना का लक्ष्य रखता है [1]।

मानववाद और मानवतावाद में यह अन्तर प्रतीत होता है कि मानववाद का केन्द्र-विन्दु मनुष्य है और मानवतावाद का सर्वभूत, मानववाद प्रमुख रूप से बुद्धि पर आश्रित है और मानवतावाद भावना पर, मानववाद यथार्थोन्मुख दर्शन है व्यावहारिक अधिक है और मानवतावाद आदर्शवादी अर्शन है। मानववाद का सम्बन्ध विज्ञान से है और मानव–तावाद का सम्बन्ध नैतिकता से है, मानववाद में सामाजिक होने की क्षमता अधिक है, मानवतावाद व्यक्तिनिष्ठ ही रह सकता है। परन्तु दोनों में सबसे बड़ा साम्य यह है कि दोनों ही मनुष्यता की सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति चाहते हैं और उसकी सर्वतोमुखी प्रगति का सन्देश सुनाते है।

मानववाद और मानवतावाद का इतिहास बहुत कुछ मिल चुका है। इसलिए मानववाद के इतिहास को सक्षेप में देखकर मानवतावाद की भी ऐतिहासिक प्रगति का परिचय प्राप्त किया आ सकता है। वैसे तो भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में यह तत्व नया नही है, परन्तु इसका आधुनिक रूप प्रमुखत: पश्चिम से प्रभावित है। इसलिए यहाँ उसका पश्चिमी इतिहास ही प्रस्तुत किया गया है।

प्रोटेगोरस पहला प्रसिद्ध मानववादी लेखक था जो ई० पू० ५वीं शताब्दी में हुआ था। उसने परम्परागत धार्मिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया, देवताओं के अस्तित्व पर शका की और मनुष्य को ही सर्वोपरि मानदण्ड माना (Man is the measure of all things)। इसी समय के कई ग्रीक दार्शनिकों ने भी मनुष्य को प्रमुखता दी। साक्रेटीज की दृष्टि में भी मनुष्य का सबसे अधिक महत्व था। सभी प्रकृतिवादी एवं भौतिकवादी दर्शन मानववाद के पोषक रहे है। ईसा की चौथी शताब्दी में अरस्तू सबसे पहला प्रमुख प्रकृतिवादी ग्रीक विचारक हुआ है। उसने सभ्यता के प्राकृतिक विकास एवं प्राकृतिक मनोविज्ञान के मत प्रतिपादित किये। मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के अस्तित्व को उसने अस्वीकार कर दिया। परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में भी उसने अपनी धारणायें व्यक्त की हैं, इसलिये वह विशुद्ध प्रकृतिवादी और मानववादी नहीं बन सका। अरस्तू का यह दार्शनिक प्रकृतिवाद दो हजार वर्षों के उपरान्त १७ वीं शताब्दी में हालैण्ड के स्पिनोजा के द्वारा प्रतिपादित किया गया। उसने गणित की रीति से अपने दार्शनिक प्रकृतिवाद (Philosophical Naturalism) को सिद्ध किया है। स्पिनोजा का मत है कि वस्तुओं के क्रम और सम्बन्ध के समान ही विचारों का भी क्रम और सम्बन्ध होता है (The order and connection of ideas is the same as the order and connection of things)। स्पिनोजा ईश्वर, अमरता आदि में विश्वास

1 Humanism as a Philosophy--Carliss Lamout -- P. 19-21

नहीं करता। स्पिनोजा का प्रकृतिवाद १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चार्ल्स डार्विन के द्वारा सबसे अधिक दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित हुआ। डार्विन ने अन्तिम रूप से यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य और उसके अनुभव सब प्रकार से प्रकृति के ही अङ्ग हैं। इस मत ने समस्त परम्परागत अतिप्राकृत (Supernatural) मतों का महत्व गिरा दिया। मानववादी विचारों की प्रतिष्ठा मे इस विचार–धारा का बड़ा हाथ रहा है। अमेरिका में प्रकृतिवादी विचार-धारा का इस समय बड़ा जोर है। प्रोफेसर मारिस आर०कोहेन, प्रोफेसर एफ० जे० ई० वूडब्रिज और प्रोफेसर ई० जान डैवी इसी विचार-धारा के समर्थक रहे हैं।

भौतिकतावादी दर्शन भी मानववाद का पोषक है। यह भी धार्मिक विचारों का विरोधी दर्शन है। ई० पू० ४थी शताब्दी में डेमोक्रीटस पहला प्रमुख भौतिकवादी विचारक हुआ है। ई० पू० ५वीं शताब्दी में एपीक्यूरस ने इसी दर्शन को विकसित किया और उसे एक नैतिक मानववादी आधार भी दिया। एपीक्यूरस का मत था कि कहीं कोई देवता नहीं है जो मनुष्य के कार्यों में हस्तक्षेप करे, मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की कोई सत्ता नहीं रहती। इसलिए न तो देवताओं से डरने की आवश्यकता है और न किसी परलोक–सुख की चिन्ता करना चाहिये। मनुष्य को निर्भयता पूर्वक इसी जन्म में सुखी रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यह बहुत कुछ चार्वाक–दर्शन जैसा मत है। कालांतर में एपीक्यूरस का यही मत ऐन्द्रिक सुखवाद में परिणत हो गया। यूरोपीय इतिहास का मध्य युग धर्म की प्रबलता का रहा है। उसमें स्वभावतः प्रकृतिवादी और भौतिकतावादी मतों को प्रधानता नहीं मिली। सत्रहवीं शताब्दी में ही फ्रांसिस बेकन और थामस हाब्स के द्वारा इसका पुनः प्रतिपादन हो सका। इस विचार–धारा का सबसे महत्वपूर्ण अभ्युत्थान १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में कोषकारों के द्वारा हुआ। यह भौतिक–वादी दर्शन १९वीं शताब्दी में एंजील और मार्क्स के विचारों में पूर्ण परिणति को पहुंच गया। मार्क्स का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आज सबसे प्रधान भौतिकतावादी र्शन है।

मानतवाद की पोषक कुछ और विचार–धारायें भी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आगस्त काम्ते (Anguste Comte) ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की पूजा का विधान किया। इङ्गलैण्ड के जान स्टुआर्ट मिल के उपयोगितावाद (Utilitarianism) से भी मानववाद को पर्याप्त पोषण मिला है। हर्बर्ट स्पेन्स, हक्सले आदि के विचारों से भी मानववादी दर्शन का समर्थन होता है। इन विचारकों को भी अतिप्राकृत तत्वों की सत्ता में सन्देह रहा है। बीसवीं शताब्दी का प्रमुख अंग्रेज दार्शनिक बरट्रेण्ड रसैल भी प्राकृतिक मानववाद (Naturalistic Humanism) का समर्थक कहा जा सकता है।

धार्मिक आन्दोलनों से भी मानववाद के विकास में पर्याप्त सहायता मिली है।

बुद्धदेव के उपदेशों का सम्बन्ध प्रमुख रूप से मनुष्य के सांसारिक आचारों के नियमन से रहा है। उनका विश्वास था कि मनुष्य सांसारिक दुःखों से स्वार्थ और इच्छाओं से ऊपर उठ कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ओल्ड टेस्टामैंट (Old Testament) के सांग आफ सालोमन (Song of Solomon) और Ecclesiastes में भी मानववादी भावनायें व्यक्त की गई हैं और इन पर एपीक्यूरस का प्रभाव देखा गया है। जेसस क्राइस्ट के उपदेशों में भी विश्व--बन्धुत्व और विश्व–शान्ति के उद्‌गार व्यक्त किए गए हैं। ये ही मानववाद के उदार आदर्श भी हैं। ईसा की चौथी शताब्दी में जेसस क्राइस्ट के मानवीय गुणों को सर्वोपरि माना गया और यह भी बतलाया गया कि वे उनके पिता ईश्वर से भिन्न धातु के बने हुये थे। माइकेल सरवीटस (Michael Servetus) ने इन्हीं विचारों को १६वीं शताब्दी में बड़ी तीव्रता से प्रचारित किया और इन्हीं से आधुनिक यूनीटेरियन आन्दोलन समग्र यूरोप में फैला। इसीसे बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में धार्मिक मानववाद (Religious Humanism) का जन्म हुआ। यह परम्परागत मत के प्रति एक विद्रोह का भाव लेकर चला था, मनुष्य के महत्व को स्वीकार करता था और मानवीय स्वभाव के औदात्य एवं जीवन की पवित्रता में इसे विश्वास था। १८वीं शताब्दी का देववाद (Deitism) भी अपनी बौद्धिक प्रवृत्तियों के कारण मानववाद की पुष्टि में सहायक सिद्ध हुआ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जार्ज फाक्स ने क्वेकर सम्प्रदाय की स्थापना की। ये लोग मानवतावादी (Humanitarianist) थे। ये अत्यन्त उदाराशयों से परिचालित रहे हैं। इन्होंने दास--प्रथा का विरोध किया, स्त्रियों के समानाधिकारों का प्रचार किया, गरीबों के प्रति सहानुभूति की, सीधी और सरल जीवन–प्रणाली अपनाई तथा युद्ध आदि की निन्दा की। विलियम पेन इस सम्प्रदाय का सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति था। आज यह बड़ी सरलता से कहा जा सकता है कि प्रत्येक धर्म--मत कुछ--न--कुछ मानववादी विचारों से प्रभावित है।

दर्शन के अतिरिक्त सांस्कृतिक जीवन में भी मानववादी तत्व बहुत पहले से ही विद्यमान थे। ई० पू० ४थी शताब्दी में ग्रीकों की नगर–राज्य (City State) के प्रति भक्ति मे भी इसी संसार में मनुष्य की सफलता पर ध्यान केन्द्रित था। प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में तथा तत्कालीन अनेक लेखकों में यह बात देखी जा सकती है। साफोक्लीस ने लिखा था :—

Many are the wonders of the World
And none so wonderful as Man.

यूरीपाइडीस ने भी अपने नाटकों में एथेंस के समाज और धर्म पर व्यंग किए हैं। रोम की सभ्यता में भी ई० पू० पहली शताब्दी में धर्म और ईश्वर में अविश्वास व्यक्त होने

लगा था तथा मनुष्य के प्रति आस्था व्यक्त की जाने लगी थी। सिसरो होरेस आदि विचारकों एवं केटुल्लस (Catullus) टैरेन्स (Terence) आदि कवियों ने मानववादी विचार एवं भाव व्यक्त किये।

ग्रीक मानववाद के उपरान्त कई शताब्दियों तक यह विचार-धारा दबी रही और १५वीं शताब्दी में यूरोपीय पुनर्जागरण में ही व्यक्त हो सकी और इस समय यह ईसाई धर्म की परलोकवादिता के बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह लेकर प्रकट हुई। इटली के कलाकारों ने मानवीय जीवन के सौन्दर्य एवं आनन्द की अभिव्यंजना के द्वारा अपने ऐहिक जीवन के प्रेम को व्यक्त किया। शेक्सपीयर के नाटकों में भी मानव-प्रेम की ही व्यंजना हुई है। १८वीं शताब्दी में फ्रांस के जागरण ने भी मानववादी विचार-धारा को बहुत बल दिया। मानवतावादी वाल्टेयर का नाम इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है जिसमें मानवता के कल्याण की तीव्र कामना थी। दूसरा प्रमुख नाम जे० जे० रूसो का है जो मनुष्यता के अधिक सुखी जीवन एवं समाज के प्रजातान्त्रिक सङ्गठन का समर्थक था। इङ्गलैण्ड में एलेक्जैण्डर पोप (१८वीं शताब्दी) और रोली (१९वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध) की रचनाओं में मानव-प्रेम और ईश्वर के प्रति तीव्र अविश्वास व्यक्त हुए हैं। अमेरिका में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राबर्ट जी० इंगरसाल (Robert G. Ingersoll) सबसे प्रमुख व्यक्ति रहा है जिसने धर्म एवं परलोक सम्बन्धी अन्ध-विश्वासों का दृढ़ता पूर्वक विरोध किया है। वाल्ट ह्विटमेन भी जीवन के आनन्द का कवि रहा है।

आधुनिक विज्ञान ने मानववादी विचारों के प्रचार में बहुत योग दिया है। परलोक सम्बन्धी सारी मान्यताएँ वैज्ञानिक प्रगति में टूटने लगी और दूसरी ओर सांसारिक सुख सुविधाएँ भी विज्ञान के नित्य-नए आविष्कारों के कारण दिन-दूने हुये। औद्योगिक क्रांति ने जन-जीवन के स्तर को ऊपर उठाने की मांग उत्पन्न कर दी है।

संसार की बड़ी-बड़ी राजनीतिक क्रांतियों ने भी सारे संसार को मानव-मुक्ति का सन्देश दिया है। अमेरिका की राज्य-क्रांति (१७७६), फ्रांस की राज्य-क्रांति (१७८९) और रूस की राज्य-क्रांति (१९१७) ने मिलकर सारे संसार में क्रांति की लहर उत्पन्न कर दी जिससे मनुष्य के जीवन के प्रत्येक बन्धन के प्रति विद्रोह कर उठा है। आधुनिक मानववाद की परम्परा के सम्बन्ध में कार्लिस लेमाण्ट ने लिखा है:-Modern Humanism is proud of this long tradition that gives to it an impressive continuity reaching back over the ages and coming down from ancient Greece and Rome, through the European Renaissance, through the French Enlightenment, through the flowering of Nineteenth century western culture to the Eminent thinkers of our time.

—(Humanism as a Philosophy—P. 98)

सिद्धान्त—मानवतावाद

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवतावादी समीक्षक हैं। उनका मत है कि 'मनुष्य ही मुख्य हैं, बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छंद, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है, ये अपने आप में कोई स्वतन्त्र चरम मान नहीं हैं। मनुष्य को अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा की छीना-झपटी, मारामारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है—उसके लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है [१]।'

द्विवेदीजी मानते हैं कि हमारे सारे प्रयत्न मनुष्य के लिए हैं [२]। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है कि मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पावे और भविष्य में सुख और शान्ति से रह सके। मनुष्य के लिए ही साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि बनते हैं [३]। साहित्य की रचना भी दस अन्य भले कामों के समान मनुष्य को सुखी बनाने के लिये ही की जाती है। वह शास्त्र, वह रस-ग्रन्थ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज-सुधार और वह पूजा-पार्वण जंजाल-पात्र हैं जिनसे मनुष्य का भला न होता हो [४]। कहा गया है कि—'न मानुषात्परतरं किंचिदस्तीह भूतले [५], 'पुरुषान्न परं किंचत् सा काष्ठा सा परा गतिः [६]।'

मनुष्यत्व का स्वरूप क्या है? ऊपरी सतह पर धर्म, आचार-परम्परा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोविज्ञान, आदि अनेक भेदों के होते हुए भी इनके नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है [७]। मध्य युग में जो अध्यात्म था, वही इस युग का मनुष्यत्व है। मनुष्य भगवान का प्रत्यक्ष निग्रह है। मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य है। यह पशु-सामान्य क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त परम प्रेम-स्वरूप है [८]। प्रेम ही भगवान का वास्तविक स्वरूप है [९]।

१	कल्पलता	पृ० १६४
२	विचार और वितर्क	,, ९५
३	—वही—	,, ९६
४	—वही—	,, ९६
५	—वही—	,, ९७
६	साहित्य का मर्म	,, ७५
७	विचार और वितर्क	,, १०४
८	—वही—	,, १९८
९	—वही—	,, १९९

दूसरों के साथ तादात्म्य या एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। इस अनुभूति के प्राप्त होने पर जीवन का साधारण दुःख सुख बन जाता है, समस्त व्यवहारों का अर्थ बदल जाता है [१]। यह एकत्वानुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। जब अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर—समस्त सुख-दुःखों की तेल बाती में जला कर—मनुष्य अपने आपको महा 'एक' को समर्पण करता है तो वह 'मनुष्य' बनता है। इसी में उसका श्रेष्ठ रूप प्रकट होता है और इस रूप में प्रकट होना ही उसका स्वाभाविक धर्म है। मनुष्य की मनुष्यता आदिम मनोवृत्तियों में नहीं, उसकी साधना, तपस्या और प्रयत्न में है [२]। मनुष्य की महान एकता को पाने के लिए समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध, अशुचि वासनाओं का संयमन, गलत तर्क पद्धति का निरास और आत्म-धर्म का विवेक आवश्यक है [३]।

देश, जाति और कालगत संस्कारों से उत्पन्न मत खण्ड सत्य को ही बतलाते हैं। सत्य को पूर्ण रूप में देखने का प्रयत्न होना चाहिये। प्रत्येक विचार और कार्य का औचित्य वृहत्तर मानवीय नैतिकता के तुलादण्ड पर रख कर ही परखा जा सकता है [४]।

संस्कृति भी किसी देश-विशेष या जाति विशेष की मौलिकता नहीं होती। सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है, यद्यपि यह संस्कृति अनुभूत और अङ्गीकृत नहीं हो पाई है। इसकी प्राप्ति के प्रयास अवश्य होते रहे हैं [५]। यह सामान्य संस्कृति 'नेति नेति' जैसी ही अनूठी है। उसे पाने के लिए मनुष्य व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है [६]। यह अविनश्वर मनुष्य अवलांत भाव से चलता ही रहा है। चलना और बढ़ना उसका स्वाभाविक धर्म है। मनुष्य नित्य-प्रति मंगल की ओर अग्रसर हो रहा है। युद्ध और विग्रह केवल उस जय-यात्रा में क्षणिक विक्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु उस मंगल-यात्रा को रोक नहीं सकते [७]।

हमें जो भी आर्थिक और राजनीतिक सुविधायें प्राप्त हैं उन सबका उपयोग मनुष्य मात्र के मंगल के लिए किया जाना चाहिये। इसके लिए हमें हृदय को उदार और संवेदनशील, बुद्धि को सूक्ष्म और सार-ग्राहिणी तथा संकल्प को महान और मंगलमय बनाना होगा। इसके लिये उपयोगी और व्यावहारिक साहित्य ही पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए

---

१ साहित्य का धर्म पृ० ६९
२ —वही— ,, ७५
३ —वही— ,, ७५
४ —वही— ,, ७७
५ अशोक के फूल ,, ७७
६ —वही— ,, ७८
७ —वही ,, १०६

साहित्य के सुकुमार अङ्गों के व्यापक प्रचार की आवश्यकता है [१]। आज विज्ञान की शक्ति दानवाकार बन गई हैं। आज बड़े-बड़े राष्ट्रों के पास नए-नए आविष्कारों के लिए सुचिन्तित योजनायें हैं। हमारी राजनीति, अर्थनीति एवं शिक्षा-नीति भी इनसे प्रभावित हुई है। इन महान साधनों के स्वामियों के हृदय उदार नहीं हैं, उनमें चरित्र-बल नहीं है और न शुभानुध्यायी बुद्धि ही है। अत्यन्त घिनौने युद्ध, बुद्धिमत्तापूर्ण मिथ्या प्रचार तथा राग-द्वेष से विषायित प्रतिस्पर्धा यही सिद्ध कर रही है। नियमित प्रयत्नों और सुचिन्तित योजनाओं के बल पर विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति बढ़ती ही जायगी। उदार और सरस साहित्य वह साधन है जिससे शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाया जा सकता है। आज साहित्य विज्ञान की इस शक्ति के साथ ताल मिला कर नहीं चल रहा है [२]। आज समूचे जगत् में मानवीय संस्कृति की प्रतिष्ठा के बिना सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। समूची मनुष्यता विनाश के वात्याचक्र में उलझने को लाचार हो गई है। इसलिये मनुष्य की अन्तर्निहित एकता को समझना आज अत्यन्त आवश्यक हो गया है। जातीय या राष्ट्रीय ठसक मानव-विकास के इतिहास की न जानने की निशानी है [३]। जातीय श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाला घृणा और द्वेष पर आधारित साहित्य और समाज का शीघ्र ही पतन होता है। लोभ, मोह और क्रोध पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं [४]। किसी खण्ड सत्य के लिये साहित्य-रचना नहीं की जानी चाहिये। साहित्य-रचना समग्र मनुष्यता के लाभ के लिये हो।

'हिन्दी की सेवा' को द्विवेदीजी ने लाक्षणिक प्रयोग बतलाया है जिसका अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा जिसकी भाषा हिन्दी है। मनुष्य बड़ी चीज है। भाषा उसकी सेवा के लिए है। जो साहित्य अपने आपके लिये लिखा जाता है उसकी कीमत संदिग्ध है। परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज के रोग-शोक, दारिद्र्य-अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता के निवारण के लिये लिखा जाता है वह अक्षय निधि है [५]।

हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। इतिहास इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन है, राजनीति इसकी लुकाछिपी का खेल है और अर्थशास्त्र उसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन है [६]। मनुष्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें

---

१ अशोक के फूल पृ० १६४
२ —वही— ,, १६६
३ साहित्य का मर्म ,, ५२
४ अशोक के फूल ,, ७१
५ अशोक के फूल ,, १८१
६ —वही— ,, १६४

पुस्तकों को नहीं, स्वयं मनुष्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये [१]।

यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद, क्योंकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत सी पशु-सुलभ वृत्तियां रह गई हैं, तथापि वह पशु नहीं है। वर्षों की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौन्दर्य-प्रेम और पर-दुःख कातरता जैसे गुणों का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी हैं। इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक विरुद्ध मार्ग पर चलता है। यथार्थवाद सदैव मानवतावाद का विरोधी नहीं रहता, कभी-कभी उसके विरुद्ध चला जाता है [२]।

उन्तीसवीं शताब्दी में विकासवाद और मानवतावाद के सम्बन्ध में यूरोप के मनीषियों में कोई मतभेद नहीं था। सृष्टि–परम्परा में मनुष्य का विकास सबसे अद्‌भुत वस्तु है और इसीलिये अधिक आदरास्पद और महत्वपूर्ण भी। इसी मनुष्य को सब प्रकार से सुखी बनाना, उसे आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना, रोग-शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब शास्त्रों और विधाओं का प्रधान लक्ष्य है। मनुष्य को इसी लोक में, इसी मर्त्य-काया में सर्व प्रकार से सुखी बनाना इसका लक्ष्य है [३]। मनुष्य ने त्याग और आत्म-दमन के बल पर अपने भीतर अनेक सद्‌गुणों का विकास और पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठ गया। इस मनुष्य की सम्भावनायें अनन्त हैं। इसी मर्त्य-लोक को वह अपूर्व शान्ति-स्थल बना सकता है। यही मानवतावादी दृष्टि है। यह दृष्टि पूर्णतः आशावादी है और मनुष्य की महिमा में विश्वास करती है। प्राचीन धर्म-भावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था, नई मानवतावाद पर आधारित धर्म-भावना में मनुष्य को इसी मर्त्य–काया में सुखी बनाने का संकल्प है। यह पुरानी धर्म-भावना का विरुद्ध गामी दृष्टिकोण है। फलतः आचार, विश्वास और क्रियाओं के मूल्यों में बड़ा अन्तर आ गया है। ईश्वर और मोक्ष जैसे तत्वों को मानना न मानना बराबर हो गया [४]।

प्रारम्भ में मानवतावाद मानवता को शोषण और बन्धन से मुक्त करने के महान

---

१ अशोक के फूल पृ० १९५
२ हिन्दी साहित्य " ४२९
३ —वही— " ४३०
४ हिन्दी साहित्य " ४३१

और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। यही प्रगतिशील आन्दोलन के रूप में आगे चल कर अत्यन्त विकृत रूप में परिणत हुआ। मानवतावाद के व्यावहारिक रूप ने एक ओर राष्ट्रीयता को जन्म दिया और दूसरी ओर मनुष्यों के वर्ग-विभाजन को। राष्ट्रीयता की भावना वह ईर्ष्यालु रमणी सिद्ध हुई जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। मानवतावाद के विकृत-चिन्तन ने उस मतवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्य उत्तम और अधम, देव और पशु, शोषक और शोषित में विभक्त हो गया और इन्हीं विचारों ने दो महायुद्धों को भू-पृष्ठ पर उतार दिया। मनुष्य की यह महिमा विकृत और भयंकर बन गई [१]।

मानवतावाद व्यक्ति मानव की नहीं, समष्टि मानव की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति चाहता है। आज के युग में सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है [२]।

द्विवेदीजी साहित्य की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। साहित्य की सबसे बड़ी उपयोगिता इसी बात में है कि वह मनुष्य को मनुष्य बनाता है। जिस साहित्य से संकीर्ण स्वार्थों के बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती तथा महान एक के प्रति आत्म-निवेदित होने की तीव्र आकांक्षा नहीं जागती, वह साहित्य दो कौड़ी के मोल का भी नहीं है [३]। मनुष्य को मनुष्य बनाने में ही उसकी उपयोगिता है। साहित्य संगीत आदि मनुष्य को प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करते हैं [४]। नितांत उपयोगिता की दृष्टि से भी मनुष्य-समाज की स्थिति के लिये, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिये, यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने उस महान उन्नायक धर्म की उपेक्षा न करे जो उसे क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर उठाते हैं [५]। आज संसार इतना मदमत्त है कि अच्छी बातें सुनने के लिये तैयार नहीं है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि अच्छी बात सुनने और मानने के लिये संसार को तैयार कैसे किया जाय। साहित्य और साहित्यिक सभायें इस समस्या का समाधान कर सकती हैं [६]। आज के क्रूर, शुष्क और अनुदार विश्व को साहित्य को स्निग्ध, सरस और उदार बना सकता है [७]। साहित्य की उपयोगिता इसी बात में है कि वह मनुष्य-जीवन को सुखी बनाने में सहायता पहुँचावे, उसे वर्तमान दुर्गति के पंक से उबारे, उसे पशु-सामान्य प्रवृतियों से ऊपर उठावे [८]।

---

१ हिन्दी साहित्य पृ० ४९३-४९४
२ —वही— " ४९४
३ साहित्य का मर्म " ७१
४ —वही— " ४०
५ —वही— " ४०
६ अशोक के फूल " १८०
७ —वही— " १६६
८ विचार और वितर्क " ९६

साहित्य और जीवन

द्विवेदीजी साहित्य को मनुष्य का सहायक साधन मानते हैं और यह मनुष्य किसी देश अथवा काल से बँधा हुआ नहीं है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इसी भूमिका पर साहित्य और जीवन का सम्बन्ध व्यक्त करने वाली उनकी धारणायें देखी जा सकती हैं। वे मानते हैं कि साहित्य की वास्तविक भूमि अस्थिर नहीं होती। महान साहित्यकारों की रचनायें शाश्वत जीवन को स्पन्दित करती हैं। उनमें स्थायित्व होता है [१]। वे अजर-अमर हुआ करती हैं [२]। साहित्य और समस्त कलाओं का सौन्दर्य शाश्वत और सार्वभौम होता है [३]।

साहित्य किसी एक व्यक्ति की मानसिक कल्पना नहीं है [४]। किसी एक व्यक्ति की निजी अनुभूति की सीमाओं में साहित्यिक रचनाएँ आबद्ध नहीं होतीं। साहित्य वृहत्तर मानव-समाज से अविच्छिन्न रह कर ही चलता है, वह समूची सामाजिक चेतना का अनुरणन है [५]। शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को लेकर कारबार करने वाली विद्या निश्चित रूप से मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है। अतः साहित्य के अध्ययन के लिये केवल पोथी में लिखे हुए लक्षण ही पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि वृहत्तर मानव-समाज का भी परिचय आवश्यक है [६]।

जीवन के उद्भूत साहित्य में ही सच्चा रस रह सकता है। उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में शास्त्र के अनुकरण पर काव्य-रचना की जा रही थी। दूसरी ओर ग्राम-गीतों और कथानकों में जीवंत-साहित्य की रस-धारा बह रही थी। ग्राम गीतों की "एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं, और वे अलंकारों से लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं। वे अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आप में ही परिपूर्ण हैं [७]।" साहित्य जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा कर सजीव नहीं रह सकता। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नहीं है। यदि हम जीवन को सुखी बनाना

---

१ सूर साहित्य पृ० १४९
२ —वही— " १५४
३ साहित्य का मर्म " ५८
४ —वही— " ५८
५ साहित्य का मर्म " ७७
६ —वही— " ६
७ हिन्दी साहित्य की भूमिका " १३०

चाहते हैं तो हम आज की राजनीति, अर्थनीति और आधुनिक विज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकते [१]। साहित्यकार कल्पना के शून्य में भी नहीं घूम सकते। वे तो धरती पर खड़े हुए समाज की समस्याओं का जमकर सामना करते हैं [२]। परम्परा-समर्थित सहृदयता की कसौटी पर कस देना ही कविता की सच्ची प्रशंसा नहीं है। काव्य को जीवन की विशाल पट-भूमिका पर रखकर देखने की आवश्यकता है [३]। जीवन के स्पर्श से साहित्य में प्राण आता है। जीवन-विच्छिन्न साहित्य वाग्विलास मात्र रहकर समाप्त हो जाता है और जो साहित्य-जीवन के स्पर्श से प्राणवन्त बन जाता है, उसमें विकसित होने और बलिष्ठ होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं [४]।

साहित्य शाश्वत जीवन से सम्बन्ध अवश्य रखता है, परन्तु उस पर विशेष देश और काल का प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रहता। अपने समय के परिवेश से साहित्य अछूता नहीं रह सकता। सूर के साहित्य में यत्र-तत्र उस युग की रहन-सहन, वेश भूषा, बोल-चाल, धर्म, विश्वास आदि पर प्रकाश पड़ता है [५]। कबीर के साहित्य में भी तत्कालीन समाज की विविध परिस्थितियों का परिचय कराने वाली प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है [६]। संस्कृत के समस्यापूर्ण आशुकवित्व, प्रहेलिका और चित्र-काव्य को समझने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करना होगा। तत्कालीन दरबारी वातावरण की अभिज्ञता के बिना हम उस युग के काव्य-मर्म तक नहीं पहुंच सकते [७]। कबीर और दादू में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। फिर भी कबीर की तीव्रता और उग्रता दादू में नहीं है, इसका कारण दादू के समय की परिस्थितियाँ ही हैं। कबीर के निर्गुण मतवाद ने निम्न श्रेणियों में उत्पन्न भक्त-प्रतिभाओं ने उस समय तक समाज के विरोध का भाव कम कर दिया था। इसीलिए जाति-प्रथा पर दादू ने उतने कठोर प्रहार नहीं किये हैं [८]। द्विवेदीजी का मत है कि जो लोग कुछ दाक्षिणात्य आचार्यों के दार्शनिक और धार्मिक मतों का अध्ययन करके ही तुलसीदास और सूरदास के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं, वे लोक-मत के साथ अविचार करते हैं। यदि किसी व्यक्ति के साधना का रूप बदल

---

१ अशोक के फूल पृ० १९८
२ कल्पलता " ७५
३ —वही— " १३०
४ हिन्दी साहित्य " ४९२
५ सूर-साहित्य " १४६
६ कबीर " १२८
७ साहित्य का मर्म " ७, ८, १४
८ हिन्दी साहित्य " १४३

सकता है, तो देश–विशेष क्यों नहीं बदलेगा ? आशय यह है कि देश–विशेष की परिस्थितियों का साहित्य पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। विराट भक्ति–आन्दोलन, देश की तत्कालीन परिस्थितियों का ही परिणाम था। वह अचानक नहीं फूट पड़ा है [१]।

साहित्य अपने समय के जीवन से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध होता है। आज के साहित्य में पुरानी बातों को दोहराने की आवश्यकता नहीं है। आज की समस्याएँ मध्य युग की समस्याओं से भिन्न और बहुमुखी हैं। साहित्य आज की इन समस्याओं को भुला नहीं सकता। वह मध्य युग या आदि युग के आदर्शों की सीमा में नहीं बैठा रह सकता। उसका प्रमुख कार्य आज की समस्याओं का समाधान करना है [२]। लक्षण और लक्ष्य ग्रंथ युगानुकूल ही निर्मित होते हैं। उत्तरकालीन संस्कृत के लक्षण और लक्ष्य ग्रंथ उस युग के अनुकूल ही बने थे। आधुनिक युग का पाठक बदल गया है, इसलिए कवि भी बदल गया है। यन्त्र–युग की समस्याएँ और उनके समाधान के रास्ते हू–ब–हू वे ही नहीं है, जो पूर्ववर्ती युग के थे। जमाना बदल गया है, आवश्यकताएँ बदल गई हैं, इसलिए दृष्टिकोण भी बदला हुआ है [३]। आज जीवन के गम्भीरतर प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजा जाता है। आज की जटिल समस्याओं का प्राचीन साहित्य में उत्तर नहीं मिलेगा, मिलेगा भी तो सामान्य और व्यापक ढङ्ग का, विशिष्ट और शंकुभूत नहीं [४]। कालिदास के माया–लोक का अब समय नहीं रहा। हम बदल गए हैं, हमारी दुनियां बदल गई है। हमारे विश्वास हिल गए हैं, हमारी ऐहिकता बढ़ गई है [५]। कृष्ण–भक्ति साहित्य की मधुरता और मोहकता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, फिर भी वह जीवन का सम्बल नहीं बन सकता, क्योंकि वर्तमान काल के संघर्ष-संकुल जीवन को वह नई प्रेरणा नहीं दे सकता। पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस भक्ति–साहित्य ने जीवन को नई प्रेरणा दी थी, वह प्रेरणा का वेग अब क्षीण बल हो चुका है [६]। आज से लगभग हजार वर्ष पहले हिन्दी–साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षों में भारत का हिन्दी–भाषी समुदाय क्या सोच और समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिन्दी–साहित्य ही है। इसकी उपेक्षा भारतीय विचार–धारा के समझने में घातक सिद्ध होगी [७]।

---

१ सूर–साहित्य पृ० ८३
२ —वही— " १४८–१४९
३ साहित्य का मर्म " २८
४ —वही— " २८
५ कल्पलता " ११९०
६ हिन्दी साहित्य " २१४–२१५
७ हिन्दी साहित्य की भूमिका " १

राष्ट्रीयता

आज की साहित्यिक मान्यताएं राष्ट्रीय धरातल पर उतर आई हैं अथवा उसके समीप पहुंच गई हैं, इस बात का हम इसके पहले प्रमाण प्राप्त कर चुके हैं। आधुनिक समीक्षा राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर रही है। द्विवेदीजी मानवतावादी समीक्षक हैं। परन्तु वे भी राष्ट्रीयता के उन तत्वों की प्रशंसा करते हैं, जिनसे मानवतावाद का समर्थन होता है। उनके अनुसार प्रजातंत्र की भावनाओं के विकास के साथ ही राष्ट्रीया की नवीन विचार--धारा का जन्म हुआ है। 'राष्ट्रीयता का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए, इसको धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करना चाहिए' [१]। यह राष्ट्रीयता मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यों के अनुकूल है और मानवतावाद की समर्थक है। इस राष्ट्रीयता का द्विवेदीजी समर्थन करते हैं और मानते हैं कि राष्ट्र के मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही साहित्य की रचना होनी चाहिए [२]। इस प्रसंग में वे राष्ट्र की अनेक सामयिक आवश्यक-ताओं का उल्लेख करते हैं[३]। हमारे देश में अशिक्षा और कुशिक्षा का जाल फैला हुआ है, देश सैकड़ों जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त है, दारिद्र्य और रोग से पीड़ित है, हिन्दू और मुसलमानों में बैर-सा है, हिन्दू और हिन्दू आपस में द्वेष करते हैं। सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी ने देश के मानस को जकड़ रखा है। वह अनेक कुसंस्कारों से भरा हुआ है। द्विवेदीजी का मत है कि साहित्यकारों को हमारी इन्हीं समस्याओं को सीधे ही देखने की आवश्यकता है। अमेरिका और जापान में समस्याओं का हल कैसे हुआ? हम यह कम देखें [४]। वे साहित्यकारों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में नवीन अमृत का संचार कर दे [५]। आज साहित्य को इस देश की जनता में आत्म-विश्वास और अधिकार चेतना की संजीवनी संचारित करना है [६]। आधु-निक ज्ञान-विज्ञान को जन-साधारण तक पहुंचाना, भारतीय जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख को मिटाना ही हिन्दी का लक्ष्य होना चाहिए। हमारी जनता सभ्यता के नाना

---

१ हिन्दी साहित्य पृ० ३९५
२ अशोक के फूल " ३९
३ —वही— " १८१-१८३
४ —वही— " १८१
५ —वही— " ४७
६ —वही— " ३९

स्तरों पर ठिठकी हुई एवं शतधा–विभक्त है। इसका कल्याण ही आज के साहित्य का लक्ष्य है [१]। हमारे साहित्यकारों का दायित्व है कि नव स्वतन्त्र राष्ट्र के पुराने पुर्जे दुरुस्त करें, जंगल को साफ करें और प्रत्येक क्षेत्र में नव-निर्माण का व्रत लें [२]।

द्विवेदीजी ने हमारे एक और राष्ट्रीय दायित्व का संकेत किया है जो इस देश की भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। आज एशियाई देशों में हिन्दी सीखने की उत्सुकता बढ़ रही है। यह केवल अक्षर-बोध के लिए नहीं है। एशियाई देश बड़ी चीजों की आशा से इधर झुके हैं। इसलिए हमें अपने गुरुत्तर दायित्व को समझना होगा। विश्व को उदार और चरित्रवान् बनाकर महानाश के गर्त्त में गिरने से उबारना आज हमारे साहित्यकारों का राष्ट्रीय दायित्व है [३]।

यह द्विवेदीजी की राष्ट्रीय दृष्टि है। परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। उनकी दृष्टि राष्ट्रीय विशेषताओं पर स्थिर नहीं है, वह उन पर से होती हुई सदैव मानवता की ओर अभिमुख हुई है। वे इस देश के साहित्यकारों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों को साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में एक नवीन अमृत का संचार कर दे जिससे संसार से घृणा और अन्याय मिट जांय [४]। वे भारतीय स्वाधीनता को भी एक साधन मानते हैं जिसके द्वारा सारे संसार को अविश्वास और पारस्परिक घृणा तथा विद्वेष के दल-दल से उबारने का हमें अवसर मिलने जा रहा है [५]। वे ऐसा साहित्य चाहते हैं जो हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर करे तथा मनुष्य-मात्र की मंगल भावना से लिखा गया हो [६]। राष्ट्र के समस्त विरोधों और संघातों से बड़ा और सबको छापकर मनुष्य विराज रहा है। इसी मनुष्य की भलाई के लिए हमें निःशेष अपने आपको देना है। समस्त भेदों और विरोधों के भीतर मनुष्य एक है [७]।

द्विवेदीजी ने मानवता–अविरोधी राष्ट्रीयता का समर्थन किया है, परन्तु जहां राष्ट्रीयता और मानवता में विरोध है, वहां वे मानवतावाद का ही समर्थन करते हैं।

---

१ अशोक के फूल पृ० १९७
२ –वही– ” १६३
३ –वही– ” १६७–१६८
४ –वही– ” ४७–४८
५ –वही– ” ४४
६ –वही– ” १६३
७ –वही– ” २००–२०१

उनका मत है कि राष्ट्रीयता एक विशेष सीमा का व्यतिक्रम करने के उपरान्त अत्यन्त कुत्सित रूप धारण कर लेती है। वह अपने देश को धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए दूसरे देशों का शोषण करने लगती है, अपने देश के प्रासाद संवारने के लिए दूसरे देश की झोपड़ियाँ जलने लगती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीयता ने यह विकृत रूप धारण कर लिया था [१]। उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोपीय मानवतावादी दृष्टि व्यवहार में एक देश तक ही सीमित रही। इसी से स्वदेशी राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बल मिला। यही आगे चलकर पूंजीवादियों का अस्त्र भी सिद्ध हुई। इस देश में समस्या दूसरी ही थी। यहाँ की राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति पाने की प्रयासी थी। इसलिए मानवतावादी दृष्टि में कोई संघर्ष नहीं हुआ। वह मूल वृत्ति मानवतावाद की ही थी जिसने छायावाद और प्रेमचन्द को जन्म दिया [२]। अन्य देशों में राष्ट्रीयता ऐसी ईर्ष्यालु रमणी सिद्ध हुई है जो अपने सारे परिवार को ही ले डूबती है। इसी से बहुत कुछ दो विश्व-युद्ध भू–पृष्ठ पर उतरे हैं [३]।

द्विवेदीजी ने राष्ट्रीयता के दो रूपों की चर्चा की है। इन्हें हम अभी ऊपर देख चुके हैं। भारत में अभी राष्ट्रीयता के पहले ही रूप के विकसित होने की सम्भावना है। उसका दूसरा रूप तो केवल भौतिकता में विश्वास करने वाले वैज्ञानिक शक्तियों से सम्पन्न बड़े-बड़े देशों में ही देखा जा सकता है।फिर भारत की अपनी विदेश नीति भी राष्ट्रीयता के दूसरे रूप के प्रतिकूल है। आज देश में राष्ट्रीयदृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता है। हमारी दृष्टि न तो इससे छोटी हो और न बड़ी ही। द्विवेदीजी राष्ट्रीयता के विकृत रूप से अत्यन्त भयभीत हैं और इसलिए मानवतावादी बन गए हैं। यदि स्वतन्त्रता के पूर्व हमारी राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति की प्रयासी थी तो इस समय वह स्वतन्त्रता के रक्षण एवं पोषण में संलग्न है। अभी भी मानवतावादी दृष्टि से उसमें कोई विरोध नहीं है और न कभी होगा, ऐसी आशा है। भारतीय राष्ट्रीयता भी घर को डुबा देने वाली ईर्ष्यालु रमणी का रूप धारण कर लेगी, ऐसी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। भारतीय राष्ट्रीयता तो ममतामयी माता का रूप लेने जा रही है जिसकी अंक में समस्त संसार सानद शांति का अनुभव करेगा। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि मानवतावाद का व्यावहारिक रूप एकदेशीय ही सिद्ध हुआ है। दूसरे शब्दों में व्यावहारिक दृष्टि से मानवतावाद राष्ट्रवाद में ही परिणित हुआ है। द्विवेदीजी की समीक्षाओं से भी यही लक्षित होता है। उनकी मानवतावादी समीक्षाओं में भारतीय राष्ट्रीयता ही निर्विशेष शब्दों में ध्वनित हुई है।

---

१ हिन्दी साहित्य पृष्ठ ३९५
२ —वही— " ४३२
३ —वहाँ— " ४९४

साहित्य

हम द्विवेदीजी के मानवतावादी सिद्धांत का ऊपर परिचय प्राप्त कर चुके हैं। साहित्य और जीवन का सम्बन्ध क्या है तथा राष्ट्रीयता पर उनके क्या विचार हैं, इन बातों का भी ऊपर परिचय कराया जा चुका है। अब हम द्विवेदीजी के साहित्य-सम्बंधी विचारों को यहां देख सकते हैं। उनका मत है कि सारे मानव-समाज को सुन्दर बनाने की साधना ही का नाम साहित्य है [१]। वह मनुष्य की सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना का प्रकाश है [२]। मनुष्य की मनुष्यता जब उच्छलित होने लगती है, जब उसके अन्तर का आनन्द बाहर प्रकाशित हो उठता है, तब काव्य बनता है और काव्य ही जब तथ्य-जगत के विभिन्न उपादानों का आश्रय लेता है तो अन्याय सहित्यांगों के रूप में प्रकट होता है [३]। साहित्य मनुष्य के अन्तर का उच्छलित आनन्द है ओ उसके अन्तर में अटाए नहीं अट सका था [४]। साहित्य का मूल यही आनन्द का अतिरेक है। उच्छलित आनन्द के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है। जिसे यह रस यह आनन्द मिल जाता है, वह अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर 'महाएक' को समर्पित किए बिना रह नहीं सकता [५]। साहित्य में छन्द, शैली, व्यंग्यार्थ, अलकार, रचना-कौशल सभी होते हैं, परंतु जब तक व्यक्ति के मन में मानवता के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि का आनन्द उच्छल नहीं होता तब तक इन सबका ज्ञान व्यर्थ है। इनके ज्ञान के बिना भी, मनुष्य के पास यदि कहने की बेचैनी है, तो सच्चा साहित्य बन सकता है [६]। मेघ के समान साहित्यकार की भी यही शोभा है कि वह अपनी सर्वोत्तम कृति से मनुष्य की सेवा करके रिक्त हो जाय, शून्य हो जाय यही उसकी पूर्णता है। मनुष्य से पशु-सामान्य मनोरागों को उत्तेजित करना कोई बड़ा कृतित्व नहीं है, उसमें संयम, त्याग और प्रेम की भावना जगा कर ही साहित्य धन्य होता है [७]। मनुष्य के पशुत्व को जगाने वाला साहित्यकार उसका अपकारी वज्र-वर्षी मेघ के समान है [८]। साहित्य का आधार घृणा और द्वेष नहीं हो सकता, प्रेम, त्याग, ज्ञान जैसी बड़ी-बड़ी वस्तुएं ही साहित्य का आधार हो सकती है और तभी

---

१ कल्पलता पृष्ठ १४०
२ साहित्य का मर्म ,, ५२
३ –वही– ,, ७०
४ –वही– ,, ७०
५ –वही– ,, ७१
६ –वही– ,, ७१
७ विचार और वितर्क ,, २०३
८ –वही– ,, २०४

साहित्य संसार को नया प्रकाश दे सकता है [१]। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, वह साहित्य नहीं है [२]। रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता से मनुष्य का उद्धार करना ही साहित्य का काम है। स्वयं मनुष्य बने बिना, छोटे-छोटे तुच्छ विवादों से ऊपर उठे बिना, कोई भी व्यक्ति दूसरे को नहीं उठा सकता। मनुष्य की सेवा करने के लिए साहित्यकार को देवता बनना होगा [३]। मनुष्य को देवता बनाना ही छन्द-साधना का चरम लक्ष्य है। साहित्य में ऐसा ही विषय चुनना चाहिए जिससे मनुष्य देवता बने, लोभ-मोह की मार से ऊपर आहार-निद्रा के धरातल से ऊपर, संकीर्ण स्वार्थों के पंजों से मुक्त [४]। साहित्य मनुष्य की सौन्दर्य साधना है। वह मनुष्य को सुन्दर बनाता है। वस्तु को इस ढंग से सजाना कि उसकी कुरूपता और भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक उपादान उचित मात्रा में उचित स्थान पर बैठा दिए जाय, यही सबसे बड़ी कला है और यह सामंजस्य-विधान के बिना संभव नहीं है [५]। सामंजस्य का अर्थ है किसी चीज़ का बहुत अधिक या बहुत कम न होना। इसमें संयम की आवश्यकता है। सुन्दरता इसी सामजस्य में होती है। अतएव सौन्दर्य-प्रेम में संयम होता है, उच्छृंखलता नहीं [६]। जो जाति जितनी अधिक सौन्दर्य प्रेमी होगी, उसमें उतनी ही अधिक मनुष्यता भी होगी। मनुष्य का सौन्दर्य-प्रेम उसके साहित्य कला और दान-पुण्य और परोपकारादि होते हैं [७]। दान-पुण्य कब, कैसे, किसे करना चाहिये यह जगत को हस्तामलक की भांति देखे हुए मनीषियों द्वारा ही बतलाया जा सकता है। ऐसे ही मनीषी साहित्य सृष्टा होते हैं। साहित्य उन्हीं की चिन्ता का रूप है [८]। जो जाति सौन्दर्य की पूजा करती है और असुन्दर की उपेक्षा करती है वह साहित्य और कला की सृष्टि करती है [९]। मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्य-पद का अधिकारी बने रहने से लिए साहित्य ही एकमात्र सहारा है। साहित्य मनुष्य की सब तरह की सात्विक चिन्ता-धारा है [१०]। वर्तमान युग में मनुष्य की पशुता अपनी चरम सीमा

---

१ अशोक से फूल पृष्ठ १७१
२ –वही– ,, १-९
३ –वही– ,, १८५
४ कल्पलता ,, १४२
५ –वही– ,, १४०
६ –वही– ,, १४४
७ –वही– ,, १४०
८ –वही– ,, १४१
९ –वही– ,, १४३
१० –वही– ,, १४५

पर पहुंच गई है। इसमें हृदय को कोमल बनाने वाली, पर दुःख की समवेदना करने वाली वस्तु नगण्य हो गई है। काव्य ऐसी ही वस्तु है। कविता यांत्रिक सभ्यता की शाश्वत प्रतिद्वंद्विनी है [१]। जो साहित्य अपने युग के मनुष्य को उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ, उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के साथ हमारे सामने प्रत्यक्ष खड़ा कर देता है, वह निस्संदेह महान साहित्य है [२]। साहित्य में किसी खंड सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। उससे समूची मनुष्यता लाभान्वित होती है [३]।

साहित्य का अध्ययन अपने आप में साध्य नहीं है। उसे साधन रूप में ही ग्रहण करना उचित है। हमारी आधुनिक समस्याओं के अध्ययन के उपयुक्त यदि साहित्य में सामग्री नहीं है तो वह बेकार है[४]। बिहारी और मतिराम के अध्ययन से हम एक ही लाभ उठा सकते हैं वह यह कि इनको पढ़कर, इनका क्रमबद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्यप्रति की उन समस्याओं का असली कारण और स्वरूप समझ सकते हैं जो हमें रोज ही जूझने को ललकारती रहती हैं। यही साधन रूप में साहित्य का अध्ययन है [५]। पशु सुलभ आहार-निद्रा से ऊपर प्रतिष्ठित मनुष्यता की प्राप्ति कराने का साहित्य एक साधन है [६]।

मानवतावादी भूमि के साथ ही द्विवेदीजी ने सामाजिक भूमि पर भी साहित्य की व्याख्या की है। आचार्य कुंतक ने शब्द और अर्थ के सहचर्य के अर्थ में 'साहित्यक' शब्द का प्रयोग किया था। शब्द और अर्थ मनुष्य के सामाजिक संबंधों के प्रतीक हैं जिस प्रकार नोट या सिक्का बाजार में मूल्य का प्रतीक है। इसलिए शब्द और अर्थ की साहित्य-विद्या मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है [७]। समाज का रूप बदलता रहता है, इसलिए साहित्य में भी परिवर्तन आवश्यक है[८]। जीवन के संपूर्ण सार रसों से काव्य पुष्ट हुआ है और वह जीवन की भांति क्रियाशील, सर्जक और निरन्तर विकासमान वस्तु है। वह क्षुद्र, संकीर्ण स्वार्थों से बद्ध जीव में भी उत्तम भाव संचारित करता है। थोड़े से सुसंस्कृत लोगों को ही आनन्दानुभव कराने वाला काव्य त्रुटिपूर्ण है [९]।

---

१ कल्पलता पृष्ठ १६७
२ -वही- ,, १६४
३ अशोक के फूल ,, १७०
४ -वही- ,, १७०
५ -वही- ,, १६२
६ साहित्य का मर्म ,, ४०
७ -वही- ,, ५६
८ -वही- ,, ५
९ हिन्दी साहित्य ,, २६

साहित्य मानव-समाज के सामूहिक चित्त की, जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह की अभिव्यक्ति है। उसे केवल 'शिक्षित समझी जाने वाली जनता' की प्रवृत्तियों के परिवर्तन विवर्त्तन के निर्देशक के रूप में ही नहीं देखना चाहिये [१]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास के वक्तव्य में बतलाया है कि शिक्षित जनता की चित्त-वृत्तियों के अनुरूप ही हिन्दी–साहित्य का इतिहास बनाया गया है। द्विवेदीजी साहित्य को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति मानने हैं। यह सामाजिक जीवन परिवर्तनशील है। इसमें परिस्थितियां बदलती रहती हैं। इसलिए साहित्य में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। परन्तु साहित्य उन मूल मनोवृत्तियों पर आधारित है जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियों के बदल जाने पर भी ये मनोवृत्तियां ज्यों की त्यों बनी रहती हैं [२]। यहाँ पर शंका उठ सकती है कि साहित्य परिवर्तनशील भी है और अपरिवर्तनशील मनोवृत्तियों पर भी आधारित है, ये दो विरोधी बातें कैसे सम्भव होंगी। द्विवेदीजी की अद्यतन समीक्षाओं में साहित्य के स्थिर और गतिमान तत्वों का स्पष्ट समन्वय नहीं हो सका है। द्विवेदीजी मानते हैं कि स्थूल जगत को छोड़ कर मनुष्य रह नहीं सकता और न देश-काल की सीमाओं से अस्पष्ट शिल्प–सृष्टि ही रह सकती है। काव्य स्थूल जगत से विच्छिन्न नहीं रह सकता क्योंकि उसका शरीर शब्द और अर्थ से बना है और शब्दों से सूचित अर्थ बाह्य सत्ता को प्रकट करता है। भावावेग द्वारा कंपित और आन्दोलित शब्दार्थ व्यंजना द्वारा सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करते हैं [३]। काव्य पाठक में सुख-दुख का आवेग उत्पन्न करता है, दूसरे मनुष्यों के सुख-दुःख के साथ उसकी सम्वेदना होती है और अन्त में वह उस सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है [४]। इस प्रकार काव्य मनुष्य के भीतर वर्तमान एकत्व का प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति–मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, एकता है [५]। भारतीय मनीषियों ने काव्य को विश्व-जनीन नैतिक पट-भूमि पर रखकर ही परखा है। 'हमारे यहां' का आधुनिक ब्रह्मास्त्र उनके निकट एकदम अपरिचित था [६]। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी ने काव्य के स्थूल और विशिष्ट तत्वों का सूक्ष्म और निर्विशेष तत्वों से सम्बन्ध जोड़ते समय ध्वनि–सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण दोनों को ध्यान में रखा है। परन्तु इस स्थल पर अधिक विस्तार अपेक्षित है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है कि मनुष्य के सभी विराट

---

१ हिन्दी साहित्य का आदि काल पृ० २
२ कल्पलता ,, १५७
३ साहित्य का मर्म ,, ४०
४ —वही— ,, ४१
५ —वही— ,, ४६
६ —वही— ,, ३८

प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे प्रयोजन की सीमा का अतिक्रम कर जाते हैं, तो उनमें मनुष्य की विराट एकता और आधार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। ताजमहल और कोणार्क का मन्दिर ऐसे ही प्रयत्न हैं [१]। दीपक में जितना हिस्सा जलता है, वह प्रकाश नहीं कहलाता है। प्रकाश उससे अतिरिक्त वस्तु है। ताप केवल प्रयोजन है, प्रकाश उसका ऐश्वर्य है, उसका अतिरिक्त दान है। जब और जहां वह मनुष्यपन का ऐश्वर्य अपनी प्रयोजन की सीमा को छोड़ कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वहीं–वही वह पूजनीय हुआ है [२]। इस दीपक के उदाहरण द्वारा भी द्विवेदीजी ने साहित्य के स्थूल और सूक्ष्म तत्वों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

साहित्य शब्द का द्विवेदीजी ने व्यापक अर्थ भी बतलाया है। उनका मत है कि साहित्य में नीति परक रचनायें भी सम्मिलित की जा सकती हैं। केवल रस-परक साहित्य ही साहित्य नहीं है। यदि साहित्य से हम उस युग के मनुष्य को उसकी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ पहचान लें तो वह भी महान साहित्य है [३]। हमारे साहित्य में अभी तक रसात्मक साहित्य की ही धूम है। परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नहीं है [४]।

द्विवेदीजी ने साहित्य की व्याख्या दो भूमियों पर की है। एक भूमि प्रयोजनातीत आनन्द-परक भूमि है। यह निर्विशेष मनुष्यत्व से सम्बन्ध रखती है। द्विवेदीजी की मानवतावादी व्याख्या रस-सिद्धान्त के समीप है। दूसरी ओर वे कोरे नैतिक उपदेशों को भी साहित्य के अन्तर्गत ले आना चाहते हैं। परन्तु कोरे नैतिक उपदेशों का प्रयोजनातीत आनन्द से सम्बन्ध–स्थापन कठिन होगा। इस प्रयत्न से द्विवेदीजी की अनेक मान्यतायें भी अस्ति-नास्ति में पड़ सकती हैं। साहित्य की मूल अनुभूत्यात्मक प्रकृति से भी इसका विरोध हो सकता है। द्विवेदीजी ने एक ओर तो आत्मानन्दी सूर पर ग्रंथ लिखकर उनकी प्रशंसा की है और दूसरी ओर 'कबीर' पर भी एक प्रशंसात्मक ग्रंथ लिखा है। कबीर और सूर की आत्मा एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु दोनों की आत्माभिव्यक्ति में अदृश्य अन्तर है। सूर में आनन्द प्रमुख है और कबीर में नीति और उपदेश। कबीर में तो आनन्द–तत्व है भी, परन्तु नाथ–सम्प्रदाय के अनुयायियों में तो इसकी और भी कमी है। उनके साहित्य की व्याख्या तो कोरी नैतिक भूमि पर ही की जा सकती है। अध्ययन और

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ३६
२ –वही– " ३६
३ कल्पलता " १६४
४ अशोक के फूल " १७१

अनुशीलन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के कारण द्विवेदीजी स्वभावत: विभिन्न प्रतिमानों का प्रयोग करते रहे हैं। इनमें एक तारतम्य भी स्थापित किया जा सकता है। मानवतावादी भूमि के अन्तर्गत इन दोनों गतिमानों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। नीति को उसके आरम्भ की अवस्था और आनन्द को उसकी अन्तिम अवस्था पर देखा जा सकता है।

उद्देश्य

'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है [१]।' समस्त मनुष्यता के लाभ के लिए, मनुष्य-मनुष्य में प्रेम की वृद्धि के लिए और मनुष्य की सब प्रकार की मुक्ति के लिए साहित्य की रचना होनी चाहिये [२]। 'मनुष्य ही मुख्य हैं, बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छन्द, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है। ये अपने आप में कोई स्वतन्त्र चरम मान नहीं है। मनुष्य को—अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा को छीना-झपटी, मारामारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है—उसके लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है [३]।' मनुष्य की मनुष्यता ही आराध्य है। साहित्य और राजनीति सबका एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है [४]। 'मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है।' इससे छोटे लक्ष्य की बात द्विवेदीजी को अच्छी नहीं लगती [५]। इस देश के कोटि-कोटि मनुष्यों को ज्ञान का आलोक देना, उनमें आत्म-गौरव का संचार करना, रोग और शोक से, भूख और प्यास से उनका उद्धार करना ही आज के साहित्य का काम है [६]। इसके साथ ही साहित्य का कार्य मनुष्य को देवता बनाना है, मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाना है। यहां हमें दो बातें फिर दिखलाई पड़ती हैं। एक ओर तो साहित्य रोग और शोक से भूख और प्यास से मनुष्य को बचाने का कार्य करता है जिसमें वह जीवन के मोटे प्रयोजनों से भी बंधा हुआ दिखलाई पड़ता है और दूसरी ओर वह मनुष्य को देवता बनाने का लक्ष्य भी रखता है। परन्तु मानवतावादी भूमि के वे दो पहलू हैं जिसमें एक के द्वारा मनुष्य का संरक्षण और दूसरे के द्वारा उसके उन्नयन का लक्ष्य रखा गया है। यही दूसरी भूमि प्रयोजनातीत रूप धारण कर लेती है। यह प्रयोजनातीत सत्य

---

१ अशोक के फूल पृष्ठ १७६
२ —वही— " ४६
३ कल्पलता " १६४
४ अशोक के फूल " ३८
५ —वही— " ४५
६ —वही— " १८५

जीव-शास्त्रीय लालसा से परे प्रेम, संयम और तप से उत्पन्न होता है [१]। साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य मनुष्य को छोटे प्रयोजनों में बांधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सौन्दर्य की ओर उन्मुख करते हैं और इसी से मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है [२]। आज साहित्कार के सामने वर्तमान जगत की अनेक जटिल समस्यायें हैं और उसे इन समस्याओं को समाधान भी करना है [३]। इतना होते हुए भी कवि का लक्ष्य इस दुनियावी प्रयोजन से ऊपर हुआ करता है। गद्यकार दुनियावी प्रयोजन के लिए लिखता है और कवि की सार्थकता इस प्रयोजन से ऊपर उठने में ही है [४]। संसार की नितांत निष्प्रयोजन वस्तु से कवि अवांड्मनोगोचर तत्व को प्रकट कर देता है [५]। प्रयोजनों के जगत से बाहर ही मनुष्य का ऐश्वर्य है, उसका प्रकाश। इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने कतिपय उदाहरण दिये हैं। वे लिखते हैं कि 'घी का लड्डू टेढ़ा भी भला होता है, उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है। पर मनुष्य उतने से ही संतुष्ट नहीं होता। उसे उस लड्डू को सुन्दर बनाने में रस मिलता है। प्रयोजन के अतीत पदार्थ का ही नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है—मनुष्यता है [६]।' इसी प्रकार दीपक का एक उदाहरण हम ऊपर देख चुके हैं। जब मनुष्य प्रयोजनों की दुनियां से ऊपर उठता है, तब उसे दीपक का प्रकाश मिलता है, तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो 'मनुष्यता' है जो उसके हृदय को संवेदनशील और उदार बनाती है। यही मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है [७]। प्रयोजनातीत भूमि का रस ही काव्य, शिल्प, नृत्य, गीत, भक्ति आदि में मिलता है [८]। प्राचीन काव्य का उद्देश्य था भावोद्रेक। मनुष्य के स्थायी भाव-रति, उत्साह आदि को जागृत करना काव्य का लक्ष्य था। परन्तु आज यह बात नहीं रही। प्राचीन काल का कवि ऊंचे आदर्श के कल्पना-लोक में मानव-चित्त की अनुभूतियों को प्रतिफलित करता था। आज कालिदास के मेघदूत की—सी कल्पना व्यर्थ हो गई है। आज का साहित्यकार वर्तमान की जटिल समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर सकता [९]। प्राचीन काल में जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य-रचना होती थी। परन्तु अधिक जोर कीर्ति पाने पर दिया गया है। राजा और राज-सभा कीर्ति-प्राप्ति के प्रमुख साधन थे। काव्य का यह प्रयोजन सामन्त-युगीन था। आज का कवि धन, यश या व्यवहार-ज्ञान सिखाने के लिए काव्य-रचना नहीं करता

---

१ साहित्य का मर्म पृ० २६
२ साहित्य का मर्म पृ० ४०
३ सूर साहित्य " १४६
४ —वही— " १६२
५ —वही— " १६३
६ साहित्य का मर्म " ३८
७ —वही— " ३६
८ सूर साहित्य " १४७–१४८

और न पाठक ही उससे इन बातों की अपेक्षा रखता है [१]। आज पाठक साहित्यकार से जीवन की व्याख्या चाहता है। युग-चेतना को स्वर देना कवि का कर्तव्य माना जाने लगा है। मानव-संस्कृति के निर्माण का दायित्व अब कवि के सिर पर है [२]। आज कवि केवल 'कान्ता-सम्मित' उपदेश देकर ही अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं कर सकता। पाठक उससे बहुत कुछ चाहने लगा है—शायद जीवन की व्याख्या, शायद वैयक्तिक अनुभूतियों का स्वत: समुच्छित उच्छवास, शायद मानवता के अन्तस्तल में निहित एकता की उपलब्धि। पुराना कवि इतनी मांगों का शिकार नहीं बना था [३]। परन्तु द्विवेदीजी ने भक्ति साहित्य के आधार पर एक चेतावनी दी है कि साहित्य का लक्ष्य बड़ा होना चाहिये। भक्ति-काल का साहित्य ऊर्ध्व-बाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होने से ही साहित्य बड़ा होता है। जिस दिन हिन्दी-साहित्य इस तथ्य को भूल गया और सूक्तियों को लेकर खेलवाड़ करने के चक्कर में पड़ गया, उसी दिन से साहित्य का अध:पतन शुरू हुआ [४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य का उद्देश्य मानवतावादी भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है।

तत्व

रस और भाव

काव्य-शास्त्र में बतलाया गया है कि काव्य-रस एक अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द है, जो ब्रह्मानन्द सहोदर है, इससे आत्मा की परितृप्ति होती है [५]। परन्तु द्विवेदीजी का मत है कि रस-जगत् और जड़-जगत् में भेद करके हमने बिस्मिल्ला ही गलत कर दिया है [६]। काव्य में एक रस-लोक की सृष्टि होती है। उसमें एक ऐसी विचित्र शक्ति होती है जो दुनियां से ग्रहण की हुई सामग्री से ही पाठक के चित्त में एक मनोरम कल्पना-लोक का निर्माण करती है। इस लोक में दुनियां के ही समान सुख-दु:ख होते हैं। परन्तु वह इससे ऊपर और स्थूल जगत् के झमेलों से मुक्त है। काव्य के पंख पर मनोभाव ऊपर उठ सकते हैं। स्थूल भार नीचे रह जाता है। इसलिए यहाँ के सभी मनोभाव आनन्द उत्पन्न करते हैं। दु:ख से भी आनन्द और सुख से भी आनन्द। मनोभावों के लौकिक रूप में दुनियां के स्थूल और मलिन पदार्थ मिले रहते हैं। पर काव्य में

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ६-१०
२ —वही— " ११
३ —वही— " १०-११
४ हिन्दी-साहित्य " ११०
५ अशोक के फूल " १५६
६ —वही— " १५७

ये नहीं रहते हैं। अतः यहां का आनन्द अनाविल सूक्ष्म होता है [१]। काव्य में साधारणीकरण का गुण होता है इसके कारण काव्य का आनन्द सर्वजन-भोग्य और लौकिक स्थूल अंशों से छना हुआ होता है। वहां रजोगुण और तमोगुण हट जाते हैं। प्रकृति सत्वस्थ हो जाती है। काव्यानन्द विशुद्ध मानसिक आनन्द है। द्विवेदीजी का यह विवेचन साहित्यदर्पणकार से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है [२]। इस प्रकार द्विवेदीजी को भी रस-मत मान्य है। द्विवेदीजी के मानवतावादी विवेचनों में काव्य की लोक-सामान्य भूमि का विस्तार-सहित विवेचन हुआ है। काव्य अनुभूति अवस्था का विवेचन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि कवि का सुख-दुख जब कल्पना की सहायता से, छन्द, अलङ्कार आदि के संयोग से और निखिल विश्व की मर्म-व्यथा की चिन्ता करके सर्व-साधारण के ग्रहण योग्य बन जाता है, तो उसे हम अनुभूति अवस्था कहते हैं। कविता में कवि अपने सीमित सुख-दुख को असीम जगत में अमुभव करता है। अनुभूति की अवस्था में उसके पैर इस दुनियां पर ही जमे रहते हैं। वह इसे छोड़ नहीं सकता [३]। द्विवेदीजी ने काव्य की वैयक्तिक भूमि को भी मान्यता दी है। प्रगीत मुक्तकों के सम्बन्ध में उनका मत है कि उनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ ही प्रमुख होती हैं, परन्तु उनसे हमारे हृदय में आनन्द का संचार इसलिए होता है कि वे हमारी अनुभूतियों को जागृत करती हैं। कवि की अनुभूति पाठक के भीतर वासना रूप में स्थित भावों को उद्‌बुद्ध करके ही रस-संचार करती है [४]। काव्य में वैयक्तिकता का तात्पर्य यह है कि कवि ने जिन भावों को सर्व-साधारण बना दिया है, वे आरम्भ में उसके चित्त में उत्थित हुये थे। काव्य में प्रगट होने के बाद वे कवि के नहीं सहृदय मात्र के अपने भाव बन जाते हैं [५]। काव्य में वैयक्तिकता का अर्थ ग्रहण कर लेने पर वे काव्य-सत्य को कवि की मनोभूति का सत्य भी घोषित कर देते हैं [६]। वे काव्य में आन्तरिक अनुभूति की व्यंजना को ही प्रमुख मानते हैं [७]। साहित्य में केवल यह देखना आवश्यक है कि वह हृदय के किसी भाव को छू पाया है या नहीं। यदि साहित्यकार भाव का स्पर्श कर सका है, तो उसका काम पूरा हो गया [८]। इस प्रकार द्विवेदीजी के अनुसार काव्य का प्रमुख तत्व भाव या अनुभूति ही है। इनमें कभी परिवर्तन नहीं

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ५५
२ साहित्य-दर्पण " ३-२, ३
३ हिन्दी-साहित्य " ४५७
४ हिन्दी साहित्य " ४५९-४६०
५ —वही— " ४७६
६ कल्पलता " १४२
७ हिन्दी-साहित्य " ७२
८ सूर-साहित्य " १५४

होता। परिस्थितियां बदल जाने पर भी ये ज्यों की त्यों बनी रहती हैं [१]। आधुनिक कविताओं के सम्बन्ध में उनका मत है कि इनमें स्थायी भावों के स्थान पर नितान्त अस्थायी मनोभावों को जगाया जाता हैं। परन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की है कि आगे चलकर संघर्ष और सामंजस्य--प्रधान हो जायगी [२]। उनका मत है कि काव्य--जिज्ञासा के क्षेत्र में अनेक प्रकार के देशगत्, कालगत और जातिगत संस्कार बाधा पहुंचाते हैं। वे रसोप--लब्धि के मार्ग में बाधक बन जाते हैं। सहृदयों ने हमें बराबर सावधान किया है कि लावण्य वस्तु प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न और अतिरिक्त पदार्थ है [३]। वह अतिरिक्त वस्तु क्या है यह कहना बड़ा कठिन है क्योंकि वह वचन के अतीत है, अनिर्वचनीय है। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, उसके साथ जब अनिर्वचनीय का योग होता है तो हम उसे रस कहते हैं। रस अनुभव--गम्य है। उसे हम व्याख्या द्वारा समझा नहीं सकते [४]। अनिर्वचनीय का अर्थ अभावनीय नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि इसे व्याख्या द्वारा नहीं समझाया जा सकता। ऐसा नहीं कि उसे अनुभव न किया जा सके। वह तो एकमात्र अनुभव का ही विषय है [५]। यहां पर द्विवेदीजी ने रस की अलौकिकता को अस्वीकार कर दिया है और उसकी लौकिक भूमि की ओर संकेत किया है। द्विवेदीजी की यह रस-व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान से भी प्रभावित प्रतीत होती है जहां उन्होंने रस की अनिवार्य आनन्दात्मकता का वर्णन किया है। डा० नगेन्द्र के विवेचनों में यही बात अधिक विस्तार से स्पष्ट हुई है [६]। रस की लोक--सामान्य एवं मांगलिक भूमि भी द्विवेदीजी को मान्य है। काव्य ठोस रूपावरण और जागतिक व्यापारों के भीतर भी एक रूपातीत सत्य को देखा करता है। आशय यह कि रूप के परे की वस्तु रस पर ही काव्य में दृष्टि रहा करती है। इसलिए हजार बन्धनों में रहकर भी वह मङ्गल-सृष्टि कर सका था [७]। द्विवेदीजी की दृष्टि काव्य में अभिव्यंग्य अरूप पर, उसके शाश्वत तत्व पर लगी हुई है [८]। कहना न होगा कि यह उनकी मानवतावादी दृष्टि ही है। रस-मत से इसका कोई विरोध नहीं है। दोनों लोक--सामान्य मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, दोनों में लोक-मङ्गल, मनुष्य--मात्र की मुक्ति अभिप्रेत है। परन्तु मानवतावाद प्रमुख रूप से चिन्तन के

---

१ कल्पलता पृ० १५७
२ हिन्दी साहित्य की भूमिका " १४२
३ *साहित्य का मर्म* " ७६
४ —वही— " १५
५ साहित्य का मर्म " १६
६ रीति काव्य की भूमिका " ६३, ६४
७ हिन्दी साहित्य की भूमिका " १३६
८ —वही— " १३६

क्षेत्र की वस्तु है और रस साहित्य के क्षेत्र की वस्तु है। मानवतावादी दर्शन ही साहित्य में रस रूप में परिणत होता है, परन्तु यह परिणति आवश्यक है, जो द्विवेदीजी के विवेचनों में बड़ी सफलतापूर्वक चरितार्थ हुई है।

भाषा

द्विवेदीजी के मानवतावादी मत के सन्दर्भ में ही हमें काव्य के अन्य तत्वों पर विचार करना होगा। लोक-भाषा को ही द्विवेदीजी वास्तविक और सच्ची भाषा मानते हैं। इसकी शैली सहज और प्रसन्न तथा आडम्बर-रहित होती है [१]। इसमें शक्ति और प्रभाव होता है [२], घुमाव-फिराव और जटिलता नहीं होती [३]। साहित्य की भाषा केन्द्रीय भाषा के निकट हुआ करती है। वे हिन्दी को केन्द्रोन्मुख भाषा ही मानते हैं [४]। तुलसी की भाषा की द्विवेदीजी ने बड़ी प्रशंसा की है क्योंकि वह साधारण और लौकिक ही है और तीर की तरह चुभ जाती है [५]। लोक--भाषा ही हार्दिक उल्लास और सरस वाग्वैदग्ध्य का उपयुक्त वाहन हो सकती है [६]। जन-संश्रय के कारण ही निरन्तर उपेक्षित और अपमानित होते रहने पर भी हिन्दी आज सर्वोच्च गौरव की अधिकारिणी बनी है। हिन्दी की शक्ति जनता की शक्ति है [७]। नवीन विचारों और नये युग के साथ-साथ भाषा का रूप बदल जाता है[८]। इस प्रकार वे भाषा को काव्य का नित्य तत्व नहीं मानते। द्विवेदीजी काव्य के सहज गुण के समर्थक हैं। वे मानते हैं कि लाक्षणिक वक्रता से भाषा दुरूह हो जाती है। बच्चनजी की वे इसलिए प्रशंसा करते हैं कि हिन्दी को वक्र-भंगिमा से बचाया और सहज-सीधी भाषा में, सहज-सीधी शैली में अपनी बात कही। इसीलिए वे बहुत लोक प्रिय हुये [९]। द्विवेदीजी ने इस सहज भाषा की बड़ी विस्तृत व्याख्या की है। भाषा सहज होनी चाहिए। परन्तु सहज भाषा वह है जो मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है सहज ही महान बना

---

१ *हिन्दी साहित्य* पृ० ११०
२ —वही— " १४५
३ —वही— " १५१
४ —वही— " २
५ —वही— " २३९
६ —वही— " ३२७
७ —वही— " ४०२
८ —वही— " ४५२
९ —वही— " ४७९

देने वाली भाषा [१]। वह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्ध-संस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नहीं है, भले ही उसका सम्बन्ध जन-साधारण से हो। द्विवेदीजी अनायास लब्ध भाषा को सहज भाषा नहीं मानते। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा ही सहज भाषा है [२]। बाजारू और मोटे प्रयोजनों की भाषा मनुष्य को उन्नत नहीं बना सकती। जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं, उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य सहज होता है और तभी वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है। सड़क पर चलने वाला आदमी क्या बोलता है, यह बात भाषा का आदर्श नहीं होना चाहिए। देखना चाहिए कि क्या बोलने या न बोलने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिसे 'मनुष्यता' कहा जाता है [३]। सहज भाषा प्राप्त करने के लिए कठोर तप की आवश्यकता है। सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। जब तक आदमी सहज नहीं होता, तब तक भाषा का सहज होना असम्भव ही है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है, दूसरा नहीं। व्याकरण, भाषा शास्त्र और कोषों से यह भाषा नहीं बनाई जा सकती। कबीर और तुलसी को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को यह भाषा मिली थी, क्योंकि वे सहज बन गए थे। जो अपने आपको निःशेष भाव से महासहज को समर्पित नहीं करता, उसे यह सहज भाषा नहीं मिलती। पहले अपने आपको देने की क्षमता उत्पन्न करनी चाहिए, भाषा स्वयं ही सहज हो जायगी। इसके लिए साधना की तपस्या की आवश्यकता है [४]। रास्ते में बटोर कर संग्रह की हुई भाषा, आहार और निद्रा के साधनों को जुटाने वाली आनायास लब्ध भाषा मनुष्य को ऊपर नहीं उठा सकती [५]।

द्विवेदीजी ने यहां पर 'भाषा' शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ में किया है। यहां भाषा स्वयं साध्य बन गई और व्यापक अर्थ में गृहीत हुई है। इसलिए जब द्विवेदीजी कहते हैं कि भाषा अनायास लब्ध वस्तु नहीं है, उसके लिए साधना और तपस्या की आवश्यकता है, तब वे उसके इसी व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हैं। इस अर्थ में वह जन-साधारण के व्यवहार की वस्तु नहीं हैं, वह लोक की भाषा—रास्ते चलते की भाषा—नहीं है। वह अत्यन्त असाधारण 'सहज' विरलों की भाषा हुआ करती है। भाषा के इस

---

१ विचार और वितर्क पृष्ठ १६४
२ —वही— " १६५
३ —वही— " १६५
४ अशोक के फूल " १६३
५ —वही— " १६२-१६३

साध्य अर्थ के अनुरूप ही वे उसके साधन-परक अर्थ का भी निरूपण करते हैं और इस अर्थ में उनकी भाषा लोक–भाषा के निकट की वस्तु है। उनका मत है कि "भाषा कविता का वाहन है [१]।" हम कथा कहना चाहते हैं, यही मुख्य बात है, कैसे कहना चाहते हैं, यह बाद की बात है [२]। काव्य में प्रमुख भाषा नहीं है। वह तो भाव की अनुगामिनी है। भाषा में हृदयगत भाव को छूने की पूरी शक्ति होनी चाहिए इसीमें उसकी सार्थकता है [३]। भाषा हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमारी भाषा ऐसी हो जिससे अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा–निवृत्ति का संदेश मिल सके [४]। जो भाषा--विषयक प्रश्न हमें आज व्याकुल किए हुए हैं, वे नितांत ऊपरी हैं। भिन्न--भिन्न प्रकार के जन–समूहों के लिए भिन्न--भिन्न प्रकार की भाषा आवश्यक है। यदि हम अपने परम लक्ष्य मनुष्यत्व को ध्यान में रखें तो इन ऊपरी बातों से चिन्तित या उत्तेजित होने की कोई बात नहीं है [५]। भाषा औषधि के समान है जो मनुष्यता को दुर्गति के रोग से बचाने का एक साधन है और जिसका प्रयोग एक खास सीमा तक ही किया जा सकता है, आगे नहीं [६]। बङ्गाल के हिन्दुओं और पेशावर के पठानों के लिए एक ही सामान्य भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु जिस व्यक्ति के मन में मनुष्य के प्रति असाधारण प्रेम है, वह दोनों ही जगह अपना काम निकाल लेगा [७]। जिस भाषा की जीवनी शक्ति का अक्षय स्रोत जन--चित्त हो, जो जन-साधारण की भाषा हो, वह अपराजेय होती है, हिन्दी ऐसी ही भाषा है। हिन्दी इसलिए बड़ी है कि वह कोटि–कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने वाली भाषा है [८]। हमारी भाषा ऐसी ही होनी चाहिए कि वह मामूली से मामूली जन--चित्त को ऊपर उठा सके। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण से साधारण मजदूर से लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी में समान भाव से विहार कर सके [९]। अतिरंजित और उच्छ्वासपूर्ण भाषा साहित्य के क्षेत्र में अधिक उचित नहीं होती [१०]। भाषा उसके साध्य और साधन दोनों अर्थों में सहज हो।

---

१ सूर–साहित्य पृ० १७६
२ विचार और वितर्क " २००
३ सूर–साहित्य " १५४
४ विचार और वितर्क " १०१
५ --वही– " १९८
६ —वही— " १९९
७ —वही— " २००
८ अशोक के फूल " १९६
९ --वही-- " १७८
१० विचार और वितर्क " ८४

शैली

द्विवेदीजी ने शैली के संबंध में भी कतिपय महत्वपूर्ण स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं। इससे भी उनके मानवतावादी विषय—प्रधान मत का संकेत मिलता है। वे मानते है कि आज साहित्य में शैली की अपेक्षा विषय, कैसे की अपेक्षा क्या प्रमुख माना जाता है। फिर भी साहित्य के अध्येता और आलोचक दोनों के लिए शैली का अध्ययन आवश्यक है[१]। स्वभाव, संस्कार और शिक्षा-दीक्षा आदि के कारण प्रत्येक कवि की अपनी अलग शैली होती है। शैली का यह व्यक्तिगत पहलू है[२]। दूसरी बात शैली युगानुरूप हुआ करती है, यह शैली का ऐतिहासिक पहलू है। बिहारी आज सतसई बिलकुल दूसरे ही ढंग से लिखते। पुराने ढंग पर लिखी जाने पर जन—चित्त को उसी मात्रा में जीतने में कदापि समर्थ न होते। लेखक की शैली पर समय का अमिट प्रभाव पड़ता है[३]। ऐतिहासिक अंग शैली के व्यक्तिगत पहलू के महत्व को कम नही करता[४]। शैली का तीसरा पहलू उसका शास्त्रीय उपस्थापन है। इसमें वक्तव्य वस्तु के बौद्धिक भावावेशमूलक और सामंजस्यबोधमूलक उपकरण सम्मिलित हैं[५]। परन्तु द्विवेदीजी ने सीधी-सादी भाषा और निर्मल प्रतिपादन-शैली की सदैव प्रशंसा की है, अतिरन्जनापूर्ण शैली की नही[६]। यह हम भाषा के प्रसंग में भी देख चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने शैली को विषय से सम्पृक्त कर दिया है। वे 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के अनुयायी नहीं हैं। 'वे शैली को प्रधानता नहीं देते। इसके साथ ही उनकी शैली व्यक्ति और युग के अनुरूप बदलती है। वह जीवन से सम्बद्ध है, उसमें जन-चित्त की अनुरूपता होती है। युग की मिट्टी व्यक्तित्व के गमले में डाली जाती है और उसमें जो भावना-बीज बोए जाते हैं वे ही कई ढंग के रूप-रंगों में, आकार-प्रकारों में अंकुरित होते हैं।

छन्द

द्विवेदीजी मानते हैं कि छन्द और संगीत वृहत्तर जीवन में संतुलन पैदा करने वाले उपादान हैं। वे केवल शब्द और अर्थ की बौद्धिक कसरत मात्र नहीं है। उनसे जीवन

---

१ विचार और वितर्क पृष्ठ ७९
२ —वही— ,, ८०
३ —वही— ,, ८०
४ —वही— ,, ८१
५ —वही— ,, ८१
६ हिन्दी साहित्य ,, १५१

को ऊपर उठाने की शक्ति मिलती है। वे मनुष्य को नीचे गिरने से बचाते हैं [१]। छन्द एक सामूहिक शक्ति है। वह एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचारित करने वाला महान साधन है। 'ऐसा वह इसीलिए कर सकता है कि वह वृहत्तर जगत की किसी ऐसी ही शक्ति का वागाश्रित मानवीय प्रतिनिधि है। जब वह मनुष्य के वाक्य को आश्रय करके प्रकट होता है, तो उस वाक्य के पीछे रहने वाले अर्थ को प्रयोजन की गुरुता से मुक्त करके भाव–लोक में ले जाता है। जब वह मनुष्य की देह को आश्रय करके प्रकट होता है, तो इस देह में भी असाधारण ऐश्वर्य भर देता है, उस समय हम उसे नृत्य कहते हैं [२]।' छंद से भार-साम्य की रक्षा होती है, संतुलन नहीं बिगड़ता और गद्यात्मक प्रयोजनों के भारीपन से भाव मुक्त हो जाता है। मनुष्य समाज को आश्रय करने पर यह छन्द धर्म कहलाता है और सामाजिक संतुलन की रक्षा करता है, आचार–परम्परा में अध्यात्म का संचार करता है। जिस समाज में छन्द नहीं, उसमें संतुलन नहीं, उसमें अध्यात्म नहीं। समूची सृष्टि ही छन्दोमयी है। काव्य का छन्द उस वृहत्तर सत्य के अनुरूप होने से महान है, वह कलाबाजों द्वारा आरोपित काल्पनिक मुकुट पहन कर बड़ा नहीं हुआ है [३]। छंद मनुष्य को देवता बनाने के संकल्प का आदि वाहक है। काव्य–साहित्य का बहुत बड़ा भाग छंद के कारण ही लोक-प्रिय हुआ हैं [४]। छंद सूक्तियों में गति भर देते हैं। परन्तु गति ही पर्याप्त नहीं है। गति के साथ प्रगति भी चाहिए। छंद मनुष्य को आत्म-धर्म के प्रति सचेतन भी बनाए। उससे कहने वाले की वेदना भी प्रत्यक्ष हो और श्रोता का हृदय भी सहानुभूति से पूर्ण हो [५]। छंद मनुष्य एवं उसके समाज के लिए बड़ा उपयोगी है। वह बचन और क्रिया का प्रधान सहायक है। जीव-विज्ञान के अनुसार मनुष्य सीधी रेखा की अपेक्षा वर्तुल-वक्रिम रेखा में चलने में अधिक सौन्दर्यानुभव करता है। मनुष्य की यह वक्रिमा-प्रीति छन्द के रूप में प्रकट हुई है। गद्य मनुष्य की वैज्ञानिक मनोवृत्ति की उपज है और छंद उसकी सहजात आनंदिनी मनोवृत्ति की। रवीन्द्रनाथजी का मत था कि वाक्य जब सीधा खड़ा होता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता है, परन्तु तिरछी भंगिमा की गति में साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी बातें प्रकाशित करता है। यही रस है [६]। छंद रसानुभव का सहायक है। वाणी में आवेग की गति आ जाने से भावावेग के प्रकाशन में सुविधा हो जाती है [७]। छन्द वस्तुतः एक गति है। नदी यदि

---

१ साहित्य का मर्म पृष्ठ ४५
२ —वही— " ४६
३ —वही— " ४६
४ —वही— " ४८
५ —वही— " ४५
६ —वही— " १५
७ —वही— " १६

किनारों में बँधकर न बहे तो वेगवती नही हो सकेगी। इसी प्रकार वाणी भी मात्रा और यति के किनारों में से वेगवती हो उठती है। छन्द के द्वारा साधारण बात में भी चित्तानुवर्त्तिनी गति आ जाती है [१]। छन्द कवि के भावावेग का वाहन है [२]। छन्द सामाजिक बन्धनों का भी वाहन है। वह कवि के आंतरिक वेग को ही नहीं प्रकट करता, उस वेग को दूसरे के चित्त में संचारित भी करता है। उचित ढंग से छन्द-पाठ श्रोता में भी उसी आवेग को उत्पन्न करता है जिसकी अनुभूति कवि ने की थी। इस प्रकार छन्द मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को दृढ़ और स्थायी बनाने में भी बड़ा काम करता है[३]। इस प्रकार छन्द की भी बड़ी उपयोगिता है। वह कवि की भावाभिव्यक्ति में सहायता पहुंचाता है, मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो को दृढ़ करता है तथा सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि मनुष्य के वृहत्तर जीवन में संतुलन बनाए रखता है और मनुष्य को नीचे गिरने से बचाता है। इस प्रकार मनुष्य के लिए उसकी बड़ी उपयोगिता है।

अलंकार

द्विवेदीजी की दृष्टि वस्तु पर निबद्ध है, मनुष्य पर टिकी हुई है, इसलिए अलंकारों को वे सहायक रूप में ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि अलंकार रस के साधक और बाधक दोनों ही हो सकते हैं [४]। जिस काव्य में शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ-भार कम होता है, वह एक प्रकार की असांद्र-अनुभूति-जनक आवेग उत्पन्न करता है। अर्थ--भार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति पैदा करते हैं और न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के घटिया प्रभाव ही उत्पन्न करते हैं। शब्दालंकार में अर्थ-भार रहने पर काव्यगत प्रभाव और संगीत की सहज गति बढ़ जाती है। ये शब्दालंकार काव्य-साधक हैं [५]। परन्तु अर्थालंकारों की कहानी ही दूसरी है। यदि ये ठीक से प्रयुक्त हुए तो उनकी सहायता से वक्तव्य वस्तु के व्यक्तित्व को, गुणों को और क्रियाओं को हम गाढ़-भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधानहेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारों से इस प्रकार संमूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में उनकी अनुभूति सहज हो जाती है [६]। अर्थालंकार जब आवेग सहचर होकर आते हैं तो काव्य में में अधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं, पर आवेग-रहित होने पर चमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं [७]। द्विवेदीजी शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार को अधिक महत्व देते हैं और

---

१ साहित्य का मर्म पृष्ठ १६
२ —वही— " ४१
३ —वही— " १७
४ हिन्दी साहित्य " ३३०
५ —वही— ,, ३३१
६ —वही— ,, ३३१-३३२
७ साहित्य का मर्म ,, ४२—४३

अर्थालंकार में भी आवेग-युक्त अलंकार को। इससे उनकी रस-दृष्टि पर ही प्रकाश पड़ता है। वे अलंकार की महत्ता इस बात में मानते हैं कि उससे पाठक के हृदय में विषयानुभूति सुगम हो जाती है, काव्य का महत् लक्ष्य अधिक सरल हो जाता है। अलंकार-प्रयोग से कवि मनुष्य को अधिक सरलतापूर्वक गिरने से बचा सकता है, ऊपर उठा सकता है। यदि अलंकारों से इन प्रयोजनों की पूर्ति न होती हो तो वे व्यर्थ हैं।

समीक्षा

द्विवेदोजी मानते हैं कि काव्य की परीक्षा वृहत्तर मानव-पट-भूमिका पर रखकर ही की जानी चाहिए [१]। विज्ञान कला और तत्ववाद सबके लिए एक ही कसौटी होनी चाहिए। मनुष्य-चेतना की उपज होने के नाते उनमें कोई न कोई समानता तो होती ही है। साहित्य के उत्कर्ष और अपकर्ष की कसौटी उससे मनुष्य-जीवन की सफलता और असफलता को माना जा सकता है। देखना यह चाहिए कि वह जीवन के लिए कितना उपयोगी है [२]। साहित्य का इतिहास ग्रंथों और ग्रंथकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह काल-स्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास कथा है। ग्रंथकार और ग्रंथ मुख्य नहीं हैं, मुख्य है वही प्राण-धारा' [३]। समीक्षा करते समय हमें देखना चाहिए कि साहित्य में किसी मनुष्य—समाज को सच्चे रूप में उपस्थित किया है या नहीं। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि उस साहित्य की विश्व के लिए उपयोगिता क्या है [४]? द्विवेदीजी ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एक मात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं[५]।' समीक्षा वैयक्तिक भी होती है और शास्त्रीय भी। परन्तु वैयक्तिक समीक्षा से सामाजिक संबन्धों का निर्वाह कठिन हो जाता है[६]। दूसरी ओर यदि प्राचीन काव्य-शास्त्र का प्रयोग किया जाय, तो भी कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि पुराने और नए कवि और आलोचकों के सामने भिन्न भिन्न समस्यायें थीं। आज का सहृदय अब पुराना दरबारी या विलासी नागरिक नही है। इसलिये समीक्षा के नए प्रतिमान आविष्कृत होने चाहिए [७]। आज की बदली हुई परिस्थितियों के संदर्भ में ही हमें काव्य-परिक्षा करनी

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ७६
२ —वही— ,, ६६
३ कल्पलता ,, १७५
४ विचार और वितर्क ,, ४५, ४६
५ अशोक के फूल ,, १६०
६ साहित्य का मर्म ,, २
७ —वही— ,, ५

चाहिए [१]। द्विवेदीजी ने विश्वजनीन नैतिक मानवतावादी पट-भूमि पर ही काव्य-परीक्षा का समर्थन किया है[२]।

कला

हमारे यहां कलात्मक आमोदों के तीन अत्यन्त स्पष्ट पहलू हैं—तत्ववाद, कल्पनात्मक विस्तार और ऐतिहासिक परम्परा। आगमों और तन्त्रों में कला का दार्शनिक अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। कला माया के पांच कंचुकों या आवरणों में से एक है। काल, नियति, राग, विद्या और कला ये माया के पांच कंचुक हैं। इन्हीं से शिव रूप व्यापक चैतन्य आवृत होकर अपने को जीवात्मा समझने लगता है [३]। इनसे आवृत होने के पहले वह अपने वास्तविक स्वरूप—नित्यत्व, व्यापकत्व, पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वकृतत्व को समझता है। आवृत होने के उपरान्त सर्वकर्ता छोटी-मोटी वस्तुएं बनाने में रस लेने लगता है, यही कला है। प्रत्येक इन कंचुकों से बंधा है। परन्तु इनके भी दो पहलू हैं। जब ये मनुष्य को अपने आप तक ही सीमित रखते हैं, तो ये बन्धन बन जाते हैं। पर अपने ऊपर वाले तत्व की ओर उन्मुख करते हैं, तो मुक्ति के साधन बन जाते हैं [४]। भारतीय समाज में परम तत्व की ओर उन्मुख करने वाला कंचुक ही समादृत है। कला वही श्रेष्ठ है, जो मनुष्य को अपने आप में सीमित न रखे, वरन् परम तत्व की ओर उन्मुख कर दे। कला का लक्ष्य कला नहीं हैं। उसका लक्ष्य है आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार या परम तत्व की ओर उन्मुखीकरण [५]। कला का यह तात्विक विवेचन भी मानवतावादी भूमि को दृष्टि में रख कर ही किया गया है। वही कला श्रेष्ठ मानी गई है, जो मनुष्य को ऊपर उठाये, उसके अज्ञान को दूर कर दे। इस कला-विवेचन में भी द्विवेदीजी अपने सिद्धान्त से दूर नहीं हुए हैं।

साहित्य-भेद

साहित्य को उपयोगी साहित्य और ललित साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। परन्तु मनुष्य को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए—

---

१ विचार और वितर्क पृ० ६३
२ साहित्य का मर्म ,, ३८
३ प्राचीन भारत का कला-विलास ,, १५
४ —वही— ,, १६
५ —वही— ,, १७

मनुष्यता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी या व्यावहारिक साहित्य से काम नहीं चल सकता। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ललित साहित्यांगों की आवश्यकता है [१]। काव्यानुभूति के हमारे आचार्यों ने कई स्तर स्वीकार किये हैं। सर्वश्रेष्ठ काव्यानुभूति में पाठक सत्वस्थ होकर विशुद्ध मानसिक आनन्द की प्राप्ति करता है। वह एक सामान्य, सर्वजन भोग्य, स्थूलांश विगलित और अलौकिक अनुभूति का आस्वाद करता है। इसी अनुभूति को रस कहते हैं। परन्तु सभी काव्य इस प्रकार का अपूर्व रस मन में संचरित नहीं कर पाते [२]। हमारे देश में रसात्मक साहित्य तो खूब लिखा गया। परन्तु देश की निरक्षरता और दरिद्रता को दूर करने वाले एवं रसात्मक साहित्य का पोषण करने वाले वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है [३]। इस प्रकार द्विवेदीजी रसात्मक साहित्य को सर्वप्रमुख स्थान देते हैं, परन्तु मनुष्य का हित करने वाले उपयोगी शक्तिशाली साहित्य की भी उपेक्षा नहीं करते। इसी दृष्टि से वे बौद्धों, नाथों और जैन मुनियों के उपदेश मूलक या रहस्य मूलक साहित्य को भी आदि काल में स्थान देते हैं। इस साहित्य की उपयोगिता यह है कि इससे परवर्ती धार्मिक काव्य-रूपों को, तत्कालीन धार्मिक पृष्ठभूमि को और उस युग की भाषा, शैली और छंद-विधान को समझने में सहायता मिलती है। कभी-कभी इन रचनाओं में सहज सत्य को अकुतोभय तेजस्विता के साथ व्यक्त किया गया है [४]। यही इस साहित्य की उपयोगिता है और इसीलिए वह ग्राह्य है। द्विवेदीजी ने सूक्तियों की उपयोगिता भी स्वीकार की है। वृहत्तर मानव-जीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सूक्तियां सहायक होती हैं। परन्तु उससे विच्छिन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। सूक्तियों से ही पाठक का चित्त भाव-ग्रहण की तत्परता दिखाता है [५]। ऊपर के विवेचन से ज्ञात होगा कि द्विवेदीजी ने साहित्य को विभाजित भी किया है। वे साहित्य के उपयोगी और ललित, रसात्मक और उपदेशात्मक आदि भेद स्वीकार करते हैं और इनमें उनकी दृष्टि उसी साहित्य पर लगी हुई है जिससे मनुष्य का सर्वाधिक कल्याण होता है। मनुष्य का हित करने वाले प्रत्येक साहित्य-भेद को वे स्वीकार कर लेते हैं।

---

१ अशोक के फूल पृ० १६४
२ साहित्य का मर्म " ५६
३ अशोक के फूल " १७१
४ हिन्दी साहित्य " ८०
५ साहित्य का मर्म " ४४

साहित्य-रूप

कहानी

द्विवेदीजी ने अनेक साहित्य-रूपों में भी अपने इसी मानवतावादी मत का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि कोई भी कहानी तभी महत्वपूर्ण होती है जब वह गम्भीर और निर्विवाद भाव से सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्दों को चित्रित करती है। कहानी केवल अवसर-विनोदन का साधन नहीं है [१]। प्रेमचन्दजी की कहानियों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि उनमें प्रथम बार देश में फैली हुई असंख्य जनता के भीतर निवास करने वाली परम शक्तिशालिनी दैवी शक्ति का उद्घाटन हुआ (पंच परमेश्वर)। उनकी 'आत्माराम' कहानी में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और यथार्थता के भीतर से मनुष्य हृदय की विशालता उद्घाटित हुई है। ये कहानियाँ सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य का संदेश लेकर आई। इनमें मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ [२]। इस प्रकार द्विवेदीजी ने कहानियों में भी सार्वदेशिक और सार्वकालिक मनुष्यत्व का अनुसंधान किया है। परन्तु यहां भी परिस्थितियों के अनुरूप उसमें परिवर्तन स्वीकार किए गए हैं [३]।

उपन्यास

उपन्यास आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है। यह सम्पूर्ण रूप से यंत्र-युग की उपज है। इसमें तथ्यान्वेषण की प्रवृत्ति अधिक होती है। उपन्यास में दुनिया जैसी है, वैसी ही चित्रित करने का प्रयास किया जाता है [४]। इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है, जो गम्भीर भाव से निरन्तर ही हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वों को प्रभावित करती रहती है [५]। इसमें लेखक अपना एक निश्चित दृष्टिकोण, मत प्रकट करता है और कथानक को इस प्रकार सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का यह वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नये उपन्यासों की आत्मा है। जिस उपन्यासकार के पास आधुनिक युग की जटिल समस्याओं के समाधान के योग्य अपना प्रबल वैयक्तिक मत नहीं है

---

१ कल्पलता पृ० ८६
२ हिन्दी साहित्य " ४२६
३ —वही— " ४२१
४ साहित्यका मर्म " ६३
५ —वही— " ६३

वह आधुनिक पाठकों को आकृष्ट नहीं कर सकता [१]। इस प्रकार उपन्यास भी आधुनिक विराट एवं जटिल जीवन की समस्याओं के समाधान-साधन रूप में स्वीकार किया गया है। वह भी आधुनिक मनुष्य के लिए उपयोगी बन कर ही अपनी सत्ता सिद्ध कर सकता है।

नाटक

ट्रैजेडी के विवेचन में अप्रत्यक्ष रूप से उनका मानवतावादी मत प्रतिध्वनित हुआ है। उन्होंने बतलाया है कि हमारे यहां 'ट्रैजेडी' नहीं लिखे गये। इसका कारण भारतीय नैतिक आदर्श हैं। दीर्घकाल से भारत कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास करता रहा है कि इस जन्म में मनुष्य ने जो भी फल प्राप्त किया है, वह उसके पूर्व पाप-पुण्य का ही फल है और अच्छे का फल अच्छा और बुरे का फल बुरा होता ही है। इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए हमारे साहित्य में 'रिवोल्ट' नहीं है, इसीलिये हमारे नाटकों में धर्मात्मा पापात्मा से पराजित नहीं होता, सद्विचारी कठिनाइयों से जूझता हुआ हारता नहीं [२]। इसी में लोक-मंगल की भावना निहित है, मनुष्य का कल्याण छिपा है।

प्रगीत

आधुनिक प्रगीत मुक्तकों में व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता अवश्य है, परन्तु वे हमारी अनुभूतियों को जागृत करते हैं और इसीलिए उनका हम पर प्रभाव पड़ता है [३]। पाठक के रूप में पहले से ही वासना रूप में स्थित भावों को उद्‌बुद्ध करके ये मुक्तक रस-संचार करते हैं। आज का प्रगीत मुक्तक व्यक्तिगत विषय-ग्राहिता का परिणाम भले ही हो, परन्तु वह उतना ही सामाजिक है जितना कि रीति कालीन रूढ़ियों की योजना के भीतर गृहीत मुक्तक होता था [४]। इस प्रकार प्रगीत मुक्तकों की व्याख्या रस-भूमि पर की गई है। प्रगीत मुक्तकों की सामाजिकता का भी संकेत किया गया है।

विषय

आज का पाठक-समाज आज के कवि से समस्त जीवन की अभिव्यक्ति चाहता है। युग-चेतना को स्वर देना, मानव-संस्कृति का निर्माण करना कवि का कर्त्तव्य बन गया है। इसलिए सारा जीवन आज काव्य का विषय है [५]। कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-

---

१ हिन्दी साहित्य पृ० ४१४
२ साहित्य का मर्म " ३१
३ हिन्दी साहित्य " ४५९
४ —वही— " ४६०
५ साहित्य का मर्म " ११

पहाड़, जंगल-झाड़, मरु-मालव, हमारे आचार-विचार, रीति-नीति, भाषा-भाव, नवीन-प्राचीन, धर्म-ईमान सभी पर साहित्य-निर्माण किया जा सकता है [१]। साहित्य का कार-बार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिए कुछ खास विषय ही पढ़ने के हैं, वे बड़ी गलती करते हैं। हमारा सारा जीवन साहित्य का विषय है। मनुष्य अपनी समग्रता से साहित्य में अवतरित होता है [२]।

सहृदय

आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के बहुल प्रचार से हमारी पुरानी मान्य-तायें बदल गई हैं। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था, उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गई हैं और जिन बातों को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं रहीं हैं [३]। आज का साहित्य-जिज्ञासु यदि मूल्यों के परिवर्तन का ठीक-ठीक ध्यान न रखे तो वह साहित्य के नवीन प्रयोगों को एकदम नहीं समझ सकेगा। रीतिकालीन मूल्यों को स्वीकार करने वाला सहृदय नवीन उत्थान की हिन्दी-कविता को नहीं समझ सकता [४]। द्विवेदीजी मानते हैं कि सहृदय में काव्य के ही गुण और अलंकारादि आवश्यक नहीं हैं, उसमें मनुष्य के भी गुण, अलंकार आदि भी होने चाहिए [५]। आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा दी हुई सहृदय की परिभाषा द्विवेदीजी को भी मान्य है [६]। द्विवेदीजी का मत है कि काव्य-सौन्दर्य को परखने के लिये हमें अपने बद्ध-मूल संस्कारों से ऊपर उठने की—मनुष्य बनने की आवश्यकता है [७]। यह कार्य सरल नहीं है। इसलिए कवि के रस-लोक का आनन्द सभी नहीं ले पाते। काव्य को समझने के लिए भी शिक्षा चाहिए, संस्कार चाहिए, साधना चाहिये। काव्य की अच्छाई-बुराई, उत्तमता या मध्यमता का निर्णायक साहित्य-शास्त्र का पारखी ही हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार नहीं है [८]। किसी भी अच्छी चीज के निर्णय की कसौटी मनुष्य का मन ही है। परन्तु मन से किसी एक आदमी का मन प्रकट नहीं

---

१ साहित्य का मर्म पृ० १७४
२ अशोक के फूल ,, १९८
३ हिन्दी साहित्य ,, ४५४
४ —वही— ,, ४५५
५ अशोक के फूल ,, १२७
६ साहित्य का मर्म ,, २५
७ —वही— ,, २५
८ अशोक के फूल ,, १९५

होता। 'संसार की प्रबुद्ध मनीषा ने औसत संस्कृत सुहृदयों की आनन्दानुभूति को एक विशेष सीमा तक पहुँचाया है। मन से मतलब उसी स्टैण्डर्ड मन से है [१]। यह स्टैण्डर्ड मन निश्चय ही मनुष्यता के सारे गुणों से पूर्ण है।

इतिहास

द्विवेदीजी इतिहास को जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन-कथा मानते हैं,जो काल-प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहने वाले नव--नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय--यात्रा का चित्र उपस्थित करता है और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नए--नए दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है [२]। इतिहास का वास्तविक अर्थ मनुष्य--जीवन के अखण्ड प्रवाह का अध्ययन है [३]। प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान और शास्त्र का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य ही है। हमारा इतिहास पढ़ना तब तक व्यर्थ ही है, जब तक हम उसे जीवन्त मानव--प्रवाह के साथ एक करके न देख सकें। जब तक देश के प्रत्येक कण से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, तब तक हम इतिहास का वास्तविक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते हैं। हमें अपने प्रदेश के इर्द गिर्द फैले हुए विशाल जन--समूह विस्तृत भू--खण्ड और सजीव चिन्ता-प्रवाह को ही पाठ्य पुस्तक बनाना होगा [४]। इसी प्रकार हमारे साहित्य का इतिहास भी लाखों वर्ग मील फैले दीर्घकालीन में मानव-समाज की अखण्ड चिन्ता-धारा का प्रतिरूप है [५]।

जीवनी

द्विवेदीजी मानते हैं कि महान ग्रन्थ लेखक के दिमाग, हृदय और रक्त-मांस से निकलता है। इसलिए ग्रन्थ को जानने के पहले ग्रन्थकार के व्यक्तित्व का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त रचना का सम्पूर्ण आनन्द पाने के लिए रचयिता के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय और सहानुभूति मनुष्यता के नाते भी आवश्यक है। आलोचक के नाते भी पहले हमें उसका ऐसा विश्वसनीय मित्र बनना चाहिए जो उसकी बातों को सहानुभूति के साथ सुने [६]।

---

१ विचार और वितर्क पृ० १६३
२ हिन्दी साहित्य ,, ७०
३ कल्पलता ,, १६४
४ अशोक के फूल ,, १६५
५ --वही-- ,, १८७
६ विचार और वितर्क ,, ४६

संगीत

अर्थ-हीन छंद-प्रवाह सङ्गीत है। सङ्गीत का स्वर एक प्रकार का वेग है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग के रूप में प्रकट होता है।काव्य का अर्थ-प्रकाशक शब्दों के कारण बाह्य सत्ता से सम्बन्ध रहता है। हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते हैं [१]। सङ्गीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से बहुत कम होता है। इससे काव्य जैसी गाढ़ अनुभूति सङ्गीत में नहीं होती। सङ्गीत की अनुभूति विश्वजनीन तो है, पर अहेतुक है, कार्य-कारण-शृंखला से रहित। काव्य में यह कार्य-कारण-शृंखला और अनुभूति की साम्द्रता बराबर रहती है [२]। काव्य और सङ्गीत दोनों मानवीय चेतना के भाव-छोर पर स्थित हैं। परन्तु सङ्गीत कम से कम विषय-सापेक्ष--विद्या है, काव्य उससे अधिक विषय सापेक्ष है [३]। इन कारणों से, अप्रत्यक्ष रूप से, द्विवेदीजी का झुकाव काव्य की ओर अधिक है। जो कला मनुष्य से जितनी घनिष्ठ रूप से तथा गम्भीर रूप से सम्पृक्त होगी, वह उतनी ही अधिक महत्वपूर्ण भी होगी।

विविध-वाद

आदर्शवाद

विविध वादों पर भी द्विवेदीजी मानवतावादी दृष्टि से ही विचार किया है। विविध वादों पर विहङ्ग-दृष्टि डालने से भी उनके मत की पुष्टि ही होती है। आदर्श की ओर झुकाव को द्विवेदीजी ने मनुष्य की अपनी विशेषता माना है। जो जैसा है, उसे वैसा ही मान लेना मनुष्य-पूर्व जीवों का लक्षण था, परन्तु जो जैसा है वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है। प्रयत्न मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। विवेक कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है, इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं है [४]। मनुष्य ने संसार के कार्य-कारण की नीरन्ध्र परम्परा में एक फाँक का आविष्कार कर दिया। जो जैसा है उसे वैसा ही मानने से उसने अस्वीकार कर दिया और उसे अपने मनोनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। यहीं मनुष्य पशु से अलग हो गया [५]। जिस बात को कहने से मनुष्य

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ४१
२ —वही— ,, ४२
३ —वही— ,, ६२
४ साहित्य का मर्म ,, ६८
५ अशोक के फूल ,, १६२

पशु-सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है, वह सस्ती चीज़ है। उसके लिए संयम या तप की आवश्यकता नहीं पड़ती [१]। पुरानी रूढ़ियाँ वरेण्य नहीं है। परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं। वे दीर्घ आयास-साध्य मानवीय गुण हैं। मनुष्य ने अपनी तपस्या के बल पर ही आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है [२]। नाथों के पदों में ब्रह्मचर्य, वाक-संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर आंतरिक शुद्धि और मद्य-मांस के बहिष्कार पर पूर्ण जोर दिया गया है। भक्ति-साहित्य में भी चरित्रगत दृढ़ता, आचरण-शुद्धि, और मानसिक पवित्रता का दृढ़ स्वर सुनाई पड़ता है [३]। उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में जड़-विज्ञान को लेकर आई। परन्तु उस युग के साहित्य में संसार को आदर्श रूप में गढ़ने की अभूत पूर्व उत्कृष्ट और शक्तिशाली भावना प्रकट हुई। पस्तहिम्मती, पलायन, नियतिदासता, निराशा तथा पशु-सुलभ वृत्तियां आदर्श विरोधी हैं [४]। इस प्रकार जड़-विज्ञान हो चाहे अध्यात्म यदि उससे मनुष्य का कल्याण होता है, तो द्विवेदीजी को वह स्वीकृत है।

छायावाद

द्विवेदीजी के अनुसार छायावादी काव्य में मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी [५]। मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले कवि के चित्त में उन काव्य-रूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता जो दीर्घकालीन परम्परा और रीति-बद्ध चिन्तन-पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के हृदय पर आ गिरी हैं, तथा कल्पना के अविरल प्रवाह और आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति में अन्तराय उपस्थित करती हैं। इस दृष्टिकोण से नई सौन्दर्य-दृष्टि मिलती है। यह सौन्दर्य बाह्य रूप में ही नहीं आंतरिक औदार्य और मानस-गठन में भी व्यक्त होता है। सौन्दर्य के बँधे-सधे आयोजनों, रूढ़ उपमानों से मुक्त चित्त मानवता के मापदण्ड से सब कुछ को देखता है और फिर कल्पना के अविरल प्रवाह मे घन-संश्लिष्ट आवेगों की वह उर्वर भूमि प्रस्तुत होती है जो रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। "मानवीय दृष्टि से कवि की कल्पना अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वत: समुच्छित

---

१ अशोक के फूल पृ० १९१
२ —वही— " १९१
३ हिन्दी साहित्य " २७
४ अशोक के फूल " ४३
५ हिन्दी-साहित्य " ४६२

अभिव्यक्ति—बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा हुआ भाव-स्रोत—ही छायावादी कविता का प्राण है [१]।"

यथार्थवाद

द्विवेदीजी मानते हैं कि यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं है। इसलिए द्विवेदीजी भी सर्वत्र उसका विरोध नहीं करते। परन्तु यथार्थवाद जब प्रकृतिवाद में परिणत हो जाता है तब वे उसका विरोध करते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार विकसित जन्तु है, जिस प्रकार कि संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण हैं [२]। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम क्रोधादि मनोरागों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इन्हीं बातों को नहीं मानता। परन्तु मनुष्य की ब्योरेवार चेष्टाओं के चित्रण में कभी-कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानान्तर चला जाता है। प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद है और यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है [३]। द्विवेदीजी प्रकृतिवाद के विरोधी हैं, यथार्थवाद के नहीं। यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो वस्तु कल्पना से अनुरंजित की जा सकती है और न किसी नैतिक या धार्मिक आदर्श के लिए काटी-छांटी ही जा सकती [४]। इससे मनुष्य की कोई हानि नहीं है। इसलिए द्विवेदीजी यथार्थवाद के प्रति विरोध की दृष्टि लेकर नहीं चले हैं, परन्तु स्पष्ट लाभों के अभाव में, वे इस वाद के प्रति कुछ तटस्थ से हैं।

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की प्रतिक्रिया दो प्रकार की हुई है। उसके जन-कल्याण के लक्ष्य से वे उसके प्रति आकृष्ट भी हैं और उसकी विध्वंसक तथा साम्प्रदायिक गति-विधि से असन्तुष्ट भी हैं। द्विवेदीजी प्रगतिवाद को मानवतावाद का ही एक विशेष प्रकार का रूप मानते हैं। यह समष्टि-मनुष्य को समस्त शोषणों से मुक्त करने का

---

१ हिन्दी साहित्य पृष्ठ ४६२
२ —वही— ,, ४२८
३ —वही— ,, ४२९
४ —वही— ,, ४२७

लक्ष्य रखता है [१]। द्विवेदीजी का विश्वास है कि अगली मानवीय संस्कृति मनुष्यता की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। आज व्यक्ति–मानव की अपेक्षा समष्टि–मानव का प्राधान्य है। इसने मनुष्य को अधिक व्यापक, आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब–जब बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब–तब साहित्य नए काव्य-रूपों की उद्भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की मार्क्स के तत्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है [२]। प्रगतिवादी साहित्यकार बड़ी सावधानी से संसार को अपने आदर्शों के अनुरूप ढाल लेने वाले, नियति की दासता से मुक्त दृढ़-चेता चरित्रयों की सृष्टि कर रहा है। यह साहित्य कितने ही दुर्धर्ष जड़–विज्ञान के तत्ववाद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को नियति की दासता से मुक्त करने का संदेश देता है, मनुष्य के चित्त को दृढ़ता देता है। इस श्रेणी के साहित्य में यह सबसे अच्छी बात है [३]। द्विवेदीजी ने प्रगतिवादी आन्दोलन की भक्ति–आन्दोलन से तुलना की है। भक्ति–आन्दोलन के समय एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जिसमें समाज को नए जीवन–दर्शन से चालित करने का संकल्प था। इसी से उसमें अप्रतिरोध्य शक्ति का समावेश हुआ। प्रगतिवादी आन्दोलन भी इसी प्रकार का है। परन्तु भक्ति–आन्दोलन साम्प्रदायिकता की चट्टान से टकरा कर चूर्ण–विचूर्ण हो गया। प्रगतिवादी आन्दोलन में भी एक प्रकार की साम्प्रदायिकता के उगने के चिन्ह दीखने लगे हैं। द्विवेदी जी ने मनुष्य को सब प्रकार के शोषणों से मुक्त करने वाली इस महिमामयी साधना में साम्प्रदायिकता के न बढ़ने और उसके सफल होने की शुभाशंसा व्यक्त की है [४]। प्रगतिवाद को द्विवेदीजी मानवतावाद का ही विकृत रूप मानते हैं। इसमें एक ओर तो दलितों, उपेक्षितों, अधःपतितों के प्रति सहानुभूति की उदार भावना प्रकट की जाती है और दूसरी ओर सुविधा–भोगी वर्ग के प्रति रोष व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार इस वाद ने मनुष्य को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया। मनुष्य को सुविधा-भोगी और सुविधा जुटाने वाले निकृष्ट और उत्तम, पशु और देवता में विभाजित कर दिया गया। यह मानवतावाद का विकृत चिन्तन है [५]। यह ठीक है कि श्रेणी-संघर्ष के कारण मनुष्य–समाज की अनेक समस्यायें उत्पन्न हुई हैं। उनके स्वरूप को समझने के लिए एक विशेष शास्त्र की आवश्यकता है जिसके अध्ययन से हमें मानव-समाज की ऊपरी सतह की हलचलों का ज्ञान हो

---

१ हिन्दी साहित्य पृ० ४६४
२ --वही-- ,, ४६५
३ अशोक के फूल ,, ४२
४ हिन्दी साहित्य ,, ५०१
५ --वही-- ,, ४६४

भी जाता है। परन्तु इन समस्त ऊपरी हलचलों के नीचे निस्तब्ध भाव से विराजमान हैं मनुष्य की एकता [१]। मनुष्य एक है, भेद-विभेद ऊपरी बातें हैं। मनुष्य की इस महान एकता को पाने के लिए ही हमें प्रयत्न करना चाहिये [२]। यदि प्रगतिशील आन्दोलन इस विभेदक साम्प्रदायिक भाव से अछूता रहा तो वह महान उद्देश्य से चालित है और उसकी सम्भावनायें अत्यधिक हैं [३]।

मनोविज्ञान

मनुष्य की अखण्ड शक्ति में, उसकी अजेय जय-यात्रा में विश्वास करने वाले द्विवेदीजी ने स्वभावतः ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों का विरोध किया है : वे मानते हैं कि प्रसुप्त वासना, अवदमित कामना को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से लिखे गए साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता नहीं आ सकती, जो संकटकाल में हमें धीरे-धीरे कर्मठ बनाती है। इस तत्व-वाद को मान लेने पर दृढ़चित्तता और आत्म-निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता [४]। इस मनोविज्ञान से तो पस्त-हिम्मती, पलायन और नियतिदासता बड़ी हो जाती हैं। आज के मनोविज्ञानी कहते हैं कि मनुष्य मन से आज भी पशु है। वे ही आदिम मनोवृत्तियां जो चूहे, बकरी और बनमानुष में हैं, मनुष्य में भी हैं [५]। यह ठीक है कि मनुष्य में ये आदिम मनोवृत्तियाँ जीवित हैं, परन्तु उन्हीं को जगाना, उत्तेजित करना, साहित्यकार का लक्ष्य नहीं है। वह तो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। उसमें संयम और निष्ठा, धैर्य और दृढ़चित्तता का समावेश करता है [६]। फ्रायड आदि मनोविश्लेषकों से निष्कर्ष तथ्यात्मक जगत के ही हैं, चरम सत्य नहीं हैं [७]। मनोविश्लेषण मनुष्य की ज्ञान-राशि का एक कण-मात्र है। इसलिए इसे सब सांचों के साथ मिलाकर ही देखना चाहिये। सब साँच मिले तो सांच है ना मिले सो झूठ [८]।' पदार्थ-विज्ञान और जीव-विज्ञान को अनेक तथ्यों से मनोविज्ञान का विरोध है। हमारा नया साहित्यकार इस बात को नहीं समझ रहा है। 'इससे मनुष्य की नियतिदासता के भाव को बढ़ावा मिलता है, जो असत्य है, इससे मनुष्य

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ७४
२ हिन्दी साहित्य " ७५
३ हिन्दी साहित्य " ५०२
४ अशोक के फूल ,, ४२
५ -वही- ,, ४३
६ -वही- ,, ४४
७ साहित्य का मर्म ,, ७२
८ -वही- ,, ७३

की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की नगण्यता सिद्ध होती है, जो झूठ है, इससे मनुष्य की युक्ति-तर्क प्रवण प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान होता है, जो एकदम गलत है, इससे मनुष्य की उस दुर्जय-शक्ति का अपमान होता है जिसमें प्रकृति को अपने अनुकूल करने का संकल्प है, जो अशोभन है, और सबसे बढ़कर मनुष्य के उन समस्त सद्गुणों का तिरस्कार होता है जिन्हें संयम कहा जाता है, विवेक कहा जाता है, साधना कहा जाता है, आत्म-दान कहा जाता है—जो अवांछनीय है [१]।

द्विवेदीजी पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, परन्तु शर्त यह है कि उससे मनुष्य को लाभ होना चाहिए। यूरोपीय प्रभाव होने से ही कोई चीज अस्पृश्य नहीं हो जाती [२]। यदि प्राण हों तो ढांचा किसी भी देश या जाति से लिया जा सकता है। मनुष्य शूल रूप में एक है। इसलिए जहाँ भी मनुष्य हैं, उन पर मनुष्य का प्रभाव पड़ेगा ही। लज्जा प्रकाश ग्रहण करने में नहीं हैं, अंधानुकरण में है [३]। अंग्रेजों की मानसिक दासता से हमें बचना है। परन्तु अंग्रेजों के सम्पर्क से आई वस्तु बुरी और त्याज्य है, इस अतिरेक से भी हमें बचना है [४]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने मानवतावादी दृष्टि से समस्त साहित्य की परीक्षा की है। यह दृष्टि नैतिक और आदर्शात्मक है। इसके साथ ही वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। इस मानवतावादी दृष्टि का रस-सिद्धान्त से सरलता-पूर्वक समन्वय किया जा सकता है। रस-सिद्धान्त में मानवतावादी दृष्टि की उच्चतम नैतिकता तो है ही, इसके साथ ही वह साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों को लेकर भी चला है। इस प्रकार 'रस' एक श्रेष्ठ साहित्यिक सिद्धान्त की सम्पूर्णता से युक्त है और केवल मानवतावाद में एक एकांगिता सी दृष्टिगत होती है। द्विवेदीजी ने साहित्य को साग्रह साधन माना है, उसे मनुष्य-सापेक्ष महत्व दिया है। इस सम्बन्ध में भी हिन्दी की समीक्षा में विरोधी विचार व्यक्त किये गये हैं। द्विवेदीजी के विवेचनों में कहीं-कहीं पर मानवतावाद से सम्बन्ध रखने वाले विचार भी व्यक्त हुए हैं, परन्तु वे प्रासंगिक ही हैं। द्विवेदीजी ने सर्वत्र मानवतावादी दृष्टि से ही साहित्य की परीक्षा की है। आज हिन्दी की समीक्षा अधिकांशतः दिग्भ्रम में पड़ी हुई है। वह कहीं वर्गवाद में उलझी हुई है, तो कहीं पर वैज्ञानिक अनुसंधानों के अंधानुकरण में लगी हुई है और कहीं पर वह वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं का प्रकाशन मात्र करती है। इन परिस्थितियों में द्विवेदीजी को यह

---

१ साहित्य का मर्म पृ० ७३-७४
२ —वही— " ५०
३ —वही— " ५१
४ —वही— " ५१

श्रेय है कि उन्होंने हिन्दी की समीक्षा को एक अत्यन्त उदात्त नैतिक पट-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। द्विवेदीजी को मूल्यवादी या गान्धीवादी समीक्षक की संज्ञा दी गई है [१]। 'मूल्यवादी' शब्द से द्विवेदीजी के मन की अभिज्ञता नहीं होती और गान्धीजी स्वयं मानवतावादी ही थे। इसलिये इन पृष्ठों में द्विवेदीजी को मानवतावादी समीक्षक ही कहा गया है।

---

१ हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास पृ० ३७५७२, ५

डा० नगेन्द्र

"आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।"

—विचार और विवेचन, पृष्ठ ५२

सिद्धांत—आत्माभिव्यक्ति

डा० नगेन्द्र की समीक्षाओं में छायावादी समीक्षा को निश्चित नई दिशाएं उपलब्ध हुई हैं। डा० नगेन्द्र ने मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणों के आधार पर साहित्य की परीक्षा की है। इतना ही नहीं साहित्य के भारतीय सिद्धांतों को इसी निकष पर परख कर डा० नगेन्द्र ने उन्हें वैज्ञानिक पीठिका दी है। पाश्चात्य और पौरस्त्य समीक्षा-शास्त्रों के गंभीर तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उन्होंने अपने साहित्य को पुष्ट किया है। डा० नगेन्द्र के मत में मनोविज्ञान का सघन योग है, परन्तु वह सहायक तत्व के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, उसे प्रमुख स्थान नहीं दिया गया। उनका मत साहित्यिक ही है। मनोविज्ञान के साथ ही, अपने साहित्यिक मत के निर्माण में डा० नगेन्द्र ने समाज-शास्त्र और इतिहास का भी यथोचित प्रयोग किया है। यद्यपि डा० नगेन्द्र ने आत्माभिव्यक्ति को अपना साहित्यिक सिद्धांत घोषित किया है, परन्तु वे रस-परम्परा के ही नवीन समीक्षक माने जायेंगे। हिन्दी की छायावादी समीक्षा रस सिद्धान्त का ही नवोन्नयन है। आचार्य नंददुलारे जी वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि से रस-सिद्धान्त का ही नव-विकास दिखलाई पड़ता है।

डा० नगेन्द्र साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति कवि बनता है और कोई कृति साहित्य बनती है[१]। संसार में दो तत्व हैं—आत्म और अनात्म या व्यक्ति और वातावरण। आत्म अनात्म के द्वारा अपने को व्यक्त करने का सतत् प्रयत्न करता है। यही जीवन है। अनात्म के अनेक रूप हैं, इसलिए यह अभिव्यक्ति का प्रयत्न भी अनेक रूपात्मक होता है। इसमें आत्म की शब्दार्थ द्वारा अभिव्यक्ति साहित्य है। शब्द और अर्थ के अनुभव की अभि-

---

१ विचार और विवेचन पृष्ठ ५२, ५

व्यक्ति का माध्यम कर्मादि से सूक्ष्म और सीधा है। अनुभव एवं शब्द–अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य भी है [१]। आत्माभिव्यक्ति से लेखक को आत्म-परितोष, सृजन-सुख मिलता है। यही उसकी लेखक के लिए सार्थकता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा सूक्ष्मता और आंतरिक अधिक है, अतएव वाणी की आत्माभिव्यक्ति का आनन्द सूक्ष्म और आंतरिक-परिष्कृत होगा। इस आनन्द से लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म–ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि का समावेश होता है और व्यक्तित्व समृद्ध हो जाता है। शब्दार्थ के आंतरिक उपकरण लेखक को मानव–मन की एक प्रमुख विभूति निश्छलता प्रदान करते हैं। निश्छलता आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इससे भी व्यक्तित्व का संस्कार ही होता है [२]। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति से अहं अर्थात् आत्म का तो पोषण होता है, अहंकार का नहीं। अहंकार में निश्छलता नहीं होती। साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति में सतोगुण की ही प्रधानता होती है। जैनेन्द्रजी ने इसी अहं की अभिव्यक्ति को 'अहं का विसर्जन' कहा है। यह विसर्जन भी अहं का संस्कार है। इसमें अहंकार का विसर्जन होता है तथा आत्म का उन्नयन होता है [३]। यहां अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है। व्यष्टि से समिष्ट की ओर प्रेरित होने में स्वभावत: ही विस्तार होता है [४]। आत्माभिव्यक्ति से, सहानुभूति के द्वारा सामाजिकों को भी परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। इससे उनकी संवेदनाएं समृद्ध होती हैं, व्यक्तित्व संस्कृत होता है। निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का अननुमेय संस्कार किया है [५]। किन्तु आत्माभिव्यक्ति के आनन्द का नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र महत्व है और इसे तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है। 'कर्तव्य-निर्णय' सामाजिक का दायित्व है, लेखक का नहीं। लेखक किसी भी नैतिक या सामाजिक नियम से बंधा हुआ नहीं है [६]। लेखक का दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने पर भी निश्छल आत्माभिव्यक्ति कृति को मूल्यवान बनाती है। आत्माभिव्यक्ति के भी दो पक्ष हैं—आत्मा और उसकी निश्छल अभिव्यक्ति इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है। यह ठीक है कि महान आत्म से ही महान साहित्य की सृष्टि सम्भव है, परन्तु अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है, महान व्यक्तित्व नहीं। महान व्यक्तित्व से ही कोई कृति साहित्य का गौरव प्राप्त नहीं करती [७]। व्यक्तित्व की महत्ता (विस्तार और गांभीर्य)

१ विचार और विवेचन पृष्ठ ५३
२ —वही— " ५४
३ —वही— " ५५
४ —वही— " ५६
५ —वही— " ५६
६ —वही— " ५७
७ —वही— " ५८

भी सूक्ष्म समष्टिगत मूल्यों, मानव की अखंड चेतना के प्रकाश पर आधारित होगी, एक युग और एक देश की सामयिक आवश्यकताओं से इसका निर्णय नहीं होगा। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व की महत्ता का निर्णय राजनीतिक अथवा सामाजिक-नैतिक मूल्यों पर आधृत नहीं होगा, इस सम्बन्ध में मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय होंगे [१]।

गीत-काव्य का तो प्राण-तत्व ही आत्माभिव्यक्ति है। वस्तु-प्रधान प्रबंध काव्य एवं नाटक आदि में भी व्यक्तित्व का अभाव नहीं रहता। वस्तु-निर्माण, घटना-संगठन, चरित्र-चित्रण आदि में पद-पद पर कलाकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। जिन रचनाओं में अहं के चेतन रूप का स्पर्श नहीं रहता, उनमें उसके अवचेतन का प्रभाव रहता है[२]।

साहित्य मूलतः एक व्यक्ति-परक प्रतिक्रिया है [३]। रस का साहित्य संगठित अथवा आयोजित प्रयत्न नहीं हो सकता। वह व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार है आत्माभिव्यंजन है और व्यापक धरातल पर राष्ट्र का भी हो सकता है और होता है, परन्तु उस रूप में भी राष्ट्र व्यक्ति के ही चिन्तन द्वारा आत्म-साक्षात्कार करता है और व्यक्ति की ही वाणी में आत्माभिव्यंजन भी करता है। गांन्धी और रवीन्द्र इस बात के प्रमाण है। इसलिए भारतीय रसाचार्यो ने काव्य-हेतुओं में सामूहिक प्रयत्न की कल्पना तक नहीं की। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास तीनों ही वैयक्तिक गुण हैं। इनमें भी सर्वप्रमुख प्रतिभा तो एकांत वैयक्तिक संपत्ति है [४]।

साहित्य की व्यापकता साहित्यकार की चेतना की व्यापकता पर ही आधारित है। चेतना की व्यापकता का सर्वप्रमुख उपादान है अनुभूति की व्यापकता। जिस साहित्यकार का भाव-जगत जितना विस्तृत, अनेक-रूप तथा समृद्ध होगा उतना ही व्यापक उसका साहित्य भी होगा। व्यापक अनुभूति का एक प्रमाण परस्पर विरोधी पक्षों को ग्रहण करने की क्षमता होती है [५]। परस्पर विरोधी पक्षों का समन्वय चेतना की सबसे बडी सिद्धि है आई० ए० रिचर्डस ने काव्य का उद्देश्य मनोवृत्तियों का समीकरण माना है। संस्कृत के आचार्य ने भी महाकाव्य में नाना रस आवश्यक माने हैं। इस प्रकार अनुभूति की व्यापकता साहित्य की व्यापकता का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है। प्रभाव की दृष्टि से भी इस उपकरण का बहुत महत्व है[६]।

---

१ विचार और विवेचन पृष्ट ५९
२ -वही- ,, ६८
३ विचार और विश्लेषण ,, १०३
४ -वही- ,, १०४
५ -वही- ,, १०५
६ -वही- ,, १९६

साहित्य मूलतः हृदय-व्यापार है और इसका माध्यम अनुभूति है। मानव-मात्र के हृदय में देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ राग का तार अनुस्यूत है। रागात्मक धरातल पर जीवन के सभी स्थूल भौतिक भेद मिट जाते हैं। यह शुद्ध शाश्वत मानवीय धरातल ही साहित्य का सहज धरातल है। मानव अपने अन्तरतम रूप में जो है, वही साहित्य का विषय है। यहां मनुष्य न नीतिवादी है, न बुद्धिवादी, वह शुद्ध रागात्मक है। इसी से साहित्य का सम्बन्ध है। साधारणीकरण सिद्धान्त द्वारा भी इसी मानवीय धरातल का निरूपण हुआ है [१]।

जिस प्रकार डा० नगेन्द्र ने ज्ञान के साहित्य और रस के साहित्य में भेद किया है, उसी प्रकार रचनात्मक साहित्य और सृजनात्मक साहित्य में भी भेद बतलाया है। उनके अनुसार रचना एक योजना-बद्ध, बुद्धि-सम्मत प्रक्रिया है। इसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है। इसका लक्ष्य कल्याण है। सृजन-आत्म साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसमें वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। सृजन का लक्ष्य आनन्द है। नगेन्द्रजी आत्म--कल्याण की अपेक्षा आनन्द को अधिक महत्व देते हैं [२]।

संक्षेप में डा० नगेन्द्र की साहित्य सम्बन्धी मान्यताएँ निम्न हैं :-

(१) साहित्य आत्माभिव्यक्ति है और यही आनन्द या रस है—पहले लेखक के लिए फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। रस सबसे बड़ा जीवन-पोषक तत्व है।

(२) आत्माभिव्यक्ति आत्म-रक्षण का प्रमुख साधन है।

(३) जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भांति साहित्य भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है। इसका एक विशेष स्वरूप, शैली अथवा कला है, जिसको ग्रहण करने के लिए विशेष संस्कार और शिक्षा आवश्यक है। उसके अधिकारी उस कला के विशेषज्ञ ही हो सकते हैं, जन-साधारण नहीं, वे तो अधिक से अधिक उसका रस ले सकते हैं।

(४) साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की पूर्णता एवं सचाई पर आधारित है।

(५) साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। समूह का व्यक्ति पर ऋण अवश्य है, किन्तु समूह व्यक्ति का स्रष्ठा नहीं हो सकता [३]।

---

१ विचार और विश्लेषण पृष्ठ १०६
२ —वही— " १०९
३ विचार और अनुभूति " १७-१८

आत्म का स्वरूप

साहित्य में अभिव्यक्त होने वाले इस आत्म का स्वरूप क्या है ? नगेन्द्रजी का मत है कि "मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूं, और चूंकि आत्म के निर्माण में काम--वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूं।" आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का ही प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यत; काममय है। ललित साहित्य मूलत: रसात्मक होता है, अत: उसकी प्रेरणा काम-वृत्ति की प्रमुखता असन्दिग्ध है [१]। नगेन्द्रजी का यह मत फ्रायड के सिद्धान्त से प्रभावित है। फ्रायड कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। हमारी वासना यदि प्रत्यक्ष जीवन में तृप्त नहीं होती तो वह अन्तर्मन में जाकर पड़ जाती है और मन की अचेतन स्वप्नावस्था में या काव्य-सृजन की अर्द्ध चेतनावस्था में अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है [२]। फ्रायड के अनुसार काम ही जीवन की मूल प्रेरणा है। मानव के सौन्दर्य-प्रेम का उसकी काम-वृत्ति से सहज सम्बन्ध है। साहित्य--शास्त्र का सौन्दर्य-प्रेम को काव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करने वाला सिद्धान्त इसी के अन्तर्गत है। एडलर ने हीनता की भावना को जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार हमारा समस्त साहित्य जीवन-गत अभावों की पूर्ति है,जो हमें जीवन में अप्राप्त है उसे ही हम कल्पना में खोजते हैं। हमारा आदर्शवादी (तुलसी, छायावादियों आदि का) साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति का प्रयास है [३]। तीसरे मनोविज्ञानी युङ्ग ने जीवनेच्छा को जीवन की मूल प्रेरणा माना है। युङ्ग के अनुसार मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए होते हैं। पुत्र, वित्त और लोक की तृष्णाएँ जीवनेच्छा की ही शाखाएँ हैं। साहित्य भी जीवनेच्छा का ही परिणाम है। अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अपनी अभिव्यक्ति आवश्यक है। जीवन की अनेक अभिव्यक्तियों में साहित्य सूक्ष्म और आन्तरिक अभिव्यक्ति है। क्रोचे का अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त युङ्ग के सिद्धान्त के अन्तर्गत् आ जाता है [४]।

नगेन्द्रजी का आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त इन तीनों मनोविज्ञानियों के मतों को लेकर चला है, परन्तु उसमें फ्रायड के मत की प्रमुखता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में भी उन्होंने फ्रायड के मत का ही अधिक प्रयोग किया

---

१ विचार और अनुभूति पृ० १०
२ —वही— " ७
३ —वही— " ८
४ —वही— " ९

है। फ्रायड और एडलर का सम्मिलित प्रभाव निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है—"मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने से पूछता हूं कि मैं क्यों लिखता हूं, तो इसका उत्तर यही पाता हूं कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है, और मेरा यह व्यक्तित्व मेरे राग-द्वेषों का, जिनमें से अधिकांश काम-चेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। मेरे इन राग-द्वेषों में भी उन्हीं को अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका सम्बन्ध अभाव से है। क्योंकि अभाव में पुकारने की प्रेरणा होती है, पूर्ति में शांत रहने की [१]।" नगेन्द्रजी ने युङ्ग के जीवनेच्छा के सिद्धान्त के आधार पर भी साहित्य की इस प्रकार व्याख्या की है - "जीवन की मूल भावना है आत्म-रक्षण जिसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है। आत्म-रक्षण के उपायों में सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है। अतः क्रिया रूप में साहित्य आत्म-रक्षण अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का संचित कोष बन जाती है तब प्रतिक्रिया रूप में मानव-जीवन का पोषण और निर्माण करती है [२]।" नगेन्द्रजी ने क्रौंच-वध की कथा की व्याख्या फ्रायड और एडलर के आधार पर की है। उनका मत है कि आदि कवि की करुणा में काम का अन्तर्सूत्र है। इस प्रकार करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है [३]। केवल आनन्द या केवल पीड़ा से कविता की सृष्टि नहीं होती। "सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है [४]।"

अपने एक लेख 'फ्रायड और हिन्दी साहित्य' में नगेन्द्रजी ने लिखा है कि "मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं। उनकी यह धारणा गलत है [५]।" यह ठीक है कि डा० नगेन्द्र ने फ्रायड के सिद्धान्त के आधार पर साहित्य की प्रचुर समीक्षा की है, परन्तु यह उनका अङ्गी सिद्धान्त नहीं है। मनोविश्लेषण को नगेन्द्रजी ने अपने साहित्यिक मत का प्रधान सहायक तत्व बनाया है। वे यह मानते हैं कि आज के विचार-जगत में फ्रायड ने भारी क्रांति की है और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने-अनजाने उनका गहरा प्रभाव है। फ्रायड ने हमारी युग-चेतना को प्रभावित किया

---

१ विचार और अनुभूति पृ० ९-१०
२ —वही— " ११
३ —वही— " ४
४ —वही— " ३
५ विचार और विश्लेषण " ५८

है [१]। जीवन की काम-मूलक ग्रन्थियाँ अधिक विषम और सूक्ष्म--गहन होती है। फ्रायड के सिद्धान्त में अतिवाद है, परन्तु इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रन्थियों का आधार काम है। विश्व--साहित्य में कामाश्रित स्वप्न--कल्पनाओं का असाधारण योग है, उसका वृहदांश इन्हीं से प्रत्यक्ष--अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करना है। काम-जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है, समग्र जीवन नहीं। जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है [२]।

रस

नगेन्द्रजी ने आत्माभिव्यक्ति-सिद्धान्त का सम्बन्ध रस--सिद्धान्त से जोड़कर भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया है। यहां यह संकेत करना अनुपयुक्त न होगा कि डा० नगेन्द्र ने पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों का भी विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है और भारतीय काव्य-सिद्धान्तों से उनके साम्य एवं वैषम्य की सूक्ष्म तथा सर्वाङ्गीण परीक्षा कर हिन्दी--काव्य--शास्त्र के नव-निर्माण का स्तुत्य प्रयत्न किया है। जहाँ एक ओर उन्होंने 'भारतीय काव्य--शास्त्र की भूमिका', 'भारतीय काव्य--शास्त्र की परम्परा' जैसे ग्रंथ प्रस्तुत किए हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने 'काव्य में उदात्त तत्व', 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' जैसे ग्रंथ भी हिन्दी को भेंट किए हैं।

रस के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी ने लिखा है—"मेरा विनम्र मत है—साहित्य का चरम मान रस ही है जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि सौन्दर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है : अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है [३]।" भारतीय काव्य--शास्त्र के अनुसार काव्य की आत्मा आनन्द--रूप रस और मूल प्रयोजन आनन्द माना गया है—और व्यंजना से यही उसका मान दण्ड या आधारभूत मूल्य भी है। पाश्चात्य काव्य- शास्त्र में भी दो मूल्य माने गए हैं—सौन्दर्य मूलक और उपयोगिता-मूलक। इनका पर्यवसान अन्ततः आनन्द और लोक--हित में ही होता है। ये दोनों वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं। परन्तु इन दोनों में सापेक्षिक मूल्य आनन्द का ही अधिक है। आनन्द ही अखण्ड चेतना का साध्य है और इसीलिए रस को अखण्ड माना गया है [४]। आई० ए० रिचर्डस ने भी इसी के लिए 'वृत्तियों के समन्वय', शुक्लजी ने

---

१ विचार और विश्लेषण पृ० ५८
२ विचार और विवेचन " ९३
३ विचार और विश्लेषण " ३
४ —वही— " २

हृदय की मुक्तावस्था शब्द-समूह का प्रयोग किया है [१]। रस-कल्पना अत्यन्त व्यापक आधार पर की गई है। आधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि में आ जाते हैं। यूरोपीय सौन्दर्यवादियों की भाँति वह जीवन से असंपृक्त नहीं है। वह जीवन के स्थायी भावों पर निर्भर है। सत्वोद्रेक की स्थिति होने के कारण उसमें उदात्त नैतिक मूल्यों का समावेश है। चित्त-वृत्तियों का परिष्कार और सामंजस्य कर रस अपनी चरम उपयोगिता भी सिद्ध करता है। जीवन के लिए सबसे अधिक उपयोगी तत्व आनन्द है और रस आनन्द-रूप है। पश्चिम के नवीन दर्शन मानववाद को भारतीय रस-शास्त्र में आज से सहस्र वर्ष पूर्व साधारणीकरण सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक मानववादी भूमि पर रस बहुत पहले प्रतिष्ठित हो चुका था। इसलिए साहित्य का चरम मान रस ही माना जा सकता है [२]। नगेन्द्रजी का मत है कि वस्तु का स्थायी महत्व बहुत कुछ उसकी आनन्दायिनी शक्ति पर निर्भर है और जो आनन्ददायक है वह उपयोगी है ही। आनन्द की उपेक्षा करके कोई कला जीवित नहीं रह सकती। अतएव काव्य की कसौटी उसकी आनन्ददायिनी शक्ति-रस-ही है [३]।

नगेन्द्रजी ने रस-सिद्धान्त का आत्माभिव्यक्ति से भी सम्बन्ध स्थापित किया है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। रचना की सापेक्षिक रसवत्ता उसमें कर्ता के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एवं उसकी सप्राणता पर आधारित है। 'कला का मूल्य कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है: उसका आत्मा जितना प्राणवान और जितना निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती और जीवन प्रद होगी [४]। व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनन्द है और इसी से उसकी रचना में आनन्द देने की शक्ति आती है। आनन्द केवल मनोरंजन नहीं है, उसका अर्थ है अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य [५]। नगेन्द्रजी ने प्रसादजी के मत का समर्थन करते हुए भी इसी बात भी पुष्टि की है कि मानव-आत्मा की अभिव्यक्ति ही रस है और जिस घटना में यह अभिव्यक्ति जितनी पूर्ण और सफल होगी उतना ही अधिक उसमें रस होगा [६]।

आई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धांत की छाया भी नगेन्द्रजी के मत पर कई स्थलों पर देखी जा सकती है। उनका मत है कि साहित्य में एक विशेष सामंजस्य दृष्टि प्राप्ति होती

---

१ विचार और विश्लेषण पृष्ठ ३
२ —वही— " ३
३ विचार और अनुभूति " १२
४ —वही— " १३
६ विचार और अनुभूति " १४
५ अरस्तू का काव्य-शास्त्र " ६८

है। यह साहित्य की मूल प्रेरणा है और आनन्द-रूपा है। अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य ही आनन्द (रस) है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के साधारणीकरण में यही बात मिलती है। उसमें क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा आदि में भी एक सात्विक आनन्द की उपलब्धि की गई है [१]। रिचर्ड्स से नगेन्द्रजी ने थोड़ा मतभेद भी व्यक्त किया है। रिचर्ड्स का मत है कि अंतर्वृत्तियों की क्रिया की सफलता से आनन्द की चेतना होती है। परन्तु आनन्द महत्वपूर्ण नहीं है, महत्व है क्रिया और उसकी सफलता का। क्रिया का मूल्य वृत्तियों के संकलन और समन्वय से आंका जाना चाहिए। नगेन्द्रजी का कहना है कि वृत्तियों के संकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न है। आनन्द की प्रकृति ही है कि वह दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नहीं कर सकता [२]।

नगेन्द्रजी ने रस को भाव से भिन्न माना है और अपने इस मत के लिए मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है कि 'संस्कृत साहित्य-शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक है) स्पष्टत: प्रामाणिक है और आज के मनोविज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना।' उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावों द्वारा भी रस की प्राप्ति होती है। परन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक रस अपने स्थायी भाव से मूलत: सम्बद्ध है [३]।

पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में काव्यानंद को ऐन्द्रिय (प्लेटो), आत्मिक (हीगेल), काल्पनिक (एडीसन), सहजानुभूति-जन्य (क्रोचे) तथा स्वतन्त्र (ब्रैडले) बतलाया गया है। डा० नगेन्द्र ने मनोविज्ञान की परिधि के भीतर बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अन्तर्गत ही काव्यानन्द का स्वरूप निर्णय किया [४]। काव्यानुभूति में मानसिक संवेदन (चित्त-द्रुति, विस्तार आदि) और शारीरिक संवेदन (रोमांच, अश्रु आदि) दोनों होते है, अतएव उसमें ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश है। परन्तु काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति के समान प्रत्यक्ष और तीव्र नहीं होती। दोनों में प्रत्यक्षता और तीव्रता की शक्ति की भिन्नता होती है। काव्यानुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मन्द है और इसका कारण यह है कि यह प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नहीं है, भावित (Contemplated) घटना का अनुभव है। भावना में पहले कवि को फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपभोग करना पड़ता है। 'अत: परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नहीं है भावित (Contemplated) अनुभूति है। अर्थात् उसमें एन्द्रिय और बौद्धिक

---

१ विचार और अनुभूति पृष्ठ १३१
२ विचार और विवेचन " १२०-१२१
३ —वही— " १२२
४ विचार और विवेचन " २६-२७

अनुभूति के तत्वों का लवण–नीर संयोग हैं [१]।

अनुभूति संवेदनों के रूप में ही होती है। काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल है। इसलिए काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती। अतएव काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से अधिक शुद्ध और परिष्कृत है और बौद्धिक अनुभूति से अधिक सरस है [२]।

नगेन्द्रजी मानते हैं कि रस अनिवार्यतः आनन्दमयी स्थिति है। कटु संवेदनों से काव्य में मधुर अनुभूति होती है, इस प्रश्न का उत्तर भी नगेन्द्रजी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर ही दिया है। वे मानते हैं कि संवेदन अपने आप में न कटु है, न मधुर है, कटुता और माधुर्य तो अनुभूति के गुण हैं। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्वित स्थापित हो जाती है, तो अनुभूति मधुर होती है और संवेदनों में विशृंखल और विकीर्ण होने पर अनुभूति कटु हो जाती है। 'काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होते हैं एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते है, इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। क्योंकि भाव के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्व–रूप संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं [३]।

रस की आनंदमयता के संबंध में नगेन्द्रजी ने कुछ और तर्क भी दिये हैं। कटु संवेदनों से भी हमें मधुर अनुभूति मनोरागों के समंजन और परिष्कार के कारण मिलती है। दूसरी बात यह कि हमें जीवन में अनुराग है। उसके हर्ष–विषादमय सभी रूपों के प्रति हमारी अभिरुचि है। वर–यात्रा और शव–यात्रा हमें समान रुचिकर हैं। जीवन के प्रति अनुराग तात्विक अर्थ में, आस्तिक भाव है जीवन की मूल वृत्ति, जीवन के आनंद का आधार यही है। इससे विचलित होने में ही क्लेश है आनंद की कल्पना हमारे यहाँ बड़े गंभीर रूप में की गई है। वह मनोरंजन या प्लेजर आदि का पर्याय नहीं है। भारतीय दर्शन में उसकी उपमा समुद्र से दी गई है, जीवन के सुख–दुःख उसकी लहरों के समान हैं। जिस प्रकार असंख्य लहरों को अपने वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ बहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियों से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है। उदात्त काव्य—वह चाहे शृंगार मूलक हो या करुण–

---

१ विचार और विवेचन पृ० २७
२ —वही— " २९
३ —वही— " २९

मूलक, सहृदय के मन को शृंगार और करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है। इसी अर्थ में रस अखंड है और उसमें आस्वाद-भेद नहीं है [१]।

नगेन्द्रजी ने साधारणीकरण का अर्थ 'काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुंच जाना माना है [२]। शुक्लजी ने आलम्बन का साधारणीकरण एवं आश्रय का तादात्म्य स्वीकार किया है। नगेन्द्रजी का कहना है कि यह भट्ट-नायक और अभिनव का मत नहीं है। पुष्प-वाटिका प्रसंग का उदाहरण देकर डा० नगेन्द्र ने बतलाया है कि पुष्प-वाटिका की सीता, उस वास्तविक सीता से सर्वथा स्वतन्त्र है, जिसमें हम मातृ-बुद्धि रखते हैं। काव्य की सीता कवि की मानसी सृष्टि है, कोई व्यक्ति नहीं है। पाठक कवि की अनुभूति के प्रतीक पात्र से प्रेम करता है। काव्य का आलंबन कवि की अपनी अनुभूति का संवेग रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। 'अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते है कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है [३]। यहां आकर सब बाधाएं दूर हो जाती हैं। एक अन्य स्थान पर नगेन्द्रजी ने कहा है कि काव्यगत भाव और भौतिक भाव में पल्लव और बीज का सम्बन्ध है, और यह भौतिक भाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक) सभी प्रकार के काव्यों में मूलत: कवि का अपना भाव ही होता है [४]। नगेन्द्रजी ने इस सम्बन्ध में अभिनव गुप्त के मत को ही मान्यता दी है रस को वे सर्वदा विषयीगत मानते हैं। काव्यास्वादन में हमारे सामने तीन सत्ताएं आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। कवि अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाने वाला व्यक्ति है, वस्तु तत्वत: उसकी अनुभूति हा है और सहृदय कवि की संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करने वाला व्यक्ति है [५]। नायक में या वस्तु में रस की स्थिति मिथ्या ही ठहरती है। रस की स्थिति 'सहृदय' में ही है। अभिनव गुप्त का भी यही मत था। सहृदय अपनी ही अस्मिता का आस्वादन करता है। स्वदेश के अध्यात्म-दर्शी और विदेश के

---

१ अरस्तू का काव्य-शास्त्र पृष्ठ १०५-१०६
२ विचार और विवेचन " ३०
३ —वही— " ३३
४ —वही— " ६६
५ रीति-काव्य की भूमिका " ५१

मनोवैज्ञानिक दोनों ही यह समान रूप से स्वीकार करते हैं। 'अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है।' इस प्रकार कवि और सहृदय दोनों में रस की स्थिति होती है। यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय के हृदय का रस सुप्त रह जायगा और यदि सहृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल हो जायगा [१]। दृश्य काव्य का अभिनय करने वाले नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय होने चाहिये अन्यथा वे संवेद्य का उचित माध्यम नहीं बन सकते [२]। इस प्रकार रस की स्थिति, डा० नगेन्द्र कवि, नट-नटी और सहृदय तीनों में मानते हैं।

कवि अपनी अनुभूति को सहृदय तक कैसे पहुँचाता है, दूसरे शब्दों मे साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सम्भव है, इस प्रश्न के उत्तर में नगेन्द्रजी ने दो बातें कही हैं—(१) साधारणीकरण भाषा का धर्म है। (२) साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है [३]। भट्ट नायक ने भावकत्व शक्ति में और अभिनव गुप्त ने शब्द की सर्व-प्रधान व्यंजना-शक्ति में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानी है। विदेशी पंडितों ने भी भाषा को साधारणीकरण-सक्षम ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह माना है। भाषा के दो प्रकार के प्रयोग हैं। एक में प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरे में भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग साधारण व्यवहार का है, दूसरा भाव दीप्त क्षणों का। भाव-दीप्त प्रतीक ही भावोद्दीपन की क्षमता रखते हैं। हमारे भावों से ही शब्द भावोद्दीपन की शक्ति प्राप्त करते हैं। कवि का भाव सहृदय में भी वही भाव जगाता है। इसका कारण यह है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मात्र के हृदय में चेतना का एक ऐसा तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। 'अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग, भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है। और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है, मानव-सुलभ सहानुभूति [४]। भाव के धनी कवि ही सफलतापूर्वक साधारणीकरण कर सकते हैं, सभी नहीं [५]।

रस-स्थिति अथवा रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में जो गम्भीर चर्चा हुई है, नगेन्द्रजी ने उस पर भी विचार किया है। उनका मत है कि रस-

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ५३
२ —वही— " ५४
३ विचार और विवेचन " ३४
४ —वही— " ३५
५ —वही— " ३६

भोक्ता श्रोता या दर्शक सर्व-स्वीकार्य है। भरत-सूत्र के व्याख्याता भट्ट लोल्लट सामाजिक के आनन्द को अस्वीकार नहीं करते। परन्तु उनका मत है कि वास्तविक रस नायक और नायिका में हैं, नट-नटी के माध्यम से रस-प्रतीति द्वारा सामाजिक में रस उत्पन्न होता है [१]। भट्ट लोल्लट के मत पर एक आरोप यह है कि यदि भट्ट लोल्लट नायक-नायिका में ही रस-स्थिति मानते हैं, तो दूसरे के रस को देखकर प्रेक्षक कैसे रसानुभव कर सकता है? दूसरे के शृङ्गार को देखना अनैतिक भी है और उसे देखकर अन्य भाव भी जाग सकते हैं। नगेन्द्रजी का मत है कि हम मानव सुलभ सहानुभूति द्वारा दूसरे के आनन्द से आनंदित हो सकते हैं। भट्ट लोल्लट के विवेचन की यह एक विशेषता है कि उसमें रसास्वादन के मूल तत्व सहानुभूति की ओर संकेत किया गया है। उनके मत की दूसरी विशेषता इस बात में है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस-स्थिति मानकर उन्होंने काव्य-विषय की महत्ता प्रतिपादित की है। हमारे परम्परागत संस्कारों के कारण कुछ विषय रस की उद्बुद्धि अधिक मात्रा में और अधिक सरलता से कर सकते हैं। भट्ट लोल्लट ने नट में भी रस-स्थिति स्वीकार की है। वस्तुत: नट में भी रसानुभूति अनिवार्य है, बिना इनके अभिनय सफल नहीं हो सकता और बिना सफल अभिनय के दर्शक को रस प्रतीति नहीं हो सकती। भट्ट लोल्लट के मत की सबसे बड़ी सीमा इस बात में है कि वे ऐतिहासिक पात्रों में रस—मानते हैं, कवि-कृत पात्रों में नहीं। ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। काव्य में तो उनके प्रतिरूप, कवि की अनुभूति के मूर्त्त रूप नायक-नायिका ही रहते हैं। भट्ट लोल्लट यह नहीं जान सके कि नट और सहृदय के समान कवि भी काव्य-सृजन के समय रसानुभव करता है। भट्ट लोल्लट ने सामाजिक के रसास्वादन को भी गौण स्थान दिया है [२]।

श्री शंकुक ने बतलाया कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुभूति होता है। शंकुक भी रस की स्थिति ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानते हैं। शंकुक का भट्ट लोल्लट पर आरोप था कि वे दूसरे की रस-दशा से प्रेक्षक में रस-प्रतीति मानते हैं, यह सम्भव नहीं है और यदि कुछ उत्तेजना होती भी हो तो वह प्रतिकूल भी हो सकती है। नगेन्द्रजी का मत है कि शंकुक का यह आरोप उचित नहीं है। इस आक्षेप के द्वारा शंकुक सहानुभूति-तत्व का निषेध करते हैं। शंकुक का दूसरा आक्षेप है कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हमको कैसे हो सकती है? आधुनिक आलोचना यह कार्य कल्पना-शक्ति से सम्भव मानती है [३]। रसास्वादन में संस्कृत के आचार्य कवि के व्यक्तित्व को बहुत कुछ छोड़ कर ही चले हैं। शंकुक की अनुमान द्वारा

---

१ रीति-काव्य की भूमिका पृ० ३८
२ रीति-काव्य की भूमिका " ४०-४१
३ —वही— " ४१

रसानुभूति की बात मिथ्या है। अनुमान बुद्धि की क्रिया है, मन की नहीं, अनुमान से ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं। शंकुक ने भट्ट लोल्लट की बात को उलझा दिया है। उनकी देन इतनी ही है कि उन्होंने नट-नटी के अभिनय का महत्व (रसानुभव कराने में) असंदिग्ध शब्दों में प्रतिपादित किया है और अप्रत्यक्ष रूप से रस को पूर्णतः वस्तुपरक स्थिति से हटा कर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया है [१]।

भट्ट नायक ने भट्ट लोल्लट, शंकुक और ध्वनिकार के मतों का खंडन किया है। उनका कहना है कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार से अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक उत्पन्न होना चाहिये, जो कोई दर्शक नहीं चाहेगा। भट्ट नायक का दूसरा अभिव्यक्ति-मत पर यह आक्षेप है कि नायक का व्यक्तिगत भाव प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त करेगा? नगेन्द्रजी का मत है कि आज इन आक्षेपों का उत्तर देना कठिन नहीं है। पहले आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उस शोक के सफल भावन का अनुभव है जो स्वभावतः आनन्दमय होता है। भट्ट नायक का दूसरा प्रश्न है कि दूसरे के भावों की और असाधारण भावों की प्रेक्षक में कैसे अभिव्यक्ति होगी? इस प्रश्न का उत्तर भी सरल है। काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक में असम्भव नहीं मानी जा सकती, क्योंकि काव्यगत भाव विशिष्ट नहीं होता, साधारणीकृत होता है। कवि उन भावों का पहले ही अनुभव कर चुका है, इसलिए वे सामाजिक के भी अनुभव के विषय हो सकते हैं। भट्ट नायक ने इन शंकाओं का समाधान दूसरे ही प्रकार से किया है। वे रस की स्थिति सहृदय में ही मानते हैं, नायक-नायिका, नट-नटी आदि में नहीं। भट्ट नायक के मत की शक्ति इस बात में है कि उन्होंने सर्वप्रथम रस को विषयीगत माना और साधारणीकरण सिद्धान्त का आविष्कार किया [२]। साधारणीकरण के सम्बन्ध में ऊपर चर्चा की जा चुकी है। भट्ट नायक की सबसे बड़ी भ्रांति है उनकी भावकत्व और भोजकत्व नामक विशिष्ट शक्तियों की कल्पना। यह पूर्णतः निराधार है। अभिनवगुप्त का सिद्धान्त ही नगेन्द्रजी को मान्य है। इसका भी पहले परिचय कराया जा चुका है।

श्रृंगार-रस

नगेन्द्रजी का मत है कि 'शृङ्गार जीवन की प्रमुख वृत्ति है, और काव्य में भी भी शृङ्गार रस सर्व-प्रधान है।' शृङ्गार की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी वे शृङ्गार

---

१ रीति-काव्य की भूमिका पृ० ४२
२ —वही— " ४२-४४

की एक-मात्रता को नहीं मानते। मनोविज्ञान में भी रति को व्यक्तित्व का प्रमुख अंश ही माना जाता है—फ्रायड की अपेक्षा युंग का सिद्धान्त ही आज अधिक सत्य समझा जाता है [१]। वे मानते हैं कि शृङ्गार का संस्कृत साहित्य-शास्त्र का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान से तत्वत: भिन्न नहीं है। मनोविज्ञान में 'भाव' वासना या सहज प्रवृत्ति के चारों ओर केन्द्रित मनोविकार है। जीवन की प्रमुख वासना काम (मिलनेच्छा) है [२]। कामाश्रित मनोविकार ही शृङ्गार या रति है। प्रत्येक भाव के दो पक्ष हैं—मानसिक और शारीरिक। मानसिक पक्ष के अन्तर्गत आत्म–चेतना के अतिरिक्त भाव का कारण (व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति-आलंबन), भाव का अनुभूत्यात्मक रूप (सुख, दुखमय या मिश्र) तथा भाव के विभिन्न परिवर्तित रूप (संचारी) विचारणीय हैं। शारीरिक पक्ष में ऐन्द्रिय संवेदन (सात्विक भाव) तथा बाह्य शारीरिक चेष्टायें (अनुभाव) समाविष्ट हैं। मनोविज्ञान एवं संस्कृत साहित्य-शास्त्र का शृंगार सम्बन्धी विवेचन एक-सा ही है। मनोविश्लेषण में भी जीव की मूल वृत्ति काम (लिबिडो) मानी गई है। प्रेम इसी मूल वृति का परिमित अंश है जो दमन और कुण्ठाओं के प्रभाव से विभिन्न रूपों में व्यक्त होता है।

शृंगार का आध्यात्मिक विवेचन भी सम्भव है। भारतीय दर्शन के अनुसार एक पुरुष के दो रूप हैं—आत्म और अनात्म। आत्म का अनात्म को अधिकृत करने का प्रयत्न ही जीवन है। आत्म का स्वभाव ही अपना विस्तार करना है। विस्तार करने की क्रियाओं में मुख्य है प्रजनन। इसी प्रजनन का सहकारी भाव शृंगार या रति है [३]।

प्रेम का जीवन-विज्ञान का विवेचन भी उपर्युक्त सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। जीवन विज्ञान के अनुसार मनुष्य का शरीर कीटाणु-युक्त कोष्ठकों से बना हुआ है। इनमें पुरुष-कीटाणु प्रेरक (कैटेबोलिक) होते हैं और स्त्री-कीटाणु संग्राहक एवं ग्राहक (एनेबोलिक) होते हैं। इनमें एक दूसरे से मिलने की सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। यही पुरुष और नारी का पारस्परिक आकर्षण—प्रेम है [४]।

नगेन्द्रजी का मत है कि 'उत्तमता की दृष्टि से शृंगार रस सर्व श्रेष्ठ है।' आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेम प्रकृति और पुरुष की प्रणय-लीला का प्रतिबिम्ब है। वह सृष्टि-विकास की अनिवार्य आवश्यकता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी प्रेम ने मनोवृत्तियों के समीकरण की अद्वितीय शक्ति है। इसीलिए वह आनन्द है। जीवन की आत्माधिनी

---

१ देव और उनकी कविता पृ० १४६
२ —वही— " ८२
३ देव और उनकी कविता " ८२–८३
४ —वही— " ८३–८४

(ईगोइस्टिक) और परार्थिनी (अलट्रुस्टिक) वृत्तियों का इतना पूर्ण समन्वय और किसी मनोदशा में सम्भव नहीं है। भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन की मौलिक वृत्ति राग या रति ही है, द्वेष तो राग-वैपरीत्य ही है। फ्रायड के इरास और थेनेटास भी राग और द्वेष के ही पर्याय हैं जिसमें थेनेटास तो इरास का वैपरीत्य है, मूल वृत्ति इरास ही है। यही रागात्मक वृत्ति लिबिडो या काम कही गई है और इसी को जीवन की संचालिका माना गया है। गाँभीर्य, तीव्रता एवं व्यापकता की दृष्टि से भी शृंगार का स्थान सर्वोच्च है [१]।

भक्ति का निरूपण भी नगेन्द्रजी ने शृंगार के अन्तर्गत ही किया है। भक्ति-युग के सम्बन्ध में उनकी स्थापना है कि 'पराजय तथा निराशा के अवसाद में से भक्ति का जन्म हुआ। अध्यात्म अथवा परोक्ष-प्रेम भौतिक जीवन की विफलता का ही दूसरा रूप है।' भक्ति के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि 'भक्ति अथवा अपार्थिव प्रेम के सभी रूप—अनन्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य—राग अथवा रतिमूलक होने के कारण शृंगार के अन्तर्गत आते हैं।' नगेन्द्रजी इस युग के शृंगार को 'अपार्थिव शृंगार' कहते हैं। इसका आशय यह है कि इसका आलंबन मनुष्य न होकर भगवान है। परन्तु मनोविज्ञान पार्थिव और अपार्थिव शृंगार में कोई मौलिक भेद नहीं करता [२]। मनोविज्ञान आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं मानता वह आत्मा को मन की वृत्तियों में ही बांधता हैं। मनोविज्ञान के अनुसार भक्ति मिश्रभाव है, जिसका आधार है रति। अपार्थिव आलंबन निर्गुण भी हो सकता है और सगुण भी। यदि निर्गुण आलंबन होगा तो रति के साथ जिज्ञासा का मिश्रण होगा और यदि आलबन सगुण होगा तो रति के साथ अनन्यता, दास्य, सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य, माधुर्य आदि का मिश्रण होगा। आलंबन के सभी रूपों में विश्वास का बौद्धिक तत्व अनिवार्यतः रहा करता है। इस प्रकार अपार्थिव शृंगार एक मित्र भाव है जिसमें ऐन्द्रियता के साथ ही बौद्धिकता का स्थायी तत्व वर्तमान रहता है [३]। आलंबन के अमूर्त और अतीन्द्रिय होने के कारण उसके द्वारा ऐन्द्रिय तृप्ति सम्भव नहीं है। अतएव अपार्थिव शृंगार में शारीरिकता का स्थान बौद्धिकता ले लेती है। सुगुण भक्तों का प्रेम तो, मनोविज्ञान की दृष्टि से, किसी भी प्रकार पार्थिव प्रेम से भिन्न नहीं है। अप्राप्य अथवा मनःस्थित व्यक्ति के प्रति होने से वह अतृप्त है। इसलिए उसमें मानसिकता तीव्र है और शारीरिकता कुण्ठित [४]। 'सारांश यह है कि भक्तिकाल का अपार्थिव प्रेम भारतीय उन्मुखी भाव है—यह भाव शुद्ध अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक है। इसमें प्रेम की और सभी विशेषतायें विद्यमान हैं, परन्तु काम नहीं है। मनस्तत्व की दृष्टि से यह पार्थिव रति

---

१ देव और उनकी कविता पृ० ८४–८५
२ --वही— " ९१
३ —वही— " ९२
४ —वही— " ९३

का ही उन्नयन है—और यह उन्नयन रति में यत्किंचित् बौद्धिक विश्वास का मिश्रण होने से सम्भव होता है।

'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक ग्रंथ में नगेन्द्रजी ते बुद्धि रस की भी चर्चा की थी। हृदय और बुद्धि के द्वन्द्व से कविता में शास्त्रीय रस से भिन्न, बौद्धिक रस की अवतारणा होती है। इसमें कविता मस्तिष्क से निकलती है और मस्तिष्क को ही प्रभावित करती है। यहां कवि वस्तु में तन्मय नहीं होता, अपना व्यक्तित्व पृथक रखता है और वस्तु को उसके सच्चे रूप में सन्तुलित दृष्टिकोण के प्रस्तुत कर देता है। इसमें पाठक को अभिज्ञान का आनन्द (प्लेजर आफ रिकगनीशन) मिलता है [१]।

नीति और उपयोगिता

हम देख चुके हैं कि नगेन्द्रजी की समीक्षाओं में मनोवैज्ञानिक दृष्टि सर्व प्रमुख है। रस-सिद्धान्त उन्हें मान्य है। परन्तु वे रस के मनोवैज्ञानिक आधार को ही स्वीकार करते हैं, किसी अन्य को नहीं। रस की वे ही शास्त्रीय विशेषताएं उन्होंने स्वीकार की हैं, जो मनोविज्ञान के निकष पर खरी उतर सकी हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में नगेन्द्रजी का नई समीक्षा में सर्वाधिक योग है। मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टियों में विरोध प्रतीत होता है। नगेन्द्रजी की समीक्षाओं में नीति का तत्व किस रूप में ग्रहण हुआ है, यह भी देख लेना आवश्यक है।

नगेन्द्रजी मानते हैं कि साहित्य का आनन्द स्वयं एक बड़ा वरदान है। नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से उसका मूल्य स्वतन्त्र है। परन्तु नैतिक एवं सामाजिक मूल्य भी उपेक्षणीय नहीं हैं। समाज के सङ्गठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का सङ्कलन ही नीति है। नीति का पालन करना समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है और इसीलिये कवि का भी। प्रतिभाशाली होने के कारण कवि का नैतिक दायित्व और भी अधिक है। सामाजिक के नाते कवि उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है। परन्तु डा० नगेन्द्र यह मानते हैं कि कवि के रूप में उस पर इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है [२]। नगेन्द्रजी मानते हैं कि हानि-लाभ का विचार ही उपयोगितावाद और नीतिवाद को जन्म देता है। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रह कर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो वह शिव-अशिव कहलाने लगता है और उपयोगितावाद और नीतिवाद बन

---

१ सुमित्रानन्दन पन्त पृ० १५८
२ विचार और विवेचन पृ० ५७

जाता है। साधारण (नार्मल) व्यक्ति निसर्गत: उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है। असाधारण प्रतिभा उपयोगिता और नीति में नहीं बँधती। वह इनके ऊपर रहा करती है [१]। नगेन्द्रजी की समीक्षाओं में नीति का तत्व अङ्गी बनकर नहीं आया है, परन्तु उन्होंने उसकी उपेक्षा भी नहीं की है। रीतियुग को उन्होंने 'नैतिक अधोगति' का युग कहा है [२]। देव के काव्य में कुरुचिपूर्ण स्थल कम हैं, इस बात पर उन्होंने सन्तोष व्यक्त किया है [३]। आशय यह कि नगेन्द्रजी की समीक्षाएँ नैतिक दृष्टि से सर्वथा रिक्त नहीं हैं।

उद्देश्य

भारतीय आचार्यों ने काव्य के अनेक प्रयोजन बतलाए हैं जिनमें कुछ वैयक्तिक हैं और कुछ सामाजिक। आनन्द और बौद्धिक विकास व्यक्तिगत सिद्धयां हैं और चार पुरुषार्थों का सम्बन्ध सामाजिक प्रयोजन से है। इस प्रकार स्वान्त: सुख और लोक-हित दोनों के प्रति भारतीय आचार्य आरम्भ से ही जागरूक था। इन दोनों के सापेक्षिक महत्व के सम्बन्ध में भी भारतीय आचार्यों ने निर्भ्रान्त धारणा व्यक्त की है। भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की आत्मा रस है और उसका मूल प्रयोजन आनन्द है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी दो मूल्यों की चर्चा रही है, वे हैं सौन्दर्यमूलक और उपयोगिता-मूलक। इनका पर्यवसान आनन्द और लोक-हित में ही होता है। नगेन्द्रजी के अनुसार ये एक दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। परन्तु इन दोनों में सापेक्षिक मूल्य आनन्द का ही अधिक है। आनन्द में हित की भावना अन्तर्भूत है और हित की परिणति आनन्द ही है [४]। नगेन्द्रजी ने एक स्थान पर लिखा है "आप इसे दोष मानिए या गुण, मेरी अन्तर्मुखी प्रकृति आनन्द से बढ़कर आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण की कल्पना करने में असमर्थ है [५]।" 'साहित्य की प्रेरणा' के सम्बन्ध में विचार करते हुये नगेन्द्रजी ने निष्कर्ष में कहा है कि उसके पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है और आत्माभिव्यक्ति आनन्द है, रस है [६]। काव्य के मुख्य प्रयोजन दो कहे गए हैं—श्रोता या पाठक के लिए प्रीति (आनन्द, रस) और कवि के लिए कीर्ति। कवि के लिए यश और अर्थ के प्रयोजन

---

१ विचार और विवेचन पृ० ६४
२ रीति काव्य की भूमिका " १४
३ देव और उनकी कविता " १०४
४ विचार और विश्लेषण " १-२
५ —वही— " १०६
६ विचार और अनुभूति " १७

बतलाए गए हैं, ये बहुत उथले हैं। लिखने की साधारण प्रेरणा इनसे भले ही मिले, परन्तु रस-सृष्टि इनके द्वारा सम्भव नहीं [१]।

नगेन्द्रजी ने काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतुओं के शास्त्रीय विवेचन में साहित्य के प्रेरणा-विषयक संकेत ढूँढ़े हैं और अंत में निष्कर्ष यह निकाला है कि संस्कृत के आचार्यों ने रस-ग्राही पाठक की दृष्टि से ही काव्य का विवेचन किया है और रस-स्रष्टा कवि की उपेक्षा की है। भारतीय परम्परा अखण्ड रूप से काव्य के निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही। इसलिए साहित्य की प्रेरणा का विवेचन उसमें नहीं हो सका [२]। साहित्य की प्रेरणा का विवेचन नगेन्द्रजी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में उन्होंने शुक्लजी का अनुसरण किया है। वे साहित्य का उद्देश्य व्यक्तित्व का संस्कार मानते हैं। साहित्य का कर्तव्य-कर्म है आत्माभिव्यक्ति और उसकी विधि है सहज आनन्दमयी। साहित्य का उद्देश्य सूक्ष्म आन्तरिक एवं शाश्वत होता है। तात्कालिक प्रभाव साहित्य की सिद्धि नहीं है। साहित्य कवि और सहृदय का जगत के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है [३]। नगेन्द्रजी को इस सम्बन्ध में तुलसी और शुक्लजी की परम्परा ही मान्य है। तुलसी के सामने सुरसरि का भी आदर्श था और स्वान्तःसुख का भी। उन्होंने अपने मङ्गल-श्लोक में वाणी (काव्य-सौन्दर्य) और विनायक (लोक-मङ्गल) की एक साथ वन्दना की है। सुन्दर और शिव की सिद्धि ही तुलसी के मत से काव्य का उद्देश्य है। यह अभिजात्यवादी काव्य-दर्शन का दृष्टिकोण नगेन्द्रजी को भी मान्य है जिसमें आनन्द प्रधान है, परन्तु नीति-पोषित भी है [४]।

साहित्य और जीवन

नगेन्द्रजी साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध मानते हैं—एक क्रिया रूप दूसरा प्रतिक्रिया रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है, प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक है। जीवन और साहित्य में पिता और पुत्र का सम्बन्ध है [५]। साहित्य का किस जीवन से सम्बन्ध है—वैयक्तिक से है या फिर सामाजिक से है? उनके अनुसार दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परन्तु सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से व्यक्ति की

---

१ विचार और अनुभूति पृ० ४
२ —वही— " ५-६
३ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां " ३४-३५
४ अरस्तू का काव्य-शास्त्र " ५४-५५
५ विचार और अनुभूति " ११

सत्ता समाज की सत्ता से अधिक बलवती सिद्ध होती है। व्यक्ति समाज का अंग अवश्य है, परन्तु समय आने पर वह समाज को बदल भी सकता है। समाज की साधारणता से असाधारण प्रतिभाजन्य काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती [१]। समाज का और सामयिक परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। बिहारी के दोहों में भी सामयिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है [२]। देश-व्यापी आन्दोलनों से काव्य अस्पृष्ट नहीं रह सकता। परन्तु आन्दोलनों का प्रभाव काव्य पर छन कर पड़ता है। आन्दोलन एक आवेश-प्रवाह न रहकर स्थिर भाव-भूमि का रूप धारण कर लेता है तभी वह कवि की अंतश्चेतना तक पहुंच सकता है [३]। सामयिक प्रभाव को नगेन्द्रजी ने फैशन की संज्ञा दी है जिससे साहित्य भी नहीं बच सकता। परन्तु नगेन्द्रजी सामयिक प्रभाव और साहित्य का सीधा सम्बन्ध नहीं मानते। सामयिक प्रवाह से बहकर लिखने वालों के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी की धारणा बहुत अच्छी नहीं है। उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी में न जाने कितने कवियों ने राष्ट्रीयता की मूल धारा में अवगाहन किए बिना प्राणों के स्फुलिङ्ग की जगह मुंह के झाग उगले और छिछले दिल और दिमाग के लोगों ने झूम-झूम कर उनकी दाद दी। परन्तु गम्भीर कवियों और पाठकों को इनमें आत्माभिव्यक्ति नहीं मिली। इसीलिए 'भारत-भारती' के कवि को 'साकेत' और 'यशोधरा' में आत्माभिव्यंजन खोजना पडा, 'रेणुका' के कवि को 'कुरुक्षेत्र' में आकर आत्म-साक्षात्कार हुआ, नवीन को सांस्कृतिक कविताओं में अपनी आत्मा का रस उड़ेलना पड़ा और जो ऐसा नहीं कर सके वे काव्य-इतिहास के पृष्ठ से लुप्त हो गए [४]। आशय यह कि सामयिक जीवन के प्रभाव से शाश्वत श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। हमें साहित्य की परीक्षा करते समय समाज के बाह्य आवरण को चीर कर उसके मूल मानवीय अन्तर्तत्वों को ग्रहण करना चाहिए। केवल सामयिकता की कसौटी पर साहित्य को कसना भूल होगी [५]। साहित्य का सीधा सम्बन्ध जीवन की आन्तरिक प्रवृतियों से है, बाह्य राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों से नहीं [६]। दूसरे शब्दों में जीवन के कवि-अनुभवों को साहित्य में स्थान मिलता है। उसी साहित्य में व्यापकता होती है जिसके लेखक को जीवन के विभिन्न पक्षों का अनुभव हो, जिसे जीवन की गम्भीर अनुभूति हो-जिसका भाव-जगत विस्तृत और समृद्ध हो [७]। कवि का व्यक्तिगत जीवन भी कभी-कभी साहित्य

---

१ विचार और अनुभूति पृ० १५-१६
२ विचार और विश्लेषण " ४१
३ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां " ३५
४ —वही— " ३६
५ विचार और अनुभूति " १५
६ रीति काव्य की भूमिका (भूमिका क)
७ विचार और विश्लेषण " १०५

को प्रभावित करता है [१]। वस्तुतः साहित्य व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार और आत्माभिव्यंजन है और व्यापक धरातल पर राष्ट्र का आत्म-साक्षात्कार और आत्माभिव्यंजन भी हो सकता है, परन्तु उस रूप में भी राष्ट्र व्यक्ति-चिन्तन द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार और व्यक्ति की ही वाणी में आत्माभिव्यंजन करता है। जैसे गान्धीजी के चिन्तन में भारत ने आत्म-साक्षात्कार किया और रवीन्द्र की वाणी में आत्माभिव्यंजन [२]। आशय यह कि नगेन्द्रजी साहित्कार के वैयक्तिक आन्तरिक जीवन से साहित्य का सम्बन्ध मानते हैं।

तत्व

अनुभूति

कविता के तीन तत्व हैं—राग, कल्पना और विचार। इनमें राग ही प्रधान है। राग का रंग चढ़ा होने पर ही विचार और कल्पना कविता की सृष्टि कर सकते हैं। इसीलिए कवि की परीक्षा उसके हृदय की परीक्षा है—उसके हृदय की विशालता और गम्भीरता की परीक्षा है [३]। राग या अनुभूति तत्व काव्य का रक्त-मांस है। अनुभूति के पोषण में ही कल्पना की सिद्धि है। अनुभूति की आग में तपे बिना जीवन की पूर्ति पूर्ण नहीं हो सकती [४]। मानव अपने अन्तर्तम रूप में रागात्मा है और उसके इसी रूप से साहित्य का सम्बन्ध है। उसका यह रूप शाश्वत और सार्वभौमिक है [५]। मूल मनोवेगों पर आश्रित अनुभूति की पूंजी कवि की साधारण पूंजी नहीं हैं —वह काव्य की मूल-भूत पूंजी है [६]। इस अनुभूति के कतिपय गुण हैं। अनुभूति निश्छल हो [७] (निश्छलता पर नगेन्द्रजी ने बड़ा बल दिया है), व्यापक हो [८] (व्यापकता के अन्तर्गत विस्तार, गम्भीरता एवं विरोधी भावों के समन्वय की शक्ति निहित है) तथा तीव्र एवं शक्तिपूर्ण हो [९]। काव्यानुभूति के सम्यन्ध में रस के प्रसंग में कुछ बातें ऊपर कही जा चुकी हैं। हम देख चुके हैं कि नगेन्द्र जी काव्यानुभूति को भावित अनुभूति मानते हैं जिसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का लवण-नीर संयोग है। अनुभूति अपने मूल रूप में संवेदनात्मक है। उसके शारीरिक' मानसिक एवं बौद्धिक सभी रूपों में प्रत्यक्षता की मात्रा

१ देव और उनकी कविता पृ० ११७
आ० हि० क० की मु० प्रवृत्तियां " ८७
२ विचार और विश्लेषण " १०४
३ साकेत—एक अध्ययन " १७
४ विचार और विश्लेषण " १००
५ —वही— " १०६
६ आ० हि० क० की मुख्य प्रवृत्तियां " ९६
७ —वही— " ९३
८ विचार और अनुभूति " १०५
९ —वही— " १२५

का ही अन्तर है, मूलगत प्रकार का नहीं। नगेन्द्रजी ने रस-शास्त्र की—रस के भाव संचारियों आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी की है [१]।

कल्पना

कल्पना के सम्बन्ध में ऊपर अनुभूति के प्रसंग में संकेत किया जा चुका है कि नगेन्द्रजी अनुभूति को काव्य का प्रमुख तत्व मानते हैं और कल्पना को उसका सहायक तत्व। कल्पना का सर्व व्यापक पश्चिमी अर्थ उन्होंने ग्रहण नहीं किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में कल्पना का स्वतन्त्र रूप से निर्देश नहीं किया गया है। परन्तु कल्पना-तत्व से भारतीय आचार्य अपरिचित नहीं थे। ध्वनि सिद्धान्त का आधार कल्पना ही है [२]। साधारणत: कल्पना प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी गुण समझा जाता है, परन्तु कल्पना प्रत्यक्ष से सर्वथा अनाश्रित नहीं रह सकती। कल्पना उस पक्षी के समान कही गई है जो सुदूर आकाश उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बांधे रहता है [३]। कल्पना के अनेक कार्य बतलाये गये हैं। कल्पना का सबसे पहला कार्य प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रों के समीकरण और आदर्शीकरण का है [४]। कल्पना का दूसरा प्रयोग अप्रस्तुत विधान में किया जाता है। कलाकार की सशक्त अभिव्यंजना एवं पाठक की रस-ग्रहण-क्षमता भी कल्पना पर ही आश्रित है [५]। कल्पना नये वैज्ञानिक आविकार भी करती है, रिक्त स्थानों को भरती है अर्थात् विषमताओं को एकसार कर देती है। काव्यगत टेकनीक के अर्थ में यही रूप-विधान भी है। कल्पना का एक प्रयोग और है जिसका कालरिज ने संकेत किया है। कालरिज ने लिखा है : 'इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेक रूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-संयम का दुर्दम उत्साह तथा गम्भीर भावुकता के साथ [६]।' शेक्सपीयर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है और यही कवि-गौरव की कसौटी है [७]।

---

१ रीति काव्य की भूमिका पृ० ६४–६५
२ विचार और अनुभूति " २०
३ —वही— " २१
४ —वही— " २१
५ —वही— " २२
६ —वही— " २३
७ —वही— " २४

कल्पना अनुभूति के सामंजस्य से ही प्रभविष्णु बनती है। अनुभूति का साथ छोड़ कर कोरी करामात बन जाती है [१]। कल्पना प्रमुखत: संयोजन-व्यापार है और संयोजन बुद्धि की क्रिया है। अतएव कल्पना अनुभव और बुद्धि पर आश्रित हैं। दोनों की समृद्धि से कल्पना भी समृद्ध होती है [२]। कल्पना के तीन भेद बतलाये गये हैं—ललित, निपुण तथा सहज। निपुण कल्पना में बुद्धि की, सहज कल्पना में अनुभूति की और ललित कल्पना में दोनों तत्वों की प्रधानता रहती है [३]।

बुद्धि

बुद्धि तत्व को भी नगेन्द्रजी ने साहित्य में प्रमुख नहीं माना है। उनका मत हैं है कि बौद्धिक मूल्यों की भेद-वृत्ति साहित्य की अखण्ड रसमयी आत्मा को सह्य नहीं है। साहित्य का मूल विषय न तो बौद्धिक है और न नैतिक ही [४]। परन्तु नगेन्द्रजी ने यह भी माना है कि भावुकता और विचार-धारा को पूर्णतया पृथक् भी नहीं किया जा सकता। इसलिए कवि को समझने के लिए उसकी विचार-धारा को भी स्पष्ट किया जाता है [५]। बुद्धि तत्व का साहित्य में महत्व है, परन्तु कविता को जान-बूझ कर किसी सिद्धान्त विशेष का वाहक नहीं बनाया जा सकता। विचार और सिद्धान्त सामयिक और परिवर्तन-शील होते हैं और कविता का सम्बन्ध शाश्वत रस से है [६]। निष्कर्ष यह कि डा० नगेन्द्र काव्य में बुद्धि तत्व की उपेक्षा नहीं करते, परन्तु उसे सहायक तत्व के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

अलंकार

नगेन्द्रजी ने अलंकारों को कल्पना की क्रिया कहा है। स्वयं कल्पना को वे साहित्य में प्रमुख स्थान नहीं देते। अतएव अलंकारों को भी वे साहित्य में सहायक तत्व के रूप में ही ग्रहण करते हैं। 'अलंकार, की दो व्युत्पत्तियां प्रचलित हैं—अलंकरोतीति अलंकार: (जो सुशोभित करता है वह अलंकार है) और अलंक्रियते अनेन इति अलंकार: (जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है वह अलंकार है)।

---

१ सुमित्रानन्दन पन्त " २८
२ आ० हि० क० की मुख्य प्रवृत्तियां " ९१–९२
३ —वही— " ९३
४ विचार और विश्लेषण " १०६
५ सुमित्रानन्दन पन्त " ३२
६ —वही— " १४७

नगेन्द्रजी दूसरी व्युत्पत्ति को ही अधिक संगत मानते हैं, जिसके अनुसार अलंकार काव्य-शोभा का साधन मात्र है [१]। नगेन्द्रजी को आचार्य दंडी की परिभाषा मान्य नहीं है, वे आचार्य विश्वनाथ की अलंकार-परिभाषा ही स्वीकार करते हैं [२]। नगेन्द्रजी सभी प्रकार के चमत्कार को काव्य नहीं मानते। जिसमें भाव का योग है, वहीं चमत्कार काव्य का आनन्द दे सकता है। जिसमें भाव का योग नहीं है, जो बौद्धिक विधान-मात्र है, उससे बौद्धिक आनन्द ही मिलेगा, काव्यानंद नहीं। अलंकारों के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी ने कुछ समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। उनका मत है कि रसवादियों का मत सर्वथा निर्भ्रान्त है। रमणीयता मूलतः भावाश्रित ही है। परन्तु भाव-रमणीयता, बिना किसी वक्रता के, साधारण शब्दों द्वारा व्यक्त करना भी संभव नहीं है। भाव-सौन्दर्य से उक्ति स्वयं सुन्दर हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव-सौन्दर्य और उक्ति-सौन्दर्य दो भिन्न तत्व नहीं हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में, आत्मा और शरीर में भेद नहीं किया जा सकता। भाव-रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है [३]। गिरा और अर्थ की अभिन्नता भारतीय आचार्य को ज्ञात थी। तत्व दृष्टि से इन दोनों को अभिन्न मानते हुए भी भारतीय आचार्य ने व्यावहारिक रूप में दोनों के भेद को स्वीकार किया है। क्रोचे को यह व्यावहारिक भेद भी स्वीकार नहीं है। इस दृष्टि से भारतीय आचार्य की दृष्टि ही अधिक विश्वस्त है [४]। नगेन्द्रजी अलंकार की मूल प्रेरणा, वाणी के अलंकृत होने का कारण भावोद्दीपन मानते हैं। भावोद्दीपन से वाणी आप से आप उद्दीप्त हो जाती है और भावोद्दीपन का कारण है मन का ओज। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग और वाणी के आवेग का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। नगेन्द्रजी ने एक और बात कही है। अलंकार-प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है आत्म-प्रदर्शन की भावना और प्रदर्शन में अतिशय का तत्व अनिवार्य होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी अलंकार का प्रयोग उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ही किया जाता है [५]। अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार समझाते हुए नगेन्द्रजी ने लिखा है 'हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को बैठाते हैं, बात को बढ़ा-बढ़ाकर उसके मन का विस्तार करते हैं, वाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा

---

१ रीति काव्य की भूमिका पृष्ठ ८०

२ काव्यशोभाकरानधर्मानलंकारान् प्रचक्षते:-दंडी
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन: ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ —विश्वनाथ

३ रीति कव्य की भूमिका ,, ८२-८३

४ —वही— ,, ८४

५ —वही— ,, ८६

करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं, बात को घुमा-फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं। अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं, स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक) [१]। अलंकार भाषण की विधियां हैं। अतएव उनके मूल में निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां रहती हैं। इन्हीं के आधार पर अलंकारों की सम्यक व्याख्या और उनका थोड़ा-बहुत परिवर्तन-परिशोधन किया जा सकता है[२]। अलंकार अतिशय-चमत्कार द्वारा किसी-न-किसी प्रकार हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करते हैं और और उन पर धार रखकर उन्हे तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियां जब अन्वित होती हैं तब इनमें स्वभावत: ही अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है और रसानुभूति भी तीव्र और गंभीर होती है। इसी प्रकार अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं[३]। नगेन्द्रजी अनुभूति और अभिव्यक्ति में तत्वत: कोई अंतर नहीं मानते। इसलिए वे यह भी संभव मानते हैं कि कवि द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों के माध्यम से उसके व्यक्तित्व, स्वभाव, आशा आकांक्षाओं आदि का अध्ययन किया जा सकता है [४]। अलंकार–विवेचन में आज अलंकार का नाम और अलंकारों की संख्या बतला देना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता। नाम–परिगणन से काव्य के कलात्मक स्वरूप पर कोई विशेष प्रकार भी नहीं समझा जाता। नामं-परिगणन से काव्य के कलात्मक स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश भी नहीं पड़ता। आज यह जानना आवश्यक है कि कवि ने कथन की किस प्रभावपूर्ण प्रणाली का प्रयोग किया है और उसका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है? संस्कृत का अलंकार–शास्त्र अलंकार को वस्तु से पूर्णतया स्वतन्त्र मानता है और अभिव्यंजनावादी क्रोचे ने अलंकार और अलंकार्य की एकान्त अभिन्नता का प्रतिपादन किया है। नगेन्द्र जी ने मध्यवर्ती मार्ग उपयुक्त माना है [५]। निष्कर्ष यह कि :—

(१) अलंकार अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं, ऊपर से धारण किए हुए आभूषण नहीं हैं।

(२) इस रूप में भी वे साधन-मात्र है, साध्य नहीं। उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

(३) अंग से अंगी होकर वे अराजकता फैलाते हैं।

---

१ रीति–काव्य की भूमिका पृष्ठ ८६–८७
२ —वही— ,, ८६
३ —वही— ,, ६२
४ देव और उनकी कविता ,, २०३
५ साकेत-एक अध्यन ,, १४०—१४१

(४) यह स्थिति ही अलंकारवाद और अभिव्यंजनावाद की मध्यवर्ती है [१]।

भाषा

अनुभूति और अभिव्यक्ति में जिस प्रकार अभेद है उसी प्रकार भाव और भाषा में भी घनिष्ठ संबंध है। प्रत्येक कुशल कवि की कृति में भाव के अनुकूल शब्द प्राय: आपसे आप आ जाते हैं। कुछ शब्दों में भाव का चित्र नहीं, ध्वनि रहती है। ध्वननशील शब्दों से काव्य-सौन्दर्य बढ़ जाया करता है[२]। कविता की भाषा पात्र एवं प्रसंग के अनुकूल, मूर्ति विधायनी और मधुर होनी चाहिए [३]। नगेन्द्रजी का मत है कि भाषा और कला का पृथक्करण असंभव है [४]। काव्य-रूप के बदलने पर भाषा का रूप भी बदल जाया करता है[५]। वस्तुत: भाषा अभिव्यंजना का सबसे मुख्य और सहज माध्यम है [६]। बोलचाल की भाषा में और साहित्य की भाषा में अन्तर होता है। समृद्ध साहित्यक भाषा को उसके मूल बोलचाल के रूप में सीमित नहीं किया जा सकता। साहित्यिक अभिरुचि और परिष्कृति उसमें अनेक परिवर्तन और परिशोधन करके उसके स्वरूप को ही बदल देती है [७]। प्रयोग-वादी कवियों ने भाषा का एकांत वैयक्तिक प्रयोग करने की बात कही है। नगेन्द्रजी का मत है कि भाषा एक सामाजिक साधन है, उसकी सार्थकता ही इस बात में है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। इसलिए उसका प्रयोग सामाजिक हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। भाषा का वैयक्तिक प्रयोग साधारणीकरण का विरोधी होता है, उससे रस-प्रतीति नहीं होती [८]। साहित्य की भाषा जीवन की भाषा से शक्ति प्राप्त करती है और जीवन की भाषा से समृद्धि। भाषा में स्वाभाविकता का गुण भी आवश्यक है[९]।

शैली

अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की वाहक शैली (टेकनीक) है। अनुभूति आत्मा है, अभिव्यक्ति शरीर, भाषा वाणी और टेकनीक चाल-ढाल है [१०]। प्रत्यक्ष और सरल

---

१ विचार और विश्लेषण पृष्ठ ९३-९४
२ साकेत-एक अध्ययन ,, १५५
३ —वही— ,, १५५-१५७
४ सुमित्रानन्दन पंत ,, ६५
५ —वही— ,, १६०
६ देव और उनकी कविता ,, २०५
७ —वही- ,, २१०
८ विचार और विवेचन ,, १५०
९ विचार और अनुभूति ,, ५१, ५२
,, १२९

शैली अभिधामूलक हुआ करती है और इसमें राग–तत्व की प्रधानता होती है। अप्रत्यक्ष शैलियां लक्षणा और व्यंजना पर आश्रित होती हैं और उनमें मूलत: बुद्धि-तत्व निहित रहता है [१]। अनुभूति और अभिव्यक्ति के समान ही शैली भी जीवन मे प्रभावित हुआ करती है [२]। नगेन्द्रजी शैली का व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। उनका मत है कि "रीति या शैली अपने वास्तविक रूप में मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम है। अतएव उसको निश्चित बाह्य तथ्यों में बांधना उतना ही कठिन है जितना मनोविकारों को [३]।" शैली का वैयक्तिक तत्व दो रूपों में प्रकट होता है—कवि की आत्माभिव्यंजना के रूप में और पात्र तथा परिस्थिति के साथ सामंजस्य के रूप में। भारतीय साहित्य निर्वैयक्तिक साधना के रूप में ग्रहण हुआ है। अतएव शैली के पहले रूप को यहां वांछित महत्व नहीं मिला। परन्तु उसके दूसरे रूप का विधान यहां निश्चित रूप से मिलता है [४]। शैली का संबंध भी नगेन्द्र जी ने आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत से ही स्थापित किया है। वे शैली को आत्माभिव्यक्ति का अनुरूप माध्यम मानते हैं। इसके साथ ही शैली में भी उन्हें राग-तत्व की प्रधानता ही अभिप्रेत है, बुद्धि तत्व की नहीं। अतएव प्रत्यक्ष एवं सरल शैली की उन्होने प्रशंसा की है। उनकी शैली जीवन-सम्बद्ध भी है। रीति अथवा शैली को नगेन्द्रजी नगण्य नहीं मानते। उन्होंने लिखा है–"वाणी के बिना अर्थ गूँगा है। शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी और कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिसे पर बांधकर पिजड़े में डाल दिया गया हो। वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्व अनिवार्यत: शैली ही है।" (भारतीय काव्य–शास्त्र की भूमिका, पृष्ठ १७६)

छन्द

काव्य और छन्द में भी नगेन्द्रजी ने घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। वे मानते हैं कि छन्द कविता का नैसर्गिक परिधान है। यह साकेत की सीता के दिव्य दुकुल की भांति कविता की देह के साथ ही उत्पन्न हुआ है। प्रत्येक भाव और रस की अभिव्यंजना के अनुकूल छन्द हुआ करते हैं। उन्हीं छन्दों में तत्तत भावों की सम्यक व्यंजना हो सकती है [५]। "जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं,

---

१ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां पृ० ६४
२ –वही– ,, ६५
३ रीति काव्य की भूमिका ,, १००
४ –वही– ,, १००
५ साकेत–एक अध्ययन ,, १६६–१६७

जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं[१]।" 'कविता और छंद का सम्बन्ध आकस्मिक न होकर अनिवार्य है और आन्तरिक है[२]। नगेन्द्रजी ने छंद का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया है। वे लिखते हैं—"इस सत्य की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—साधारणत: हमारे रक्त की धारा एक विशेष समगति से बहती रहती है—यह समगति जो हृदय की धड़कन और श्वास-प्रश्वास से नियमित आरोह-अवरोह में मूर्त होती रहती है, स्वभावत: लययुक्त है क्योंकि नियमित आरोह-अवरोह ही तो लय है। भावोच्छ्वास की अवस्था में रक्त की गति तीव्र हो जाती है, हृत्कम्पन तथा श्वास के आरोह-अवरोह में भी उसी के अनुसार अन्तर पड़ जाता है—और इस प्रकार उस मूलगत समलय में विशिष्टता आ जाती है। वह लय स्थिर और मन्द न रहकर अब अस्थिर और तीव्र बन जाती है। यह विशिष्ट लय इतनी सशक्त होती है कि इसका हम स्पष्ट अनुभव करते हैं। यही अपने आप शारीरिक क्रियाओं में (जैसे हाथ पैर उछालना आदि में) व्यक्त हो जाती है—आरम्भ में नृत्त का जन्म इसी प्रकार हुआ और इसी प्रकार कुछ दिनों बाद इसी आन्तरिक लय का भाषा पर आरोप कर मनुष्य ने सहज रूप से छंद का भी आविष्कार कर लिया—तभी वास्तविक कविता का जन्म हुआ और तभी छंद का। साहित्य में जो विशेष रसों और विशेष छंदों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसका भी आधार यही है। हमारे सभी भाव एक सी हृत्कम्पन पैदा नहीं करते—प्रत्येक भावोच्छवास एक विशेष प्रकार के हृत्कम्पन तथा श्वास के आरोह-अवरोह को जन्म देता है। दूसरे शब्दों में उसकी अपनी एक विशेष आंतरिक लय होती है जो भाषा पर आरोपित होकर एक विशेष छंद--लय को जन्म देती है। इसी कारण रस-विशेष का छंद विशेष से एक आंतरिक संबंध रहता है—यह संबंध छंद के बाह्य रूप से न होकर उसकी आंतरिक लय से होता है[३]।" नगेन्द्रजी काव्य के लिए छंद को आवश्यक मानते हैं। काव्य में रसात्मक तत्व का अतिशय होता है। रसातिशय से मन उच्छ्वसित हो उठता है और मन का उच्छ्वास श्वास के आरोह--अवरोह में व्यक्त होता है। यही लय है, जो शब्द-संयुक्त होकर छंद बन जाती है। इस प्रकार काव्य और छंद का नित्य संबंध है[४]। नगेन्द्रजी द्वारा दिया हुआ छंद का यह विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक है। इससे काव्य और छंद के अनिवार्य एवं नित्य सम्बन्ध को एक प्रौढ़ आधार प्राप्त हुआ है।

---

१ सुमित्रानन्दन पन्त पृ० ६१
२ देव और उनकी कविता " २४३
३ —वही— " २४३
४ अरस्तू का काव्य-शास्त्र " २५

काव्य-हेतु

काव्य-हेतु तीन माने गए हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास। वस्तुतः काव्य-हेतु काव्य के सहायक साधन हैं [१]। आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा को एवं आचार्य मङ्गल ने निपुणता को श्रेष्ठ माना था। नगेन्द्रजी आचार्य आनन्दवर्धन के मत को ही विवेक सम्मत मानते हैं। निपुणता अथवा बहुज्ञता से काव्य में बाधा ही उत्पन्न हुई है। बहुज्ञता काव्य का अनिवार्य गुण नहीं है, काव्य-सौन्दर्य के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में नगेन्द्रजी ने दो बातें कही हैं। पहली बात यह कि काव्य में बहुज्ञता का अर्थ काव्य-सम्बद्ध विषयों के ज्ञान और अनुभव-समृद्धि तक ही सीमित रखना चाहिए और दूसरी यह कि काव्य में बहुज्ञता का योग अप्रत्यक्ष ही रहना चाहिये [२]। साहित्य में व्युत्पन्नता का अर्थ केवल पाण्डित्य या बहुज्ञता तक ही सीमित न करके साहित्यिक परिष्कृति (लिटरेरी कल्चर) मानना चाहिये [३]। काव्य के इन हेतुओं में नगेन्द्रजी शक्ति (प्रतिभा) को प्रमुख मानते हैं। वैसे प्रतिभा निपुणता और अभ्यास तीनों ही वैयक्तिक गुण हैं। परन्तु इन तीनों में भी प्रतिभा एकान्त वैयक्तिक सम्पत्ति है और वह काव्य में प्रमुख भी है [४]। नगेन्द्रजी का यह निर्णय भी उनके आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल है। निपुणता और अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा में ही आत्म-तत्व या व्यक्तित्व का तत्व अधिक है। नगेन्द्रजी प्रतिभा को चेतना मानते हैं। चेतना व्यक्ति की केन्द्रीय शक्ति है जो अनुभूति चिन्तन, विचार, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाएँ करती है। चेतना की प्रखरता, गहनता, सूक्ष्मता आदि ही प्रतिभा है [५]। प्रतिभा का निर्माण नहीं किया जा सकता [६]।

कला

नगेन्द्रजी की कला-परिभाषा भी उनकी काव्य-परिभाषा से भिन्न नहीं है। यहां भी वे अपने आत्माभिव्यक्ति-सिद्धान्त को ही आधार बनाते हैं। उनके अनुसार कला लेखक की सौन्दर्यानुभवी अंतरात्मा का मूर्त स्वरूप है [७]। वास्तविक अर्थ कला में कवि के सम्पूर्ण

---

१ विचार और विश्लेषण पृष्ठ ३६
२ —वही— " ३७
३ —वही— " ४२
४ —वही— " १०४
५ —वही— " १०४
६ —वही— " १०५
७ सुमित्रानन्दन पन्त " ४५

आत्मा की अभिव्यक्ति है। विभिन्न अनुभूतियों वाला कवि का आत्म अपनी अभिव्यक्ति के लिये रङ्ग, रेखा, शब्द आदि का आधार लेता है तभी कला का जन्म भी होता है। कवि का प्रयत्न दो प्रकार का होता है—अवचेन और चेतन। अवचेतन प्रयत्न से कलाकार अनुभूति का साक्षात्कार करता है। यह प्रयत्न सहज और सूक्ष्म है, इसका कलाकर को भी ज्ञान नहीं रहता। चेतन प्रयत्न द्वारा वह अनुभूति को विभिन्न माध्यमों से बाँधता है। यह प्रयत्न स्थूल है। पहला प्रयत्न ही मुख्य है। क्रोचे उसी को सभी कुछ मानता है। परन्तु नगेन्द्रजी का मत है कि यदि पहला प्रयत्न आत्मा है,तो दूसरा शरीर है। आत्मा के अध्ययन के लिए शरीर का भी महत्व है [१]। कलाओं की मूल आत्मा एक ही है, उनमें अभिव्यक्ति मात्र का अंतर है। वस्तुतः गीत ध्वनिमय चित्र है और चित्र अंकित ध्वनि [२]। कला शब्द से कला--शिल्प का अर्थ भी लिया जाता है। कला—शिल्प से बहिर्मुखी प्रवृत्ति एवं प्रबल आत्माभिव्यक्ति का विरोध है। कला के लिए अंतर्मुखी प्रवृति आवश्यक है, जिसके दो रूप हैं—चिन्तन और कल्पना [३]। स्थूल रूप से सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कलाकार जिन साधनों का प्रयोग करता है वे सभी कला के प्रसाधन हैं। इस अर्थ में कला कुछ कृत्रिम है परन्तु उसका एक सूक्ष्म भाव रूप भी है [४]।

विविध साहित्य-रूप

गीत

"जब हृदय अपने उद्गार सहज और प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करता है तब गीति-कविता का जन्म होता है [५]।" गीतों की इस परिभाषा में भी आत्माभिव्यक्ति ही प्रमुख तत्व है। काव्य के सभी रूपों में व्यक्तित्व तत्व अनिवार्य है। परन्तु अन्य रूपों की अपेक्षा गीतों में प्रत्यक्ष आत्म--निवेदन का पूर्ण अवकाश रहता है। व्यक्ति--तत्व गीति--काव्य की आत्मा है [६]। गीत का जन्म अंतर्ज्वाला से होता है। इसका विस्फोट क्षणिक एवं अस्थायी होता है, इसलिए गीत छोटे ही होते हैं। एक भावना या विचार ही गीत को अनुप्राणित करता है अतः उसमें अखण्ड एकता मिलती है [७]। अतिशय अलंकृति और चिन्तन से गीत के आवेग का तार टूट जाता है [८]। सरल, अमिश्र एवं कोमल भावों की व्यंजना के

---

१ देव और उनकी कविता पृ० १८१
२ रीति-काव्य की भूमिका ,, २५
३ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां ,, ५६
४ सुमित्रानन्दन पन्त ,, ४५
५ विचार और विश्लेषण ,, १२८
६ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां ,, ६२
७ सुमित्रानन्दन पन्त ,, २९
८ —वही— ,, ३१

लिए गीत का ही माध्यम उपयुक्त माना गया है [१]। जब आत्मा भाव की अग्नि मे पिघल कर बही है और जब उसके ताप से वाणी भी द्रवीभूत हो गई है तभी भाव ने गीत का रूप धारण कर लिया है। जीवन-दर्शन के भाव-परक या व्यक्ति-परक होने पर काव्य में गीत का महत्व बढ़ गया है [२]। गीत के दो प्रयोजन मिलते हैं—आत्म-निवेदन और मनो-रंजन। इनमें पहला अधिक मौलिक है। वह प्रयोजन भी है और प्रेरणा भी है [३]। स्पष्ट ही गीत आत्माभिव्यक्ति का सर्वाधिक सफल साधन है।

महाकाव्य

महाकाव्यों का कथानक ऐतिहासिक या पौराणिक हुआ करता है। इनमें कथा और चरित्र का पुनर्निर्माण तथा उनमें लेखक का अपना दृष्टिकोण महत्वपूर्ण होता है। इसी में कवि की सर्जना-शक्ति और मौलिक प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। एक युग का कवि दूसरे युग की कथा द्वारा अपनी और अपने युग की आत्मा को अभिव्यक्त करता है [४]।

निबन्ध

नगेन्द्रजी समालोचक के लिए स्फुट विवेचनात्मक निवन्ध लिखना अनिवार्य मानते हैं और इस कार्य को प्रबन्ध-कवि की गीत-रचना के समान बतलाते हैं। इन दोनों साहित्य विधाओं में आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक अवकाश रहता है, इसलिए सृजन-तत्व की भी अधिकता होती है। गद्य-साहित्य में निवन्ध आत्माभिव्यक्ति का सबसे श्रेष्ठ माध्यम है [५]।

समीक्षा

समीक्षा में भी नगेन्द्रजी समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति को—जिसमें उसकी भावुकता या रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—प्रमुख मानते हैं। साहित्य-जगत में वस्तु का एकांत वस्तु-गत रूप ग्रहण करना असम्भव है। वे समीक्षा में भी साधारणीकरण अनिवार्य मानते हैं। नगेन्द्रजी के अनुसार आलोचक एक रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्व-सुलभ करने का प्रयत्न है। आलोचना

---

१ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां पृ० ७५
२ —वही— ” ७५
३ विचार और अनुभूति ” १२१
४ विचार और विश्लेषण ” १२४
५ —वही— (निवेदन)

का मूल्य इस बात पर आधारित होगा कि आलोचक कृति के सहारे कितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सका है [१]।

कहानी और रेखाचित्र

नगेन्द्रजी का मत है कि कहानी में रेखा-चित्र की अपेक्षा रस अधिक होता है। रेखा–चित्र में जिज्ञासा उद्‌बुद्ध होकर रह जाती है, इसके विपरीत कहानी में उसकी परि–तृप्ति हो जाती है। रेखाचित्र में जहाँ मैं और तू—अर्थात् मूलत: लेखक और परिणामत: पाठक तथा विषय—ही रहते हैं, वहां कहानी में मैं, तू और वह का वृत्त पूरा हो जाता है [२]। ऊपर कहानी और रेखाचित्र की तुलना रस-दृष्टि से की गई है। रस को नगेन्द्र जी ने आत्माभिव्यक्ति ही कहा है। इस प्रकार इन साहित्य-प्रकारों का सम्बन्ध भी उनके आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त से जुड़ जाता है।

विविध वाद

छायावाद

छायावाद को नगेन्द्रजी ने स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा है [३]। नगेन्द्रजी छायावाद को गाँधीवाद से भी प्रभावित मानते हैं। दोनों में कई समानतायें हैं। दोनों का मूलाधार आदर्शवाद है। सर्वात्मवाद दोनों का मूल दर्शन है। गान्धीवाद में जो सत्य और अहिंसा है वही छायावाद में सौन्दर्य और प्रेम है। व्यक्ति तत्व दोनों में प्रमुख है [४]। आशय यह कि साहित्य अपने युगीन प्रभावों से अछूता नहीं रहता। छायावाद भी अपने युग की प्रमुख विचार-धारा से प्रभावित हुआ है। छायावाद को नगेन्द्रजी ने क्षति-पूर्ति का प्रयत्न भी कहा है। ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता युग के असन्तोष और विद्रोह को अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी, अतएव वे भावनायें अन्तर्मुखी होकर अवचेतन में बैठ गईं और वहां से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई [५]। नगेन्द्रजी का मत है कि छायावाद की सृष्टि करने लगी। आशा और निराशा के छायाचित्रों की सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है और उन्होंने यह

---

१ विचार और अनुभूति पृ० १८
२ विचार और विश्लेषण " ८६
३ सुमित्रानन्दन पंत " २
४ आ० हि० क० की मुख्य प्रवृत्तियाँ " ३
५ —वही— " ६

व्याख्या प्रस्तुत भी की हैं [१]। नगेन्द्रजी ने छायावाद की आध्यात्मिक भूमि का निषेध किया है और बतलाया है कि उसकी प्रेरणा आध्यात्मिक नहीं है, वह धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं है। वह तो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है [२]। इसीलिए छायावाद प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य भी नहीं बन सका। क्योंकि कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती [३]। छायावाद की कविता मूलत: व्यक्तिवादी है। वह जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण छायावाद का व्यक्ति-तत्व अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म रहा, प्रत्यक्ष और स्थूल नहीं [४]। नगेन्द्रजी का मत है कि छायावाद की कविता प्रधानत: शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म व्यक्तिगत कुण्ठाओं से हुआ है और ये कुण्ठायें प्राय: काम–मूलक होती हैं। छायावाद में परिस्थितियों द्वारा कुण्ठित काम की अप्रत्यक्ष रूप मे दो प्रकार की अभिव्यक्ति हुई—प्रकृति के प्रतीकों में और दूसरी नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य में। छायावादी काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक है [५]।

नगेन्द्रजी ने छायावाद की मनोविश्लेषण की भूमि पर व्याख्या की है और उसे काम-कुण्ठाओं का परिणाम बतलाया है।

प्रगतिवाद

नगेन्द्रजी के अनुसार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है। उनका कथन है कि प्रगतिवादी साहित्य को मुख्यत: सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है, वैयक्तिक नहीं। इसमें समाज के सुख-दुख की अभिव्यक्ति को ही महत्व मिला है, व्यक्ति सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति को नहीं। इसमें व्यक्ति को समष्टि की दृष्टि से देखा जाता है, स्वतन्त्र रूप में नहीं [६]। नगेन्द्रजी साहित्य को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस व्यक्तित्व में अप्रत्यक्ष रूप से समाज भी सम्मविष्ट है। प्रगतिवादी दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। परन्तु, नगेन्द्रजी के अनुसार साहित्य मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं है, वैयक्तिक चेतना ही है। मनुष्य पहले व्यक्ति है, पश्चात् समाज की इकाई और उसका पहला रूप ही मौलिक है। अपने वास्तविक रूप में साहित्य

---

१ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां पृ० १०-१२
२ —वही— " ११३
३ —वही— " १५
४ —वही— " ८१
५ विचार और अनुभूति " ५४-५५
६ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां " १०१

अनात्म के प्रति आत्म की (जीवन के प्रति व्यक्ति की) प्रतिक्रिया है आत्माभिव्यक्ति है। आत्म की दो प्रवृत्तियाँ हैं—अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी। साहित्य-जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। उसमें अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। प्रगतिवाद में बहिर्मुखी वृत्ति प्रधान हो गई है। प्रगतिवाद अहं का सामाजीकरण चाहता है, परन्तु महान् साहित्यकारों के अहं का पूर्णतः सामाजीकरण दुष्कर है। साहित्य में जो भी महान होता है, वह उसके लेखक के दुर्दमनीय व्यक्तित्व का ही विस्फोट होता है। किसी मतवाद से साहित्य महान नहीं होता। महान साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है। समाज में अधिकांशतः साधारण प्रतिभा और शक्ति ही होती है। साहित्यकार की चेतना समाज से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी सृजन के अर्द्ध-चेतन क्षणों में वनस्पति से ढकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्वलित हो उठती है [१]। प्रगतिवादी जीवन-दर्शन भी संकुचित है। जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या अधूरी और असंगत होगी। प्रगतिवादी साहित्य का सम्बन्ध पैदावार से जोड़कर उसे रोटी पानी जैसे सामयिक और सस्ते प्रश्नों के हल का साधन बना देता है [२]। आनन्द जीवन का भी ध्येय है और साहित्य का भी। साहित्य आनन्द-प्राप्ति का सूक्ष्म, परिष्कृत और मधुर प्रयत्न है। आनन्द ही साहित्य की कसौटी भी है, रोटी-पानी नहीं। जीवन के मूल्य और उसकी मौलिक वृत्तियाँ चिरन्तन (अधिक से अधिक स्थायी और कम से कम परिवर्तनशील) हैं। इन्हीं चिरन्तन वृत्तियों से साहित्य का सम्बन्ध है, किसी सामयिक अथवा गतिशील वस्तु से नहीं [३]। साहित्य की कसौटी आनन्द ही ठीक हैं। 'जो साहित्य जितना ही गहरा होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धान्त का--साम्यवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूँजीवाद किसी भी वाद का—समर्थन हो या विरोध [४]।' लोक-प्रचलित अस्थायीवादों के कारण साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है। काव्य रसात्मक है, जिसमें रस नहीं है, वह काव्य से भी ऊँची वस्तु भले ही हो जाय, परन्तु काव्य नहीं हो सकती [५]। काव्य के लिए अनिवार्य तन्मयता और आत्म-विसर्जन प्रगतिवाद में नहीं है। इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक अतः बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है [६]। प्रगतिवाद को नगेन्द्रजी ने सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल का विद्रोह भी कहा था [७]।

---

१ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां पृ० १०४
२ --वही— " १०३,१०५
३ —वही— " १०५
४ --वही— " १०६
५ —वही— " १०६
६ —वही— " १०७
७ सुमित्रानन्दन पन्त " १३२

प्रयोगवाद

प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी का कथन है कि वह अत्यन्त दुरूह हो गया है। प्रयोगवादी भाव-तत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर बुद्धिगत सम्बन्ध मानते हैं। परन्तु काव्य की रागात्मकता असंदिग्ध है : काव्य में बुद्धि को कभी प्रधानता नहीं दी गई। काव्य में राग-तत्व को संवेदनीय बनाया जाता है, बुद्धि–तत्व को नहीं। प्रयोगवादी कवि ने इसी सिद्धान्त की अवहेलना की है। प्रयोगवादी काव्य में रस का अभाव है, उससे पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता [१]। प्रयोगवाद की दुरूहता का दूसरा कारण है उलझी हुई संवेदनाओं के यथावत् चित्रण का आग्रह। अन्चेंतन की सभी संवेदनायें उलझो हुई रहती हैं। परन्तु कवि अपनी सहजानुभूति के बल पर उलझी हुई संवेदनाओं का व्यवस्थित कर देता है। यही कवि का मौलिक कर्म है और इसीलिए काव्य एक प्राकृतिक आवश्यकता है। प्रयोगवादी के द्वारा अभिव्यंजना सिद्धान्त का ही तिरस्कार हुआ है [२]। इसके साथ ही प्रयोगवादी कवि ने साधारणीकरण सिद्धान्त की भी अवहेलना की है। वह नवीनता की झोंक में या तो साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है कि उसमें साधारणीकरण का निषेध रहता है। साधारणीकरण शैलीगत प्रयोग ही नहीं है, वह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति। साधारणीकरण की स्थिति आज भी पहले जैसी ही है, क्योंकि कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक सा परिवर्तन हुआ है। परन्तु प्रयोगवादी कवि साधारणीकरण की चिन्ता ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत न कर विशेष रूप में ही प्रस्तुत करता है। यह बेतुका प्रयत्न है [३]। प्रयोगवादी सहजानुभूति में असमर्थ है। वह न तो संवेद्य को बिम्ब रूप में ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत ही। ऐसी परिस्थिति में काव्य-रचना असम्भव है[४]। प्रयोगवादी भाषा का एकांत वैयक्तिक प्रयोग करते हैं। यह भी साधारणीकरण के विरोध का एक स्थूल रूप है। परन्तु भाषा एक सामाजिक साधन है, उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। प्रयोगवादी प्रयत्न-पूर्वक दुरूहता लाते हैं, जिससे रस-प्रतीति में बाधा उत्पन्न होती है [५]। साहित्य में जीवन के मूल तत्व ही सर्वोपरि होंगे, नवीनता और प्रयोग साधन-मात्र हैं। काव्य में रस पर दृष्टि रखकर किये गये प्रयोग ही स्तुत्य होंगे। क्रम-विपर्यय करना, साधन को साध्य मान लेना एक हल्की साहसिकता मात्र है [६]।

---

१ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ० १२१
२ —वही— " १२१
३ —वही— " १२२
४ —वही— " १२३
५ —वही— " १२३
६ —वही— " १२३-१२४

व्यावहारिक समीक्षा

विविध वादों के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी की धारणाओं का ऊपर परिचय कराया गया है। वह सब व्यावहारिक समीक्षा ही है। नगेन्द्रजी ने अपने आत्माभिव्यक्ति-मत के आधार पर मनोविश्लेषण की भूमिका पर, साहित्य की परीक्षा की है। हम ऊपर देख चुके हैं कि वे समस्त छायावादी साहित्य को काम-कुंठाओं का परिणाम मानते हैं। इतना ही नहीं नगेन्द्रजी ने भक्ति को भी मनोवैज्ञानिक आधार पर, अपार्थिव शृंगार का उन्नयन आदि बतलाया है। उसे वे पार्थिव प्रेम से मूलतः भिन्न नहीं मानते [१]। नगेन्द्रजी की धारणा है कि आधुनिक हिन्दी में अधिकांश कविताएं आत्माभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम बनकर आई हैं। व्यक्ति को अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति में विशेष आनन्द मिलता है [२]। सियारामशरणजी के काव्य को निराशामूलक कहा गया है। इसके दो कारण हैं—व्यष्टिगत और समष्टिगत। व्यष्टिगत कारणों में स्वास्थ्य, दाम्पत्य प्रेम एवं लोक-स्वीकृति का अभाव है तथा दूसरी ओर समष्टिगत पराजय है जो निराशा के रंग को और गहरा कर देती है [३]। मूलतः सियारामशरणजी का काव्य भौतिक कुंठा का काव्य है, परन्तु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। मनोविश्लेषण के अनुसार यह आत्म-पीड़ित (दुःख में ही रस का अनुभव) की करुणा है, जो कोई स्पृहणीय वृत्ति नहीं है। परन्तु इसका उचित उपयोग उन्नयन का मार्ग खोल देता है [४]। सियारामशरणजी ने गांधीवाद को अपना लिया है। नगेन्द्रजी गाँधीवाद को भी पीड़ा का दर्शन मानते हैं, क्योंकि एक परतन्त्र देश की चिर पराजय से उसका जन्म हुआ है। सियारामजी की व्यक्तिगत पीड़ा के यह अधिक निकट है [५]। बच्चनजी की अनुभूतियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे प्रकृत और प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त की गई है, आदिम हैं और इसीलिए मौलिक एवं तत्वगत (एलीमेंटल) भी है। उनमें कोई ग्रन्थियाँ नहीं हैं [६]। श्री नरेन्द्र और अंचल दोनों को नगेन्द्रजी ने 'न्यूरोसिस' के केश कहा है। श्री नरेन्द्र की शृंगार भावना कुंठित है और उनके संयोग-वियोग के सभी गीत सफल-विफल दिवा-स्वप्नों के ही मधुर चित्र हैं। श्री नरेन्द्र के चित्र काम-स्नात हैं, परन्तु पूर्ण स्वस्थ मन की उद्भूति नहीं है। न तो उनमें पंतजी का सा नारी के प्रति शुद्ध मानसिक दृष्टि-

---

१ विचार और विवेचन पृष्ठ ४७
२ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां " ५
३ —वही— " ४५
४ —वही— " ४८
५ —वही— " ५०-२५
६ —वही— " ८८-८९

कोण है और न प्रसाद के चित्रों जैसी रूप-यौवन की स्वस्थ गन्ध ही [१]। श्री अंचल की दृष्टि मांस-लुब्ध और अधिक अस्वस्थ है। अंचल के शृंगार-चित्रों में तमस की शक्ति है जो रति, घृणा और क्रोध के तत्वों से बना हुआ है। हमारे स्वभाव में प्रेम करने की प्रवृत्ति और वध करने की प्रवृत्ति साथ-साथ वर्तमान रहती है। हमारा प्रेम घृणा में और घृणा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। अंग्रेजी में वायरनिस्म भी बहुत कुछ ऐसी ही प्रवृति का नाम है। अंचल की कविताओं में स्वभावत: ऐसा ही हुआ है [२]। दिनकर का व्यक्तित्व शृंगारी नहीं है। परन्तु उन्होंने शृंगार को जीवन की एक अत्यन्त स्वस्थ प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण किया हैं और उसको वांछित आदर भी दिया है। दिनकर के शृंगार में किसी प्रकार की मानसिक विकृतियां नहीं हैं, उनकी सभी रसोक्तियां विकच और प्रसन्न हैं। उनका शृंगार कहीं-कहीं आध्यात्मिक स्पर्श से भी मुक्त हैं [३]। श्री नरेन्द्र के काव्य में उत्साह (क्रांति) की अभिव्यक्ति आत्म-क्षय की प्रतिक्रिया के रूप में हुई है। उसमें उन्होंने अहं का सामाजीकरण किया है, आत्म-प्रेम को विश्व-प्रेम की ओर मोड़ दिया है। श्री अंचल के उत्साह की अभिव्यक्ति सामाजिक स्तर पर ही हुई है। उनकी सामाजिक चेतना भी यौन-सम्बन्धों तक ही सीमित है। यौन-सम्बन्धों की विषमता ही उन्हें आर्थिक विषमता की ओर ले गई है[४]। दिनकर मूलत: देश-भक्त कवि हैं। उनकी देश-भक्ति मानववाद तक विकसित हुई है। उनके व्यक्तित्व में उत्साह की ही प्रमुखता है और वही उनकी देश-भक्ति में फूट पड़ा है [५]। नगेन्द्रजी ने इन कवियों के काव्य-गुण की भी परीक्षा की है और उसकी कसौटी रस या आधुनिक शब्दावली में आनन्द को माना है। उन्होंने यह देखा है कि इन कवियों के काव्य में आनन्द देने की कितनी शक्ति है, दूसरे शब्दों में इनकी आत्माभिव्यक्ति कितनी सच्ची, तीव्र, गहरी और सबल है। इस दृष्टि से श्री नरेन्द्र की रचनायें, प्रचारात्मक कविताओं को छोड़कर सरस सृष्टियां हैं। श्री अंचल की उन रचनाओं में जिनमें उनका व्यक्तित्व अनूदित हुआ है, उनकी शक्ति असंदिग्ध है, परन्तु श्री अंचल की रचनाओं में बौद्धिक सुलझाव आरम्भ से ही कम रहा है [६]। दिनकरजी की कविताओं में सर्वत्र रस है। उनकी 'हुंकार' में ज्वालामुखी का उष्ण तरल लावा है और 'रसवंती' में हृदय बांसुरी का रस-भीगा स्वर। दिनकरजी के अनुभूति-हीन पद्य खोखले हो गए हैं [७]।

---

१ विचार और अनुभूति पृष्ठ ७६–७७
२ —वही— ,, ७६
३ —वही— ,, ७६
४ —वही— ,, ७६–८०
५ —वही— ,, ८२
६ —वही— ,, ८२–८३
७ —वही— ,, ८४

'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर द्वारा नगेन्द्रजी ने 'वाणी के न्याय-मन्दिर' में कतिपय आरोप लगवाए हैं। ज्ञानशंकर का आरोप है कि प्रेमचन्दजी आदर्श-भीरु हैं, जीवन-तथ्य पर उनका पूरा अधिकार नहीं है, वे तथ्य-दर्शन को पूरी तरह नहीं समझते। वे सम्पूर्ण जीवन और उसकी विषमताओं के साथ समझौता नहीं कर सके हैं। उनमें एकांगी आदर्श-वाद ही है। अतएव वे बार-बार कला का तिरस्कार करते हैं और प्रचार के निम्न धरा-तल पर उतर आते हैं। स्थूल नीति-विधान के कारण वे मानव-चरित्र को समझने में भूल कर जाते हैं। उनमें मनोवैज्ञानिकता की कमी है। अतएव वे ज्ञानशंकर के चरित्र के प्रति न्याय नहीं कर सके। उनका चरित्र-चित्रण सापेक्ष है। इसलिए प्रेमचन्दजी को द्वितीय श्रेणी का कलाकार ठहराया गया [१]।

नगेन्द्रजी ने 'दीप-शिखा' के गीतों में भी आत्म-निवेदन की ही प्रेरणा देखी है। इस सम्बन्ध में नगेन्द्रजी ने लिखा है कि 'मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एक-दम विश्वास नहीं है।' इसलिए वे 'दीपशिखा' के गीतों की अनुभूति को पार्थिव ही मानते हैं। महादेवी के 'जलने की भावना' में असंतोष और अतृप्ति है तथा 'अज्ञात प्रिय का संकेत' मूलतः काम का स्पन्दन है। नगेन्द्रजी को विश्वास है कि प्रणय-काव्य के मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा ही रहती है [२]। परन्तु महादेवीजी के काव्य में यह मूल प्रेरणा अत्यंत सूक्ष्म और सुसंस्कृत है। काव्य के मूल्यांकन के लिए अनुभूति की प्रकृति ही नहीं, उसकी शक्ति का विवेचन भी आवश्यक है, उसकी तीव्रता की भी परीक्षा करनी पड़ती है। महादेवीजी की अनुभूति में तीव्रता नहीं है। उनकी उक्त मूल अनुभूति पर चिन्तन और कल्पना के आवरण चढ़े हुए हैं, अतएव उसकी तीव्रता दब गई है। 'दीपशिखा' की प्रेरक अनुभूति छांह-सी सूक्ष्म और मोम-सी मृदुल तो है, परन्तु हूक-सी तीव्र नहीं [३]। नगेन्द्रजी का मत है कि हमारे दो कवि-पंत और महादेवी—जीवन में पूरी तरह नहीं उतर पाये। इनकी कविता में मांसल रस नहीं आ सका है। इन्होंने अपनी भावनाओं का संस्कार किया है। परन्तु संस्कार में रस तभी आता है जब खौलती हुई वासनाओं से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है। प्रसाद और निराला में स्थल-स्थल पर वह भूख हुंकार उठी है और वहीं वे महान काव्य की सृष्टि कर सके हैं [४]।

जैनेन्द्रजी के 'त्यागपत्र' की मृणाल और सियारामशरणजी के 'नारी' उपन्यास की जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है, एक अभुक्त वासना है। मृणाल की

---

१ विचार और अनुभूति पृष्ठ ११०--१२०
२ —वही— ,, १२३--१२४
३ —वही— ,, १२६
४ —वही— ,, १२५

वासना पूर्णत: अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्‌भुत गति और शक्ति का संचरण कर देती है। जमुना की परिस्थितियां इतनी विषम नहीं हैं, इसलिए उसमें मृणाल की सी तीव्रता और गति नहीं है। उसमें विश्वास की गंभीरता हैं। 'मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ ही विषाक्त धुंआ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है। जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुंआ बिल्कुल नहीं है [१]।' नगेन्दजी के अनुसार इन उपन्यासों में आत्म-व्यथा को जीवन–शक्ति का स्रोत माना गया है [२]। जैनेन्द्रजी ने जीवन का समाधान विधान से युद्ध करने में और सियारामशरणजी ने प्रवृत्ति से युद्ध करने में ढूंढ़ा है। यहाँ दोनों के व्यक्तित्वों का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। दोनों अहिंसावादी हैं—अहं को पूर्णत: घुला देने के पक्ष में हैं। परन्तु प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का व्यक्तित्व अधिक बलिष्ठ और तीखा है, सियारामशरणजी का व्यक्तित्व विधान के समर्थन के कारण अधिक आस्तिक है। नगेन्द्रजी की धारणा है कि 'साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके सृष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं यहां तक कि घुला हुआ अहं भी आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं [३]।

श्री अज्ञेय के 'शेखर' एक 'जीवनी' उपन्यास के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी का मत है कि शेखर अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यालोकन है और शेखर में है अदम्य अहंकार जो अभ्रभेदी त्रिशूल की तरह ऊपर को बढ़ रहा है [४]। शेखर का सर्वग्राही अहं अपनी नग्नता में एकांत और एकांतत. में करुण है। शेखर की महत्ता और दीनता में अभिन्न सम्बन्ध है। 'शेखर' व्यक्ति का जीवन है, समाज या युग का नहीं [५]। शेखर के सम्बन्ध में नगेन्द्रजी ने यह शिकायत भी की है की इसमें रस अत्यन्त विरल है। परन्तु इसमें वे एक दूसरे प्रकार का आनन्द भी मानते है, वह है बौद्धिक आनन्द, तटस्थता का आनन्द, भाव के संयम का आनन्द। यह आनन्द निम्न कोटि का भी माना जा सकता है [६]।

डा० नगेन्द्र की साहित्य-सम्बन्धी मान्यताएं ऊपर देखी जा चुकी हैं। नगेन्द्रजी का आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त मनोविज्ञान की भूमि पर आधारित है। नगेन्द्रजी वे साहित्य को वैयक्तिक चेतना माना है। वे आत्म-निर्माण में काम-वृत्ति और उसकी अतृप्तियों का प्रमुख

---

१ विचार और अनुभूति पृष्ठ १३७-१३८
२ —वही— ,, १३९
३ —वही— ,, १४१–१४२
४ —वही— ,, १४५–१४६
५ —वही— ,, १५८
६ —वही— ,, १५२

योग देखते हैं। शृंगार-रस को उन्होंने सर्व प्रमुख रस कहा है। आत्माभिव्यक्ति में नगेन्द्रजी ने कवि के नैतिक और सामाजिक दायित्वों की चर्चा को स्थूल दृष्टि ठहराया है आत्म और अभिव्यक्ति इन दो तत्वों में नगेन्द्रजी ने आत्म को गौण एवं अभिव्यक्ति को प्रधान माना है। आनन्द और लोक-कल्याण में वे व्यक्तिगत रूप से आनन्द की ओर झुके हुए हैं। नगेन्द्रजी की ये मान्यताएं सर्वस्वीकृत नहीं हो सकी हैं। वैसे नगेन्द्रजी ने अपनी समीक्षाओं में सन्तुलन बनाए रखने का सदैव प्रयास किया है। उनमें मार्क्सवादियों जैसा मतवादी आग्रह कहीं नहीं है। परन्तु उनकी समीक्षा के झुकावों से ये निष्कर्ष सहज ही निकाले जा सकते हैं। साहित्य वैयक्तिक चेतना है, परन्तु उसकी सृजन-प्रक्रिया तक ही, आस्वाद-प्रकिया में वह अनिवार्य रूप से सामाजिक वस्तु बन जाता है। आरम्भ में निश्चय ही वह एक व्यक्ति से (फिर चाहे वह कितना ही महान् क्यों न बन गया हो)—कवि से-सम्बद्ध वस्तु है, परन्तु अन्त में जाकर तो उसका अनंत समाज से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और इसी संबंध-स्थापन में उसकी सार्थकता भी है। इसलिए साहित्य में केवल वैयक्तिक चेतना ही नहीं देखी जा सकती। आत्म-निर्माण में काम-वृत्ति और उसकी अतृप्तियों का प्रमुख योग है, यह मत भी अन्तिम नहीं हो सकता। फ्रायड के उपरान्त युङ्ग और एडलर के मत सामने आए ही हैं और ऐसे ही दूसरे मत भी आ सकते हैं। तब इसी को प्रमुख मानकर उसके आधार पर साहित्य की परीक्षा नहीं की जा सकती। नगेन्द्रजी ने क्रौंच-वध की कथा के मूल में काम और करुणा, आनन्द और अभाव, फ्रायड और एडलर को समन्वित रूप में देखा है। परन्तु मुझे भय है कि कहीं इनमे विरोधी तत्वों को न एकत्र कर दिया गया हो। शास्त्रीय दृष्टि से शृंगार और करुण विरोधी रस हैं, व्यवहार में आनन्द और अभाव एक दूसरे के विरुद्ध रहते हैं। रामायण में तो केवल शोक को ही श्लोक में परिणत होने की चर्चा है। यहां यह बात कुछ अधिक बढ़ गई है। इसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी भी हूं। मेरे मन में जो शंका थी, वही मैंने यहां प्रकट की है। वैसे क्रौंच-वध की नगेन्द्रजी ने बड़ी तल-स्पर्शी मीमांसा की है और काव्य-प्रेरणाओं का उससे सुन्दर विवेचन भी हुआ है। परन्तु मुझे यह लगता है कि नगेन्द्रजी पर पश्चिमी मनोविज्ञान का अधिक प्रभाव है। इसलिए उनकी साहित्यिक समीक्षाएं भी कभी-कभी मनोवैज्ञानिक रूप-रंग लेने लगती हैं। नैतिक और सामाजिक दायित्वों से भी साहित्यकार को बरी नहीं किया जा सकता। अन्त में साहित्य केवल व्यक्ति की वस्तु ही नहीं बना रहता, वह सारे समाज की सम्पत्ति बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह नैतिकता और सामाजिकता के भीतर से ही आनन्द की सृष्टि कर सकता है, इनको छोड़कर नहीं। आत्म और अभिव्यक्ति इन दो तत्वों में अभिव्यक्ति को आत्म के भी ऊपर प्रतिष्ठित करना, रस परम्परा के अनुकूल नहीं होगा। वैसे सिद्धांतत: तो इनमें कोई भेद ही नहीं माना गया है, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर ही इनके भेद स्वीकृत हैं। यहां भी रसवादियों ने आत्म-पक्ष को ही सर्वोपरि माना है, अभिव्यक्ति-पक्ष उनके लिए गौण है। आनन्द और लोक-कल्याण में भी नगेन्द्रजी ने जो आनन्द की ओर वैयक्तिक

सुझाव प्रदर्शित किया है, उसमें लोक-कल्याण के प्रति उदासीनता ध्वनित होती है, परन्तु रस का आनन्द लोक-कल्याण की ओर से उदासीन नहीं है। रसानुभूति में अन्त में भेद भी नहीं किया जा सकता। सभी रसों का आनन्द एक--सा ही होगा। समी रसों से चित्त एक सा ही परिष्कृत होगा तब शृंगार को ही श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु बात का यह एक ही पक्ष हुआ। नगेन्द्रजी ने शृंगार की सर्व-श्रेष्ठता के लिए अनेक प्रौढ़ तर्क दिए हैं और यह मत परम्परा-पुष्ट भी है।

नगेन्द्रजी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने रस-सिद्धात के मनोवैज्ञानिक आधार का, उसकी मूलभूत प्रेरणाओं का सम्यक उद्‌घाटन किया और रस-मत को मनोविज्ञान की विशेष भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया को, उसके वैयक्तिक पक्ष को नगेन्द्रजी ने विशेष रूप से उद्‌घाटित किया है। भारतीय और यूरोपीय साहित्य-शास्त्र का विस्तृत और गंभीर अध्ययन कर नगेन्द्रजी ने दोनों के साध्य एवं वैषम्य का विद्वतापूर्ण स्पष्टीकरण कर द्रोनों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मनोविज्ञान के आधार पर नगेन्द्रजी ने रसानुभूति के स्वरूप का बड़ा प्रौढ निरूपण किया है। नगेन्द्रजी की समीक्षाओं में अधिकाँशत: भारतीय साहित्य-शास्त्र की नव--प्रतिष्ठा का, उसके संशोधन और सँस्कार का प्रयत्न लक्षित होता है। अपने मनोवैज्ञानिक विवेचनों में उन्होंने अधिकतर समन्वय का ही प्रयत्न किया है, वे मध्य मार्ग पर ही चलते रहे हैं, इसलिए वैयक्तिक अभिरुचियों के होते हुए भी उनका मत संतुलित है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नगेन्द्रजी ने साहित्य की समीक्षा आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत के आधार पर ही की है। उन्होने अपनी समीक्षाओं में मनोविश्लेषण को, विशेषकर फ्रायड के तत्व-ज्ञान को आधार बनाया है। नगेन्द्रजी ने इसका सम्बन्ध भारतीय रस--सिद्धांत से भी जोड़ दिया है। इस प्रकार नगेन्द्रजी का समीक्षाधार प्रमुखत: पश्चिमी है यद्यपि उसमें भारतीय सिद्धान्तों का भी प्रचुर प्रयोग है। नगेन्द्रजी रस की भी व्यक्ति-परक व्याख्या करते हैं। साहित्य के सामाजिक और नैतिक पहलू उन्हे मान्य है, परतु आनुषंगिक रूप में ही। उनके लिए प्रमुख है आत्म और उसकी निश्छल अभिव्यक्ति। आत्म और उसकी अभिव्यक्ति दोनों को वे समान महत्व देते हैं। इसी आधार पर नगेन्द्रजी ने रीतिकालीन कवियों के महत्व को भी स्वीकार किया है और आधुनिक कवियों में श्री बच्चन की भी प्रशंसा की है। डा० नगेन्द्र हिन्दी के मनोवैज्ञानिक समीक्षक हैं—समीक्षक पहले हैं और मनोवैज्ञानिक बाद में।

---

*

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी अथवा आत्माभिव्यंजक समीक्षक हैं। शान्तिप्रियजी के अनुसार ही यह समालोचना टेकनिकल नहीं, आइडियल है। इसमें समीक्षक और पाठक दोनों का कवि से तादात्म्य हो जाता है। दूसरे शब्दों में दोनों कवि बन जाते हैं। इसे वे 'प्रारम्भिक सहानुभूति' कहते हैं। इसमें समीक्षक का व्यक्तित्व प्रमुख होता है। यहां समीक्षक में अनुभूति का परिचय मिलता है। वह रसज्ञ ही नहीं रसार्द्र भी होता है। प्रभाववादी समीक्षा में काव्य का हृदय-पक्ष, समीक्षक की आत्म-द्रवणता होती है। शुक्ल जी ने इसे 'जनानी समालोचना' कहा है, शान्तिप्रियजी इसे मनुष्य का नारी-अंश कहते हैं, बात एक ही है [१]। डा० राम अवध द्विवेदी ने प्रभाववादी समीक्षा का सबसे बड़ा दोष यह बतलाया है कि इसमें किसी को बहुत ऊँचा उछाल दिया जाता है तो किसी को बहुत नीचे गिरा दिया जाता है। दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि इसमें 'स्वीकृत नियमों और सिद्धान्तों के अभाव में अन्तिम न्याय का कोई साधन ही नहीं रहता।' पहले आरोप के सम्बन्ध में शान्तिप्रिय जी ने कहा है कि प्रभाववादी समीक्षक तुलना नहीं करता, कृति और कृती से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वहां द्वैत रहता ही नहीं। इस सम्बन्ध में निवेदन है कि इस समीक्षा में द्वैत सदैव बना रहता है। जिन लेखकों को ऊपर उठाना है, उनके सम्बन्ध में यह द्वैत भक्त और भगवान का होता है और जिन्हें नीचे गिराना है उनके सम्बन्ध में तो तादात्म्य का प्रश्न ही नहीं उठता। डा० राम अवध जी ने जो दूसरी बात कही है उसके सम्बन्ध में शान्तिप्रिय जी ने लिखा है कि 'असीम भावनाओं और असीम प्रतिध्वनियों (सहानुभूतियों) के लिए कोई निश्चित नियम और सिद्धान्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में शान्तिप्रियजी अन्त: सूत्र अथवा समीक्षक की संवेदनशीलता को ही एक-मात्र नियम मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य का सृजनकर्ता ही कला का आलोचक हो सकता है। वह शास्त्रीय नियमों का आश्रय नहीं लेता, वह अपने भीतर ही नियमों की प्राप्ति कर उनका प्रयोग करता है [२]। अन्त:सूत्र को नियम मानने में तो कोई बाधा नहीं है, परन्तु जब अन्त:सूत्र एक न रहकर अनेक हो जायें और उनमें भी विरोध की संभावना हो तो कठिनाई उत्पन्न होती है। अधिकतर यह अन्त:सूत्र अवसरवादी सिद्ध होता है।

---

१ सामयिकी पृ० १४३, १४४
२ वृन्त और विकास " १५९, १५७

शांतिप्रियजी की निम्नलिखित आत्म-समीक्षा भी प्रभाववादी आलोचना का एक अच्छा उद्धरण होगी—'मैं सौन्दर्योपासक या कला-जीवी हूँ। कला (सौन्दर्य) के साथ जब तक मुझे अन्तःकरण की स्वच्छता नहीं मिलती, मैं बाहरी स्वच्छता (वाह्य सौन्दर्य)—को उसे छलना समझते हुए भी, अपनी मृग-तृष्णा की मोहिनी माया के रूप में ग्रहण कर लेना चाहता हूँ क्योंकि मैं अभिशाप-पीड़ित युग का अतृप्त मानव हूँ। मृग जानता है मृगतृष्णा की माया को, फिर भी श्वास-रुद्ध जीव की तरह जीवनमृत हो जाने के बजाय वह जीवन का कुछ अभिनय कर लेता है—अपनी कलात्मक गतिभंगी के कारण। किन्तु मृग-तृष्णा मेरा आपद्धर्म है, आन्तरिक धर्म नहीं। मेरे आन्तरिक धर्म के तीर्थ-धाम हैं बदरीनाथ, मेरे आपद्धर्म की लीला-भूमि है मंसूरी। युग की भाषा में मेरा आन्तरिक धर्म है गान्धीवाद, मेरा आपद्धर्म है सौन्दर्यमंडित ऐश्वर्यवाद, उसी का शोधित रूप है प्रगतिवाद। बदरीनाथ की साधना की स्वच्छता मिलेगी गांधीवाद से, मंसूरी को मानवता की कला मिलेगी प्रगतिवाद (समाजवाद)—से। कलात्मक ऐश्वर्यवाद (सौन्दर्यवाद)—से प्रगति वाद (नव मानववाद) प्रगतिवाद से गाँधीवाद (अध्यात्मवाद) मेरा गन्तव्य है। मैं श्रांत-क्लांत बटोही की तरह बीच-बीच में अपनी मँजिले बनाते हुए चलता हूँ, यह मेरे थके-हारे जीवन की दुर्बलता हो सकती है, किन्तु मैं अपने लक्ष्य के प्रति आत्मनिष्ठ हूँ। मृग हूँ, कनक-मृग नहीं [१]। इस उद्धरण में बहुत-सी बातें उल्लेखनीय हैं, परन्तु सबसे प्रमुख हैं समीक्षक की 'मँजिलें' जिन पर वह मृग जैसी चौकड़ी मारता है। मंसूरी और बदरीनाथ, सौन्दर्य-मंडित ऐश्वर्य-वाद याने कलात्मक ऐश्वर्यवाद या सौन्दर्यवाद और प्रगतिवाद (जो पहले का ही परि-शोधित रूप है) याने समाजवाद या नव-मानववाद की मंजिलों से होते हुए समीक्षक अब गांधीवाद याने अध्यात्मवाद की मंजिल तक आ गया है। उपर्युक्त उद्धरण में कई स्थानों पर अनुप्रास अलंकार का भी प्रयोग हुआ है।

शान्तिप्रियजी की साहित्यिक मान्यतायें क्या हैं? शान्तिप्रियजी भी साहित्य का जीवन से सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। जीवन के साथ ही साहित्य के अन्तरङ्ग और बहि-रङ्ग दोनों में परिवर्तन होता है [२]। साहित्य का जन्म-स्थान जीवन ही है। इस मौलिक क्षेत्र से विच्छिन्न होकर साहित्य केवल शाब्दिक रह जाता है, जीवन्त नहीं रहता, वह उत्स-रहित उत्सव की तरह है : मृगजल है [३]। प्रत्येक युग अपने साहित्य को प्रभावित करता है। आज के यन्त्र-युग ने आज के साहित्य को भी जड़ कर दिया है।

---

१ सामयिकी पृ० १२६-१५७
२ —वही— " ६५
३ धरातल " ५६

इसी युग के कारण जीवन और साहित्य में गत्यावरोध आ गया है [१]। कवि के द्वारा उसका सम्पूर्ण युग बोलता है। जीवन के साज के साथ ही कविता के तार भी स्वभावतः बदल जाते हैं [२]। इस प्रकार साहित्य में सामयिकता का गुण है। इसके साथ ही वह शाश्वत भी होता है। राष्ट्रीय कविताओं का सामयिक मूल्य भले ही हो, किन्तु वे काव्य की स्थायी संपत्ति नहीं होती। जिन राष्ट्रीय कविताओं में शाश्वत अनुभूति—सांस्कृतिक बल—भी होती है, वे ही साहित्य की अचल सम्पत्ति बनती हैं [३]। कवि का काम केवल समय के साथ दौड़ना नहीं है। वह एक युग के माध्यम से अयुत युगों का गान गाता है। वह सामयिक गीतों में स्थायी भावों का संचार कर उन्हें सर्वकाल और सर्वदेश के लिए प्राणोन्मेषी बना देता है [४]- यहीं पर शान्तिप्रियजी साहित्य की रस-भूमि का भी संकेत करते हैं। साहित्य में शाश्वत तत्व उसमें स्थायी भावों के संचार से आता है और ये ही स्थायी भाव विभानुभावों द्वारा रस बन जाते हैं। यही रस-लोक कवि का अभीष्ट है। यह असाधारण हुआ करता है [५]। शान्तिप्रिय जी ने रस—भूमि को सहानुभूति की भूमि कहा है। वादों के भीतर उन्हें लोक-कल्याण का तत्व अभीष्ट है [६]। शान्तिप्रियजी जीवन को ही साध्य मानते हैं और कला को उसका साधन [७]। जीवन में भी जो वस्तु-गत दृश्य जगत् है, वह भी माध्यम है अगोचर, अज्ञेय, अदृश्य झाँकियों का आभास पाने के लिए। कवि का ध्येय आंतरिक जीवन ही है [८]। कला का काम केवल भाव-विलास नहीं, लोक—जीवन का निर्माण भी है। लोक—जीवन के निर्माण के लिए जन-जीवन में संस्कारिता लाने के लिए कला की आवश्यकता पड़ती है। कला हमारे कर्तव्य में रसानु—राग जगा कर उसे सुललित बना देती है, उसमें आत्म—रचना की प्रवृत्ति जगा देती है या अपनेपन का बोध करा देती है [९]। जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदय संवेद्य बनी हुई है। वह जीवन से विच्छिन्न नहीं हो सकती। जीवन से पृथक् होने पर वह नीरस और निष्प्राण हो जाती है [१०]। शांतिप्रियजी ने कला को साहित्य का बाह्य

१	पद्मनाभिका	पृ० १८
२	संचारिणी	" २९, १५५
३	—वही—	" १३६
४	धरातल	" १४६
५	संचारिणी	" १;६
६	—वही—	" १५, निवेदन २
७	—वही—	" ८९
८	—वही—	" १३८, १३९
९	—वही—	" ९६, ७१
१०	संचारिणी	" ८५, ८६

रूप कहा है और जीवन को उसका अन्तःस्वरूप। उनके अनुसार साहित्य में कला का अर्थ है—मनोंहरा। जीवन का सत्य, शिव साहित्य में सुन्दर रूप में ही व्यक्त होता है। कला अभिव्यक्ति है, जीवन अभिव्यक्त। शांतिप्रियजी अभिव्यक्ति की सुन्दरता ही पर्याप्त नहीं मानते—यह तो कला-वादियों का दृष्टिकोण है, जिनका वे कई स्थलों पर विरोध करते हैं [१] —क्योंकि केवल सुन्दरता 'विष-कन्या' की भाँति प्राण-घातक भी हो सकती है, इसलिए कला में सुन्दरता के साथ ही मांगलिकता भी होनी चाहिए [२]। जिस प्रकार एक कुम्हार मिट्टी से एक सुन्दर और उपयोगी घड़ा बना देता है, उसी प्रकार कलाकार भी वस्तु-जगत् के द्वारा कला का निर्माण करता है जो सुन्दर भी है और उपयोगी भी [३]। शांतिप्रियजी ने काव्य में अभ्यास की अपेक्षा स्वाभाविकता की प्रशंसा की है [४]। भाषा को भी वे मनुष्य की अन्तरात्मा का भाष्य मानते हैं और जन-भाषा की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं [५]।

ऊपर जितनी बातें कही गई हैं वे सब रस-मत के अनुकूल ही हैं और स्वच्छंदतावादी समीक्षा से अभिन्न। परन्तु इनके साथ ही शांतिप्रिय जी ने कुछ और भी बातें कही हैं और व्यावहारिक समीक्षाओं में वे कहीं के कहीं निकल गये हैं। 'पद्मनाभिका' के 'दृष्टि-विन्दु' में वे अपने को देहात्मवादी बतलाते हैं। साहित्य की मांगलिकता और जन-संस्कारिता का प्रतिपादन करते हुए भी वे रीतिकाल की उत्कट शृङ्गारिकता को कला और इतिहास की चीज बतलाते हैं और उसके लिए नैतिक न्याय-तुला अनुपयुक्त मानते हैं। शांतिप्रियजी को शृङ्गारी कवियों के राधाकृष्ण और हनुमान के सीताराम में कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। शृङ्गारी कवियों को वे सहानुभूति के पात्र मानते हैं और उन्हें बधाई भी देते हैं [६]। शांतिप्रियजी साहित्य को मूलतः वैयक्तिक कला मानते हैं [७]। उनका विश्वास है कि युग-परिवर्तनों के बीच भी वैयक्तिकता का लोप नहीं होगा [८]। वे काव्य को कवि का व्यक्तित्व मानते हैं [९]। शांतिप्रियजी की यह वैयक्तिकता उन्हें

---

१ संचारिणी पृ० १५१
२ —वही— " ८९, ९०
३ —वही— " १०२
४ —वही— " ३२
५ धरातल " ७२, ७९
६ संचारिणी " २४, २८
७ —वही— " १६४
८ वृन्त और विकास " १०२
९ सामयिकी " २९०

शृङ्गारी कवियों को बधाई देने के लिए बाध्य करती है और श्री यशपाल के रोमांस की प्रशंसा भी करवा लेती है [१]। इसका उनके बदरीनाथ के आदर्श से कहां तक मेल है, यह वे ही जानें। इसी दृष्टि के आधार पर शांतिप्रियजी ने आचार्य शुक्ल के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण में स्थूलता देखी है, उसमें अर्थ-चेतना के दर्शन किऐ हैं, आत्म-चेतना के नहीं और प्रकृति से उनका सम्बन्ध उद्यान-सेवन का बतलाया है [२]। एक स्थान पर शुक्लजी के निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि शांतिप्रियजी की समीक्षायें वैयक्तिक हैं, शुक्लजी के निबन्ध चाहे जैसे हों।

---

१ पद्मनाभिका पृ० ६०, ६१
२ सामयिकी " १२३, १२४, १२५

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-दृष्टि

हिन्दी के छायावाद-युग को स्वच्छन्दतावाद की भी संज्ञा दी जा सकती है। समीक्षा के क्षेत्र में भी इसमें स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति प्रधान रही है। द्विवेदी-युग तक समीक्षा के क्षेत्र में शास्त्र की प्रधानता थी और आचार्य शुक्ल, अनेक नवीनताओं के होते हुए भी, शास्त्र को ही आधार मानकर चले हैं। 'रस-मीमांसा' शास्त्रीय परम्परा का ही ग्रन्थ है। परन्तु शुक्लजी के उपरान्त समीक्षा के क्षेत्र में शास्त्र का विधान गौण या त्यक्त बन गया और नए सिरे से सैद्धान्तिक विवेचन आरम्भ हुआ। ये सिद्धान्त भले ही पुराने हो, परन्तु उनका निरूपण बिलकुल नया है।

इस समीक्षा में एक स्वर से रस को ही साहित्यिक सिद्धान्त माना गया है। रस साहित्य का आत्म-तत्व है। इसलिए यह समीक्षा साहित्य के बाह्य उपकरणों पर आधृत न होकर आंतरिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। रस को ही साहित्य का चरम मान बतलाया गया है। उसे अकाट्य और पूर्ण साहित्यिक सिद्धान्त माना गया है। वाजपेयीजी ने रस का सौन्दर्य-संवेदन से सम्बन्ध स्थापित किया है, डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने मानवतावाद से और डा० नगेन्द्र ने आत्माभिव्यक्ति से। वस्तुतः इन आचार्यों में बल (स्ट्रेस) का ही अंतर है, अन्यथा वाजपेयीजी को भी मानवतावादी भूमि स्वीकार्य है और आत्माभिव्यक्ति का मत भी और इसी प्रकार द्विवेदीजी और नगेन्द्रजी को भी अन्य बातें ग्राह्य हैं। यहां पर रस समस्त परम्परागत रूढ़ियों से रहित है, विशुद्ध, व्यापक एवं उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित है। इस समीक्षा में रस का साधारणीकरण सिद्धान्त भी मान्य है और साधारणीकरण भी समस्त कवि-व्यापार का स्वीकार किया गया है। द्विवेदीजी और नगेन्द्रजी ने रस को अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति निरूपित किया है, परन्तु वाजपेयीजी ने उसे सुख-दुःखात्मक दोनों प्रकार के दृश्यों पर अवलम्बित बतलाया है। इसके साथ ही रस की उन्नतिनी परिपाटी की रक्षा भी आवश्यक मानते हैं और इस प्रकार उसे अंततः आनन्दमय ही स्वीकृत करते हैं। लगभग सभी आचार्यों ने रस को प्रमुखतः भावात्मक माना है, उसकी प्रतिष्ठा भाव-भूमि पर की है, परन्तु इसके साथ ही उसमें नैतिक एवं बौद्धिक अनुभूतियों का योग भी आवश्यक बतलाया है। डा० नगेन्द्र ने रस को ऐन्द्रिक और बौद्धिक अनुभूतियों का लवण—नीर संयोग कहा है। रस के सम्बन्ध में सामंजस्य का सिद्धान्त भी गृहीत हुआ है। अंतर्वृत्तियों के सामंजस्य में भी रस देखा गया है। साधारणीकरण भाषा का धर्म माना गया है और उसका मूलाधार सहानुभूति को बतलाया गया है। रस की सार्वजनिक और मांगलिक भूमि भी लगभग सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। काव्यानुभूति (रस) और जीवनानुभूति में सम्बन्ध भी सभी आचार्यों को मान्य हैं।

डा० नगेन्द्र ने काव्यगत भाव और भौतिक भाव में पल्लव—बीज—सम्बन्ध बतलाया है। रस के इस सिद्धान्त में व्यष्टि और समष्टि का, आनन्द और लोकहित का, सौन्दर्य और उपयोगिता का, शाश्वत और सापेक्षिक भेद नहीं रहा है। रसानन्द में सबका समावेश हो जाता है। इस प्रकार रस एक अत्यन्त व्यापक प्रतिमान का कार्य करता है।

इन आचार्यों को साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मान्य है। परन्तु यह जीवन किस प्रकार का है, इस सम्बन्ध में कुछ मत—वैभिन्न्य है। वाजपेयीजी जीवन—सापेक्ष कला के लिये कला सिद्धान्त को मानते हैं। जीवन—निरपेक्ष साहित्य उनके लिए भ्रान्ति है। यह जीवन व्यक्ति का नहीं, समाज का है। साहित्य का सम्यन्ध वैयक्तिक अनुभूतियों से नहीं होता। वैयक्तिक अनुभूतियों से तो निरीह निर्माण ही सम्भव है। साहित्य लोक-सामान्य भूमि की वस्तु है, उसका सम्बन्ध सामाजिक अनुभूतियों से है। यह समाज आज का और प्रगतिशील समाज है, प्राचीन और स्थिर नहीं। दूसरी बात यह कि समाज के अतिशय गम्भीर और महत्वपूर्ण भाव—स्तर से साहित्य का सम्बन्ध है तथा भाव—भूमि स्वस्थ है, विकासोन्मुख है एवं आशा तथा आस्था से परिपूर्ण भी। यहां वाजपेयीजी ने साहित्य का राष्ट्रीय वास्तविकता से सम्बन्ध स्थापित किया है। यह राष्ट्रीयता स्थूल और संकीर्ण नहीं है, सूक्ष्म और व्यापक है। इसमें कोरी प्रत्यक्ष राजनीति ही नहीं है। इस राष्ट्रीयता में देश के समस्त सांस्कृतिक पहलुओं का समावेश है। इस प्रसङ्ग में वाजपेयीजी ने अंतर्राष्ट्रीयता का विरोध किया है। वे साहित्य को पहले राष्ट्रीय वस्तु मानते हैं। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने राष्ट्रीयता को उदात्त मानव—प्रेम की भूमि पर भी प्रतिष्ठित किया है। साहित्य की शाश्वत और सार्वभौम भूमि उन्हे मान्य है। साहित्य युग के चिरन्तन सौन्दर्य—तारों का स्पर्श कर, युग के अक्षर तत्व से सम्बन्ध जोड़कर शाश्वत गुण भी प्राप्त कर लेता है। वाजपेयीजी ने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध त्रिकोणात्मक माना है, रेखात्मक नहीं। उनके अनुसार साहित्य जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी भी साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। वे मानते हैं कि जीवन से ही साहित्य में सजीवता आती है। बिना जीवन के साहित्य वाग्विलास मात्र है। साहित्य का वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध नहीं है। वह वृहत्तर मानव-समाज से अविच्छिन्न वस्तु है। द्विवेदीजी प्रमुखत: साहित्य का संबंध शाश्वत और सार्वभौम जीवन से ही मानते हैं। उनकी दृष्टि मानवतावादी है। अतएव देश और काल की सीमाओं से परे ही उनकी दृष्टि गई हैं। वाजपेयीजी की समीक्षाओं में देश—काल का तत्व भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनका आग्रह इस तत्व पर अपेक्षाकृत अधिक है। शुक्लजी की समीक्षाओं में भी युग—तत्व का आग्रह इतना अधिक नहीं है। वाजपेयीजी ने साहित्य के सामयिक और शाश्वत, क्षर और अक्षर उपादानों का सुन्दर समन्वय किया है। द्विवेदीजी शाश्वत तत्व को अधिक महत्व देते हैं। वे अखण्ड सार्वभौम

मानवीयता को ही एक मात्र कसौटी मानते हैं। यहां राष्ट्रीयता नगण्य बन जाती है। राष्ट्रीयता जहां तक मानवतावाद की सेविका है, वहां वह उन्हें स्वीकार्य है। इसके उपरान्त वे राष्ट्रीयता का भी तिरस्कार कर देते हैं। यहीं पर वाजपेयीजी और द्विवेदीजी की समीक्षाओं में एक महत्वपूर्ण अंतर आ गया है। वाजपेयीजी के अनुसार साहित्य पहले राष्ट्रीय है, फिर वह अंतर्राष्ट्रीय भी हो सकता है,परन्तु द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य पहले अंतर्राष्ट्रीय हो, इसके बाद वह राष्ट्रीय भी हो सकता है। द्विवेदीजी ने राष्ट्रवाद को मानवतावाद का विकृत रूप भी कहा है।

डा० नगेन्द्र ने साहित्य और जीवन में दुहरा सम्बन्ध माना है। क्रिया रूप में साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और प्रतिक्रिया रूप में वह जीवन का पोषक और निर्माता भी है। इस प्रकार साहित्य जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण है। यही बात वाजपेयीजी ने भी कही है। नगेन्द्रजी ने जीवन और साहित्य में पिता और पुत्र का सम्बन्ध बतलाया है। किस जीवन से साहित्य का सम्बन्ध है, यहाँ नगेन्द्रजी का मत पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है। यहां एक बात कहना आवश्यक है कि वे मत आत्यांतिक नहीं हैं। वाजपेयीजी और द्विवेदीजी और इनके पूर्व भी द्विवेदी-युग में भी व्यक्ति की नितान्त अवहेलना नहीं हुई है। परन्तु ये समीक्षक व्यक्ति और समाज में समाज को प्रमुखता देते हैं, व्यक्ति को नहीं। डा० नगेन्द्र एवं अन्य मनोवैज्ञानिक तथा प्रभाववादी समीक्षक व्यक्ति को प्रमुख मानते हैं, समाज को गौण। नगेन्द्रजी का तर्क है कि व्यक्ति और समाज में व्यक्ति की सत्ता बलवती होती है। समाज की साधारणता से असाधारण प्रतिभा जन्य काव्य की सृष्टि असंभव है। वह तो असाधारण व्यक्तितत्वों की आत्माभिव्यक्ति होता है। साहित्य में युग की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु व्यक्ति के माध्यम से ही। इस प्रकार साहित्य में व्यक्ति प्रमुख है। दूसरी बात यह है कि साहित्य का सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से है, बाह्य जीवन से नहीं। युग का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है, परन्तु बहुत छन कर। साहित्य में सामयिक प्रभावों को नगेन्द्रजी ने 'फैशन' कहा है। इस प्रकार नगेन्द्रजी साहित्य को वैयक्तिक वस्तु मानते हैं। यदि सैद्धान्तिक आग्रह की बात छोड़ दी जाय तो नगेन्द्रजी का मत स्वच्छन्दतावादी समीक्षा से भिन्न प्रतीत नहीं होगा। नगेन्द्रजी में मनोवैज्ञानिक आग्रह अधिक हैं और मनोविज्ञान व्यक्ति को लेकर ही चल सकता है। परन्तु आरम्भ की यह व्यक्तिवादिता अंत में समष्टि तक पहुंच गई है। इसी प्रकार वाजपेयीजी और द्विवेदीजी समष्टि से—साहित्य के सामाजिक स्वरूप से—आरम्भ करते हैं और अंततः उसके मूल व्यक्ति तक पहुंच गए हैं। इन दो आचार्यों पर भारतीय परम्परा का अधिक प्रभाव है और नगेन्द्रजी की समीक्षाओं में यूरोपीय प्रभाव प्रमुख है। इसलिए उक्त आचार्य समष्टि से आरम्भ करते हैं—उनकी दृष्टि सामाजिक है—पर वे व्यष्टि की उपेक्षा नहीं करते और नगेन्द्रजी व्यष्टि से आरम्भ करते हैं—उनकी दृष्टि वैयक्तिक है—परन्तु वे समष्टि की उपेक्षा नहीं करते।

काव्य तत्वों के सम्बन्ध में भी इन समीक्षकों में मौलिक समानताएं हैं। राग या अनुभूति तत्व को सभी ने प्रधान माना है। यही समीक्षा का आधार भी है। बाजपेयीजी ने अनुभूति को अखंड व्यापार माना है और इस आधार पर काव्य का वर्गीकरण–विभाजन भ्रामक सिद्ध किया है। भारतीय और यूरोपीय काव्य–शास्त्र में अनुभूति की यह सैद्धान्तिक भूमि स्वीकृत हुई है, परन्तु उसके साथ व्यावहारिक भेद भी स्वीकार किए गए हैं। इस अनुभूति तत्व का जीवन से सभी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस अनुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में इन समीक्षकों में थोड़ा बहुत मत–वैभिन्य है। वाजपेयी ने अनुभूति का रस और ध्वनि की परम्परा द्वारा गृहीत अर्थ स्वीकार किया है। यहां अनुभूति सामाजिक या राष्ट्रीय श्रेणी की वस्तु है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि वह स्वस्थ और विकासोन्मुख है। हजारीप्रसादजी ने अनुभूति के शाश्वत और सार्वभौम मानवतावादी स्वरूप पर ही अधिक बल दिया है। बाजपेयीजी को भी अनुभूति की यह शाश्वत और सार्वभौम भूमि स्वीकार्य है, परन्तु राष्ट्रीय माध्यम से ही। नगेन्द्रजी ने अनुभूति तत्व का निरूपण मनःशास्त्रीय भूमिका पर किया है। वे आत्माभिव्यक्ति को सिद्धान्त मानते हैं और आत्म-निर्माण में काम वृति और उसकी अतृप्तियों का प्रमुख योग देखते हैं। उनके अनुसार जीवन में काम—वृति ही प्रमुख है। नगेन्द्रजी के विवेचनों में फ्रायड का प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ता है। उनके अनुसार अनुभूति वैयक्तिक होती है और विशुद्ध भी। उसकी नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। अपने शुद्ध रूप में यह अनुभूति सार्वभौम और शाश्वत भी है। वाजपेयीजी ने अनुभूति को शाश्वत और सार्वभौम उसकी सामाजिकता के कारण कहा है, द्विवेदीजी ने अखिल विश्व की मांगलिकता के कारण और नगेन्द्रजी ने उसकी मनोवैज्ञानिकता के कारण। वाजपेयीजी और द्विवेदीजी आदर्शवादी समीक्षकों की परम्परा में हैं और नगेन्द्रजी यथार्थवादी समीक्षक कहे जा सकते हैं। अपनी इस दृष्टि के कारण नगेन्द्रजी काव्य के नैतिक मूल्यों की चिन्ता नहीं करते हैं। वे काव्य को नीति और उपयोगिता से सर्वथा स्वतन्त्र घोषित करते हैं। उनके अनुसार साधारण (नार्मल) व्यक्ति ही नीतिवादी और उपयोगितावादी होता है, असाधारण प्रतिभाशाली कवि नहीं। वाजपेयीजी ने रूढ़ नीति का तो विरोध किया है, परन्तु एक उदात्त नैतिक चेतना उनकी समीक्षाओं में सर्वत्र व्याप्त है। यह उनकी समाक्षाओं का एक प्रधान सूत्र भी है। द्विवेदीकी नैतिक दृष्टि स्पष्ट है, वह बड़ी व्यापक कोटि की है।

साहित्य में अनुभूति को प्रमुख स्थान दिया गया है। बुद्धि सहायक तत्व के रूप में गृहीत हुई है। अतिरिक्त बुद्धि–तत्व की रोकथाम के लिए साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित विविध वादों का विरोध हुआ है। परन्तु इसके साथ ही बुद्धि के महत्व को भी स्वीकार किया गया है। वाजपेयीजी की मान्यता है कि बिना बुद्धि के अनुभव निर्जीव होता है। साहित्य-सृष्टि निर्बुद्धिक व्यापार नहीं है। नगेन्द्रजी ने भी बुद्धि या वाद को सहायक तत्व रूप में ही स्वीकार किया है। उन्होंने बुद्धि-रस की भी कल्पन की है।

यहीं पर साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वाजपेयीजी और नगेन्द्रजी साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके लिए साहित्य सर्वोपरि है और, एक दृष्टि से, वह अपना साध्य आप ही है। वह जीवन का नियामक और मार्ग-दृष्टा होने से भी अधिक महत्वपूर्ण है, यद्यपि वह जीवन से किसी भी प्रकार विछिन्न नहीं है। द्विवेदीजी साहित्य को साधन मानते हैं और मनुष्य को लक्ष्य। मनुष्य का हित उनके लिए सर्वोपरि वस्तु है। इस प्रकार यहाँ साहित्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती, वह मानवतावाद का अनुगामी बन जाता है। शांतिप्रियजी ने भी गांधीवाद को साध्य के रूप में निरूपित किया है और साहित्य को साधन के रूप में। साहित्य को साधन मानने का परिणाम यह हुआ है कि डा० हजारीप्रसादजो द्विवेदी उस समस्त वाङ्मय को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर लेते हैं, जिससे थोड़ी-बहुत भी मनुष्य के हित की संभावना दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार समस्त नैतिक और दार्शनिक रचनाएं भी उनके इतिहास में या अन्य ग्रंथों में साहित्य की श्रेणी में आ गई हैं। मनुष्य की भाव-सत्ता पर आश्रित मानवतावाद ही रस-भूमि पर रह सकता है और साहित्य का पद प्राप्त कर सकता है, सदैव नहीं।

साहित्य के उद्देश्य के संबंध में भी ये समीक्षक बहुत कुछ एक मत हैं। आनंद को साहित्य का लक्ष्य स्वीकार किया गया है परन्तु यह आंनद-धारणा बड़ी व्यापक है। वाजपेयीजी ने आनंद के अन्तर्गत ही उपयोगिता का भी अनिवार्य समावेश माना है। आनंद और मंगल का वे समन्वय कर देते हैं, परंतु सिद्धांततः वे आनंद-तत्व की ओर झुके हुए हैं। साहित्य की परिभाषा में उन्होने सौन्दर्य-'संवेदन' उत्पन्न करना साहित्य का लक्ष्य निरूपित किया है यह वस्तुतः रस या आनंद ही है। स्थूल उपयोगिता को वे साहित्य की कसौटी नहीं मानते, फिर शाश्वत सौन्दर्य को वे उपयोगिता से रहित भी नहीं मानते। नगेन्द्रजी ने भी आनंद और लोक-कल्याण, सुन्दर और शिव, वाणी और विनायक के समन्वय की इस आभिजात्य दृष्टि को मान्यता दी है परन्तु आनंद और लोक-कल्याण में वे आनंद को ही सापेक्षिक महत्व अधिक देते हैं। वाजपेयीजी और नगेन्द्रजी में यह अन्तर है कि बाजपेयी जी की आनन्द-भावना नीति और उपयोगिता को सदैव साथ लेकर चली है, जबकि नगेन्द्रजीकी आनद-भावना नीति और उपयोगिता को छोड़कर भी चलती है। सिद्धान्ततः वाजपेयीजी काव्यानंद की व्याप्ति में नीति और उपयोगिता सबका समावेश कर लेते हैं, नगेन्द्रजी उसे शुद्ध रूप में रखने के पक्ष में हैं। यहां 'शुद्ध' से आशय उसके मनोवैज्ञानिक स्वरूप से है। द्विवेदी जी की दृष्टि मानव-कल्याण पर लगी हुई है। उनके अनुसार मनुष्य की मनुष्यता ही आराध्य है। मनुष्य को देवता बनाना, उसे ऊपर उठना, यही साहित्य का लक्ष्य है। द्विवेदी जी ने प्रयोजनातीत आनन्द की भी इस संदर्भ में चर्चा की है। दीपक के प्रकाश और घी के लड्डू के उदाहरणों द्वारा उन्होंने इसे स्पष्ट भी किया है। परन्तु द्विवेदीजी का झुकाव आनन्द की अपेक्षा लोक-कल्याण की ओर ही अधिक है। श्री शांतिप्रियजी ने इस सम्बन्ध में कुम्हार के घड़े का उदाहरण दिया है और उसके द्वारा के

कला की लोकोपयोगिता और उसकी सुन्दरता दोनों को समन्वित करने का प्रयास किया है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा में आनन्द और लोक-कल्याण दोनों को साहित्य का लक्ष्य माना गया है। इन दोनों में समीक्षकों का झुकाव आनन्द की ओर अधिक है।

यहाँ तक साहित्य के आंतरिक पक्ष की चर्चा हुई है। इस समीक्षा में उसके बाह्य पक्ष के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। यहां एक बात सरलतापूर्वक कही जा सकती है कि इस समीक्षा में साहित्य के आत्म-पक्ष को ही अधिक महत्व मिला है। वस्तु और शैली में समीक्षकों ने वस्तु को प्रमुख स्थान दिया है। यदि, इस समीक्षा के अनुसार, साहित्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति या आत्माभिव्यक्ति माना जाय तो यहां आत्मा प्रमुख है, अभिव्यक्ति नहीं, यद्यपि वह भी उपेक्षणीय नहीं है। यहां पर भी साहित्य का सम्बन्ध अन्तरात्मा (भाव-तत्व) से अधिक है, वाह्यात्मा से नहीं। वाजपेयीजी ने कला और तत्व में, अभिव्यक्ति और अनुभूति में, दूसरे तत्व को प्रमुखता दी है। परन्तु अभिव्यक्ति-पक्ष को भी वे आवश्यक मानते हैं। उनकी समीक्षाओं में कला-सूत्र की भी चर्चा हुई है। वे साहित्य के कलात्मक स्वरूप की भी रक्षा चाहते हैं, यह उनकी समीक्षाओं में बहुत स्पष्ट है। वाजपेयीजी ने छायावादी समीक्षा की एक और विशेषता की ओर इंगित किया है कि इसमें विषय और विषयी दोनों के महत्व को स्वीकार किया गया है। शास्त्रीय समीक्षा विषय प्रधान है, मनोवैज्ञानिक समीक्षा विषयी-प्रधान है और छायावादी समीक्षा में इन दोनों का समन्वय हो गया है। डा० नगेन्द्र साहित्य का मूल्य आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की पूर्णता एवं सच्चाई पर निर्भर मानते हैं। इनमें भी नगेन्द्रजी ने निश्छल अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया है। उनकी समीक्षाओं से ऐसा ध्वनित होता है कि वे आत्म-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष में अभिव्यक्ति-पक्ष को अधिक महत्व देते हैं। डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी की समीक्षाओं से आभासित होता है कि वे विषय को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं, परन्तु उन्होंने शैली के अध्ययन को भी आवश्यक बतलाया है। इस प्रकार इस समीक्षा में विषय (वस्तु और व्यक्ति दोनों को मिलाकर बने हुए काव्य-विषय) का ही महत्व प्रतिपादित हुआ है।

अभिव्यक्ति-पक्ष के अन्तर्गत सबसे पहले कल्पना तत्व का उल्लेख आवश्यक है। वाजपेयीजी ने कल्पना और अनुभूति में कार्य-कारण सम्बन्ध माना है। वे कल्पना का मूल अनुभूति मानते हैं और उसको परिणति अभिव्यंजना में बतलाते हैं। उनके अनुसार कल्पना साहित्य का आवश्यक तत्व है। उसके माध्यम से ही साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति सम्भव है। कल्पना और अनुभूति में भेद व्यावहारिक है, सैद्धान्तिक नहीं। शैली और विषय दोनों के निर्माण में कल्पना का हाथ होता है। परन्तु यह कल्पना भावानुगामिनी हो, काव्य-पुरुष की सुशीला स्त्री हो। नगेन्द्रजी ने भी कल्पना को प्रत्यक्ष से अनाश्रित नहीं माना। कल्पना विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। अनुभूति-रहित होने पर वह कोरी करामात रह जाती है, इसलिए उसमें अनुभूति का योग आवश्यक है।

संयोजन-व्यापार होने के कारण वह बुद्धि पर भी आश्रित है। कलाकार की कल्पना को उन्होंने ललित कल्पना कहा है।

अलंकारों के सम्बन्ध में भी ये आचार्य एकमत हैं। वाजपेयी जी के अनुसार तो ये काव्य-साधना की पहली सीढ़ी ही है। दूध में पानी के समान इनसे काव्य फीका ही होता है। परन्तु वे एकदम ही उपेक्षणीय नहीं हैं। वाजपेयीजी ने उनका सम्बन्ध काव्य की वाह्यात्मा से बतलाया है। द्विवेदीजी ने भी अलंकारों को सहायक तत्व के रूप से ही ग्रहण किया है तथा उनमें भी अर्थालंकारों को अधिक महत्वपूर्ण माना है। परन्तु अर्थालंकार भी आवेगयुक्त ही होना चाहिये। इन समीक्षकों में नगेन्द्रजी ने अलंकारों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है, यद्यपि वे भी सिद्धान्ततः उसकी साधनगत परिभाषा ही स्वीकार करते हैं। नगेन्द्रजी का मत है कि रस-सिद्धान्त निर्भ्रान्त है परन्तु बिना वक्रता भाव की रमणीयता को व्यक्त करना कठिन है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव-सौन्दर्य और उक्ति-सौन्दर्य अभिन्न हैं। क्रोचे ने उनके व्यावहारिक भेद को भी स्वीकार नहीं किया। भारतीय आचार्यों ने भी गिरा और अर्थ की अभिन्नता स्वीकृत की, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, उन्होंने इनके भेद को स्वीकार कर अपने विवेचन को अधिक विश्वसनीय बना लिया है। नगेन्द्रजी ने अलंकार-प्रयोग के दो मनोवैज्ञानिक कारण बतलाए हैं। भावोद्दीपन के क्षणों में मन ओजपूर्ण होता है, ओज आवेग के रूप में व्यक्त होता है और आवेग अतिशयोक्ति का रूप ले लेता है। इसलिये भावोद्दीपन के समय वाणी अलंकृत हो जाती है। अलंकारों के मूल में आत्म-प्रदर्शन की प्रेरणा भी होती है और प्रदर्शन में अतिशयता आवश्यक है। आशय यह है कि नगेन्द्रजी ने भी अलंकारों का भाव-जगत् से ही सम्बन्ध स्थापित किया है। इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अलंकारवाद और अभिव्यंजनावाद के मध्य में है।

काव्य और छन्द की अपृथक्ता भी इस समीक्षा में स्वीकार की गई है। इसके साथ ही छन्द युगानुकूल रूप-परिवर्तन करता है, यह भावानुकूल होता है, उसमें एक सामूहिक शक्ति होती है तथा वृहत्तर जीवन में उससे संतुलन भी स्थापित होता है, ये सब बातें इस समीक्षा में मान्य हुई हैं। इन आचार्यों ने छन्द के लिए नदी के तटों का रूपक दिया है और काव्य-धारा के लिए उन्हें आवश्यक माना है। नगेन्द्रजी ने छन्दों को कविता का नैसर्गिक परिधान कहा है तथा हृत्कपन एवं श्वास के आरोह और अवरोह से उनका सम्बन्ध जोड़ा है।

सभी आचार्यों ने भाषा को भावों की अनुगामिनी कहा है। भाषा भाव से भिन्न होकर नहीं चल सकती। उसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा वैयक्तिक नहीं, सामाजिकसाधन है। भाषा निर्जीव नहीं होती, उसका भी जीवन होता है। उसकी इच्छा, शक्ति और संस्कार होते हैं। उसका सौन्दर्य चलित होता है, स्थिर नहीं। युग और विचारों के साथ भाषा में भी परिवर्तन होता है। साहित्य की भाषा सहज होती है,

परन्तु अनायास-लब्ध जन-साधारण की भाषा से उसमें भिन्नता होती है। इस समीक्षा में काव्य-भाषा और जन-भाषा में अन्तर स्वीकार किया गया है।

इस समीक्षा में प्रतिभा को ही काव्य-हेतु माना गया है। प्रतिभा काव्य का आन्तरिक तत्व है और अनुभूति से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन समीक्षकों ने समस्त जीवन को ही साहित्य का विषय माना है। इनके अनुसार मनुष्य अपनी सम्पूर्णता के साथ साहित्य का विषय है। सहृदय या काव्य के अधिकारी के सम्बन्ध में भी ये समीक्षक एकमत हैं। । इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति साहित्य का अधिकारी या 'सहृदय' नहीं हो सकता। साहित्य का पारखी कोई शिक्षा-दीक्षा प्राप्त संस्कारी व्यक्ति ही हो सकता है। 'सहृदय' बनने के लिए मनुष्य बनना आवश्यक है और यह कठिन काम है, इसलिए प्रत्येक 'सहृदय' नहीं बन पाता। आधुनिक 'सहृदयता' रीति कालीन सहृदयता (रसिकता) से भिन्न वस्तु है।

छायावादी या स्वच्छंदतावादी समीक्षा वस्तुतः रस-सिद्धान्त का ही नवीन उत्थान है। इसमें भारतीय काव्य-शास्त्र की वस्तु-निष्ठता और पाश्चात्य व्यक्तिनिष्ठता का समन्वय हुआ है। यह समीक्षा काव्य के स्रष्टा और काव्य केभोक्ता दोनों पर विचार करती है। इसमें व्यष्टि और समष्टि दोनों का समन्वय हुआ है। यह काव्य के आनन्द और लोक-कल्याण दोनों लक्ष्यों को लेकर चली है तथा काव्य के अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों पक्षों को महत्व देती है। इस समीक्षा में भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्रों का सार-तत्व संगृहीत करने का प्रयास हुआ है। इस समीक्षा में साहित्य-शास्त्र को पुष्ट करने के लिए समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान का भी प्रचुर प्रयोग किया गया है एवं इतिहास दर्शन तथा संस्कृति और नवीन ज्ञान-विज्ञान की भी सहायता ली गई है। एक ओर तो यह समीक्षा युग-तत्व से संबद्ध है और दूसरी ओर वह युग-युगीन भी है। अतएव नये युग के साथ उसमें सदैव नवीनता और सजीवता आती रहती है और दूसरी ओर शाश्वत होने के नाते वह साहित्य का स्थिर प्रतिमान भी प्रस्तुत करती है। छायावादी समीक्षा में साहित्य के आंतरिक पक्ष अनुभूति पर अधिक बल दिया गया है और इसी को समीक्षा का आधार बनाया गया है। यह अनुभूति एकदम विशुद्ध और निर्विशेष रूप में स्वीकार की गई है। इस रूप में वह सार्वभौम और शाश्वत वस्तु बन जाती है। इस प्रकार छायावादी समीक्षा एक व्यापक साहित्य-निकष के रूप में भी स्वीकार की जा सकती है।

———

चतुर्थ खण्ड

प्रगतिवादी समीक्षा

१२

डा० रामविलास शर्मा

"फरहाद ने कोह काटकर नहर निकाली थी। साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महापर्वत को काटकर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेंक कर इस पर्वत की एक चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश-गङ्गा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता।"

—प्रगति और परम्परा, पृष्ठ ४

सिद्धान्त—मार्क्सवाद

डा० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षक हैं। मार्क्स के मत का शर्माजी ने दृढ़ता के साथ अपनी समीक्षाओं में प्रयोग किया है। मार्क्स का मत वैज्ञानिक भौतिकवाद की नींव पर आधारित है। मार्क्स ने जर्मनी के दर्शन, इङ्गलैण्ड के अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवाद का सार लेकर अपने मत का निर्माण किया था। एक ओर तो मार्क्स ने आदर्शवाद को तिलांजलि दी और दूसरी ओर यांत्रिक भौतिकवाद को। मार्क्स के अनुसार संसार यथार्थ है और यथार्थ में विरोधी तत्व होते हैं। विरोधी तत्वों के संघर्ष से विकास संभव होता है। प्रकृति में भी संघर्ष चलता है। विकास क्रमशः भी होता है और क्रांतिकारी परिवर्तनों के साथ भी। इसी सिद्धांत को समाजशास्त्र पर लागू कर इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की जा सकती है[१]। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करता है, परन्तु ऐतिहासिक क्रिया का आधार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियां होती हैं। ये ही परिस्थितियां जनता के मनोभावों, आकांक्षाओं एवं वैचारिक संघर्षों का नियमन करती हैं। मानव-समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है। उत्पादन के क्रम में ये वर्ग बना करते हैं। वर्ग-संघर्ष से उत्पीड़न का जन्म होता है। पूंजीवादी समाज में मजदूरों और पूंजीपतियों में यह संघर्ष होता है। मजदूर वर्ग ही क्रांतिकारी है। पूंजीवादी समाज को नष्ट कर नए समाज के

१ प्रगति और परम्परा पृ० ३८

निर्माण में वह अग्रदूत का काम करता है[१]। 'क्रिटिक आफ पोलीटिकल इकानामी' की भूमिका में मार्क्स ने बतलाया है कि सामाजिक उत्पादन के सिलसिले में मनुष्य जो संबंध स्थापित करते हैं वे उनकी इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नहीं होते[२]। उत्पादन-सम्बन्धों के जमाव से समाज का आर्थिक ढांचा बनता है। इसी पर कानून और राजनीति भी आधारित है। समाज के भौतिक जीवन में उत्पादन-पद्धति से सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक जीवन का क्रम निश्चित होता है। मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व से ही उसकी चेतना का निर्माण होता है। विकास की एक सीमा पर उत्पादन के वर्तमान संबंधों और उत्पादन की भौतिक शक्तियों में टक्कर होती है और यहीं से क्रांति का युग आरंभ होता है। आर्थिक आधार के बदलने पर कानून, राजनीति, धर्म, कला, दर्शन सभी बदलने लगते हैं[३]। हमें युग-चेतना को समझने के लिए उत्पादन-संबंधों और उत्पादक शक्तियों के संघर्ष को समझना चाहिए[४]।

समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर ही संस्कृति का प्रासाद निर्मित होता है। इस आर्थिक व्यवस्था में यह देखा जाता है कि इसमें उत्पादन-संबंधों से उत्पादक शक्तियों का विकास होता है या उनके विकास में बाधा पहुंचती है। सामंती-व्यवस्था में उत्पादक शक्तियां किसान हैं और भूमि व्यवस्था का आधार जागीरदारी या जमींदारी प्रथा है। इसमें जमींदार और किसान का संबंध किसान के विकास में बाधक होता है। इससे दोनों में संघर्ष होता है जो संस्कृति में भी झलकता है। पूंजीवादी समाज में पूंजीपति और मजदूर का संबंध पूरे समाज के विकास में घातक होता है। इनमें भी टक्करें होती हैं। कलाकर का उद्देश्य इस संघर्ष को बनाये रखना नहीं, इसको समाप्त करना है। लेखक और कलाकार का कर्तव्य है कि वह उत्पादन-संबंधों और उत्पादक-शक्तियों की टक्कर को समझकर अपनी कला द्वारा विकासमान शक्तियों को आश्रय दे और मनुष्य-समाज को मुक्ति की ओर बढ़ाये[५]।

आर्थिक आधार का साहित्य या कला पर सीधा प्रतिबिंब नहीं पड़ता। राजनीति, दर्शन, धर्म, कला आदि के विकास का आधार और आर्थिक विकास अवश्य हैं, परन्तु इन सबका एक दूसरे पर और आर्थिक आधार पर भी प्रभाव पड़ता है। यह ठीक है कि युग को समझने के लिए आर्थिक संबंधों का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु साहित्य या कला इन संबंधों

---

१ प्रगति और परम्परा पृ० ३९
२ -वही- ,, ५०
३ -वही- ,, ५१
४ -वही- ,, ५२
५ -वही- ,, ५२

की छाया मात्र नहीं हैं। कला इन आर्थिक संबंधों को प्रभावित करती है। संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ ही कला और साहित्य में प्रतिबिंबित होता है [१]। साहित्य में समाज के अंतर्विरोध और असङ्गतियां भी प्रकट होती हैं। समाज कोई एक सरल इकाई नहीं है, इसलिए उसके साहित्य में सीधे प्रतिबिंब का सवाल ही नहीं उठता। उसमें तो समाज का संश्लिष्ट रूप ही प्रतिबिंबित होता है। किसी मत के प्रचार से भी साहित्य गहरा या उथला नहीं होता। उसकी कसौटी तो यह है कि हम यथार्थ को उसके संश्लिष्ट रूप में कहां तक पहचानते हैं। इसके लिये समाज की पतनोन्मुख एवं विकासमान शक्तियों के परस्पर संबंध का ज्ञान आवश्यक है [२]। जो साहित्य सांस्कृतिक आवरण में मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न को छिपाता है, वह ऊपर से प्रचारक भले ही न दिखलाई पड़े, परन्तु वह होता है प्रतिक्रियावाद का प्रचारक ही। यथार्थ जीवन के सत्य को प्रकट करने वाला साहित्य गंभीर होता है, उससे मनुष्य के हृदय में रस-सृष्टि होती है और उसके विकास की प्रेरणा मिलती है [३]।

शर्माजी ने विकास को द्वन्द्वमूलक प्रक्रिया कहा है और सामाजिक विकास-क्रम को असङ्गतियों से पूर्ण। इसी आधार पर वे मानते हैं हमारा समस्त पिछला साहित्य पूंजीपतियों या सामन्तों का ही नहीं है। यदि बात ऐसी ही होती तो उसे होली को अर्पित करना कोई पाप नहीं था। परन्तु हमारे पुराने साहित्य में एक जागरूक और प्रगतिशील परम्परा भी है जिससे हमें नाता जोड़ना है, तोड़ना नहीं। यह परम्परा कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दादू आदि की है जिस पर हमें गर्व है [४]।

शर्माजी मानते हैं कि कलाकार के पास दो वस्तुयें होनी चाहिए—अनुभव और सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति। कलाकार के अनुभव समाज-निरपेक्ष नहीं होते समाज में कुछ तत्व प्रगतिशील होते हैं और कुछ प्रतिक्रियावादी। इन दोनों के विरोध से ही समाज को गति मिलती है। साहित्यकार समाज की इस विकास-प्रक्रिया से तटस्थ नहीं रह सकता [५]। अनुभवों के समान ही साहित्यकार की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति भी सामाजिक विकास और सामाजिक सम्बन्धों से परे नहीं है। "किसी भी समाज विशेष के मनुष्य की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति उसके समूचे ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती है।"

---

१ प्रगति और परम्परा पृ० ५३
२ —वही— " ५४
३ —वही— " ५५
४ —वही— " १४०-१४१
५ प्रगतिशील साहित्य की समस्यें " १

शर्माजी का मत है कि प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कुछ लेखक वर्ग-समाज के विद्रोही होते हैं और कुछ समर्थक—कुछ प्रगतिशील होते हैं और कुछ प्रतिक्रियावादी। इसलिए 'कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है' यह श्री शिवदानसिंह चौहान की स्थापना सही नहीं है [१]। शर्माजी के अनुसार साहित्यकार और समीक्षक जन-साधारण का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील होते हैं [२]। आज जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष कर रही है और दूसरी ओर साम्राज्यवादी शक्तियां और उनके समर्थक जनता के संघर्ष को दबाने और उसे गुलाम बनाए रखने के प्रयत्न कर रहे हैं। यह द्वन्द्व ही आज का युग सत्य है और इसमें कलाकार जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है। साहित्य में व्यक्त युग-सत्य की परीक्षा के लिए हमें तत्कालीन समाज की जानकारी आवश्यक है। क्योंकि 'साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से अलग न होकर उसका एक अङ्ग होता है [३]।

शर्माजी ने त्रात्स्की की विचार-धारा का विरोध किया है, क्योंकि त्रात्स्की मजदूर वर्ग की सांस्कृतिक विरासत का घोर शत्रु था। श्री चौहान पर शर्माजी ने त्रात्स्कीवादी होने का आरोप भी लगाया है। उनके अनुसार साहित्य अपनी प्रगतिशील परम्परा से विच्छिन्न नहीं होता [४]। मार्क्सवाद मनुष्य के व्यवहार का दर्शन है। वह गोचर यथार्थ तक ही सीमित है अगोचर यथार्थ की उसके लिए कोई सत्ता नहीं है। इन्द्रिय बोध से परे वह किसी भी वस्तु को मानने के लिए तैयार नहीं है [५]। मार्क्सवादी व्यवहार को ही कसौटी मानता है और इस पर जो बात पूरी उतरे वही सत्य है, शेष बातों को वह सत्य मानने के लिये तैयार नहीं है [६]।

'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' नामक पुस्तक में भी बतलाया गया है कि 'साहित्य के मूल्य स्थायी हैं, निरपेक्ष रूप से नहीं, सापेक्ष रूप से, देशकाल से परे नहीं, देशकाल की सीमाओं में निरन्तर विकास करती हुई मानव-जाति की संचित सांस्कृतिक निधि के रूप में [७]।' साहित्य के स्थायी मूल्यों को मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकास क्रम और जीवन-संघर्ष के बीच मे पाया है। इन्द्रिय-बोध का परिष्कार और उसके सहारे कला

---

१ प्रवतिशील साहित्य की समस्यायें पृ० ३
२ —वही— " ४
३ —वही— " ६
४ —वही— " १६
५ —वही— " ६८-६९
६ —वही— " ७०
७ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य "२३

को सृष्टि का अटल नियम आदि काल से चला आ रहा हैं। मनुष्य के इन्द्रिय-बोध में आदि काल से आज तक मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। सामाजिक जीवन में इन्द्रिय-बोध का निहार अवश्य हुआ है। इन्द्रिय-बोध सामाजिक परिस्थितियों में विकसित होता है, परन्तु वह भी सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है, वह अपरिष्कृत रूप में पहले भी था। मार्क्सवाद संस्कृति की सापेक्ष स्वाधीनता स्वीकार करता है। इसके द्वारा मनुष्य के इन्द्रिय-बोध और उसकी सौन्दर्य-वृत्ति की अच्छी व्याख्या हो जाती है। समाज-व्यवस्था बदलने पर इन्द्रिय-बोध मूलत: बदल जाता है, यह निराधार कल्पना है। विचारों और भावों से इन्द्रिय-बोध अपेक्षाकृत स्थायी रहता है [१]। साहित्य का सम्बन्ध इन्द्रिय-बोध से है, इसलिए उसका प्रभाव भी दर्शन, विज्ञान आदि से व्यापक है। उसका माध्यम ही रूप-मय है, कल्पना के द्वारा वह अनेक प्रकार के रूप पाठक या श्रोता मे जगाता है। मनुष्य का यह इन्द्रिय-बोध वस्तुगत समृद्धि के अनुरूप अंशत: विकसित होता है और अंशत: रचा जाता है [२]। मनुष्य का यह इन्द्रिय-बोध उसके समूचे विकास का परिणाम है। जीवन की परिस्थितियाँ सौन्दर्य-वृत्ति को कुण्ठित कर देती हैं। परेशान गरीब आदमी को सुन्दर से सुन्दर नाटक देखने का चाव नहीं होता। मार्क्सवाद पर सौन्दर्य–विरोधी होने का आरोप लगाया जाता है, परन्तु शर्माजी का कहना है सौन्दर्य-विरोधी तो वे लोग हैं जो करोड़ों आदमियों को गरीबी और भुखमरी के हवाले करके उनकी सौन्दर्य वृत्तियों को कुण्ठित कर देते हैं। मार्क्सवाद तो उस समाज की रचना का उद्देश्य रखता है जिसमें मनुष्य की सौन्दर्य–वृत्ति कुण्ठित न होकर पल्लिवित हो। मार्क्स-वाद ऐन्द्रियता का समर्थक है। जीवन में भोग और आनन्द को स्थान देता है [३]। इन्द्रिय–बोध सब में समान होता है फिर भी उसका परिष्कार सब मे एक-सा नहीं होता। ऐति–हासिक भूमिका पूरी कर चुकने पर शासक–वर्ग का इन्द्रिय–बोध अस्वस्थ और अस्वाभाविक हो जाता है [४]। मनुष्य के भावों और विचारों का सहज सम्बन्ध इसके इन्द्रिय-बोध से ही है। इस प्रसंग में शर्माजी वे आचार्य शुक्ल का मत भी उद्धृत किया है। भाव आदिम समाज में इन्द्रिय-बोध के रूप में रहता है, परन्तु अपने परिष्कृत रूप में वह विकसित समाज-व्यवस्था में ही सुलभ है। मनुष्य का भाव-जगत् इन्द्रिय-बोध जैसा व्यापक और सार्वजनीन नहीं है, परन्तु विचार–जगत से अधिक व्यापक है [५]। भाव-जगत की अपेक्षा विचार-जगत जल्दी बदलता है। विचारों का पैदावार के तरीके और मनुष्यों के परस्पर

---

१ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य पृ० २५
२ —वही— ,, २६
३ —वही— ,, २७
४ —वही— ,, २८
५ —वही— ,, २९

आर्थिक सम्बन्धों से गहरा सम्बन्ध है। पैदावार के तरीके और आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ ही विचार भी बदलते हैं, परन्तु ये विचार अपनी पूर्व विचार-धाराओं से बहुत सी बातें ग्रहण कर लेते हैं [१]। परम्परा और प्रगति का सम्बन्ध ध्यान में रखना सदैव आवश्यक है। पुराने साहित्यकारों से रचना-कौशल भाव-सौन्दर्य, इन्द्रिय-बोध का परिष्कार आदि के साथ विचार-धारा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है [२]।

पूंजीवाद के समर्थक प्रत्येक जन-आन्दोलन में मनुष्य की स्वाधीनता का नाश देखते हैं। परन्तु व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की आश्रित है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है। शोषण-मुक्त समाज में ही विकास की सुविधायें मिलने पर मनुष्य अपनी स्वाधीनता चरितार्थ करता है। इसके पूर्व नहीं [३]।

बुद्धिजीवी नाम का कोई अलग वर्ग नहीं होता जिसके आर्थिक सम्बन्ध सर्वहारा, मध्यम वर्ग या पूंजीवाद वर्ग से अलग होते हैं। वे इन्हीं में से किसी एक वर्ग के होते हैं [४]। जो बुद्धिजीवी समाजवाद को अपना लेता है वह मजदूर वर्ग की बहुत बड़ी सेवा कर सकता है। बुद्धिजीवियों की सहायता के बिना मजदूर वर्ग अकेला क्रांति नहीं कर सकता—न तो वह पूंजीवाद को समाप्त कर सकता है और न समाजवाद ला सकता है [५]। दूसरी ओर बुद्धिजीवी भी मजदूर वर्ग का साथ देकर ही अपने चिन्तन को उपयोगी बना सकता है और सब रास्ते उसे पतन और गुलामी की ओर ले जायेंगे। बुद्धिजीवी साहित्य और संस्कृति के निर्माता उसी हद तक हैं जिस हद तक वे पीड़ित वर्गों के साथ हैं। मजदूर वर्ग से विमुख होने पर उनका बुद्धिजीवीपन कौड़ी-मोल का भी न रह जायगा [६]। मार्क्सवाद वैज्ञानिक एवं क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। वह समाज की असंगतियां दिखलाकर उन्हें बदलने की राह भी दिखाता है। मार्क्सवाद का यह लक्ष्य है कि वह पीड़ित वर्ग की मुक्ति पाने में उसकी मदद करे। यही बात मार्क्सवादी लेखक, विचारक और कलाकार पर भी लागू होती है। समाजवादी व्यवस्था में उसका लक्ष्य व्यवस्था को पुष्ट और

---

१ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य पृ० ३१
२ —वही— ,, ३२
३ —वही— ,, ३३-३४
४ —वही— ,, ५०
५ —वही— ,, ५१
६ —वही— ,, ५२

विकसित करना हो जाता है [१]। मनुष्य की विचार-धारा का मूल-स्रोत शुद्ध विचार न होकर समाज की आर्थिक व्यवस्था होती है, परन्तु आर्थिक व्यवस्था स्वयं भी विचारों से प्रभावित होती है। बुद्धिजीवियों को यह भ्रम नहीं रहना चाहिए कि वे समाज के आर्थिक ढांचे से ऊपर उठकर सिद्धान्त या साहित्य अथवा कला की रचना कर सकते हैं [२]।

पूंजीवादी अपनी व्यवस्था को शाश्वत और प्राकृतिक बतलाते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पूंजीवादियों का एक आरोप यह भी है कि मार्क्सवाद से समाज के नैतिक मूल्य, पुरानी संस्कृति और जनतन्त्र की परम्पराएँ खत्म हो जाती हैं। परन्तु पूंजीवाद स्वयं ही अपने पतन-काल में उन परम्पराओं को खत्म करने लगता है, जो उसके अभ्युदय-काल में उत्पन्न हुई थीं। सर्वहारा वर्ग ही इस विरासत की रक्षा करता है, उसका मूल्यांकन करता है और उसे आगे बढ़ाता है [३]। पूंजीवाद ने हर पेशे की इज्जत उतार ली है। लोग जिन पेशों को श्रद्धा से देखते थे उनका गौरव खत्म हो गया है। पूंजीवादी बुद्धिजीवी गुलाम बने रहना अपने लिए गौरव की बात समझते हैं। मार्क्सवाद इस गुलामी को समाप्त करना चाहता है। पूंजीवादी संस्कृति जन-साधारण को मशीन बना देती है। सर्वहारा-वर्ग इस मनुष्य को मशीन बना देने वाली संस्कृति को समाप्त कर देना चाहता है। पूंजीवादी बुद्धि-जीवी पेट के लिए पूंजीपतियों की गुलामी करता है [४]।

पूंजीवादी बुद्धिजीवियों के अतिरिक्त एक प्रकार के निम्न पूंजीवादी बुद्धिजीवी भी होते हैं जो पूंजीवाद पर निर्भर रहते हैं। ये निम्न पूंजीवादी बुद्धिजीवी (पेटी बुर्जुआ) पूंजीपतियों की तरह रहते हैं न कि सर्वहारा की तरह। ये अपने को जनवादी कहकर लोगों को धोखा देते हैं। मानववाद के नाम पर ये मानवता के शत्रुओं का समर्थन करते हैं। ये प्रतिक्रियावाद का खुला समर्थन नहीं करते, शुद्ध कला और साहित्य की नकाब डालकर चोरी और धोखे से यह काम करते हैं। इनका असर खतरनाक होता है [५]। पेटी बुर्जुआ स्वभाव से ही दो-मुंहा होता है। एक ओर तो वह सर्वहारा और जनतन्त्र की ओर खिचता है। उसकी नीति बड़ी ढुलमुल हुआ करती है [६]। यह बुद्धि-जीवी मध्य-वर्गी होता है। वह इस बात में विश्वास करता है कि सर्वहारा और पूंजीपतियों के वर्ग

---

१ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य पृ० ५३
२ —वही— " ५४
३ —वही— " ५५
४ —वही— " ५६
५ —वही— " ५७
६ —वही— " ५८-५९

संघर्ष को बचाया जा सकता है। चलते हुए संघर्ष के सम्बन्ध में भी वह यही सोचता है कि वह क्रांतिकारी रूप न लेगा और शांतिपूर्ण ढङ्ग से नए समाज की नींव डाली जा सकेगी और इस प्रकार वह क्रांति-विमुखता के समीप पहुंचता है। इसे पेटी बुर्जुआ की कायरता और मूर्खता कहा गया है [१]। ये मध्यमार्गी सज्जन अवसरवादी होते हैं। उनके मेल कराने के प्रयत्न उन्हें ले डूबते हैं। वर्ग--संघर्ष की तीव्रता के समय यह अवसरवाद खतरनाक होता है और सबसे पहले इसकी जड़ काटना मजदूर आन्दोलन का पहला काम हो जाता है [२]।

साम्राज्यवादी युद्धों में ये मध्यवर्गी राष्ट्रीयता को अंतर्राष्ट्रीयता से बढ़कर मानते हैं और अपनी सरकार का साथ देते हैं। विश्व-पूंजीवाद और विश्व सर्वहारा की दृष्टि से युद्ध का मूल्यांकन नहीं करते और इनके पास निकम्मा राष्ट्रवाद ही रह जाता है। ये लोग मजदूरों के संघर्ष से राष्ट्रीयता को ऊपर मानते हैं। पूंजीवाद अपने पतित फासिस्ट रूप में यही रूप धारण कर लेता है। पूंजीवादी लेबर पार्टियों की यह खास निशानी है। इसीलिये एटली का समाजवाद सदैव चर्चिल के चरण-चिन्हों पर चला है [३]।

मध्यवर्गियों में कुछ टुटपुंजिये (फिलिस्टन) लोग भी होते हैं। ये बड़े गरीब और मूर्ख कहे गये हैं। इनकी उपमा शुतुर्मुर्ग से दी गई है। ये जरा सी बात से घबड़ा जाते हैं [४]।

साहित्य से समाज-विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। समाज-विज्ञान मानव जीवन के बदलते हुए मूल्यों को पहचानना सिखाता है। समाज-विज्ञान के विकास ने साहित्य के सामने यह समस्या खड़ी कर दी है कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये या अवैज्ञानिक। वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने पर रचनायें प्रभावशाली उपयोगी और सुन्दर हो जाती हैं। सही दृष्टिकोण की कसौटी मनुष्य का सबसे बुनियादी व्यवहार उत्पादन-क्रिया, खाने-पहनने-रहने के साधन जुटाने की क्रिया है। मनुष्य के विचारों का इससे बड़ा समीपी सम्बन्ध है। मजदूर वर्ग का सम्बन्ध उत्पादन के सबसे आगे के रूप से है और इसीलिए मजदूर वर्ग ही क्रांति का अग्रदूत भी होता है। प्रत्येक युग में किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि साहित्य-निर्माण में अग्रसर होते हैं। आज यह कार्य मजदूर-वर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा हो रहा है।

---

१ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य पृ० ६०
२ —वही— ,, ६१-६२
३ —वही— ,, ६२
४ —वही— ,, ६३

कोई भी वर्ग नये सिरे से साहित्य या संस्कृति की रचना नहीं करता। वह परंपरागत संस्कृति के स्वस्थ तत्वों के आधार पर ही नई संस्कृति का निर्माण करता है [१]।

शर्माजी ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि विश्व-संस्कृति का विकास वर्ग-हीन समाज की प्रतिष्ठा की ओर हो रहा है। विभिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियां इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं। श्रमिक वर्ग ही अपने नेतृत्व में शेष जनता का सङ्गठन करके मुक्त मानव समाज की रचना कर सकता है [२]।

इसी क्रम में शर्माजी ने गांधीवाद के संबंध में भी अपना मत व्यक्त किया है। वे गांधीवाद को पूंजीपति वर्ग का सांस्कृतिक मार्ग बतलाते हैं। गांधीवादी क्रांति की बात न कर वर्ग-शांति और समझौते की बात करता है। वह सक्रिय प्रतिरोध के स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध की चर्चा करता है [३]। सच्चा कलाकार सामाजिक संघर्ष में निष्क्रिय और तटस्थ नहीं रहता, वह सक्रिय प्रतिरोध का मार्ग अपनाता है [४]। अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना मनुष्य का कर्तव्य है। कलाकार भी यही करता है। वह जनता के साथ सहानुभूति रखता है और उसका पक्ष भी लेता है [५]।

नारी-समस्या पर भी शर्माजी ने प्रसङ्गवश कुछ चर्चा की है। उनका मत है कि इस देश में सामन्ती और साम्राज्यवादी हित घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। अतएव नारी की स्वाधीनता का प्रश्न भारतीय जन-साधारण की स्वाधीनता का एक अंग है। भारतीय नारी सदियों की सामन्ती दासता से तभी मुक्त होगी जब वह जनता के साथ साम्राज्य-विरोधी और सामन्त-विरोधी आन्दोलन में भाग लेगी [६]। भारत में नवीन जनवादी प्रजातन्त्र की स्थापना के बिना नारी की मुक्ति सम्भव नहीं है [७]। यह जनवादी प्रजातंत्र मार्क्सवाद के पथ पर चलकर ही स्थापित किया जा सकता है। मार्क्सवाद मजदूर-वर्ग का क्रांतिकारी दर्शन है और समाज को बदलने का वैज्ञानिक साधन है। मार्क्सवाद के अनुसार मजदूर वर्ग ही सबसे क्रांतिकारी वर्ग है जो समाज को बदलने की सामर्थ्य रखता है [८]।

---

१ लोक—जीवन और साहित्य पृ० १२-१३
२ लोक—जीवन और साहित्य " ४४-४५
३ —वही— " ४५
४ —वही— " ४६
५ —वही— " ५१
६ —वही— " ६७
७ —वही— " ६८
८ भारतेन्दु-युग, भूमिका " ३

धर्म, राजनीति, समाज-सुधार ये शब्द देखने में बड़े सुन्दर लगते हैं परन्तु इनकी आड़ में न जाने कितने लोग अपनी स्वार्थ-साधना किया करते हैं। राजनीति भी वही सफल हो सकती है जिसमें स्त्रियां बहिष्कृत होकर होटल की जूठन पर न जिएँ। वह धर्म नष्ट हो जायगा जो सामाजिक विषमता को कर्म-फल बतलाता है [१]। सदियों के उत्पीड़न से संस्कृति, कला, साहित्य सब खोखले हो जाते हैं। कविता विलास और वैभव की चेरी बन जाती है [२]।

मार्क्सवाद संसार को सत्य मानता है, मिथ्या नहीं। परोक्ष को एकमात्र सत्य मानने वाले और संसार को मिथ्या मानने वाले अध्यात्मवादियों से उसका मौलिक विरोध है। परोक्षवाद, मायावाद, रहस्यवाद ये सब वाद सर्वहारा संस्कृति के विकास में बाधक हैं [३]। प्रत्येक सामन्ती-समाज में पुरोहितों ने जनता को परलोक के लिए जीना तथा इस लोक के दुःखों का कारण अपने पापों में ढूँढ़ना सिखाया है। धर्म और अध्यात्म ने जीवन का निषेध ही किया है तथा सामन्तों और पूंजीपतियों की स्वार्थ-सिद्धि में सहायता पहुंचाई है [४]।

साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का विरोध करने के लिए मजदूर आन्दोलन का शक्तिशाली होना आवश्यक है। यह आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर शक्ति-अर्जित करता है। वर्तमान समय में किसी जाति या संस्कृति का संसार से एकदम अलग रहना असंभव हो गया है। जातियां एक दूसरे के सम्पर्क में आती है और एक दूसरे को प्रभावित भी करती हैं। इससे उनकी जातीयता नष्ट नहीं होती, वरन् उसे और भी विकसित होने का अवसर मिलता है। यह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का सिद्धान्त है और साम्राज्यवादियों के विश्ववाद (कास्मोपालिटनिस्म) से भिन्न है। विश्ववाद देशों और जातियों के परस्पर आदान-प्रदान का सिद्धान्त नहीं है। वह एक जाति की स्वाधीनता और संस्कृति को नष्ट कर साम्राज्य का विस्तार करता है। वह किसान और मजदूर आंदोलनों का दुश्मन है [५]।

शर्माजी ने द्वन्द्वात्मक चिन्तन-पद्धति को ही तार्किक पद्धति कहा है। विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना,

---

१ निराला पृ० १४९
२ —वही— " १६५
३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना " ७७
४ —वही— " ८६
५ —वही— " १८१-१८२

संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं [१]।

प्रगतिशील साहित्य

डा० रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिवाद' के स्थान पर प्रगतिशील साहित्य की विशेषतायें बतलाई हैं। प्रगतिशील साहित्यकार मार्क्स की विचार-धारा का अनुसरण करता है। शर्माजी ने लेखक और जनता के सम्बन्ध में राजनीति का बहुत बड़ा अंश स्वीकार किया है। पराधीन देश की जनता प्रत्येक क्षण में अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव का अनुभव करती है। राजनीति उसके जीवन की प्रत्येक समस्या में घुलमिल जाती है। साम्राज्यवाद एक आर्थिक और राजनीतिक शक्ति है। समाज की काया सांस लेते ही इस लोहे के सांचे की सख्ती का अनुभव करती है। भावुक और सहृदय कवि को यह अनुभव और भी तीखा हुआ करता है। इसलिए उसका साहित्य राजनीति से अप्रभावित नहीं रह सकता। कवि जीवन की पूर्णता चाहता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण बनाता है। वह समाज की सबसे कठोर वास्तविकता राजनीतिक पराधीनता के प्रति उदासीन नहीं रह सकता [२]। समाज पर साहित्य का यांत्रिक प्रभाव नहीं पड़ता। लेखक समाज-रथ से बंधा हुआ पीछे-पीछे लीक पर घिसटता हुआ नहीं चलता। लेखक वह सारथी है जो लीक को देखता हुआ साहित्य की बागडोर संभाले उसे उचित मार्ग पर ले चलता है। वह महाजनों के पथ का पथिक तो होता है, परन्तु वह समाज का साथ कभी नहीं छोड़ता। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' उक्ति साहित्यकार पर भी लागू होती है। "राजनीतिक पराधीनता के ताप से उसका कुसुम-कोमल हृदय झुलसता है और समाज के आकाश में वज्र-गर्जन करने वाले बादल लाने की क्षमता भी उसमें होती है [३]।" समाज की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियां ही साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। परिस्थितियां साहित्य की नियामक होती हैं [४]।

हमारे सन्त कवि सच्चे प्रगतिशील कवि थे। उन्होंने सामन्ती बन्धनों को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने संसार को छोड़कर योग की साधना भी नहीं की। हमारे सन्तों और भक्तों ने समाज में रहकर, समाज में भी सबसे निम्न वर्गों में घुल-मिलकर प्रेम और एकता की बानी सुनाई है। सन्त पलायनवादी नहीं थे। मध्य-

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना पृ० २५२
२ प्रगति और परम्परा पृ० १-२
३ --वही-- " ३
४ --वही-- " ४

काल के वे एक मात्र क्रॉतिकारी कवि थे। सामंती जड़ता जातीय विद्वेष और साम्प्रदायिक घृणा के विपरीत उन्होंने मानवता की भावना को उभारा। उनके साहित्य से आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान की भावना पुष्ट होती है। वे जनता के कवि थे, जनता के कंठ में अब भी उनकी वाणी गूंज रही है [१]।

स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों ने साम्राज्यवाद के विरूद्ध युद्ध किया और अब वे प्रक्रियावादी शक्तियों से युद्ध कर रहे हैं। ये प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ निर्माण-कार्य को असंभव बना देती हैं और दूसरी ओर ये ध्वंस के कार्य भी करती है। देशी रियासतों के बचे-खुचे सामंत तथा मिलों और कारखानों के मालिकों ने गठबंध करके जनता के विरूद्ध फासिस्ट मोर्चा बना लिया है। वे धर्म के रक्षक बनकर प्रगट होते हैं। प्रकाशन पर उन्होंने अपना पंजा जमा लिया है तथा लेखक को अपना क्रीत-दास बना लिया है। पन्द्रह अगस्त के उपरान्त ये प्रतिक्रियावादी और भी उग्र हो गए हैं। आज का लेखक इनको समाप्त करने में जनता का साथ देगा। प्रगतिशील लेखक की इच्छा होती है कि जनता स्वस्थ, सुखी और सुन्दर बने। यदि जनता की मानसिक शक्ति विकसित और संगठित कर दी जाय तो वह संसार में एक नई रवानी ला सकती है। जनता की मानसिक शक्ति के विकास एवं संगठन के लिए साहित्य की आवश्यकता है [३]। ऐसे ही साहित्य की नई धारा को समाजवादी यथार्थवाद की संज्ञा दी गई है। मार्क्स ने इसे ही पूंजीवादी सम्पत्ति से रहित मानववाद कहा था [४]। सोवियट क्रांति ने संसार के एक छठे भाग को पूंजीवादी दासता से मुक्त कर दिया हैं। एशिया और यूरोप में पूंजीवाद की जड़ें हिल गई हैं। पूंजीवाद की जगह लेने की ऐतिसिकहा क्षमता समाजवाद में ही है। आज साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही सर्वप्रमुख विचार-धारा है [५]।

प्रगतिशील कवि केवल रोटी और क्रांति की बात ही नहीं करता, वह प्रकृति प्रेमी भी होता है, रस भरी कोमल भावनाओं के गीत भी सुनाता है और देश की संस्कृति से भी अनुराग रखता है। परन्तु वह सामंती और पूंजीवादी शक्तियों द्वारा उकसाये हुए प्रतिक्रियावादियों की पशुता और बर्बरता को ललकारता है। वह मानव-सुलभ भावनाओं की हरी दूब जमाने के लिए पशुता और बर्बरता के कांटो को खोदकर फेंक देना

---

१ प्रगति और परम्परा पृष्ठ ६
२ —वही— ,, ७-९
३ —वही— ,, ४२
४ —वही— ,, ४२
५ —वही— ,, ४५

चाहता है [१]।

कोई भी युग–सत्य द्वंद्व से परे नहीं होता। आज के युग का सत्य यह है कि एक ओर जनता साम्राज्यवाद से मुक्तिपाने के लिए संघर्ष कर रही है और दूसरी ओर साम्राज्यवादी शक्तियां और उनके समर्थक उसे दबाने एवं दास बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस संघर्ष में जड़ता का पक्ष लेकर ही कलाकार प्रगतिशील कहलाता है [२]।

साहित्य की विषय-वस्तु और कला दोनों एक वस्तु नहीं हैं। दोनों संबद्ध होकर साहित्य बनाती हैं। दोनों की एकता साहित्य के लिए आवश्यक है। परन्तु साहित्य के निर्णायक महत्व के लिये विषय-वस्तु की ही अधिक महत्ता है। जिसके पास उच्च विचार भावावेश एवं यथार्थ का ज्ञान नहीं है, वह केवल कला के बल पर उच्च कोटि के सृजन नहीं कर सकता। मूल–वस्तु होने पर ही उसे कलात्मक रूप दिया जा सकता है [३]।

शर्माजी साहित्य का युगीन सामयिकता से सम्बन्ध मानते हैं और इस सम्बन्ध में उनका श्री शिवदानसिंह चौहान से मतभेद है। श्री चौहान ने इसे कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टि कहा है। शर्माजी का कथन है कि साहित्य को सामाजिक विकास-क्रम से अलग रखकर नहीं परखा जा सकता। परन्तु उसके कलात्मक मूल्यों की भी अवहेलना नहीं हो सकती। शर्माजी का मत है कि प्रगतिशील आलोचना परम्परा से नाता तोड़कर कोई विदेश से आई हुई वस्तु नहीं है। वह आचार्य शुक्ल जैसे समीक्षकों के सिद्धान्तों का विकास करके आगे बढ़ रही है [४]।

शर्माजी के अनुसार 'प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है, इसलिए वह उसकी जातीय विरासत, उसकी साहित्यिक परम्पराओं की रक्षा करने के लिए भी लड़ता है। साम्राज्यवाद न सिर्फ जनता की स्वाधीनता का अपहरण करता है उसके जनवादी अधिकारों को कुचलता है बल्कि उसकी जातीय संस्कृति, उसके राष्ट्रीय अभिमान उसके पूर्व पुरुषों के अर्जित ज्ञान को भी झुठलाता और दबाता है। इसलिए जनता की जातीय संस्कृति और रक्षा के विकास के लिए संघर्ष उनकी स्वाधीनता और जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष का अभिन्न अंग है [५]।

---

१ प्रगति और परम्परा पृष्ठ १३६
२ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं ,, ६
३ —वही— ,, ८—९
४ —वही— ,, १०—११
५ —वही— ,, ७९

शर्माजी फ्रायड की विचार-धारा को भी मार्क्स की विचार-धारा के अनुकूल नहीं मानते। उनका कथन है कि फ्रायड की विचार-धारा यूरोप में क्रान्ति-विरोधियों के ही काम आई है। व्यावहारिक दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो मार्क्स की विचार-धारा ही सामाजिक जीवन में सही सिद्ध हुई हैं [१]। मार्क्सवाद की असली कसौटी यह है कि आप मजदूर राज्य के सिद्धान्त को मानते हैं या नहीं। मार्क्स ने पूंजीवादी शोषण का अन्त करने के लिए, 'युद्ध देहि' की आवाज लगाई थी [२]। मार्क्सवाद के अनुसार जनतंत्र में या तो पूंजीपतियों का आधिपत्य होगा या जन-साधारण का। वर्ग-सन्तुलन के राम-राज्य वाले सिद्धान्त को शर्माजी ने रोप-डांस की संज्ञा दी है जो अधिक सफल होता नहीं दिखाई देता [३]। शर्माजी के अनुसार कांग्रेस वर्ग-सहयोग की राजनीति पर ही आधारित है। इसमें भारतीय रूढ़िवाद ही प्रतिध्वनित होता है [४]।

मार्क्सवाद वर्गों की भूमिका को ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में ही देखता है। आदिम समाज-व्यवस्था के स्थान पर सामंती समाज की स्थापना से मनुष्य के विकास में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ था इसलिए कोई दर्शन या काव्य सामंतों का समर्थक होने से ही मार्क्सवाद के लिए निन्दनीय नहीं हो जाता। हमें यह देखना चाहिए कि मानव-संस्कृति के विकास में वर्ग-विशेष की युग--विशेष के सन्दर्भ में कौन-सी भूमिका रही है। वर्ग-आधार पर मनुष्य समाज ने जितना भी ज्ञान अर्जित किया है, मार्क्सवाद उसका मूल्यांकन करके उसका विकास करता है। सामंती समाज में रचा हुआ सभी साहित्य सामंती-हितों का प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि वर्गयुक्त समाज में दो तरह की संस्कृति होती है। इनका एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है। इस प्रकार संस्कृति संश्लिष्ट रूप में प्रकट होती है। उत्पादन व्यवस्था के आधार पर एक बार सांस्कृतिक रूपों का निर्माण हो जाने पर मनुष्य उन्हें जल्दी नहीं छोड़ता, बल्कि पुराने रूपों में ही नए तत्व डालने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार मार्क्सवाद संस्कृति की सापेक्ष स्वतन्त्रता ही स्वीकार करता है [५]।

शर्माजी का मत है कि भारत में अध्यात्मवादी धारणाओं को फैलाने का काम उन्हीं लोगों ने किया है जो भारतीय जनता के भौतिक जीवन से लाभ उठाते थे, उनके कठोर परिश्रम का फल लूटते थे। आधुनिक अध्यात्मवाद को शर्माजी ने विलायती संस्कृति

---

१ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं पृष्ठ ३६
२ —वही— ,, ४३
३ —वही— ,, ४४
४ —वही— ,, ५०
५ —वही— ,, ७६

कहा है [१]।

शर्माजी ने प्रेम के सम्बन्ध में भी मत व्यक्त किया है। वे मानते हैं कि प्रेम में दो जिंदगियों का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नई जिन्दगी पैदा होती है। इससे सामाजिकता का प्रश्न उठता है और समाज के प्रति कर्तव्य की भावना जागती है। इसके लिए पात्रों में चरित्र की दृढ़ता आवश्यक है। व्यभिचार-चित्रण में किसी भी प्रकार की प्रगतिशीलता नहीं है। प्रगतिशील साहित्य नारी की स्वाधीनता का पक्षपाती है [२]। वह संपत्ति, जाति और धर्म के विचार से किए हुए विवाहों की वेदी पर प्रेम की बलि देने का विरोधी है। वह नारियों के प्रेम के अधिकार और जीवन में एक साथ रहने और संघर्ष करने के अधिकार का समर्थन करता है। प्रेम के अतिरिक्त विवाह के लिए जब तक जाति, धर्म, सम्प्रदाय, सम्पत्ति आदि की शर्तें रहेंगी तब तक समाज में व्यभिचार, वेश्यावृत्ति आदि व्याधियां बनी रहेंगी। ये व्याधियां शुद्ध ग्लास से शुद्ध जल पीने की थ्योरी से दूर नहीं हो सकतीं। यह थ्योरी तो पूंजीवादी अनैतिकता की ही प्रतीक है [३]। शर्माजी ने अपने लेखों में छिछलेपन से भरे हुए 'शेखर-चेतनवाद' या 'साड़ी-जम्पर साहित्य' की तीखी आलोचना की है [४]।

प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन यहां सन् १९३६ में आरम्भ हुआ। इसके पहले सभापति प्रेमचन्द थे। इस आन्दोलन का उद्देश्य था कि साहित्य साधारण जनता का साहित्य हो, उसके जीवन-संघर्ष को अभिव्यंजना दे, यथार्थताओं का चित्रण करे एवं कला की प्रगति करे। इसके सामने समाजवाद की स्थापना का एक भव्य सामाजिक उद्देश्य भी था। सोवियट संघ के प्रति इसकी सहज सहानुभूति थी। क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्यवाद एवं फासिस्टवाद का सोवियट संघ प्रबल विरोधी था और साथ ही भारतीय स्वाधीनता का समर्थक भी [५]।

समाजवादी दृष्टिकोण एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। प्रगतिशील साहित्य ने इसे ही अपनाया था। जीवन की वास्तविकता, सामाजिक कर्तव्य की पहचान रूढ़िवाद से सम्बन्ध-विच्छेद, वैज्ञानिक दृष्टिकोण—नए साहित्यिक आन्दोलन की ये ही मांगें थीं।

---

१ प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें पृ० ८३
२ —वही— " १२१
३ —वही— " १२२
४ —वही— " १२९
५ —वही— " १३२

इन्हीं में प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की ऐतिहासिक महत्ता निहित है [१]। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन हमारे साहित्य और समाज की आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ था। इसलिए बहुत जल्दी उसने एक व्यापक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। विश्व के फासिस्ट-विरोधी आन्दोलन का भी वह एक अङ्ग था। देश के प्रगतिशील लेखकों ने दूसरे महायुद्ध का विरोध करके विश्व-मानवता का साथ दिया और अपने साहित्य की मानववादी परम्परा को निबाहा [२]।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है, यह एक ऐतिहासिक सचाई है। मार्क्सवाद समाज को समझने और बदलने का विज्ञान है। इसलिए जो भी वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहता है वह इसका अध्ययन किए बिना नहीं रह सकता। मार्क्सवाद भारतीय समाज को समझने के लिए भी एक दृष्टिकोण देता है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का अर्थ समाज और साहित्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना ही है, किसी राजनीतिक कार्यक्रम में बंधना नहीं है [३]। 'साहित्यिक क्षेत्र में जनता और साहित्य का सम्बन्ध समझने में, पुराने साहित्य का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में, कला को लोकप्रिय रूप देने में मार्क्सवाद हमारी सहायता करता है। भारतीय संस्कृति और विभिन्न जातियों की प्रदेशगत संस्कृति का सम्बन्ध क्या है और क्या हो, हिन्दी-भाषी जाति का सांस्कृतिक नव-निर्माण कैसे हो, साहित्य में विषय वस्तु और रूप का क्या सम्बन्ध है, दूसरे देशों की संस्कृति से हम क्या लें और क्या छोड़ें, इन और ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान पाने में मार्क्सवाद से सहायता मिलती है [४]।

शर्माजी ने प्रगतिशील साहित्य की उदार दृष्टि अपनाई है। उनका मत है कि मार्क्सवादी लेखक जिन मूल्यों की रक्षा करना और जिन्हें विकसित करना चाहते हैं, वे मार्क्सवादियों के यहाँ भी हैं। लेखक की रचना उसके सामाजिक दृष्टिकोण का ही परिणाम नहीं होती। वह उसकी भावनाओं और संवेदनाओं का भी प्रतिफल होती है। इनसे भी स्वस्थ साहित्य की — राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य की — रचना की जा सकती है [५]।

---

१ प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें पृ० १३६–१३७
२ —वही— " १३८
३ —वही— " १४१
४ —वही— " १४१–१४२
५ —वही— " १४२-१४३

स्वस्थ साहित्य को पूरी शक्ति के साथ विकसित करने के लिए मार्क्सवादी एवं जनवादी समस्त साहित्यकारों का संगठन आवश्यक है। हानिकर विचार-धारा एव अस्वस्थ रसानुभूति से साहित्य की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन यह कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न नहीं कर सका। इस कारण प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में कई भ्रम भी उत्पन्न हुए हैं। समझा यह जाता है कि कम्युनिस्ट लेखक ही प्रगतिशील होता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रगतिशील लेखकों में कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्ट दोनों प्रकार के लेखक रहे हैं और साहित्य तथा समाज की अनेक समस्याओं के बारे में इन लेखकों में आरम्भ से ही पर्याप्त मतभेद रहा है [१]। गैर-मार्क्सवादी साहित्य के जनवादी और कलात्मक मूल्यों को न पहचानना और उनकी निन्दा करना एक भूल है और यह भूल कई मार्क्सवादी लेखकों के द्वारा हुई है [२]।

प्रगतिशील साहित्य अश्लीलता, निराशावाद, प्रयोगवाद, साम्प्रदायिकता आदि का विरोधी है। वह हमारे राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप जनवादी साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास चाहता है [३]। यह जातीय संस्कृति के विकास का भी समर्थक है। मार्क्सवाद के अनुसार संस्कृति किसी समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है। आर्थिक व्यवस्था यदि नींव है तो संस्कृति इमारत। सन्त-साहित्य का प्रसार भारतीय संस्कृति के इतिहास की एक अनूठी घटना है। इस समय सामन्ती व्यवस्था दुर्बल हो गई थी और जनता की संस्कृति पुष्पित एवं पल्लवित होने लगी थी। सन्त-साहित्य में ये ही बातें व्यक्त हुई हैं [४]। शर्माजी ने लिखा है 'जनता की एकता हमारा अस्त्र हो, संघर्ष हमारा मार्ग और ऐसा समाज हमारा लक्ष्य हो जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर रहस्यमय देव की तरफ फिर हाथ न उठाना पड़े [५]। प्रगतिशील साहित्य का यही संक्षिप्त स्वरूप भी है।

प्रत्येक देश की अपनी एक सांस्कृतिक विशेषता होती है। अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता है। सामाजिक जीवन पर ही संस्कृति आधारित है। सामाजिक जीवन से ही मनुष्य को उसका मानवत्व मिला है। सामाजिक जीवन सदा एक-सा संगठित नहीं रहता। समाजशास्त्र के अनुसार कबीलों का संगठन विकास-क्रम में वर्ण-व्यवस्था के पहले आता है। वर्ण-व्यवस्था भारत की ही

---

१ प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें पृ० १४४
२ —वही— ,, १४६
३ —नही— ,, १५२
४ —वही— ,, १६५
५ —वही— ,, १८५

विशेषता नहीं है। चासर के समय में इंग्लैंड भी ऐसे ही चार भागों—क्लर्जी (पुरोहित) नाइट (भूमि-स्वामी), मर्चेन्ट (सौदागर) और सर्फ (किसान)—में बंटा हुआ था। व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास से यह व्यवस्था हर जगह टूटी है। जैसे-जैसे सामन्ती प्रभुत्व कम होता जाता है वैसे-वैसे इस व्यवस्था से भी लोगों की आस्था उठती जाती है। इसके स्थान पर नये वर्ग-सम्बन्ध स्थापित होते हैं [१]। इस देश में भी यही हुआ है और हो रहा है।

शर्माजी ने कई स्थानों पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थन किया है। उनका मत है कि साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की रक्षा संकुचित राष्ट्रवाद की भावनाओं से नहीं हो सकती। देश के बड़े-बड़े साहित्कारों ने दूसरों से भी सीख समझ कर अपने साहित्य को समृद्ध किया है। शर्माजी जातीय संस्कृति के विकास के लिए साम्राज्यवाद का विरोध भी आवश्यक समझते हैं। साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व की जनता युद्ध कर रही है। हम भी उसके साथ रहकर अपनी शक्ति बढ़ा सकते हैं और शक्ति-संचय का यही एक उपाय भी है [२]।

पूंजीवादी और समाजवादी साहित्य की विशेषताएं बतलाते हुए शर्माजी ने लिखा है—'जनता से भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढ़न और खीझ, मनुष्य से घृणा, नयी समाजवादी संस्कृति को कोसना—ये आज के पूंजीवादी भाव जगत की विशेषताएं हैं। इसके विपरीत देश-प्रेम, संसार की जनता का भाई-चारा, भविष्य में दृढ़ आस्था, आशा और उल्लास—ये शोषण से लड़ने वाली और नया समाज रचने वाली जनता के भाव-जगत की विशेषताएं हैं [३]।' इतिहास ने साम्राज्यवाद और उपनिवेश—व्यवस्था को मृत कर दिया है। इनसे न तो जनता की रोजी-रोटी की समस्या हल होती है और न संस्कृति की रक्षा ही। इनसे तो युद्ध, दमन, भुखमरी, महँगाई की बीमारियां ही फैल रही हैं। शर्माजी ने आवेश से लिखा है—'हम मृत्यु की परम्परा खत्म करेंगे और देश में सुखी जीवन का निर्माण करेंगे जिसमें 'वर दन्त की पँगति कुंद-कली' को किसी अमरीकी बम का खतरा न हो जिसमें 'घूंघरारी लटें' किसी आततायी की गोली खाकर खून में न सन जायं और जिसमें शैशव के बोल अन्न और दूध के अभाव में अकाल ही में न मौन हो जायं [४]।

---

१ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं पृ० २००
२ विराम-चिन्ह ,, २३२
३ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य ,, ३०
४ —वही— ,, १०८

साहित्य

प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में शर्माजी की मान्यताओं से परिचित हो जाने के उपरान्त अब यहां संक्षेप में उनके साहित्य—दर्शन का भी थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक है। उन्होंने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"फरहाद ने कोह काट कर नहर निकाली थी। साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महा पर्वत को काटकर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेककर इस पर्वत की एक चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश-गङ्गा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता [१]।" शर्माजी का साहित्य से आशय प्रगतिशील साहित्य से ही है। प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है [२]। इसके साथ ही शर्माजी यह भी मानते हैं कि वह प्रगतिशील तभी हो सकता है जब वह साहित्य भी हो [३]। साहित्य के अपने मूल्यों की शर्माजी अवहेलना नहीं करते। गम्भीर साहित्य की उन्होंने दो विशेषतायें बतलाई हैं—रस-सृष्टि और विकास की प्रेरणा [४]। साहित्य के विश्व-व्यापक, अक्षर स्वरूप की ओर भी शर्माजी का ध्यान गया है। जिस प्रकार संसार के अलग-अलग मनुष्यों में मनुष्यता नाम की एक सामान्य वस्तु है, उसी प्रकार भाषाओं और साहित्यों के अलगाव के उपरान्त भी साहित्य नाम की एक सामान्य वस्तु सभी में विद्यमान है। रवीन्द्रनाथ को हम विश्व-कवि इसीलिये कहते हैं कि इनके साहित्य के भाव और विचार समस्त विश्व-मात्र के लिए श्रेयस्कर हैं [५]। शर्माजी का मत है कि आज का युग और हमारी समस्त साहित्यिक परम्परा इसी विश्व—व्यापक दृष्टि के पक्ष में है। उदार मानवीय संस्कृति की ओर न बढ़कर मत और जाति के संकुचित आधार पर राष्ट्र या साहित्य का निर्माण आज अनुचित है। साहित्य की भविष्यवाणी यही है कि अब मनुष्य को मनुष्य से दूर अधिक नहीं रखा जा सकता। सबको एक होना ही पड़ेगा। मनुष्यता का पूर्ण विकास साहित्य का सबसे मुखर रूप है [६]।

साहित्य का जन-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनता के जीवन में घुल-मिलकर

---

१ प्रगति और परम्परा पृ० ४
२ —वही— " ४६
३ —वही— " ५०
४ —वही— " ५५
५ —वही— " ८२
६ —वही— " ६२-६३

ही साहित्य टिकाऊ होता है। सन्त-साहित्य की लोक-प्रियता का मुख्य कारण यही जन-जीवन की स्वीकृति था [१]। मनुष्य के व्यवहार-जगत् से सम्बद्ध होने के कारण ही सूर के गीत मधुर हुए हैं [२]। शर्माजी ने लिखा है—"कला का स्रोत जनता है। उपन्यास के हीरो मिलते हैं तो जनता से। गीत में तल्लीनता आती है, उदात्त भावना पैदा होती है तो देश-प्रेम से, मानव-जाति के उज्जवल भविष्य में दृढ़ विश्वास से। गद्य में जान आती है तो जनता और उसकी संस्कृति में विश्वास से।" और भी "साहित्य जनता की वाणी है। उसके जातीय चरित्र का दर्पण है। प्रगति-पथ में बढ़ने के लिए उसका मनोबल है। उसकी सौन्दर्य की चाह पूरी करने वाला साधन है [३]।" साहित्य का पौधा हमारे सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है [४]। कोई भी साहित्यकार बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों और अपने युग-विशेष की चेतना को पहचाने बिना स्थायी और रोचक साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता [५]। कविता में कवि हृदय की व्यक्तिगत भावनाओं की प्रधानता नहीं होती। कवि की भाव-धारा का केन्द्र कवि स्वयं नहीं होता, उसकी कविता का केन्द्र जनता होती है। जनता की भाव-धारा होती है। जनता की यह भाव-धारा विशेष-विशेष अवसरों पर फूट पड़ती है। इसलिये भारतेन्दु-युग के कवि विशेष अवसरों पर कविता लिखना पसन्द करते थे। इन्हीं बातों के आधार पर शर्माजी ने यह मत प्रतिपादित किया है कि "विशेष राजनीतिक अवसरों के लिये कविता लिखने से साहित्य और राजनीति निकट रहते हैं [६]।" युग के प्रभाव को स्वीकार करके ही लेखक महान बनता है [७]। शर्माजी का विचार है कि अभी हमारा इतिहास बन रहा है, उसका विकास हो रहा है। अभी किसी सार्वभौम और शाश्वत सामाजिक व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ है, तब साहित्य ही सार्वभौम और शाश्वत कैसे हो जायगा। अभी से चिरन्तन सत्य और अमर सत्य की बात करना रूढ़ियों में चक्कर काटना है। अमर सौन्दर्य और चिरन्तन सत्य की विचार-धाराएँ विकास-दर्शन की विरोधी हैं। इनसे हम यह मान कर चलते हैं कि मानव का इतिहास प्रगति का नहीं, दुर्गति का है। परन्तु यह ठीक नहीं है [८]।

---

१ प्रगति और परम्परा पृ० १०४
२ —वही— ,, ११५
३ विराम—चिन्ह ,, २४३
४ —वही— ,, ६६
५ संस्कृति और साहित्य ,, भूमिका ३
६ —वही— ,, २६
७ —वही— ,, ८६
८ —वही— ,, २०५

साहित्य की विषय–वस्तु की चर्चा करते हुये शर्माजी ने लिखा है कि उसमें विचार ही नहीं होते, विचारों की भूमि–कर्ममय जीवन भी हुआ करता है। दर्शन और विज्ञान से हम विचार को समझते हैं और साहित्य की सहायता से हम विचार को देखना भी चाहते हैं। साहित्य हमारे सामने यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करता है। साहित्य की विषय–वस्तु की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें विचारों के प्रति मनुष्य की भावना, रागात्मक प्रतिक्रिया भी होती है [१]। इस प्रकार साहित्य में बाह्य इन्द्रियाँ, हृदय और मस्तिष्क–तीनों का समन्वय होता है। रूप, भावना और विचार की एकता से कला की सृष्टि सम्भव है [२]। इन्द्रिय-बोधों, विचारों और भावों का साहित्य में क्या महत्व है, इस विषय पर ऊपर चर्चा हो चुकी है।

साहित्य समाज का दर्पण है या प्रतिबिम्ब है अथवा कला जीवन का अनुकरण है, यह मत शर्माजी नहीं मानते। अपने क्षेत्र का कलाकार प्रजापति है। नए समाज-निर्माण का उसे जन्म–सिद्ध अधिकार है। "प्रजापति–कवि गम्भीर यथार्थवादी होता है, ऐसा यथार्थवादी जिसके पांव वर्तमान की धरती पर हैं और आंखें भविष्य के क्षितिज पर लगी हुई हैं [३]।" जब मानव–सम्बन्धों के पिंजड़े में बहुसंख्यक लोगों का जीवन पंख फट-फटाने लगे, उस समय प्रजापति–कवि मानव–विहग के रुद्ध और क्षुब्ध स्वर को वाणी देता है। वह मुक्त गगन के गीत गाकर उसके पंखों में नई शक्ति भरता है [४]। साहित्य का पांचजन्य समर-भूमि में उदासीनता का राग नहीं सुनाता। वह मनुष्य को भाग्य के आसरे नहीं बैठने देता। ऐसी प्रेरणा देने वालों के वह पंख कतर देता है। इसके सामने निरुद्देश्य कला, विकृत काम-वासनाएँ, अहंकार और व्यक्तिवाद, निराशा और पराजय के सिद्धान्त' वैसे ही नहीं ठहरते जैसे सूर्य के सामने अन्धकार [५]। शर्माजी ने साहित्य को परम्परा से विच्छिन्न भी नहीं माना है। उनके अनुसार साहित्य का पौधा बर्तमान की धरती पर उगता है और उसकी जड़ें अतीत के गर्भ में फैली होती हैं। इसी रूपक को बढ़ाकर यह भी कहा जा सकता है कि उसके शाखा–प्रशाखाएँ भविष्य के आकाश में विस्तार पाती हैं। साहित्य का तीनों कालों से सम्बन्ध है [६]। इस प्रकार शर्माजी की साहित्य–सम्बन्धी मान्यताओं में बड़ी व्याप्ति दिखलाई पड़ती है। प्रमुख रूप से सामयिक जीवन से, वर्तमान से साहित्य को सम्बद्ध करते हुए भी उन्होंने उसकी इयत्ता एकदम बांध नहीं दी है।

---

१ लोक–जीवन और साहित्य पृ० १०
२ —वही— ,, ११
३ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य ,, ७८–७९
४ —वही— ,, ८०
५ —वही— ,, ८१
६ —वही— ,, ८३

उद्देश्य

आचार्य शुक्ल के स्वर में स्वर मिलाकर ही शर्माजी ने लिखा है कि साहित्य मनुष्य की भावनाओं को जगता है, उनकी पुष्टि करता है और परिष्कार भी। साहित्य का प्रभाव अपने भावमूलक स्वभाव के कारण दर्शन और विज्ञान की अपेक्षा अधिक पड़ता है। वह मनुष्य को श्रेष्ठ विचार देता है और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने की प्रेरणा भी। वह हमारा मनोबल दृढ़ करता है, हमारा चरित्र बनाता है। यही साहित्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है [१]। साहित्य निरुद्देश्य नहीं होता और न है। हिन्दी-साहित्य ने हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भूमिकायें पूरी की हैं [२]। साहित्य का उद्देश्य जनता के जीवन की उन्नति करना ही है। थोड़े से लोगों का मनोरंजन उसका उद्देश्य कभी नहीं हो सकता। जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष में सहयोग देकर साहित्य नए समाज के निर्माण में सहायता पहुंचाता है [३]। शर्माजी आज की परिस्थिति में शांति, स्वाधीनता और जनतन्त्र के लिए संघर्ष को साहित्य का उद्देश्य मानते हैं [४]।

तत्व

रस

शर्माजी रस को साहित्य के लिए आवश्यक मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने शुक्लजी के विचारों का ही समर्थन किया है। शर्माजी के अनुसार भी जीवन और साहित्य के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं है, इसलिए रस भी लौकिक है, अलौकिक नहीं। रस की भाववादी विचारकों की व्याख्या से यह व्याख्या भिन्न कही गई है। यहां भाव उनके आधार से भिन्न करके नहीं देखे गये [५]। शुक्लजी ने भावों को कर्म--प्रवर्त्तक सिद्ध किया है और कहा है कि काव्य से कर्म--क्षेत्र का विस्तार होता है, कर्म की प्रेरणा मिलती है। शुक्लजी ने भाव की यह मौलिक व्याख्या की है और निष्क्रिय रस--निष्पत्ति की जड़ काट दी है [६]।

शर्माजी ने भावों और रसों के शाश्वत तथा निश्चित आधार का भी विरोध किया है। उनका मत है कि भाववादी विचारक मनुष्य की कुछ भावनाओं को चिरन्तन मानकर

---

१ लोक—जीवन और साहित्य पृ० ११
२ विराम–चिन्ह " २३
३ प्रगति और परम्परा " ६, ४०
४ प्रगतिशील साहित्य की समस्एँ " १८
५ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना " ५
६ —वही— " ७

चलते हैं। रस की संख्या नौ निश्चित करने में भी यही मनोविज्ञान निहित है। परन्तु मनुष्य का जीवन इस सीधे विभाजन से अधिक पेचीदा है। साहित्य की विषय वस्तु नौ रसों के सांचे में अब नहीं ढल पाती। भाववादी विचार-धारा के प्रतिकूल मनुष्य के भाव और विचार परिवर्तनशील भी हैं। मनुष्य की आदिम वृत्तियों में भी विकास होता है। अन्तर केवल यही है कि मनुष्य की कुछ वृत्तियों में इतने धीरे परिवर्तन होता है कि हम उन्हें प्रायः अपरिवर्तनशील कहते हैं। वर्गयुक्त समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ की जो वृत्तियां शाश्वत मानी गई हैं वर्गहीन समाज में उनका अभाव दिखाई देता है [१]।

शर्माजी ने 'रस' की द्वंद्वात्मक व्याख्या भी सम्भव मानी है। रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों को वे एक दूसरे का पूरक बतलाते है। साहित्य साधारण और असाधारण—जनरल और पर्टिकुलर—के विरोधी तत्वों की एकता प्रकट करता है। यह साहित्य की विषय-वस्तु का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। साहित्य श्रोता या पाठक को प्रभावित करता है एक बार प्रभावित होने पर उसकी सहृदयता निखरती जाती है। सौन्दर्य और उपयोगिता मे भी यही सम्बन्ध है। इस प्रकार साहित्य-तत्व की शर्माजी ने द्वन्द्वात्मक व्याख्या की है [२]।

शर्माजी साहित्य में रस की सत्ता आवश्यक मानते हैं। साहित्य तभी साहित्य है जब वह मर्म-स्पर्शी हो, पढ़ने वालों पर इसका प्रभाव पड़े। साहित्य कला की उपेक्षा करके नहीं चलता। रस-सिद्धांत के नियामक जिस आनन्द की माँग करते हैं, वह साहित्य से मिलना ही चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि उसकी परिणति आत्मा की चिन्मयता अखंडता में हो [३]। परन्तु शर्माजी रस के पुराने पैमाने को आज अनुपयुक्त मानते हैं। उन्हें उसमें परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई है [४]। ब्रह्मानंद सहोदरत्व की भावना को शर्माजी ने सामंत-युग का, जनता को धोखे में रखनेवाला एक आवरण कहा है। रसराज शृंगार भी उसी युग की देन है। इससे भी ब्रह्मानन्द सहोदर ही मिलता है, कुसंस्कार नहीं फैलते, यह बड़ी विचित्र बात है। शर्माजी ने लिखा है कि गीता में विषयों के चिन्तन से विषयासक्ति उत्पन्न हो जाती है, यह सिद्धान्त स्वीकृत है। इस महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्य-शास्त्रियों ने उलट दिया है - यहां तो शृंगार से ब्रह्मानंद सहोदर मिलता है [५]। शर्माजी यह तो स्वीकार करते हैं कि साहित्य का

---

१ लोक-जीवन और साहित्य पृष्ठ १२
२ —वही— ,, ४५
३ प्रगति और परम्परा ,, ५०
४ —वही— ,, १२२-१३०
५ संस्कृति और साहित्य ,, १६८

आनन्द जीवन में प्राप्त आनन्द से, माध्यम की भिन्नता के कारण, भिन्न तो है। साहित्य का आनन्द 'सूक्ष्म' कहा गया है। एक आनन्द मदिरा पीने में मिलता है और एक साहित्य में उसके वर्णन से मिलता है। दोनों में भिन्नता है। मदिरा पीने में गाली बकने से लेकर नाली में गिरने तक का आनन्द सम्मिलित है, जो साहित्य में नहीं है [१]। शर्माजी की शिकायत है कि लोग साहित्य और कला सम्बन्धी वाद-विवाद में मोटी-मोटी बातें भी भूल जाते हैं। सभी प्रकार के साहित्यों में हमें एक-सा आनन्द नहीं मिलता और सबको किसी विशेष प्रकार के साहित्य से समान आनन्द नहीं मिलता। मदिरा-पान के वर्णन का आनन्द और भगवद्भक्ति के वर्णन का आनन्द समान नहीं होंगे। परन्तु किसी मदिरा पीने वाले को मदिरा-पान के वर्णन में ही आनन्द मिलेगा, भगवद्भक्ति के वर्णन में नहीं। एक व्यक्ति की अभिरुचि भी परिवर्तनशील होती है [२]। शर्माजी का मत है कि रस-सिद्धान्त और उसका ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व समृद्ध सामंत युग की वस्तुएं हैं। आज के युग में उन्हें उसी रूप में नहीं देखा जा सकता। साहित्य में हमें आनन्द प्राप्त होता है और स्थायी भाव ही रस-रूप धारण करता है, ये सब बातें ठीक हैं, क्योंकि ये सारी बातें मनुष्य के भाव की हैं। रस न तो अलौकिक है और न अखंड ही [३]। विकास का नियम साहित्य, साहित्य-मर्मज्ञता और लोकोत्तर आनन्द सभी पर लागू होता है। शर्माजी ने स्पष्ट शब्दों में, इसीलिए, कई बार कहा है कि सभी युगों के लिए आदर्श साहित्य-मर्मज्ञ या सहृदय नाम का कोई प्राणी नहीं मिल सकता। साहित्य-मर्मज्ञता भी परिवर्तनशील वस्तु है [४]। परन्तु शर्माजी ने सहृदय की आवश्यकता स्वीकार अवश्य की है। उनका मत है कि कविता के सूक्ष्म भावों को जाँचने की शक्ति सबमें समान नहीं होती। उसके लिए 'टेस्ट' को सुसंस्कृत करने की आवश्यकता है [५]। विकास सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के संस्कार अमर नहीं हैं, वरन् वे बना-बिगड़ा करते हैं। विकास के क्रम में जैसे-जैसे परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे-वैसे मनुष्य की इच्छाएं, भावनाएं और संस्कार आदि भी बदलते हैं। कोई भी संस्कार चिरन्तन नहीं है। इसलिए साहित्य में अमर सौन्दर्य, अखंड और अलौकिक रस आदि की चर्चा व्यर्थ है। शर्माजी ने रस की एकदम भौतिक विकासवादी व्याख्या की है। वे रस के अलौकिकत्व, उसकी अखंडता एवं शाश्वतता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते।

---

१ संस्कृति और साहित्य पृष्ठ १९९
२ —वही— " २००
३ —वही— " २०२
४ —वही— " २०१, २०२, २०३
५ विराम चिन्ह " ७७

कला

शर्माजी ने कतिपय स्थलों पर कला या व्यंजना-पक्ष की भी चर्चा की है। उनका मत है कि साहित्य में विषय और व्यंजना एक दूसरे पर आश्रित हैं। सफल साहित्यिक रचना में दोनों का सामंजस्य आवश्यक है [१]। शर्माजी ने प्रगतिशील लेखकों में कला-तत्वों की कमी की और प्रयोगवादियों में विकृत कला की शिकायत भी की है [२]। कला-तत्वों को महत्व देते हुए भी शर्माजी ने कलावाद का विरोध ही किया हैं [३]। कलावादियों की कला को शर्माजी ने कागज के फूलों से तुलना की है जिसमें कोई सुगन्ध नहीं होती, क्योंकि वे धरती पर नहीं उगते। शर्माजी ने कला और विषय-वस्तु का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित कहा है [४]। कला समाज से विच्छिन्न होकर अराजक बन जाती है। उससे न तो समाज का हित होता है और न आनन्द ही मिलता है [५]। यह ठीक है कि साहित्य की विषय-वस्तु और कला दोनों संबद्ध होकर साहित्य का निर्माण करते हैं। दोनों की एकता साहित्य के लिए आवश्यक है। परन्तु निर्णायक भूमि का विषय-वस्तु की ही है। कोरी कला के आधार पर ही उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं हो सकती [६]।

भाषा

भाषा के सम्बन्ध में भी शर्माजी ने जनवादी दृष्टि अपनाई है। उनके अनुसार जन-सम्पर्क से भाषा सफल होती है। साहित्य में जनता की भाषा का ही प्रयोग होना चाहिए। नागरिक बनाव-सिंगार और टीप-टाप से उसकी शक्ति क्षीण होती है। भाषा के क्षेत्र में बहिष्कार की नीति भी अनुचित है [७]। भाषा का स्वरूप सरल और व्यावहारिक होना चाहिए, क्योंकि वह आम जनता के काम की वस्तु है [८]। भारतेन्दु युग के लेखकों की भाषा को जन सम्पर्क या ग्रामी प्रयोगों के कारण सजीव और प्रवाहयुक्त कहा गया है। आज के लेखकों की भाषा, शर्माजी को, ऐसी लगती है जैसे मुंह में क्रीम

---

१ संस्कृति और साहित्य पृष्ठ २०८
२ विराम चिन्ह ,, २३०
३ —वही— ,, २७८
४ प्रगति और परम्परा ,, ५८, ५७
५ —वही— ,, १२६
६ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं ,, ८
७ भारतेन्दु युग ,, १६६
८ लोक—जीवन और साहित्य ,, १९५

लगाकर आई है [१]। शर्माजी का मत है कि भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज सामाजिक ह्रास का चिन्ह है। अत्यधिक बनाव-सिंगार भी पतन कालीन साहित्य के लक्षण हैं [२]। भाषा और साहित्य दोनों का इतिहास समाज के साथ चलता है। भाषा का अर्थ पहले जनता के काम-काज की भाषा है, साहित्य की भाषा इसके बाद बनती है। भाषा का लिखित साहित्य न मिलने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह बोली भी न जाती थी। भाषा का निर्णय उसके मूल व्याकरण और शब्द-भण्डार से किया जाता है। भाषा किसी समाज के व्यवहार का माध्यम होती है। उस समाज के सभी लोग, उनका धर्म अलग होने पर भी एक ही भाषा काम में लाते हैं [३]। शर्माजी का विश्वास है कि हिन्दी का विकास संस्कृत-बहुल भाषा की ओर नहीं होगा। वह जनता की भाषा है, पुस्तकों की नहीं। जनता में संस्कृत और फारसी के शब्दों का समान रूप से व्यवहार हो रहा है। इससे सिद्ध है कि हिन्दी और उर्दू अलग नहीं हैं और न उन्हें धर्म के आधार पर अलग किया जा सकता है दोनों के लिखने और बोलने वालों को ऐतिहासिक कारणों से बाध्य होकर एक स्थान पर आना ही पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा की समस्या का समाधान इसी भावी अनिवार्यता को ध्यान रखकर करना होगा। जनपदीय बोलियों का विकास भी आवश्यक है। इससे भी हिन्दी की शक्ति बढ़ेगी [४]। भारतेन्दु युग की भाषा की शर्माजी ने प्रशंसा की है। भारतेन्दु-युग के लेखकों की भाषा में निषेध की भावना बिल्कुल नहीं है। द्विवेदी-युग के लेखकों में यह भावना आ गई है। बोलचाल की भाषा को आधार बनाने से ही भारतेन्दु युग की भाषा एक बलवती ग्राहिका शक्ति है जो परवर्ती लेखकों में नहीं दिखलाई पड़ती। भारतेन्दु-युग की भाषा में तद्भव शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया गया है। हिन्दी के संस्कृतिकरण का शर्माजी ने तीव्र विरोध किया है। उनके अनुसार भाषा की भागीरथी प्राकृत रूप समुद्र की ओर ही बह रही है, संस्कृत रूप हिमालय की ओर नहीं [५]। जनता ही भाषा की शक्ति है। जनता से सम्पर्क टूट जाने पर भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो जाता है। संस्कृत के मृत भाषा बनने का कारण व्याकरण नहीं, उसका जनता से सम्पर्क टूट जाना है। वह गिने-चुने शिक्षितों की भाषा रह गई थी, लोक प्रचलित भाषा से दूर चली गई थी और जनता के लिए दुरुह बन गई थी, इसलिए वह जीवित भाषा न रह सकी [६]। हिन्दी के कोषों में संस्कृत की अधिकता को देखकर

---

१ संस्कृति और साहित्य पृष्ठ २६
२ —वही— ,, २२८
३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना ,, १४६, १५२
४ प्रगति और परम्परा ,, ७६, ११६, ८०, ८१
५ —वही— ,, १५३, १५४, १५६, १६१
६ भाषा, साहित्य और संस्कृति ,, ६५

शर्माजी ने लिखा है कि हिन्दी के इस 'संस्कृतीकरण' से हिन्दी का राष्ट्र-भाषा बनना तो दूर, उसका प्रान्तीय भाषा से रूप में भी लोकप्रिय रहना कठिन हो जायगा। यह हिन्दी की सेवा करना नहीं, उसका गला घोटना है। शर्माजी का मत है कि संस्कृत से शब्द अवश्य लेना चाहिए। परन्तु शब्द लेना एक बात है और हिन्दी को संस्कृतमय कर देता दूसरी बात। इन कोषों के कारण हिन्दी 'भाषा' न रहकर परिभाषा बन जायगी [१]।

शर्माजी ने अपने भाषा-संबंधी प्रकरणों में हिन्दी-भाषी प्रान्त के न बनाए जाने पर असन्तोष भी व्यक्ति किया है[२]।

भाषा की लोकतांत्रिक प्रकृति के साथ ही शर्माजी ने उसकी काव्यानुकूलता पर भी विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार भावों और विचारों को मूर्त रूप देने के लिए उचित से उचित शब्दों का चुनाव आवश्यक है। शब्द—चुनाव में कवि का ध्यान अर्थ पर रहता है और अर्थ जन-प्रयोग पर निर्भर है। अर्थ के पश्चात कवि का ध्यान ध्वनि और शब्द-संगीत पर जाता है। शब्द-संगीत और शब्दार्थ में संबंध वांछनीय है। शब्दों की उच्चारण ध्वनि में उनके रूप, रंग और आकार आदि भी व्यंजित होते हैं। शब्दों में चित्र और संगीत कला के तत्व निहित हैं और सूक्ष्म मनोवृति वाला कवि उनका प्रयोग भी करता है। शर्माजी के अनुसार पुराने प्रतीकों में अर्थ—व्यंजना की शक्ति कम हो जाती है[३]। शर्माजी का भाषा-सम्बंधी कलात्मक आदर्श निम्नलिखित उद्धरण में व्यक्त है—कवि की भाषा चाहे सरल हो चाहे कठिन, शब्दों के चुनाव में उसे समान कठिनता हो सकती है। सरल भाषा सरलतापूर्वक सदा नहीं लिखी जाती। बहुधा बड़ी—बड़ी बातें ऐसे सरल शब्दों में लिखी जाती हैं कि लोग भाषा से धोखा खाकर उस सरलता के भीतर पैठने की चेष्टा नहीं करते। भावों की गहनता, सूक्ष्मता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही शिथिल भी न हो यह अत्यन्त दुष्कर है। ...यदि कवि का विषय गहरा या ऊंचा नहीं, तो कठिन, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, केवल उनकी उच्चारण-ध्वनि के लिए क्षम्य नहीं, माना जा सकता, कवि का कर्तव्य यह है कि कठिनता और सरलता का विचार न कर वह अपनी अनुभूतियों को उचित शब्द-संकेतों द्वारा हमारे सामने रक्खे [४]।

छन्द

शर्माजी ने तुलसी और जायसी के चौपाई छन्द की प्रशंसा करते हुए कहा है कि इन कवियों ने चौपाई छंद में भाषा का वह प्रवाह दिखलाया कि सवैया—कवित्त वाले मुंह

---

१ भाषा—साहित्य और संस्कृति पृष्ठ ६७
२ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं " २०८, २०९
३ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, " ७०, ७१, ७२, ७३, ७४
४ —वही— " ७७

देखते रह गये। चौपाई हिन्दी का छोटा सा सीधा सादा छन्द है जिसे ठाट बाट का कोई गुमान नहीं। इसमें भी यति—परिवर्तन करके स्वरों के उतार—चढ़ाव द्वारा तुलसी ने विविध और विचित्र सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है [१]। मुक्त छन्द के संबंध में शर्माजी की राय है कि यदि हम कविता को एक सामाजिक क्रिया समझे तो हमें मुक्त छन्द का मोह कम करना होगा, क्यों कि छन्दों में लिखी हुई कविता को जनता जिस प्रकार अपनाती है, उसी प्रकार मुक्त छंदों को नहीं अपनाती। मुक्त छँद एक आदमी के पढ़ने की चीज है, उसे दस—पांच आदमी मिलकर नही पढ़ सकते। उसमें अकेलापन है [२]। निरालाजी के कविता—पाठ के प्रसंग में मुक्त—छंद की नाटकीयता, स्वर का उत्थान—पतन और सहज प्रवाह द्वारा भाव—प्रदर्शन आदि विशेषताएं भी स्वकार की गई हैं [३]।

व्यावहारिक समीक्षा

डा० रामविलास शर्मा की सैद्धान्तिक समीक्षा का विस्तृत परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यहां उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं का भी थोड़ा-बहुत परिचय कराना आवश्यक है। सबसे पहले विविध वादों के सम्बन्ध में उनका मत दिया जा रहा है।

शर्माजी ने आधुनिक रहस्यवाद को पूंजीवादी विचार—धारा का एक अङ्ग निरूपित किया है। इसका उद्देश्य वर्तमान सामाजिक जीवन की विषमता के प्रति उदासीन रहकर कल्पना—लोक बसाना है। यह यथार्थवाद का विरोध करने वाली एक प्रतिक्रियावादी विचार-धारा है। भारतीय रहस्यवाद का सम्बन्ध दुःखवाद, निराशावाद, व्यक्तिवाद आदि से है। शर्माजी के अनुसार छायावादी कवियों का यही सबसे कमजोर पहलू है [४]। निरालाजी के रहस्यवाद पर लिखते हुए भी शर्माजी ने यही शिकायत की है। जीवन के चिरकालिक क्रन्दन की तुलना में यह व्यापार अवास्तविक और काल्पनिक कहा गया है [५]। शर्माजी ने रोमांटिक कविता के (रहस्यवाद के) दो पहलू बतलाये हैं — अहं का असीम विस्तार और रहस्य की कल्पना में पलायन। इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध उन्होंने पूंजीवाद से जोड़ा है [६]।

---

१ लोक जीवन और साहित्य पृ० ३१—३२
२ संस्कृति और साहित्य ,, १२७
३ निराला ,, ३६
४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना ,, १३३
५ निराला ,, ५६
६ संस्कृति और साहित्य ,, ४२

छायावाद को भी शर्माजी ने पूंजीवाद का ही एक अङ्ग माना है। उनका मत है कि 'छायावादी कविता में विद्रोह और पलायन, ओज और करुणा, संसार को चुनौती और दीनतापूर्ण आत्मनिवेदन—इन विरोधी भावों का कारण पूंजीवादी युग की असंगतियां हैं, जो स्वाधीनता की भावना को जगाती हैं परन्तु उन्हें पूर्ण नहीं कर सकतीं [१]। ये पूंजीवादी असंगतियां शर्माजी ने निराला में भी देखी हैं और आचार्य शुक्ल में भी। छायावाद के स्तंभ प्रसाद, पंत और महादेवी में भी शर्माजी ने यथा-प्रसंग इसी तथ्य का उद्घाटन किया है। शर्माजी ने छायावाद के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार किया है और बतलाया है कि छायावाद ने रीतिकाल की दरबारी संस्कृति से कविता का उद्धार करके मनुष्य-मात्र की महत्ता प्रतिपादित की है और विश्व-बन्धुत्व के विचारों का प्रचार किया है। परन्तु वे यह भी कहते हैं कि इस रोमांटिक कविता की सबसे बड़ी कमजोरी उसका व्यक्तिवाद है जिसका विरोध किया गया है [२]। छायावाद में शर्माजी ने बीसवीं सदी की सांस्कृतिक चेतना भी देखी है [३] और उसका पूंजीवाद से भी सम्बन्ध जोड़ा है। वे उसे हिन्दी-साहित्य की मानववादी धारा मी बतलाते हैं और साथ ही उसमें रहस्यवाद का कमजोर पक्ष भी जुड़ा हुआ देखते हैं [४]। छायावाद में शर्माजी ने प्रगतिशील और पतनोन्मुख दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां देखी हैं। एक ही छायावादी कवि कभी उनके लिए प्रगतिशील बन जाता है और कभी पतनोन्मुख भी। इसका गणित बिलकुल सीधा है। जहां पर कवि मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुकूल है वहां वह प्रगतिशील है और जहां प्रतिकूल या भिन्न है वहाँ पतनोन्मुख। पहली स्थिति में वह प्रशंसनीय है और दूसरी स्थिति में निन्दनीय या उतनी दूर तक दयनीय या उपेक्षणीय, जब जैसी परिस्थिति हो [५]।

प्रयोगवादियों के सम्बन्ध में शर्माजी की धारणा है कि वे निरुद्देश्य कला का झंडा लेकर मैदान में उतरे हैं। परन्तु कला निरुद्देश्य नहीं होती। 'नई कविता' और मनोविज्ञान' के नाम पर ये लोग निरुद्देश्य रचनायें तो करते ही हैं, परन्तु वे कलाहीन भी होती है [६]। शर्माजी का आरोप है कि प्रयोगवाद साम्राज्यवाद का समर्थक वाद है। वह अज्ञेय जैसे कलाकारों की सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी होने की मांग है। इसके प्रयोग 'रूप' तक ही सीमित है। 'प्रयोगवाद का कला-सिद्धान्त है, कला कला के लिए। उसकी विषय-वस्तु पराजय और कुण्ठा के रस में डूबी हुई है उसका रूप कुरूपता का पर्याय है।'

---

१ संस्कृति और साहित्य पृ० ४२
२ --वही-- " १९, २०
३ प्रगति और परम्परा " ७५
४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना " १९६
५ निराला—पं सं० भूमिका २
६ विराम चिन्ह " ६६

इसकी विषय-वस्तु में निकम्मापन निरर्थकता और निरुद्देश्यता भरी हुई है [१]।

शर्माजी की समीक्षाओं में मतवाद का आग्रह बहुत अधिक है। किसी भी लेखक पर मत देते समय शर्माजी को सदैव मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी की चिन्ता बनी रहती है। कई स्थानों पर शर्माजी ने कांग्रेस का विरोध किया है [२]। साहित्य की समीक्षा को कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन से और कांग्रेस के विरोध से (और इसके विरुद्ध भी) क्या लेना देना है। इसी प्रकार शर्माजी ने अपनी समीक्षाओं में हजारों बार रूस और चीन के नाम का जप किया है और अमेरिका तथा इंगलैंड को खरी-खोटी सुनाई है। व्यक्तिगत अथवा दलगत अभिरुचियां साहित्य के क्षेत्र को किस प्रकार दूषित करती हैं, इस बात के प्रमाण हमें यहां मिल सकते हैं। चीन के आक्रमण के उपरान्त, चीन के नाम का यह जप अब यहाँ किस दृष्टि के देखा जायगा इसके सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता नहीं है।

यहीं पर एक और बात का संकेत आवश्यक है। शर्माजी की समीक्षाओं में राष्ट्रीय दृष्टि का अभाव नहीं है, परन्तु सिद्धान्ततः वे अन्तर्राष्ट्रीय हैं, क्योंकि बिना इसके वे रूस और चीन का साथ नहीं दे सकते [३]। किसी का साथ देने की कोई मनाही नहीं है और न इसमें कोई बुराई है। परन्तु हम पहले अपने को देखें, अपने देश को देखें, बाद में दूसरों की चिन्ता करें। राष्ट्रवाद निकम्मा नहीं है, वह हमारे काम का है, वह हमारे लिए सर्व-प्रमुख वस्तु है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को शर्माजी ने देश का जनवादी, राष्ट्रवादी समीक्षक कहा है। परन्तु जब शुक्लजी ने साम्यवाद की आलोचना की तो शर्माजी उसे शुक्लजी का कमजोर पहलू और आवेश आदि बतलाने लगे। शुक्लजी के सम्बन्ध में शर्माजी का मत है कि वे सोवियत संघ के खिलाफ झूठे प्रचार के शिकार हुए हैं, उनके सामने मजदूर-वर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका स्पष्ट न थी। वे सब उनकी और उनके युग को सीमायें हैं [४]। परन्तु ये प्रासंगिक उल्लेख-मात्र है। शुक्लजी की शर्माजी ने बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने बतलाया कि शुक्लजी ने पूर्व और पश्चिम के भाववादी साहित्य-शास्त्रियों की धारणाओं को निर्मूल कर दिया है। वे काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द देना नहीं मानते। शुक्लजी ने रीति-ग्रंथों का विरोध कर मानव-प्रकृति की विविधता का उद्घाटन किया और

---

१ प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें पृ० ११४, ११५, ११६
२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हि० आलोचना " १४-१५
लोक-जीवन और सा० १७२-१७३
३ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य " ६२
४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना ,, १०४, १०५, १८३

साहित्य को यथार्थ जीवन के निकट पहुँचाया। रहस्यवादी अवैज्ञानिक कल्पनाओं को भी शुक्लजी ने मान्यता नहीं दी। शुक्लजी वस्तुवाद की ठोस धरती पर खड़े हुए थे। शुक्लजी ने शुद्ध कलावाद का विरोध किया है, साहित्य की लौकिकता का प्रतिपादन करके भारतीय संस्कृति के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित करने में योग दिया है। उनका दृष्टिकोण सामन्त-विरोधी है, इसलिए वे असहिष्णु हैं। उनका रूप लड़ाकू का है। वे अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध (निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं) करने के लिए ललकारते हैं। शुक्ल जी ने सामंतवाद, साम्राज्यवाद, व्यक्तिवाद, कलावाद आदि का तीव्र विरोध किया है। शुक्लजी ने पश्चिम की प्रत्येक बात का समर्थन नहीं किया है।

'भारतेन्दु-युग' की भी मूल धारा शर्माजी ने राष्ट्रीय और जनवादी बतलाई है। राष्ट्रीय इसलिए कि उस युग के लेखक देश की स्वाधीनता चाहते थे और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति का खण्डन करते थे। भारतेन्दु-युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से सन्तुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह राजनीतिक स्वाधीनता का ही साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई चारे का भी साहित्य है [२]।

प्रेमचन्द जी को भी राष्ट्रवादी लेखकों की शानदार परम्परा में उत्पन्न और उसे उन्नत करने वाला लेखक कहा गया है। उनके जीवन की अन्तिम अभिलाषा थी स्वतंत्रता प्राप्ति। उसके साहित्य में भी राष्ट्रीय दृष्टि बड़ी प्रखर है। प्रेमचन्द सोद्देश्य साहित्य के समर्थक थे। 'कला के लिए कला' या निरुद्देश्य साहित्य से उनका बैर था। प्रेमचन्द स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिक साहित्यकार थे [३]। प्रेमचन्दजी रूसी साहित्य का आदर करने वाले प्रमुख भारतीय साहित्यकार थे और उन्होंने पश्चिम के पतित पूंजीवादी साहित्य की निन्दा की थी। यही काम बड़े महत्व का है जिसे प्रेमचन्दजी की परम्परा के कुछ समीक्षक निभाते चले जा रहे हैं। प्रेमचन्दजी का झुकाव यथार्थवाद की ओर आरम्भ से ही था। दिन पर-दिन उनके चित्रण में यथार्थवादी गहराई आती गई है [४]। प्रेमचन्द जिस साहित्य का झण्डा लेकर आगे बढ़ रहे थे वह जनता की तरफदारी का साहित्य था [५]। किसानों के जीवन से प्रेमचन्द जितने परिचित थे उतना उनके बाद का कोई भी लेखक नहीं है। प्रेमचन्द का साहित्य बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का सच्चा इतिहास है। हमारी जनता की सहृदयता, सहनशीलता और वीरता उनकी रचनाओं में

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना पृ० ६, १० ११ १३, १६, १७, १८, ६७
२ भारतेन्दु-युग, ती० सं० की भूमिका ,, १, २
३ प्रेमचन्द और उनका युग ,, १४७, १५१, १५२
४ —वही— ,, १५५, १५६, १६१
५ —वही— ,, १७३

फूल की तरह खिली हुई है। प्रेमचन्द की आवाज भारत की अजेय जनता की आवाज है[१]। प्रेमचन्दजी शर्माजी की मान्यताओं के सबसे अधिक निकट हैं। इसलिए प्रेमचन्द जी की उन्होंने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

डा० रामविलास शर्मा साहित्य का सम्बन्ध समाज की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों से ही मानते हैं, अन्य सांस्कृतिक परिस्थितियां उनके लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे मार्क्स के मतानुयायी हैं। इस मत के अनुसार समाज का सारा भौतिक जीवन उत्पादन-पद्धति से ही नियन्त्रित होता है, आर्थिक व्यवस्था के आधार पर ही संस्कृति का प्रासाद निर्मित होता है। परन्तु अर्थ और राजनीति से साहित्य का सीधा या प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। दाल-रोटी और पैसे-धेले से तथा आये दिन की राजनीति की घटनाओं से साहित्य प्रभावित नहीं हुआ करता। जो साहित्य इन्हीं समस्याओं में उलझ कर रह गया है, उसका सतही स्तर आज साहित्य के क्षेत्र की स्वयं-सिद्ध वस्तु है। साहित्य समग्र रा ट्र के अन्तराल में बहने वाली चेतना-धारा का प्रतिबिम्ब होता है। वह सामयिक तो है परन्तु उससे भी अधिक गहरी वस्तु है, उसमें स्थिरता भी होती है तथा दाल-रोटी जैसी वस्तुओं से उसकी कीमत नहीं कूती जा सकती, वह इनसे कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु है।

शर्माजी ने विकास को द्वन्द्व-मूलक प्रक्रिया कहा है। मार्क्स का भौतिकवाद द्वंद्वात्मक पद्धति पर ही आधारित है। परन्तु समस्त मानवीय विकास केवल द्वन्द्व-मूलक प्रक्रिया का ही परिणाम है, दूसरी प्रक्रिया का उसमें कोई स्थान ही नहीं था, ऐसा मानना कठिन है। मनुष्य का विकास सहयोग-मूलक प्रक्रिया से भी सिद्ध हो सकता है। आज का युगीन चिन्तन द्वन्द्व की अपेक्षा सहयोग के सिद्धान्त में अधिक विश्वास करता है। भारतीय परम्परा और परिस्थितियाँ भी इसी दूसरे मत का समर्थन करती हैं। आशय यह कि मार्क्स की सारी मान्यताओं को मानने के लिए हम बाध्य नहीं हैं, प्रगतिवादी खेमा मार्क्स-मत के प्रत्येक वाक्य को वेद-मन्त्र के समान क्यों दुहराता है, यह समझ में नहीं आता।

शर्माजी ने अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता में अन्तर्राष्ट्रीयता को अधिक महत्व दिया है और राष्ट्रीयता को पूंजीवाद का पतित फासिस्ट रूप बतलाया है। शर्माजी और उनके साथियों की दृष्टि विश्व-सर्वहारा पर लगी रहती है, राष्ट्र उनके लिए उतने महत्व की वस्तु नहीं है। परन्तु जिस देश का हम अन्न खाते हैं, जहाँ का हम पानी पीते हैं, जिस मातृभूमि की गोद में खेल-कूद कर, खा-पीकर हम इतने बड़े हुए हैं, हम उसके पहले हैं, बाद में हम किसी दूसरे के सम्बन्ध में सोच सकते हैं।

शर्माजी ने गांधीवाद को पूंजीपति वर्ग का सांस्कृतिक मार्ग कहा है क्योंकि गांधी-

---

१ प्रेमचन्द्र और उनका युग पृ० १९३ १९४

वाद क्रांति की बात नहीं करता वर्ग-शांति और समझौते की बात करता है, वह सक्रिय प्रतिरोध के स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध की चर्चा करता है। मार्क्सवादियों की पारिभाषिक शब्दावली में गांधीवाद पेटी बुर्जुआ मनोवृत्ति का प्रतीक है। परन्तु गांधीवाद ने क्रांति नहीं की, उसका प्रतिरोध निष्क्रिय था, ये बातें आज का बहुसंख्यक समाज नहीं मानता। आज गाँधी युग–पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। देश-देशान्तरों में उनके नाम का मान है। उनके नाम में कोई निष्क्रियता की पूजा नहीं करता। यह ठीक है कि उनकी क्रांति में उखाड़-पछाड़ तोड़-फोड़ का स्थान नहीं रहा है। वर्ग–संतुलन का सिद्धांत शर्मा जी के अनुसार 'रोप-डांस' के समान है। कांग्रेस रूढ़िवाद पर आधारित है। यदि गांधी जी का मत रूढ़िवाद में परिणत हो गया है तो मार्क्स का मत क्यों नहीं हो सकता ? यदि कांग्रेस में रूढ़िवाद है तो कम्युनिष्ट पार्टी में भी क्यों नही है ? आशय यह कि प्रत्येक मतवाद अपने समय के उपरान्त रूढ़ रूप धारण कर लेता है। समय ही वह शक्ति है जो किसी विचार-धारा को जीवन देती है। समय के उपरान्त तो वह विचार-धारा आलंकारिक रूप धारण करने लगती है और उसकी प्रेरणा–शक्ति क्षीण हो जाती है।

शर्माजी के अनुसार साहित्य का उद्देश्य लोक-कल्याण ही है। परन्तु लोक-कल्याण साहित्य के उद्देश्य का एक छोर है और केवल इसी पर बल देना उसकी अधूरी व्याख्या करना है। साहित्यिक उद्देश्य की रेखा के एक छोर पर आनन्द है और दूसरे छोर पर लोक-कल्याण तथा आनन्द का झुकाव व्यक्ति की ओर है और लोक-कल्याण का झुकाव समाज की ओर। साहित्य में इन दोनों के महत्व को स्वीकार करना आवश्यक है। मनोविज्ञान को लेकर चलने वाले समीक्षक आनन्द को अधिक महत्व देते हैं और लोक-कल्याण की उपेक्षा करते हैं तथा समाज-शास्त्र को समीक्षा का आधार मानने वाले आलोचक लोक–कल्याण को अधिक महत्व देते हैं एवं आनन्द की उपेक्षा करते हैं। वस्तुतः ये दो भिन्न तत्व नहीं हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, इनमें संतुलन बनाये रखना आवश्यक है। जिस आनन्द से लोक-कल्याण न होता हो, वह मनुष्य का आनन्द नहीं हो सकता और जिस लोक-कल्याण से मनुष्य को आनन्द नहीं मिलता, वह लोक–कल्याण भी अधूरा ही है। शर्माजी ने साहित्य में आनन्द के महत्व को स्वीकार अवश्य किया है, परन्तु एक स्थल पर साहित्य के सूक्ष्म आनन्द की उन्होंने मदिरा-पान के साहित्य में वर्णन से मिलने वाले आनन्द से व्यंगपूर्वक तुलना की है।

मतवादी आग्रह होते हुए भी शर्माजी की समीक्षाओं में उदार दृष्टि अपनाई गई है। अमार्क्सवादी लेखकों के जनवादी मूल्य को वे स्वीकार करते हैं, उनकी प्रगतिशीलता उन्हें मान्य है और जो मार्क्सवादी लेखक अन्य जनवादी साहित्यकारों के महत्व को स्वीकार नहीं करते उनकी शर्माजी ने निन्दा की है। सिद्धान्ततः अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में होते हुए भी शर्माजी की समीक्षाओं में राष्ट्रीयता की तीव्र भावना व्यक्त हुई है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शर्माजी की आलोचना राष्ट्रीय समीक्षा के बहुत निकट

है। यदि मतवादी आग्रह निकाल दिया जाय तो शर्माजी, स्वच्छन्दावादी समीक्षा के उपरान्त, महत्वपूर्ण समीक्षकों में अग्रगण्य हैं। शर्माजी परम्परा के महत्व को स्वीकार करते हैं। साहित्य के स्थिर एवं सार्वभौम मूल्यों में भी उन्हें विश्वास है। साहित्य की रस-भूमि और कलात्मकता—जिसका अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य और समीक्षा में अभाव है—उन्हे स्वीकार्य है। वस्तु और कला में वे वस्तु को प्रमुखता देते हैं। उन्होंने साहित्य में अश्लीलता—शेखर–चेतनवाद, साड़ी-जंपर–साहित्य का तीव्र विरोध किया है। चारित्रिक दृढ़ता को वे महत्वपूर्ण वस्तु मानते हैं। निराशा मूलक उद्‌गारों की भी उन्होंने निन्दा की है। प्रयोगवादियों की कलावादी दृष्टि का भी वे विरोध करते हैं। कवि की वैयक्तिक रागात्मक प्रतिक्रिया को भी वे साहित्य में स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। वे साहित्य का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही नहीं मानते। उनके अनुसार साहित्य का पौधा वर्तमान की धरती पर उगता है, अतीत में उसकी जड़ें जमती हैं और भविष्य के आकाश में उसका विस्तार होता है। सहृदय के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यता बहुत–कुछ परम्परागत है। वे सहृदय का सुसंस्कृत होना आवश्यक मानते हैं। इसी प्रकार भाषा का वे जन-जीवन से सम्बन्ध अवश्य मानते हैं, उसके संस्कृतीकरण का विरोध करते हैं परन्तु उसकी काव्यानुकूलता के लिए उसमें परिष्कार की भी आवश्यकता बतलाते हैं। छन्द भी शर्माजी ने काव्य के लिए आवश्यक बतलाया है। इन बातों में शर्माजी स्वच्छंदतावादी समीक्षकों से बहुत भिन्न नहीं है।

———

पञ्चम खण्ड

प्रयोगवादी समीक्षा

श्री अज्ञेय

(१)

कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह—है।

—त्रिशंकु, पृष्ठ २३

(२)

कविता भाव का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।

—त्रिशंकु, पृष्ठ ३६

सिद्धान्त

(१) अपर्याप्तता की अनुभूति

हिन्दी की समीक्षा में मनोविज्ञान का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। हम इसके पूर्व देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल ने रस-सिद्धान्त को एक मनोवैज्ञानिक आधार दिया था आचार्य वाजपेयीजी की समीक्षाएं भी मनोवैज्ञानिक संदर्भों से युक्त हैं। परन्तु अभी तक मनोविज्ञान का प्रयोग सहायक तत्व के रूप में होता रहा है। इसके द्वारा साहित्यक मान—दण्डों की पुष्टि की जाती रही है डा० नगेन्द्र की समीक्षाओं में, मनोविज्ञान का प्रयोग होते हुए भी, साहित्यिक प्रतिमान ही प्रमुख है। हम इसके पूर्व देख चुके हैं, डा० नगेन्द्र ने फ्रायड के सिद्धांत की सहायता से साहित्य की रस-परक व्याख्या की है। परन्तु हिन्दी-समीक्षा मे, मनोविज्ञान को ही एकमेव प्रतिमान मानकर, उसी के आधार समस्त साहित्य की व्याख्या का प्रयत्न हुआ है। श्री अज्ञेय की आरम्भिक समीक्षाएं इस बात का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। हिन्दी की समीक्षा में मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों का प्रयोग तथा उनका परिणाम देखने के लिए हमें श्री अज्ञेय की साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं से परिचय प्राप्त करना होगा।

अज्ञेयजी ने कला की परिभाषा इस प्रकार दी है—'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न–अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह–है [१]।' इसे सिद्ध करने के लिए अज्ञेयजी ने एक कल्पित उदाहरण दिया है। उस समय मनुष्य गुहा–वासी था, आखेटक था और यूथ में रहना भी सीख चुका था। ऐसे कल्पित समाज में एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की गई जो युवावस्था में ही किसी कारण—सर्दी खा जाने से, या पेड़ पर से गिर जाने से, या आखेट में चोट लग जाने से—किसी तरह कमजोर हो गया है। परन्तु समाज में प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है और समाज जितना ही अविकसित होता है उतना ही वह दायित्व रूढ़ और अनिवार्य भी बन जाता है। इस समाज का यह कमजोर व्यक्ति सबके साथ खाद्य सामग्री की खोज करने, खोह बनाने या साफ करने आदि का अपना समाज-धर्म न निभा सकता होगा। अतः सामाजिक दृष्टि से उसका अस्तित्व अर्थ-हीन होगा [१]। दूसरों के साथ ही उस व्यक्ति को भी इस बात का तीखा अनुभव होता होगा कि वह अपात्र है, घटिया है, क्षुद्र है। यह अपर्याप्तता की अनुभूति उसे कई प्रकार की प्रेरणा दे सकती है—आत्म-हत्या की भी और रचनात्मक कार्य की भी। जिसमें जितना आत्म–बल होगा वह उसी के अनुरूप प्रेरणा भी ग्रहण करेगा। यहां रचनात्मक प्रेरणा वाला आत्म-बल संपन्न व्यक्ति ही चुना गया है। ऐसा व्यक्ति चाहेगा कि यदि वह समाज का साधारण धर्म निबाहने में असमर्थ है 'तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे, यदि वह समाज के रूढ़िगत जीवन के अनुरूप नहीं चल सकता तो वह जीवन को ही नया अवयव दे जिसके ताल पर वह चले [२]। वह अपर्याप्त या कमजोर व्यक्ति अस्त्रों के हत्थों पर शिकार की मूर्तियां खोद देता है, शिकार के रणनाद और घमासान के तुमुल स्वर को एक ही कंठ के आलाप में रणरंगित कर देता है, खोंहों का मार्ग पत्थर की बुकनी से आंकी गई फूल–पत्तियों से सजा देता है। इस प्रकार उस कल्पित कमजोर प्राणी ने, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा, उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया, समाज को सौन्दर्य-बोध की एक नई उपयोगिता सिखा दी। यही कला के जन्म का मूल–स्रोत है[३]।

इसी प्रसंग में अज्ञेयजी ने 'समाज' और 'अपर्याप्तता' इन दो शब्दों को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'समाज का अभिप्राय उस परिवृत्ति से है जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार अपनापा महसूस करे। 'यदि किसी कारण हम अपनी परिवृत्ति से सामाजिक

---

१ त्रिशंकु—कला का स्वभाव और उद्देश्य पृष्ठ २३
२ —वही— ,, २४
३ —वही— ,, २५
४ —वही— ,, २६

संबंध नहीं महसूस करते तो वह हमारा समाज नहीं है [१]। इसी प्रकार अपर्याप्तता का भी आधुनिक अर्थ बतलाया गया है। अपर्याप्तता का अर्थ एक विशेष दिशा में असमर्थता है। समाज का साधारण जीवन जिस दिशा में आता है, जिन लीकों में चलता है, उन दिशाओं और उन लीकों में चलने की असमर्थता तो इससे ध्वनित होती ही है—समाज के साधारण जीवन में अपना स्थान न पाकर तो वह प्रेरित होती ही है—परन्तु इसी प्रेरणा से उसे नई लीकें बनाने की सामर्थ्य भी प्राप्त होती है [२]। इसी प्रसङ्ग में एक और बात कही गई है। साधारणतया कलाकार-समुदाय में, जो एक विशेष प्रकार की असहिष्णुता, अहम्मन्यता, एक दुर्विनीत श्रेष्ठता की भावना दिखलाई पड़ती है, वह भी एक आत्म-रक्षा का कवच है—किसी मौलिक अपूर्णता या अपर्याप्तता के ज्ञान को अहं के आगे से हटा देने की चेष्टा है। आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापनाओं से जो लोग परिचित हैं वे जानते हैं मानव-जीवन में ये क्षति-पूरक क्रियायें कितना महत्व रखती हैं [३]। इस प्रकार, अज्ञेयजी के अनुसार कला अपर्याप्तता की भावना के प्रति व्यक्ति का विद्रोह है, एक क्षति-पूरक क्रिया है [४]।

'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक निबन्ध में इसी से मिलती-जुलती एक और परिभाषा दी गई है। परिभाषा यह है—'आज का हिन्दी-साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है [५]।" यहां पर भी एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लिया गया है जो औसत से कुछ ही ऊपर है, याने न तो औसत व्यक्ति है और न प्रतिभाशाली है। उसकी इच्छा होती है कि उसकी रुचियां, उसके विचार और दृष्टिकोण, उसकी भावनाएँ, सामाजिक स्वीकृति पाएँ[६]। उसकी मांग होती है कि वह अपने को एक सन्तोष-जनक सामाजिक सङ्गठन अथवा परिवृत्ति का अङ्ग अनुभव करने लगे। यहां सामाजिक परिवृत्ति का अर्थ फिरसे समझाया गया है। पूर्णतया सन्तोषजनक वही सामाजिक दल या परिवृत्ति हो सकती है जिसमें आचरण और अनुभूति की समानता होती है [७]। यदि उक्त व्यक्ति की रुचियां और अन्तरङ्ग प्रवृत्तियाँ उसकी सामाजिक परिवृत्ति के साथ मेल नहीं खातीं और उसकी

---

१ त्रिशंकु—कला का स्वभाव और उद्देश्य पृ० २६-२७
२ —वही— ,, २७
३ —वही— ,, २७
४ —वही— ,, २८
५ त्रिशंकु—परिस्थिति और साहित्यकार ,, ४७
६ —वही— ,, ४७
७ —वही— ,, ४८

प्रवृत्तियों से सम्बन्ध नहीं रखतीं, तो उस व्यक्ति को समाज से सन्तोष प्राप्त नहीं होगा, वह समाज से किसी गहरे सम्बन्ध का अनुभव नहीं करेगा और न उसमें समाज के प्रति आस्था का भाव ही होगा। रूढ़िग्रस्त और ह्रासोन्मुख परिवृत्ति होने पर उक्त व्यक्ति में रूढ़ियों का खण्डन और विरोध करने की तथा मानदण्डों को पुनः गढ़ने की इच्छा भी बलवती होगी। परन्तु व्यक्ति के प्रतिभावान न होने पर ऐसी परिस्थिति का परिणाम केवल इतना ही होगा कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने की मौलिक आवश्यकता छिप जायगी, कुण्ठित हो जायगी। इससे एक असन्तोष, एक अतृप्ति, एक भूख, एक अस्पष्ट अशक्त कामना भर होगी, एक दौहृद मात्र होगा [१]।

ऊपर दो उदाहरण दिए गए हैं। दोनों में एक ही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है—अपर्याप्तता की अनुभूति और उसके प्रति व्यक्ति का विद्रोह। पहले उदाहरण में अपर्याप्तता व्यक्ति की है और दूसरे में अपर्याप्तता समाज की है। परन्तु दोनों ही दशाओं में व्यक्ति विद्रोह करता है। दोनों ही दशाओं में व्यक्ति में एक हीनता की भावना दिखलाई पड़ती है। पहले उदाहरण में वह स्पष्ट है। दूसरे में भी वह समाज को न बदल सकने की व्यक्ति की असमर्थता में निहित है।

अज्ञेयजी ने अपने मानदण्ड पर आधुनिक साहित्य की परीक्षा की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि सन्तोषजनक सामाजिक परिवृत्ति के न मिलने से आधुनिक साहित्य कुण्ठा-ग्रस्त हो गया है, उसमें एक क्लांत अतृप्ति की भावना उत्पन्न हुई है [२]। अज्ञेयजी का यह मत है कि कि सभी अच्छा साहित्य अतृप्ति का साहित्य होगा, अतृप्ति का अनुभव तो प्रत्येक अच्छे लेखक को होना ही चाहिए। यदि किसी आधुनिक लेखक में इसकी अनुपस्थिति दीख पड़े तो उसके बारे में शंकित होने की आवश्यकता है [३]। परन्तु इस अतृप्ति का भी लेखक ने विभाजन और वर्गीकरण कर दिया है। लेखक यह देखना चाहता है कि अपनी अनुभूति के प्रति कलाकार की स्थिति क्या है? "यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्यपूर्वक अपनी आंतरिक मांग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनायें जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक सङ्गठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनायें महान् साहित्य बन सकेंगीं। यदि उसकी आलोचक बुद्धि क्षीण हो गई है, यदि वह अपनी आंतरिक मांग को

---

१ त्रिशंकु—परिस्थिति और साहित्यकार पृ० ४६
२ —वही— ,, ५०
३ —वही— ,, ५२

न समझता हुआ केवल उसमें बहा है, यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावनायें जगाई हैं, तब उसकी रचनायें मधुर होकर भी घटिया रहेंगी। किसी अपरिचित को देखकर बच्चे की यह वृत्ति होती है कि माँ का आँचल खोजे और उसके भीतर दुबक जाय, उसे मुंह पर तान ले [१]।" यहाँ यह बड़ा-सा उद्धरण साभिप्राय दिया गया हैं। अज्ञेयजी ने 'अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की माँग' की तुलना 'माँ के आँचल की माँग' से की है। यह माँग एक प्रौढ़ की भी हो सकती है और एक शिशु की भी। उपर्युक्त उद्धरण में पहली माँग प्रौढ़ की माँग है और दूसरे प्रकार की माँग शिशु की माँग है [२]। दूसरी माँग वाले लेखक पराजित, असफल और असमर्थ होते हैं, उनमें एक स्थायी भाव के रूप में कुण्ठितावस्था उत्पन्न हो जाती है [३]।

अपनी इन्हीं मान्यताओं के आधार पर अज्ञेयजी ने आधुनिक साहित्य के बारे में कुछ 'तुक्के' चलाये हैं। प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में अज्ञेयजी की मान्यता है कि उनमें अपने समाज की त्रुटिपूर्णता या अपर्याप्तता की भावना तीव्र थी, अतएव मनोनुकूल समाज की माँग उतनी ही प्रबल थी। उनके आरम्भिक साहित्य में यह अपर्याप्तता की अनुभूति अस्पष्ट थी, इसलिए 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' खोले गए जिनमें एक 'विशफुल थिंकिंग' का हल्का परदा, एक स्वप्न या युटोपिया है और जो सुधारक का दोष है। परन्तु प्रेमचन्द जी में यह वृत्ति क्रमशः कम होती गई है [४]। जैनेन्द्रजी की 'परख', 'सुनीता' और 'नीलम देश की राज-कन्या' रचनायें आश्रय की मांग के दूसरे वर्ग में रखी गई हैं। 'त्याग-पत्र' को इन रचनाओं से भिन्न रखते हुए भी कहा गया है कि उसमें 'पर्याप्त सन्तोषप्रद सामाजिक परिवृत्ति की मांग' की कुण्ठा नहीं है। उसमें जैनेन्द्रकुमार का दर्शन है और उस दर्शन में मुण्ठा है [५]। श्रीमती कमला चौधरी की कहानियों में माँग की अपूर्ति का विरोध करने की, सामाजिक परिवृत्ति से लड़ने अथवा उसे बदलने की इच्छा प्रायः कहीं नहीं झलकती, केवल माँग के खण्डित हो जाने से उत्पन्न होने वाला धूमिल असन्तोष घर लौट चलने की चेष्टा ही अभिव्यंजित होती है, साहित्य-स्रष्टा का सम्पूर्ण पलायन ही उनकी कहानियों में लक्षित होता है [६]। यह घर लौटने की माँग महादेवीजी में भी है और श्री बच्चन में भी। श्री सियारामशरण गुप्त को कल्पना-लोक की लालसायें और मरीचिकायें अधिक नहीं भुला सकी हैं। "उनकी आत्मा ने कर्मण्यता की ही प्रेरणा पाई

---

१ त्रिशंकु—परिस्थिति और साहित्यकार पृ० ५३
२ —वही— ,, ५३
३ —वही— ,, ५२-५३
४ —वही— ,, ५४
५ —वही— ,, ५५-५६
६ —वही— ,, ५६

है। यह ध्वनि उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलेगी। उनके लिए आत्मा चिर यात्री है, पर उसे पथ पर चलना है, भागना नहीं। स्वप्नों गा आदर्शों का पाथेय सच है तो पथ की धूल और कांटे भी झूठ नहीं हैं [१]।"

श्री जयशंकर प्रसाद के काव्य और साहित्य की परीक्षा के लिए इनसे भिन्न, एक दूसरे ही सिद्धान्त का आविष्कार किया गया है। प्रसादजी के साहित्य में लेखक को 'तोषप्रद, अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की मांग' के खण्डित हो जाने से, अपनी प्रौढ़ और विकसित रुचियों के लिये सामाजिक स्वीकृति न पाने की कुण्ठा से उत्पन्न कल्पित देश की ओर जाने की लालसा नही दिखलाई पड़ती। कवि प्रौढ़, विकसित, उलझी हुई, आधुनिक रुचियों या मनःस्थितियों को छोड़कर ही एक अधिक सरल और सुखद जीवन-प्रणाली की ओर जाना चाहता है, जिसमें व्यक्ति की आवश्यकतायें कम और उनकी पूर्ति अपेक्षाकृत सुगम हो। नूतन भ्रम साध्य स्थिति के भ्रम से भागने और पुरानी सरलतर जीवन-प्रणाली अपना लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति या सामाजिक स्वीकृति न पाने के कारण खण्डित व्यक्ति की प्रवृत्ति से भिन्न है। परन्तु ये दोनों प्रवृत्तियां बहुधा साथ-साथ भी देखी जा सकती है। इस प्रसङ्ग में प्रसादजी की 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' कविता उद्धृत की गई है और बतलाया गया है कि यह आधुनिकता के दबाव से पलायन की चेष्टा से अनुप्राणित है [२]। प्रसाद के नाटक अथवा काव्य दोनों ही एक प्रकार की प्रतिगामी चेष्टाओं—आज के यथार्थ की उलझन से बचने के लिये 'कल' के सरल जीवन--सङ्गठन की चाह से युक्त बतलाये गये है। कामायिनी की मृत्यु-सम्बन्धी पंक्तियों में भी कवि की पलायन-चेष्टा देखी गई है [३]। प्रसादजी को रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी भी कहा गया है, क्योंकि उनमे अतीत-प्रेम है [४]।

यह अज्ञेयजी का एक मत हुआ। इसका उन्होने अपनी 'त्रिशंकु' कालीन समीक्षाओं में प्रयोग किया है। परन्तु अज्ञेयजी की मान्यताओं में कई परिवर्तन हुये हैं और उनके परवर्ती निबन्धों में वे अपने इस मत से पर्याप्त दूर और बहुत कुछ अंशों में विरुद्ध भी पहुंच गए हैं।

(२) निर्व्यक्तीकरण

अज्ञेयजी ने कला सम्बन्धी दूसरा मत 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक निबन्ध में दिया है। इस प्रसङ्ग के आरम्भ में लेखक ने टी० यस० इलियट का यह उद्धरण दिया है—

---

१ त्रिशंकु—परिस्थिति और साहित्यकार पृष्ठ ५७
२ —वही— ,, ५९
३ —वही— ,, ५९
४ अस्मानेपद—नये लेखक की समस्यायें ,, १०८

"Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape form emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality"

"कविता भावों का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है [१]।

इस सिद्धान्त को डा० नगेन्द्र ने 'अव्यक्तिवाद' की संज्ञा दी है [२]। साहित्यकार के लिये ऐतिहासिक चेतना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें अतीत और वर्तमान के दुहरे अस्तित्व की- उनकी पृथक् वर्तमानता और उनकी एक सूत्रता की निरन्तर अनुभूति आवश्यक है। 'ऐतिहासिक चेतना से हीन साहित्यकार ऐसा अंकुर है जो कहीं से भी प्राण-रस खींचने का मार्ग नहीं स्थापित कर सका, काल के महाप्रांगण में कहीं भी अपनी जड़ें नहीं जमा सका, जो उच्छिन्न होकर ही फूटा है [३]।' कला की एक गतियुक्त और वर्धमान परम्परा होती है। कला का मूल्य अथवा महत्व इसी गतियुक्त और वर्धमान परम्परा में है, रूढ़ि की सजीव प्रवहमानता में है [४]। साहित्यकार को इस परम्परा से परिचित होना ही होगा। उसमें यह अतीत की चेतना होनी ही चाहिए और उसे आजीवन पुष्ट और विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस परम्परा से साहित्यकार का योग आत्मदान द्वारा होता है। 'कलाकार निरन्तर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक अधिक क्षणिक अस्तित्व को, एक महानतर मन में और एक विशालतर अस्तित्व के ऊपर निछावर करता रहता है, अपने निजी व्यक्तित्व को एक वृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है।' यह आत्म-निवेदन कलाकार की मृत्यु नहीं है। छोटे व्यक्तित्व से बड़े व्यक्तित्व की ओर निरन्तर बढ़ने में ही कलाकार की प्रगति और उन्नति है और ऐतिहासिक चेतना इस उन्नति का साधन और मार्ग है [५]। ऐतिहासिक परम्परा कोई पोटली में बंधा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठा कर हम चल निकलें। यह रस तो व्यक्ति में बूंद-बूंद संचित होता है या नहीं होता और व्यक्ति कोरा रह जाता है [६]। अज्ञेयजी ने इसी ऐतिहासिक चेतना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है 'हमें चाहिए वह बेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृत्ति में

---

१ त्रिशंकु—रूढ़ि और मौलिकता पृ० ३६
२ विचार और निवेचन ,, ६०
३ त्रिशंकु–रूढ़ि और मौलिकता ,, ३१
४ –वही– ,, ३३
५ –वही– ,, ३६
६ आत्मनेपद–भारतीयता ,, १००

घिरी हुई भी आगे देखे। जो अपने देश में रहकर भी आगे देखे, आगे दूसरे देशों को नहीं, हमसे आरम्भ होने वाली आगे की दिशा को, आगे। जो अपने काल में रहकर भी आगे देखे, न इधर अनादि को, न उधर अनन्त को, वरन् हमसे आगे के उस काल को जो हमारे काल से प्रसूत है और जिसके हम स्रष्टा हैं [१]।' परम्परा से संपृक्त होने का यह बोध साहित्यकार को न केवल आत्म-विश्वास देता है, बल्कि स्वाधीन भी करता है। ऐसा साहित्यकार तात्कालिक परिस्थितियों से शासित न होकर एक स्वतन्त्र और असंपृक्त विवेक बनाये रखता है[२]।

साहित्य के निर्माण में परम्परा के आगे व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग की क्रिया का विशेष महत्व है। इसी सूत्र के आधार पर अव्यक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना की गई है। कहा गया है कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है। अनुभव करने वाला मन (भोक्ता) और रचना करने वाला मन (स्रष्टा) अलग-अलग हैं या होने चाहिये। कला का महत्व इस बात में नहीं है कि उसके स्रष्टा का व्यक्तित्व बहुत बड़ा, आकर्षक और रोचक है तथा उसके पास अधिक सन्देश है, उसका महत्व तो इस बात में है कि उसके कलाकार का मन अधिक से अधिक अनुभूतियों के मिश्रण और संयोग तथा चिर नूतन संगम के लिए अधिक से अधिक सफल माध्यम बन सका है [३]।

टी० एस० इलियट ने इस क्रिया को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया है। सल्फर डायक्साइड और आक्सीजन से भरे हुए पात्र में प्लेटिनम का चूर्ण डालने से सल्फ्यूरस एसिड बन जाता है। यह क्रिया प्लेटिनम के बिना नहीं होती, परन्तु इस नये अम्ल में प्लेटिनम का कोई अंश नहीं रहता और न प्लेटिनम में किसी प्रकार का परिवर्तन ही होता है। कवि-मानस प्लेटिनम का चूर्ण है जो विभिन्न अनुभूतियों को प्रभावित कर, उनके मिश्रण और संगम का माध्यम बनकर, उनके द्वारा एक आत्यंतिक एकता रखने वाली कला-वस्तु निर्मित कर देता है [४]।

अज्ञेयजी ने इसी बात को समझाने के लिए एक और दूसरा उदाहरण दिया है। कवि का मन एक भट्टी है। इसके ताप में विभिन्न धातुएं पिघल कर एक रस हो जाती हैं। ढली हुई धातु विभिन्न तत्वों से बनी हैं। इनमें से कुछ धातुएं भट्टी के स्वामी की हो सकती हैं, कुछ बाहर की भी हो सकती हैं। परन्तु भट्टी के स्वामी से भट्टी का और भट्टी से धातु का अलगाव और स्वतन्त्र अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है [५]। कलाकार जितना

---

१ आत्मनेपद–भारतीयता पृ० १०४
२ आत्मनेपद–नये लेखक की समस्याएं " १०७
३ त्रिशंकु–रूढ़ि और मौलिकता ,, ३७
४ ––वही–– ,, ३७
५ ––वही–– " ३८

हो बड़ा होगा उतना ही वह अपनी रचना से तटस्थ होगा, उसका रचनाशील मानस उसके अनुभव करने वाले मानस से पृथक् होगा। दूसरे शब्दों में जितना ही महान कलाकार होगा उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी [१]। कलाकार का मन एक भंडार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियां, शब्द, विचार, चित्र इकट्ठे होते रहते हैं। कवि प्रतिभा के ताप से इनमें एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग उत्पन्न हो जाता है। कला-वस्तु की श्रेष्ठता विषय या भाव की श्रेष्ठता में नहीं है, कवि के लिए उनकी व्यक्तिगत अनुभूति में भी नहीं है, कला-वस्तु का गौरव उस रासायनिक क्रिया की तीव्रता में है जिसके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। काव्यानुभूति की तीव्रता और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता अनिवार्य रूप से भिन्न होती है। कलागत भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है [२]। रचयिता का महत्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है, कला की माध्यमिकता के परिष्कार में है। 'वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह माध्यम प्रकाशित होता है जिसमें विभिन्न अनुभूतियां और भावनाएं चमत्कारिक योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं एक माध्यम की अभिव्यक्ति हैं [३]।'

कवि का कार्य नये भावों की खोज नहीं है, पुराने भावोपकरणों के योग से ही नया चमत्कार उत्पन्न करना है। विश्व के महान साहित्य में हमें हमारे परिचित भाव मिलते हैं, परन्तु नूतन योगों में। रचना का महत्व इन योगों और यौगिक क्रिया की तीव्रता में है। यह क्रिया और उसकी तीव्रता विभिन्न परिचित उरकरणों से नूतन चमत्कारिक वस्तु का निर्माण—चेष्टित नहीं है, स्वयं चमत्कारिक है [४]। इस प्रकार टी० एस० इलियट की यह उक्ति कविता निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं, अनुभूति से मुक्ति है, व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है — युक्तियुक्त है [५]। कला के भाव निर्व्यक्तिक होते हैं, वे स्वयं काव्य में रहते हैं, कवि के जीवन या व्यक्तित्व में नहीं। कवि इन निर्व्यक्तिक भावों का ग्रहण और अभिव्यंजना ऐतिहासिक चेतना के द्वारा—अपने व्यक्तित्व को परिधि से बाहर निकल कर अपने आपको एक महानतर अस्तित्व के प्रति समर्पित करके—ही सफलतापूर्वक कर सकता है [६]। हमारे आचार्यों ने भी माना है कि कला के भाव निरे मानवीय भाव नहीं हैं। काव्य-रस कवि, कवि-

---

१ त्रिशंकु—रूढ़ि और मौलिकता पृ० २३
२ —वही— " ३८
३ —वही— " ३९
४ —वही— " ३९
५ —वही— " ४०
६ —वही— " ४०

जीवन, वर्ण्य विषय, अनुभूति, शब्द विशेष आदि में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है [१]।

कवि तटस्थ कैसे रह सकता है? इस सम्बन्ध में अज्ञेयजी का मत है कि वह अपनी व्यक्तिगत और समष्टिगत अनुभूतियों का उनके वाह्य कारणों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर यह तटस्थता प्राप्त करता है जिससे रचना को शक्ति मिलती है [२]। दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक चेतना के ज्ञान से कवि तटस्थता प्राप्त कर सकता है। एक और दूसरा मार्ग भी है। अपनी भावनाओं को परम्परा से माने हुए आदर्श पुरुषों की भावना में डुबाकर भी व्यक्ति आत्म-निवेदन की बुराई से बच सकता है। यह भी वस्तुतः पहला ही मार्ग है, परन्तु कुछ आसान है [३]। व्यक्तिगत अनुभूति को समष्टिगत अनुभूति के सांचे में ढालना ही निर्व्यक्तीकरण कहा जा सकता है। इसके लिए सूक्ष्म अनुभूतियों का बाह्य परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित होना अनिवार्य है। निर्व्यक्तीकरण का यही अन्यतम और उत्तम साधन है [४]। प्रेमचन्दजी की परवर्ती रचनाएं एक परिपक्व तटस्थता के कारण अधिक प्रभावशाली हो गई हैं [५]।

अज्ञेयजी अपने अव्यक्तिवादी मत को आज भी मानते जा रहे हैं। 'आत्मनेपद' में भी कई स्थानों पर इसी की पुष्टि की गई है। वे मानते हैं कि किसी भी कला-सृष्टि का अधिकार तभी आरम्भ होता है जब व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाय। कविता के द्वारा कवि अपने व्यक्तित्व को वृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है। इससे उसके अह का विलयन हो जाता है [६]। प्राचीन कवियों की महत्ता का असली रहस्य यही है कि वे अह को विलीन करके ही लिखते थे। इस परिणाम तक पहुँचने में, इसे स्पष्ट रूप से निरूपित करने में अज्ञेयजी को कुछ समय लगा हैं, यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है [७]।

अज्ञेयजी ने एक नई तटस्यता की और भी चर्चा की है। एक तटस्थता तो वह है जिसको पहुँचकर लेखक कृतिकार बनता है, दूसरी वह है जो उसे पात्र को रचने के बाद मिलती है, जिसमें वह भोक्ता से दृष्टा की स्थिति प्राप्त करता है। अज्ञेयजी के अनुसार कृति में सच्ची असंपृक्त अवस्था नहीं होती, वह उसके बाद ही प्राप्त हुआ करती है। पात्र को रचकर, उसके माध्यम से लेखक अपना सचित कुछ बिखेर कर ही वास्तव में

---

१ त्रिशंकु—रूढ़ि और मौलिकता पृ० ४१
२ त्रिशंकु—संक्रांति काल की कुछ साहित्यिक समस्याएं " ७८
३ त्रिशंकु—केशव की कविताई " ९६
४ त्रिशंकु—आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा " ११२
५ आज का भारतीय साहित्य " ३८९
६ आत्मनेपद—प्रवृत्ति : अहं का विलयन " ३३
७ —वही— " ३४

तटस्थ हो सकता है। अज्ञेयजी ने तटस्थता का नया अर्थ यह बतलाया है कि लेखक सिवा अपने के कुछ को नहीं बदलता, सिवा कला की समस्या के कोई समस्या हल नहीं करता। लेखक अनिवार्यतः सामाजिक क्रांतिकारी है, इसे वे किशोर-मोह की संज्ञा देते हैं [१]।

(३) साधारणीकरण

पाश्चात्य निर्व्यक्तीकरण के साथ ही अज्ञेयजी ने भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त पर भी कुछ विचार व्यक्त किए हैं।

अज्ञेयजी साधारणीकरण के प्राचीन रूप को आज अपर्याप्त ठहराते हैं। उनका मत है कि प्राचीन काल में काव्य एक छोटे से समाज की थाती था उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था एक ही शब्द उनके मन में समाज चित्र, भाव या विचार उत्पन्न करता था परन्तु आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। आज काव्य के पाठकों के जीवन में बड़ी विषमताएं हैं। आज ऐसे शब्द कम मिलेंगे जिनसे पाठकों के मन में एक ही प्रकार के चित्र, भाव या विचार जागें। आज के कवि की यह सबसे बड़ी समस्या है [२]। 'व्यक्ति--सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाना, व्यक्ति की अनुभूति को समष्टि तक पहुंचाना—साधारणीकरण करना—यही कवि का सनातन उत्तरदायित्व है और परिस्थितियों ने, इसे कठिन कर दिया है [३]। सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के उपकरण भी विकसित हुए हैं। यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग (प्रेम-घृणा) नहीं बदले हैं, परन्तु रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियां बदल गई हैं और इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर गहरा असर पड़ा है। तथ्य (वस्तु-सत्य) और सत्य (व्यक्ति-सत्य) में भेद है। तथ्य एक वाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। तथ्य के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध होने पर वही सत्य हो जाता है। तथ्य बदलता है और उसके साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियां भी बदलती हैं [४]। इससे साधारणीकरण की नई समस्याएं आरम्भ होती हैं। प्राचीन काल में पाठक सभी ज्ञानों से थोड़ा-बहुत परिचित होता था। उस समय भाषा का एक मुहावरा था। विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक होते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो

---

१ कल्पना (अक्टूबर, १९५७)—मैं और शेखर पृष्ठ ७
२ त्रिशंकु—वागर्थप्रतिपत्तये " ११४
३ —वही— " ११५
४ दूसरा सप्तक (भूमिका) " ९

गए हैं। ऐसी कोई भाषा नहीं है जो सब बोलते हों, सब समझते हों। अंग्रेजी एक है, परन्तु गणितज्ञ की अंग्रेजी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। जो कवि एक क्षेत्र के सीमित सत्य को उसके बाहर पहुंचाना चाहता है उसके सामने बड़ी समस्या है। उसके आगे दो मार्ग हैं। या तो वह सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे यानी — साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे, या फिर वृहत्तर क्षेत्र तक पहुंचने का प्रयत्न न छोड़े, भाषा के साधारण मुहावरे को छोड़कर नई राह खोजने की जोखिम उठाये। अज्ञेयजी को यह दूसरा मार्ग अधिक उदार और व्यापक दृष्टि सम्पन्न प्रतीत हुआ है [१]। जब शब्द का चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उसकी रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है और उससे रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता। कवि तब उसमें उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे राग का संचार हो, उससे पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो, साधारणीकरण का यही अर्थ है। इसी से कविता आवृत्ति नहीं, सृष्टि बनती है। 'कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नये सत्यों को रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है।' आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इससे साधारणीकरण का कार्य बड़ा कठिन हो गया है [२]।

(४) प्रयोगवादी मत

निर्व्यक्तीकरण एवं साधारणीकरण सिद्धांतों के परिणामस्वरूप अज्ञेयजी को प्रयोगवादी मत की उपलब्धि हुई है। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि अज्ञेयजी का यही प्रमुख साहित्यक सिद्धान्त है। उनका झुकाव इसी की ओर अधिक है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि अज्ञेयजी ने कविता की श्रेष्ठता उसमें वर्णित विषय या भाव की श्रेष्ठता नहीं मानी है। कविता या कला की श्रेष्ठता उस रासायनिक क्रिया की तीव्रता में है जिसके द्वारा विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं [३]। काव्य का रस कवि, कवि-जीवन, वर्ण्य विषय, अनुभूति शब्द विशेष आदि में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है [४]। स्पष्ट ही यह मत काव्य को चमत्कारवाद के निकट ले जायगा इसमें विषय की अपेक्षा अभिव्यक्ति को प्रमुखता मिलेगी।

---

१ दूसरा सप्तक (भूमिका) पृष्ठ १०
२ —वही— ,, १२
३ त्रिशंकु—रूढ़ि और मौलिकता ,, ३८
४ —वही— ,, ४१

अज्ञेयजी ने साधारणीकरण–व्यापार को आज वे कवि के लिए बड़ा कठिन कर्म माना है। परन्तु इसे ही वे प्रयोगशीलता के लिए प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति भी मानते हैं। इस प्रकार सधारणीकरण प्रयोग की प्रेरणा देने वाला एक साधन मात्र बन गया है। व्यक्ति–सत्य को व्यापक सत्य बनाने में 'भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुंचा सके [१]।' अज्ञेयजी काव्य के वस्तु-पक्ष से परिचित हैं, उसके महत्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका आग्रह उसके उक्त अभिव्यक्ति पक्ष पर अधिक है। उन्होंने लिखा है—'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी पूर्णता में पहुंचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएं है—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अध: या अन्त: या बहिर्मुखी है[२]।' इस प्रकार प्रयोगशीलता उनके लिए प्राथमिक और प्रमुख कर्तव्य है। अज्ञेयजी ने यह बार–बार कहा है कि प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के लिए प्रयोग फलप्रद है [३]। वे यह मानते हैं कि केवल प्रयोगशीलता किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्व नहीं है, महत्व है उस सत्य का जो प्रयोग द्वारा प्राप्त हो। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रखकर ही, बिना मोती पाये उसका कोई महत्व नहीं है [४]। वह सब मानते हुए भी अज्ञेयजी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अभिव्यक्ति-पक्ष को बहुत प्रमुखता देते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों का कृतित्व उन्हें कला की दृष्टि के दोषपूर्ण दिखलाई पड़ा है [५]। पंत और निराला की सूक्ष्म शब्द–चेतना, स्वरों का उपयोग एवं भाषा संगीत के गहरे बोध की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की है [६]। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के सम्बन्ध में उनका मत है कि उनमें बहुधा रूप–शिल्प अधूरा और त्रुटिपूर्ण

---

१ त्रिशंकु—वागर्थप्रतिपत्तये पृ० ११५
२ —वही— " ११५
३ दूसरा सप्तक (भूमिका) " ७
४ —वही— " ८
५ आज का भारतीय साहित्य " ३८२
६ —वही— " ३८६

हुआ है [१]। प्रगतिवादियों पर भी उनका सबसे बड़ा आरोप यही है कि अभिव्यक्ति की समस्यायें उनके निकट नगण्य नहीं तो गौण अवश्य हो गई हैं [२]। इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष अज्ञेयजी के लिए बहुत महत्व रखता है, उनका आग्रह इसपर वस्तु-पक्ष से भी अधिक है। छायावादी समीक्षकों ने अभिव्यक्ति-पक्ष की उपेक्षा न करते हुए भी उसके वस्तु-पक्ष को प्रमुखता दी है, अज्ञेयजी ने उसके वस्तु-पक्ष के महत्व को मानते हुए भी उसके अभिव्यक्ति-पक्ष को प्रधानता दी है। वस्तु से शैली की ओर संक्रमण सिद्धान्त का विपरीत क्रम ही कहा जायगा। परन्तु अज्ञेयजी का कोई मत स्थिर कोटि का नहीं है। उनके इस मत में भी परिवर्तन हुआ है और अब वे मूल्यों की अधिक चर्चा करने लगे हैं।

कविता को सीधी-सीधी बोध-गम्य बनाने के लिए, वह सीधी चेतना को छूने लगे, इसके लिये "निरे शब्दों के निरे अर्थ से आगे जाकर वह ध्वनियों और अन्तर्ध्वनियों, स्वरों और अन्तः स्वरों से उलझती है, और संवादी और विवादी स्वरों को लेकर अन्वेषण करती है [३]।" व्यंजना के पुराने साधन पर्याप्त नहीं है। कवि नई सूझ, नई उपमायें, नया चमत्कार कविता में लाता है। अज्ञेयजी तो यहां तक भी मानते हैं कि व्यंजना का नया माध्यम मौन भी हो सकता है [४]।

व्यक्ति और परिस्थिति में आज बहुत कम सामंजस्य है, विरोध बहुत तीखा है। इस विरोध के दबाव की कवि के मन पर इतनी गहरी छाप है कि वह उसे सीधे-सीधे व्यक्त भी नहीं कर पाता, केवल ध्वनित करता है, केवल संकेत देता है जिससे हम आगे बढ़कर उसे देख सकें [५]। यहीं से अज्ञेयजी प्रतीकवाद का भी समर्थन करने लगे हैं। यह प्रतीकवाद भी उनके इसी प्रयोगवादी मत का एक अङ्ग है। अज्ञेय का मत है कि कोई भी स्वस्थ साहित्य नए प्रतीकों की सृष्टि करता है और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है। जन-साहित्य में सबसे अधिक प्रतीकों और अन्योक्तियों के सहारे प्रभाव उत्पन्न किया गया है। संस्कृत में वेदों से वाल्मीकि और कालिदास तक नये प्रतीकों का अनवरत प्रयोग होता रहा है [६]। कुछ प्रतीक नए नहीं होते, परन्तु उनका अर्थ अलग होता है। परन्तु कुछ प्रतीक चिरकाल के लिये स्थिर हो जाते हैं। प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है। जो सीधे-साधे अभिधा

---

१ आज का भारतीय साहित्य पृ० ३९७
२ —वही— " ३९९
३ आत्मनेपद—प्रवृत्ति : अहं का विलयन " २८
४ —वही— " ३२
५ —वही— " २८
६ आत्मनेपद—प्रतीकों का महत्व " ४१

में नहीं बंधता, उसे आत्मसात् या प्रेषित करने के लिये प्रतीक काम देते हैं। सनातन जिज्ञासाओं का निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं[१]। कवि प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है। सत्य के अथाह सागर में वह प्रतीक रूपी कंकड़ फेंककर उसकी थाह का अनुमान करता है[२]। अज्ञेयजी मानते हैं कि साहित्य-रचना में चयन भी है, सम्पुंजन भी, सघनीकरण भी, क्योंकि सागर के विस्तार को एक आलोक-वेष्टित बूँद के विकिरित आलोक के छोटे से दायरे में दिखा सकना ही रचना का काम है, लेखक का वह गुण है जिसे 'दृष्टि' कहा जा सकता है। रचनाकार की प्रतिभा ढाके की मलमल का पचास हाथ का थान बुनने में नहीं है, उसे अंगूठी से गुजार देने में ही है, यद्यपि शिल्पी होने के नाते वह मलमल भी बुनता है और उसके पास अंगूठी भी है[३]। कहना न होगा कि यह अंगूठी प्रतीकों की ही है। परन्तु इसके साथ ही अज्ञेयजी ने यह भी स्वीकार किया है कि महत्व या मूल्य प्रतीक का या प्रतीक में नहीं होता, वह उससे मिलने वाली अनुभूति की गुणात्मकता में होता है।[४]

(५) मूल्य

अज्ञेयजी का नवीनतम साहित्यिक मत मूल्य सम्बन्धी है। इसमें वे काव्य-शैली या काव्य के बहिरङ्ग की अपेक्षा उसके वस्तु-तत्व या उसके अंतरंग पर विचार करने लगे हैं और इस प्रकार अब अज्ञेयजी का साहित्यिक मत कहीं अधिक गहरा और ग्राह्य होता जा रहा है। अज्ञेयजी मानते हैं कि रसास्वादन की प्रक्रिया में स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्व होता है। मूल्य का प्रश्न आचार्यों के लिये ही नहीं, प्रत्येक साहित्यिक अध्येता और लेखक के लिए महत्वपूर्ण है[५]। सब मूल्यों का स्रोत मानव-विवेक है। "यदि यह कहना उचित है कि मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है, तो यह कहना भी ठीक है कि सौन्दर्य-बोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है[६]।" हम सौन्दर्य क्या है यह नहीं बता पाते, फिर भी सुन्दर को जानते-पहचानते है। सुन्दर को बता सकने का अर्थ है सुन्दर के ऐसे गुणों का पृथक्करण जिनसे वह सुन्दर है। बुद्धि के द्वारा ही इन गुणों या तत्वों की पहचान होती है।

---

१ आत्मनेपद—प्रतीक और सत्यान्वेषण पृ० ४५-४६
२ —वही— " ४६
३ आत्मनेपद—जीवन का रस " १४६
४ आत्मनेपद—एकान्त साक्षात्कार " २५६
५ कल्पना (मार्च १९६१) सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध " ३४
६ —वही— " २५

मानव-अनुभव ही इन सबकी कसौटी है [१]। अनुभव के द्वारा हम यह जानते हैं कि लयमयता कला अथवा सुन्दर का एक मूल गुण है। इसी प्रकार अनुभव के द्वारा हम यह भी जानते हैं कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, वक्र रेखायें सुन्दर होती हैं। अतः वक्रता भी कला का एक गुण है, सौन्दर्य-तत्व है। गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे—बुद्धि द्वारा—प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है [२]। "प्रतिमान रूपी कोई भी अमृत-घट हमारे अनुभव के महासगर को मथकर निकाल सकता है, और बुद्धि ही हमारी मन्थानी है।" सौन्दर्य--तत्व बुद्धि पर आधारित है और सुन्दर का अस्वादन भी बुद्धि-व्यापार है तथा बुद्धि अनुभव के आधार पर चलती है। अनुभव जड़ पिण्ड नहीं है, निरन्तर विकासशील है, अतः बुद्धि भी विकासशील है और विवेक भी। इसलिये अज्ञेयजी के अनुसार शाश्वत मूल्यों की बात अनुचित और अर्थहीन है [३]। परन्तु अज्ञेय जी ने एक बात इसी सम्बन्ध में और कही है। नया अनुभव पुराने अनुभव को मिटा नहीं देता, उसी में जुड़कर नयी परिपक्वता देता है। अनुभव के गणित में जोड़ ही जोड़ है, बाकी नहीं है। यही साहित्य की परम्परा है। मूल्य या प्रतिमान, शब्दार्थ की दृष्टि से, शाश्वत भले ही न हों, स्थायी अवश्य होते हैं। उनमें जो परिष्कार या संस्कार होता है उसमें शदियां लग जाती हैं। ये मूल्य सामाजिक मूल्यों से अधिक स्थायी और गहरे होते हैं [४]। यह साहित्य का सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्य हुआ जिसमें अज्ञेयजी ने प्रमुख रूप से दो तत्वों की चर्चा की है—लयमयता और वक्रता। हम देख चुके हैं कि यह मूल्य उनकी विवेचनाओं में पहले भी रहा है। इसका अभिव्यक्ति-पक्ष से अधिक सम्बन्ध है।

सौन्दर्य-मूल्य की चर्चा के साथ अज्ञेयजी ने शिवत्व-मूल्य की भी चर्चा की है। उनके अनुसार यह नैतिक मूल्य है तथा यह भी मानव--विवेक से उद्भूत है। विवेक स्वयं ही नैतिक भावना का पर्याय है। अज्ञेयजी की समीक्षा--दृष्टि का यह नवीन तत्व है [५]। अज्ञेयजी की मान्यता ही नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, इसके लिए आभ्यान्तर उद्देश्यों का विचार होना चाहिए। प्राचीन साहित्य और आधुनिक साहित्य की तुलना करते हुए उन्होंने बतलाया है कि आधुनिक साहित्य में घटना से घटना-हेतु की ओर जाना साहित्यकार की बौद्धिक प्रवृत्ति की एक बहुत बड़ी क्रांति का सूचक है [६]। अज्ञेयजी के अनुसार नई कविता में कर्म-प्रेरणाओं की पड़ताल, भावना

१ कल्पना (मार्च १९६१) सौन्दय-बोध और शिवत्व-बोध पृ० ३५
२ —वही— " ३४
३ —वही— " ३५
४ —वही— " ३५
५ —वही— " ३६
६ —वही— " ३७

और अनुभूति की प्राथमिकता, मानव को बंधी-बंधायी नैतिक लीकों से उबारकर कर्त्ता का गौरवपूर्ण पद देने की प्रवृत्ति पाई जाती है [१]। वे मानते हैं कि समालोचना के लिए नैतिक मूल्यों, उनके विकास अथवा विस्तार पर विचार आवश्यक है।

सुन्दर और शिव के सम्बन्ध पर भी अज्ञेयजी ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका मत है कि दोनों पर्यायवाची और परस्पराश्रित नहीं हैं। जो सुन्दर है, वह अनैतिक नहीं होगा, यह एक बात है, परन्तु उससे शिवेतरक्षय की मांग एक अतिरिक्त शक्ति या प्रभाव की मांग है [३]। विश्लेषण की चरम अवस्था में सौन्दर्य मूल्य और शिवत्व के मूल्य अलग-अलग हो सकते हैं। विशुद्ध तर्क-दृष्टि से कोई कला-कृति सुन्दर हो अशिव भी या शिव न हो। परन्तु उच्च कोटि का सौन्दर्य-बोध और नैतिक बोध, कम से कम, कृतिकार में साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि दोनों बोध मूलतः बुद्धि व्यापार है, दोनों का मानव-विवेक स्रोत और आधार है [४]। "विवेक--शील मानव की—विशेषकर उस विवेकशील मानव की जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है। बुद्धि और जिस पर बुद्धि आधारित है, वह अनुभव निरन्तर विकासशील और संस्कार-शील है। निरन्तर सूक्ष्म होती हुई संवेदना एकांगी भी हो सकती है, पर जहां सृजनात्मक शक्ति है, वहां एकांगिता की सम्भावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है [५]।" इस प्रकार अज्ञेयजी ने सौन्दर्य और शिव को समन्वित कर दिया है।

नैतिक मूल्य पर अज्ञेयजी ने 'आत्मनेपद' में भी विचार व्यक्त किये हैं। उनका मत है कि आज मानव की उन्नति का मार्ग यन्त्रीकरण का है। यन्त्र को नीति और अनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता। इस यांत्रिक युग में मूल्यों का प्रश्न बहुत ही कठिन हो गया है [६]। नैतिक मूल्यों की समस्या और भी विकट इसलिये हो गई है कि प्राचीन शास्त्रीय, धार्मिक अथवा ईश्वर-सम्भूत धार्मिकता इस युग में क्रमशः क्षीण होती जा रही है और आज नैतिकता का आधार एक मानव-सम्भूत नीति में खोजा जा रहा है। जो दायित्व अब तक ईश्वर या धर्म पर था वह अब मानव ने स्वयं ओढ़ लिया है [७]।

---

१ कल्पना (मार्च १९६१) सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध पृ० ३७
२ —वही— " ३८
३ —वही— " ३८
४ —वही— " ३८
५ —वही— " ३८
६ आत्मनेपद—कवि-कर्म : परिधि, माध्यम और मर्यादा " १६६
७ —वही— " १६७

गांवों की संस्कृति जिन नैतिक मान्यताओं के साथ बंधी थी, शहरों की सभ्यता में उनके लिए स्थान नहीं है और न शहरी सभ्यता में कोई दूसरे नैतिक मान ही स्थापित किए गए हैं। यह ठीक है कि आज आचरण के मान बदल गये हैं, परन्तु इससे नीति की आवश्यकता नहीं मिटती [१]। अज्ञेयजी ने नीति में और नैतिकता में भी भेद किया है। उनका मत है कि नीति-शास्त्र या युगीन नैतिकता का समर्थन करने के लिए कला की साधना व्यर्थ है। कला को नैतिकता के प्रचलित रूप से कोई लगाव नहीं है—उसे तो नैतिकता के बुनियादी स्रोतों से मतलब है। हमारे युग में नैतिक रूढ़ियां बड़ी तेजी के साथ टूट रही हैं। अपने 'शेखर' के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि 'शेखर' की स्वातंत्र्य की खोज टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के मूल स्रोत की खोज है। उसमें समाज की खोखली सिद्ध हो जाने वाली मान्यताओं के बदले व्यक्ति की दृढ़तर मान्यताओं की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है [२]। व्यक्ति के आचरण का पाठक पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस सम्बन्ध में अज्ञेयजी का कहना है कि कोई भी बड़ा परिवर्तन लाने के लिए जोखम तो उठाना ही पड़ता है। आचरण अन्तःप्रेरणा का अनुवर्त्ती हो, रूढ़ि का नहीं। कर्म और विश्वास में सामंजस्य लाने के लिए नैतिक व्यवस्था को खतरे में पड़ने देना अच्छा है, व्यक्ति और समाज के लिए भी श्रेयस्कर है। मान्यता और कर्म का अविरोध स्वयं एक बड़ा आदर्श है—नैतिक मूल्य है। यही ईमानदारी है [३]। व्यक्ति सत्य को अनदेखा करके यदि झूठ को मानता चला जायगा तो समाज नहीं बच सकता। सच्चाई में जोखम है, पर जोखम में बचने की गुन्जायस तो है, जबकि पाखंड निश्चित मरण है—नीरन्ध्र, अमोघ सर्वनाश है [४]।

श्लील और अश्लील के प्रश्न पर भी अज्ञेयजी ने अपने ढङ्ग से विचार किया है। उनका कहना है कि श्लील और अश्लील देश-काल पर आश्रित हैं। उनकी परिभाषा शाश्वत और आत्यंतिक नहीं हो सकती। श्लील और अश्लील प्रत्येक समाज और सामाजिक स्थिति के अपने अलग-अलग होते हैं [५]।

श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है। वह साहित्य का प्रश्न नहीं है। साहित्य में श्लील-अश्लील, सुन्दर असुन्दर बन कर ही आते हैं। जो असाहित्यिक है अर्थात् जो अधूरा देखता है वही अश्लील है [६]। अश्लीलता लेखक

---

१ आत्मनेपद—प्रवृत्ति : अहं का विलयन पृ० ३२
२ आत्मनेपद—शेखर : एक प्रश्नोत्तरी " ६७
३ —वही— " ६८
४ —वही— ,, ६९
५ आत्मनेपद—श्लील और अश्लील " ७७
६ आत्मनेपद—श्लील और अश्लील " ७८

या पाठक की दृष्टि में ही रहती है। यदि लेखक की दृष्टि अधूरी है, उघड़ी हुई है तो उसमें अश्लीलता होगी [१]। जो जुगुप्सा उत्पन्न कर दे वह अश्लीलता है और यही उसकी एक परिभाषा भी है। जुगुप्सा का अर्थ है गोपन करने की इच्छा। छिपने-छिपाने की इच्छा जिन परिस्थितियों में होती है, वे निरन्तर बदलती रहती हैं, इस प्रकार अश्लीलता का अर्थ भी बदलता रहता है [२]।

अपने निबन्धों में अज्ञेयजी ने अपने आपको नीतिवादी ही घोषित किया है— 'मैं परम्परा-द्रोही नहीं हूं, न भारत-द्वेषी ही हूँ। न ही मैं निराशावादी हूँ। और तात्कालिक लाभ या उपयोगिता या सफलता के नाम पर भैतिक मूल्यों की उपेक्षा मुझे कभी कभीष्ट नहीं रही—मेरा आग्रह सदैव अवसरवाद के विरुद्ध और नैतिक मूल्य की रक्षा का रहा है [३]।

नैतिक मूल्य के साथ ही अज्ञेयजी की रचनाओं में मानव-मूल्य की भी चर्चा हुई है, पर कम मात्रा में। यह उन पर युग का प्रभाव ही कहा जा सकता है। पुरानी पीढ़ियों की करुणा जीव-दया के रूप में प्रकट हुई, बीच की पीढ़ियों ने करुणा को सामाजिक चेतना के रूप में देखा। दोनों विश्व-युद्धों के बीच में मानवीय करुणा सामाजिक चेतना के रूप में परिणत हुई। इसमें गरीबों को सहानुभूति दी गई। आज फिर एक नई स्थिति सामने आ गई है। आज गरीब की अपेक्षा निम्न मध्यवर्ग ही अधिक उत्पीड़ित और सहानुभूति का पात्र है। आज गरीब को सहानुभूति देने में गम्भीर मानवीय सत्य नहीं रहा। आज लेखक के सामने एक समस्या हैं। वह सहानुभूति किसको दे गरीब को, निम्न मध्य वर्ग के व्यक्ति को, सम्पूर्ण मानवता को अथवा मानवता के प्रतीक स्वयं अपने को? अज्ञेयजी की रचनाओं से स्पष्ट होगा कि अज्ञेयजी की करुणा स्वयं अपने आपके प्रति निवेदित हुई है [४]। उन्होंने अपने मानव-गुणों और मानवता के प्रति दायित्व का भी उल्लेख किया है [५]। वे नैतिकता का आधार ईश्वर-सम्भूत न मान कर मानव-संभूत मानते हैं [६]। सेना में रहकर वे जान सके हैं कि मानव दुर्बल है, पर घृण्य नहीं और उसके प्रति दृष्टिकोण की

---

१ आत्मनेपद—श्लील और अश्लील पृ० ८१
२ आत्मनेपद—रेखा की भूमिका " ८२
३ आत्मनेपद—भारतीयता " १०३
४ आत्मनेपद—नये लेखक की समस्याएँ " ११०, ११
५ आत्मनेपद—पत्र साहित्य और पुस्तक साहित्य " १२३
६ " कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा " १६७

उदारता ही साहित्यकार की मनीषिता की कसौटी है [१]। उनकी मानववादी दृष्टि व्यष्टि-केन्द्रित है, क्योंकि 'मानव-जाति व्यष्टि इकाइयों के योग से अधिक क्या है ? संकल्प-पूर्वक व्यक्ति के शोध का परित्याग, अपनी आत्मा का पंगुकरण है, आंशिक आत्महनन है। क्योंकि व्यक्ति के शोध के परित्याग के बाद मानव का शोध सम्भव नहीं रहता—मानव-व्यक्ति एक सत्य है, मानवता केवल एक उद्भावना [२]।' बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के काव्य को उन्होंने मानव की पुनः प्रतिष्ठा का काव्य कहा है [३]। विकासवाद के सिद्धान्त और उससे उत्पन्न मानव की श्रेष्ठता के बोध ने अभी तक के देवोन्मुख अकिंचन मानव को सहसा सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बना दिया है [४]। अज्ञेयजी के निबन्धों में मानव-मूल्यों की भी चर्चा हुई है।

लक्ष्य

अज्ञेयजी के साहित्यिक सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त उनके काव्य-दर्शन सम्बन्धी विचारों का भी संक्षेप में परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। सबसे पहले काव्य-लक्ष्य के सम्बन्ध में उनके विचारों को देखा जायगा। अज्ञेयजी की मान्यता है कि कलाकार का सबसे पहला उत्तरदायित्व अपने आपके प्रति है। उन्होंने लिखा है—'संक्षेप में यह कहूँ कि मैं व्यक्ति का अपने प्रति भी उत्तरदायित्व मानता हूँ, समाज के प्रति भी। यह कोई नयी बात नहीं। पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानता हूँ और समाज के प्रति दायित्व को उसी से उपपन्न।' इसके साथ ही अज्ञेयजी ने लेखक के एक अतिरिक्त निजी दायित्व तथा एक अतिरिक्त सामाजिक गौण दायित्व की भी चर्चा की है [५]। लेखक का यह अपने प्रति कौन सा दायित्व है ? अज्ञेयजी का मत है कि साहित्य की प्रेरणा करने वाली शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। साहित्यकार की दिशा इसी विवशता से निश्चित होती है। इसी से वह संसार का सत्य चित्रित करने के लिए भी बिवश होता है। वह संसार के बारे में लिखता है, परन्तु उसके लिखने का कारण संसार नहीं है [६]। कवि 'अपनी उलझी हुई संवेदनाओं की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण' पहुँचाना चाहता है। वह व्यक्ति-सत्य को व्यापक सत्य' बनाने का अपना सनातन उत्तरदायित्व निभाना चाहता है [७]। कवि, अज्ञेयजी के अनुसार, एक प्रकार से

---

१ आत्मनेपद—अंश-दान पृ० २२३
२ आत्मनेपद—एकान्त साक्षात्कार " २५९
३ पुष्करिणी (भूमिका) " ७
४ —वही— " ९
५ आत्मनेपद—कठघरे से " २०४, १५६
६ त्रिशंकु—संक्रांतिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएं " ६८-६९
७ त्रिशंकु—वागर्थप्रतिपत्तये " ११५

आत्माभिव्यक्ति ही करता है, परन्तु वह स्वान्तःसुखाय नहीं है। वे इस अभिव्यक्ति के लिए एक ग्राहक, पाठक या श्रोता भी अनिवार्य मानते हैं, फिर चाहे यह ग्राहक कवि के व्यक्तित्व का ही कोई दूसरा अंश क्यों न बन जाय [१] ? परन्तु यह ग्राहक वाला पक्ष अज्ञेयजी के लिए गौण ही है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। प्रधानता उन्होंने कवि को या व्यक्ति को ही दी है। अज्ञेयजी यह मानते है कि शरीर के और बुद्धि के विकास के उपरान्त विकास की अगली सीढ़ी मानयीय चेतना के क्षेत्र में क्रियाशील होगी। इसलिए मानवीय चेतना का नूतन संस्कार ही आज की तात्कालिक समस्या है और यही साहित्य का लक्ष्य भी कहा जा सकता है [२]। इसीलिए आज का कवि अन्वेषी है, आत्म-सत्य का अन्वेषण करता है [३]। इस कार्य में वह सबसे पहले अपने लिए ही लिखता है। परन्तु अज्ञेयजी यह भी मानते हैं कि जो अपने लिए नहीं लिखा गया है, वह दूसरे के सामने उपस्थित करने लायक ही नहीं है। अपने लिए लिखने के बाद ही वह पाठक के लिये लिख पाता है। यदि लेखक में आस्था, निष्ठा, संवेदना की सम्पूर्णता और सच्चाई आदि न हो तो दूसरे के सामने जाना उसकी भूल होगी [४]। अज्ञेयजी को जो योग्य दिखलाई पड़ा उसे उन्होंने व्यक्त किया और जो अयोग्य, अनुपयुक्त, असार, असुन्दर, असत् या असत्य लगा उसे उन्होंने छोड़ दिया और इस कार्य में इस बात की चिन्ता नहीं की गई कि उसे कम ही लोग समझेंगे [६]। दूसरे शब्दों में उन्होंने व्यक्ति-सत्य को ही व्यक्त किया है। 'मैं क्यों लिखता हूँ ?' इस प्रश्न के उत्तर में भी अज्ञेयजी ने यही उत्तर दिया है कि लिखकर ही लेखक अपनी आभ्यन्तर विवशता को पहचानता है और उससे मुक्ति पाता है। इसी विवशता के कारण वह लिखता है। बाहरी प्रेरणाएं भी भीतरी प्रेरणा या दबाव के उन्मेष कनिमित्त बन जाती हैं [६]। इस विवशता के लिए अनुभूति की तीव्रता, सत्य का भीतरी साक्षात् आवश्यक है। अज्ञेयजी ने लिखा है—'मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात् करता है तब मानों वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओं का मनोनीत हो जाता है और काव्य-कृति ही उसका आत्म-बलिदान है, जिसके द्वारा वह देवताओं से उऋण हो जाता है। यही देवता से उऋण होने की छटपटाहट वह विवशता है, जो लिखाती है—फिर वह ऋण-परिशोध तत्काल हो जाय या वर्षो बाद यह दूसरी बात है [७]।

अज्ञेयजी की लक्ष्य सम्बन्धी यह एक मान्यता हुई जिसका सम्बन्ध उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—अपर्याप्तता की अनुभूति से जोड़ा जा सकता है। अज्ञेयजी ने कभी-

१ त्रिशंकु—वागर्थप्रतिपत्तये पृ० ११६
२ त्रिशंकु—चेतना का संस्कार " ८९
३ दूसरा सप्तक—भूमिका " ६
४ आत्मनेपद—'नदी के द्वीप' क्यों और किसके लिये " ७५
५ " कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा " १५९
६ आत्मनेपद—मैं क्यों लिखता हूँ " २३६, २३७
७ आत्मनेपद मैं क्यों लिखता हूँ " २३९

कभी चमत्कार को भी काव्य का लक्ष्य माना है और इसका सम्बन्ध उनके प्रयोगवादी मत से है। अज्ञेयजी ने कहा है कि शब्दों का चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा बनती रहती है और इस प्रकार कवि के सामने सदैव चमत्कार-सृष्टि की समस्या बनी रहती है, वह शब्दों का निरन्तर संस्कार करता रहता है [१]। अज्ञेयजी ने शब्द-ध्वनियों का विचार अथवा शब्द-ध्वनियों का सोद्देश्य और सार-गर्भ उपयोग जैसी बातों को नई कविता का लक्ष्य कहा भी है [२]। 'तार-सप्तक' की भूमिका में जिन अछूते और अभेद्य क्षेत्रों का अन्वेषण किया गया है, वे भी यहां उल्लेखनीय हैं। इन दो उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त अज्ञेयजी ने कभी-कभी भाव-रेचन [३] या रागोद्दीपन [४] को भी काव्य का उद्देश्य कहा है, परन्तु प्रासंगिक रूप में ही।

तत्व-अनुभूति

काव्य-तत्वों के सम्बन्ध में भी अज्ञेयजी ने कुछ विचार व्यक्त किये हैं। काव्य के अनुभव में कटुता क्यों नहीं होती, इसके सम्बन्ध में अज्ञेयजी का कहना है कि समय की दूरी सभी अनुभवों को मीठा कर देती है, तात्कालिक परिस्थिति में भले ही वे कितने ही तीखे और कटु हों। काव्य के अनुभव के सम्बन्ध में भी यह बात ठीक है [५]। एक और बात यह कही गई है कि मानवीय संवेदना में उसकी सघनता ही उसे धरातल से उठा कर एक दिव्य वस्तु बना देती है [६]। काव्यानुभव आनन्दप्रद ही होता है, इसके लिए अज्ञेयजी ने एक और तर्क दिया है। साहित्य का सौन्दर्य-तत्व बुद्धि पर आधारित है और उसका आस्वादन भी बुद्धि-व्यापार है। साहित्य का प्रतिमान बुद्धि द्वारा उपलब्ध है, इसलिए साहित्य के सुन्दर से जो अनुभूति होती है वह आनन्दपूर्ण है, इस अर्थ में कि वह गोचर अनुभव के सुख से अधिक गौरव पूर्ण है [७]।

काव्यानुभूति के संबंध में अज्ञेयजी ने अपना निश्चित मत व्यक्त किया है। वे मानते हैं कि काव्यानुभूति की तीव्रता मे और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता में भिन्नता अनिवार्य रूप से होती है। कलागत भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है [८]। कविता में अनुभव होते हैं, परन्तु नए नहीं। परिचित और पुराने अनुभवों के उपकरण से ही नूतन अनुभूतियों की सृष्टि कविता में की जाती है [९]। कला के भाव व्यक्तित्व से परे

१ दूसरा सप्तक—भूमिका पृष्ठ ११
२ आज का भारतीय साहित्य ,, ३९२
३ आत्मनेपद ,, ५०
४ रूपांबरा (भूमिका) ,, ७
५ आत्मनेपद—जीवन का रस ,, १४७
६ आत्मनेपद-जीवन का रस ,, १५२
७ कल्पना (मार्च १९६१) ,, ३५
८ त्रिशंकु—रूढ़ि और मौलिकता ,, ३८
९ —वही— ,, ३९

होते हैं, निर्व्यक्तिक होते हैं। कविता अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं, अनुभूति से मुक्ति है परन्तु कविता के लिए अनुभूतियों का होना पहले आवश्यक है [१]। कला के भाव निरे मानवीय भाव नहीं हैं, वे उन भावों के चमत्कारिक योग से उत्पन्न और उनसे भिन्न तत्व हैं काव्य का 'रस' काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में हैं [२]। ये निष्कर्ष काव्य की निर्व्यक्तिक परिभाषा से निकाले गए हैं।

अपर्याप्तता की अनुभूति वाले सिद्धान्त से भी एक निष्कर्ष यह निकलता है कि अतृप्ति का अनुभव प्रत्येक आधुनिक लेखक में होना चाहिए, यद्यपि वह अनुभूति किस स्तर की है यह भी विचारणीय है [३]।

साहित्य के लिए अनुभव की आवश्यकता पर अज्ञेयजी ने कई बार अपने विचार व्यक्त किए हैं। वे मानते हैं कि अनुभव की कमी लेखक को असमर्थ बनाती है, परन्तु यथार्थ अनुभव के बौद्धिकरण से लेखक आततायी बन जाता है। संभवतः अज्ञेयजी ने यह बात प्रगतिवादी लेखकों को ध्यान में रखकर कही है। कृति के लिए तो अनुभव सर्वोपरि महत्ता रखता है [४]।

अज्ञेयजी अनुभूति को आवश्यक ही नहीं मानते, वे उसके लिए अतिरिक्त आग्रह लेकर भी चले हैं। आज की यांत्रिक सभ्यता में अनुभूति के लिए कोई स्थान नहीं है। इस सभ्यता में अनुभूति का मूल्य दिन-दिन कम होता जा रहा है। परन्तु मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी है और लेखक और भी अधिक संवेदनशील है, वह अनुभूति को अमान्य कभी नहीं कर सकता। इसलिए वह अनुभूति पर अतिरिक्त आग्रह करने लगा है। कलाकार का सत्य रागात्मक सम्बन्ध पर ही आश्रित है, वह मानवीय संघर्षों और अनुभूतियों के संदर्भ में ही सार्थक है [५]। जब अनुभूतियों की कमी होने लगती है, तब कलाकार अनुभूति का अतिरिक्त आग्रह करता है। यह आग्रह संतुलन और सामंजस्य का आग्रह है [६]।

इसी आधार पर अज्ञेयजी ने 'क्षणवाद' सम्बन्धी अनुभूतियों का भी समर्थन किया है। उनका कथन है कि क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की

---

१ त्रिशंकु—रूढ़ि और मौलिकता पृ० ४०
२ —वही— ,, ४१
३ त्रिशंकु—परिस्थिति और साहित्यकार ,, ५३
४ आत्मनेपद—अर्थ और यथार्थ ,, १३८
५ ,, —कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा ,, १६७, १६८
६ ,, — —वही— ,, १६८

प्राथमिकता का आग्रह है। यूरोपीय साहित्य के अस्तित्ववाद में मृत्यु-साक्षात्कार के क्षण का वर्णन इसीलिए है कि उसमें जीवन की चरम अथवा तीव्रतम अनुभूति होती है। अज्ञेय जी के अनुसार क्षण के दर्शन में आग्रह इस बात पर है कि जीवनानुभूति ही आत्यन्तिक है, इतर सब कुछ केवल सन्दर्भ है [१]।

'रूपांबरा' की भूमिका में अज्ञेयजी ने व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता और उसके मर्म-स्पर्शी प्रभाव की चर्चा की है। अनुभव की सत्यता, प्रकृति-चित्रणों में व्यक्तिगत अनुभूति का खरापन उन्हें छायावादी काव्य और नई कविता में समान रूप से मिले हैं [२]। यदि अज्ञेयजी यह मानने लगे हैं कि व्यक्तिगत अनुभूति के खरेपन से ही काव्य प्रभावशाली होता है, तो उनकी अनुभूतियों के निर्व्यक्तिक होने वाली बात झूठी पड़ जायगी।

अज्ञेयजी यह मानते हैं कि काव्य का अनुभव अद्वितीय (यूनीक) होता है और अर्थ साधारण (यूनिवर्सल) [३]। यह अनुभूति अद्वितीय इसलिए है, क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नहीं भोग सकता [४]। दूसरे शब्दों में वह वैयक्तिक है।

अज्ञेयजी की अनुभूति सम्बन्धी धारणाओं से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

एक : अनुभूति काव्य के लिए अनिवार्य है।

दो : काव्यगत अनुभूति व्यक्तिगत अनुभूति से भिन्न है।

तीन : ये अनुभूतियां अतृप्ति और अपर्याप्तता की होती हैं।

चार : परन्तु अज्ञेयजी ने यह भी माना है कि व्यक्तिगत अनुभूति के खरेपन से काव्य प्रभावशाली होता है।

पाँच : काव्य में वैयक्तिक अनुभूतियां व्यक्त होती हैं और वे एक विशेष अर्थ में दिव्य हुआ करती हैं।

भाषा

अनुभूति-तत्व के उपरान्त अज्ञेयजी ने भाषा-तत्व पर भी विचार व्यक्त किये हैं। भाषा-तत्व के सम्बन्ध में अज्ञेयजी बहुत अधिक सतर्क हैं। अज्ञेयजी मानते हैं कि भाषा

---

१ आत्मनेपद—कविकर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा पृ० १६९, १७०
२ रूपाम्बरा— (भूमिका) " १०, ११
३ कल्पना (फरवरी १९६१)—रचना : एक नयी जिज्ञासा " १०८
४ आत्मनेपद—कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा " १६९

व्यक्तियों के व्यवहार का माध्यम है और उसकी माध्यमिकता इसी बात में है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं हैं। जीवन की जटिलता को व्यक्त करने वाले कवि की भाषा किसी हद तक गूढ़, दीक्षा-गम्य हो सकती है, परन्तु वह उसकी शक्ति नहीं विवशता है, धर्म नहीं आपद्धर्म है [१]।

भाषा का मूल प्रश्न शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का है और यह सम्बन्ध बदलता रहता है। अज्ञेयजी ने 'गुलाबी' शब्द का उदाहरण दिया है और बतलाया है कि आरम्भ में यह प्रयोग चमत्कारिक था, उसमें फूल की मध्यस्थता आवश्यक थी, अब नहीं रही, अब हम शब्द से सीधे रङ्ग तक पहुंच जाते हैं, इसलिए 'गुलाबी' शब्द का चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बन गया है, उसका चमत्कार नष्ट हो गया है। कवि उसे नया अर्थ और नया संस्कार देता है, उसमें अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, उससे पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। इसी को अज्ञेयजी ने साधारणीकरण भी कहा है [२]।

अज्ञेयजी मानते हैं कि विभिन्न कलाओं के जितने भी माध्यम हैं, भाषा का माध्यम उनसे सबसे अधिक कृत्रिम है। अन्य कलाओं के माध्मय उनके उपयोग से स्वतन्त्र हैं। परन्तु भाषा में आत्यन्तिक या स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला कुछ भी नहीं है। शब्द का आत्यन्तिक या अपौरुषेय अर्थ नहीं है, उसमें उतना ही अर्थ होता है, जितना हम दे देते हैं। हम उसके अर्थ को बदल भी देते हैं, घटा-बढ़ा भी देते हैं। इस दृष्टि से कला के माध्यमों में भाषा सबसे कमजोर है [३]। काव्य का माध्यम भाषा सर्वथा मानवीय है, यही उसकी महत्ता का कारण है, यही उसकी शक्ति का उद्गम है। परन्तु अपनी इसी विशेषता के कारण भाषा का सर्वाधिक दुरुपयोग भी हो रहा है [४]। अज्ञेयजी ने द्विवेदी युगीन भाषा की व्याकरण-शुद्धि और उसके प्रतिमानीकरण को तत्कालीन आवश्यकता के सन्दर्भ में यत्प्रमाण ही माना है, परन्तु वे उससे भी बड़ी बात भाषा-संस्कार को मानते हैं। छायावाद के कुछ कवियों में भाषा--संस्कार की चेतना थी, परन्तु उनके उपरान्त यह चेतना क्रमशः क्षीण होती गई है, इस बात पर अज्ञेयजी ने चिन्ता व्यक्त की है [५]।

अज्ञेयजी ने भाषा--संस्कार सम्बन्धी एक बुनियादी मूल का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि लेखकों में अनेक का यह भाव है कि लिखते समय तो सही

---

१ त्रिशंकु–वागर्थप्रतिपत्तये पृ० ११६
२ दूसरा सप्तक (भूमिका) " १११–११२
३ आत्मनेपद--कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा " १६०–१६१
४ --वही– " १६१–१६२
५ —वही– " १६४

या अच्छी हिन्दी का प्रयोग हो, पर बोलचाल में दूसरे ढङ्ग की हिन्दी से भी काम चल सकता है। यह एक बुनियादी भूल है। भाषा-संस्कार वही सही है जो लिखते-बोलते समय ही नहीं स्वप्न देखते समय भी समान हो। सही भाषा सहज हो जाय तभी वह सही है [१]।

अज्ञेयजी यह मानते हैं कि काव्य की भाषा लोक-व्यवहार की भाषा से अलग नहीं होती और इसी कारण उन्होंने बच्चनजी और श्री भवानीप्रसाद मिश्र की प्रशंसा भी की है [२]। श्री धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' की समीक्षा करते हुए अज्ञेयजी ने कहा है कि भारती की भाषा का संस्कार भारतीय नहीं है, पश्चिमी है, वैष्णव नहीं, रोमानी है, इसलिये उसका ईप्सित प्रभाव नहीं पड़ता [३]।

रचना-प्रक्रिया

रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अज्ञेयजी ने लिखा है—"प्रतिभा विषय का सम्प्रेषण नहीं करती उसका अर्थ सम्प्रेषित करती है—और अर्थ साधारण (यूनिवर्सल) होना चाहिए, वह वस्तु को सम्प्रेष्य नहीं बनाती, अनुभव को सम्प्रेषित करती है और वह अनुभव अद्वितीय (यूनीक) होना चाहिए।

अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता प्रतिभा के ये दो इष्ट हैं। या कहा जाये कि इन दो ध्येयों का योग ही उसका इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है मेरे निकट वही रचना-प्रक्रिया है। और सब प्रक्रियायें यन्त्र की हैं और उनके प्रति अधिक सजगता भी उनकी यान्त्रिकता को कम नहीं करती, हमारी यान्त्रिकता को भले ही बढ़ा दे [४]।"

प्रकृति

अज्ञेयजी का कथन है कि आज के कवि की प्रकृति वही नहीं होगी, जो आरण्यक कवियों की रही है। वन-उपवन, ताल-सरोवर, नदी-निर्झर आदि आज के कसबों और शहरों में रहने वाले कवि के लिए अपवाद स्वरूप ही होंगे। इन्हीं का चित्रण करने वाला

---

१ आत्मनेपद—कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा पृ० १६५
२ आज का भारतीय साहित्य " ३६३, ४०६
३ कल्पना (जनवरी १९६०) कनुप्रिया " ६०-६१
४ कल्पना (फरवरी १९६१) रचना : एक नयी जिज्ञासा " १०८

कवि अपने अनुभूत के मुख्यांश की उपेक्षा करने के कारण पलायनवादी ठहरेगा। इसलिये आज का कवि प्रकृति-चित्रण में प्रादेशिक विशेषताओं का वर्णन करता है या फिर प्रकृति की आत्यन्तिक घटनाओं का वर्णन करता है [१]।

हमने ऊपर अज्ञेयजी का साहित्यिक सिद्धान्त देख लिया है और साहित्य पर उसका प्रयोग भी संक्षेप में देखने का प्रयास किया है। समस्त साहित्य के मूल में अपर्याप्तता की अनुभूति या अतृप्ति को देखने की चेष्टा में प्रयोगकर्त्ता ने बड़े अनूठे और असंगत निष्कर्ष निकाले है। प्रसादजी की 'ले चल वहां भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' कविता उद्धृत कर उन्हें पलायनवादी सिद्ध करने का हिन्दी की समीक्षा में अनेक बार प्रयास किया गया है। परन्तु उदाहर्ता कदाचित पूरी कविता पढ़ने का भी कभी कष्ट नहीं करते या पूरी कविता उद्धृत नहीं करना चाहते। इस सम्पूर्णतः दार्शनिक चिन्तन से सम्बन्धित कविता में कोलाहल की अवनी से दूर रहने की कामना व्यक्त हुई है, सँसार से भागने की नहीं। इसके ठीक विपरीत इसमें 'दुख-सुख वाली सत्य' विभुता के लिये ही कामना व्यक्त की गई है—

जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।

इन पंक्तियों पर लोगों का ध्यान नहीं जाता। 'कामायनी' के मृत्यु-सम्बन्धी पदों में अज्ञेय जी पात्र की विशेष परिस्थिति और मनःस्थिति को भूल गये हैं। 'कामायनी' में वही प्रसादजी का दर्शन नहीं है। वह एक प्रासंगिक उल्लेख मात्र है। प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों में प्रतिगामिता देखना भी एक बड़ी विचित्र बात है। जिस कवि की 'समुज्ज्वल' वाणी आजीवन अन्त तक 'स्वतन्त्रता' की पुकार सुनाती रही, जिसने इतिहास की पट-भूमि पर दर्जनों देश-प्रेम के लिए सर्वस्व बलिदान कर देने वाले अमर पुरुष और स्त्री पात्रों की अवतारणा की और इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रदीप्त स्वर दिये, उसमें प्रतिगामिता या प्रतिक्रियावाद देखना बुद्धि-भ्रम अथवा पूर्वाग्रह ही कहां जा सकता है। क्या प्रसादजी के नाटकों में राष्ट्रीय चेतना नहीं है या कम हैं और है तो क्या वह सर्वोपरि नहीं है? प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में पलायन की नहीं, कर्म की प्रेरणा है और वह भी उच्च कोटि से निष्काम कर्म की।

जहां जो बात नहीं है, उसे भी वहां देखने में ऐसी ही असंगतियां उत्पन्न होंगी। प्रसादजी के साहित्य के—या कम से कम श्रेष्ठ साहित्य के—मूल में अतृप्त नहीं है, वह एक पूर्ण-काम कवि की रचना है। यदि प्रसादजी को छोड़ भी दें तो, यह अतृप्ति वाला

---

१ रूपाम्बरा (भूमिका) पृ० ११-१२

सिद्धान्त सूर और तुलसी जैसे भक्तों के काव्य पर किस प्रकार घटित होगा ? क्या 'रामचरित मानस' और 'सूर–सागर' में भी कवि की अतृप्ति देखी जायगी ? निश्चय ही यह सिद्धान्त समस्त साहित्य के लिये उपयोगी नहीं हो सकता। उससे हमारे श्रेष्ठ साहित्य की परीक्षा नही की जा सकती। वह अधूरा और एकांगी है। अज्ञेयजी ने आधुनिक साहित्य की परीक्षा करते समय 'सब धान बाई पसेरी' तौलने का प्रयास किया है।

यह सिद्धान्त जिन उदाहरणों पर आधृत है, वे भी विचारणीय हैं। पहला उदाहरण एक कमजोर व्यक्ति का है, जो किसी कारण से अपङ्ग हो गया है। परन्तु, आदि कलाकार अपङ्ग हो, यह अच्छा नहीं लगता। यह उदाहरण कल्पित है और इस पर पश्चिमी मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इससे भिन्न दूसरी परिस्थितियों की भी कल्पना की जा सकती हैं जिनमें किसी स्वस्थ और सशक्त व्यक्ति ने या समाज ने कला को जन्म दिया हो। अपनी कल्पना के लिये अज्ञेयजी ने आदि कवि वाल्मीकि और उनसे संबद्ध कीचक-बध की कथा को नकार दिया है। परन्तु एक कमजोर व्यक्ति को आदि कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित करने की अपेक्षा एक स्वस्थ और प्रबुद्ध महर्षि को आदि कवि मानना कहीं अधिक संगत प्रतीत होता है। अज्ञेयजी ने चरवाहा सभ्यता से भी पहले की अवस्था की कल्पना की है जिसमें कला का जन्म हुआ होगा। परन्तु इस अवस्था में भी अस्त्र हैं, खुदाई के साधन हैं, बुकनी है, गोदना है। इन वस्तुओं के होते हुए यह कहना कठिन है कि इसके पूर्व कला का जन्म नहीं हुआ होगा। कला की व्याख्या से इस चेष्टित प्रयत्न में मानव-शास्त्र की अधुनातन खोजों का भी प्रयोग नहीं हुआ है। अज्ञेयजी का दूसरा उदाहरण औसत से कुछ ऊपर के व्यक्ति का है। निश्चय ही ऐसे व्यक्ति की अनुभूतियाँ भी औसत से कुछ ऊपर की ही होंगी। वे न तो सामान्य मनुष्यों जैसी होंगी और न संसार में हड़कम्प मचा देने वाले प्रतिभाशालियों की अनुभूतियों जैसी ही। वे न इधर की होंगी और न उधर की ही, बहुत कुछ 'त्रिशंकु' के गुण वाली ही होंगी। ऐसे औसत से कुछ ऊपर के व्यक्ति से किस प्रकार के साहित्य की आशा की जा सकती है, यह हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

अज्ञेयजी का निर्व्यक्तीकरण का मत टी० एस० इलियट से प्रभावित है। परन्तु अज्ञेयजी ने इसकी जो नई व्याख्या की है वह मूल मत से बहुत कुछ भिन्न है। अज्ञेयजी अपने नये विवेचनों में भारतीय सिद्धान्त के समीप आ रहे हैं। तटस्थता की नई व्याख्या में अज्ञेयजी ने स्वीकार किया है कि कला आत्म की अभिव्यक्ति है, व्यक्तित्व का प्रकाशन है। इस व्यक्तित्व को प्रकाशित करके ही लेखक उससे मुक्त हो सकता है, तटस्थता प्राप्त कर सकता है। स्पष्ट ही निर्व्यक्तीकरण के महल की यहां नींव हिलने लगी है। अज्ञेयजी अपनी पूर्व मान्यताओं पर अडिग नहीं रह सके हैं। उनका साहित्यिक मत स्थिर और अटूट नहीं है। उसमें अनेकता है और वह परिवर्तनशील भी है।

पाश्चात्य निर्व्यक्तीकरण के साथ ही अज्ञेयजी ने भारतीय साधारणीकरण सिद्धांत

पर भी कुछ विचार व्यक्त किए हैं। परन्तु प्रमुख रूप से और साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में उन्होंने निर्व्यक्तीकरण का ही विवेचन किया है और साधारणीकरण को आज अपर्याप्त ठहराया है। इन दोनों सिद्धान्तों में अन्तर यह है कि निर्व्यक्तीकरण का सम्बन्ध व्यक्ति से है, कवि से हैं और साधारणीकरण का सम्बन्ध पाठक-समाज से अधिक है। निर्व्यक्तीकरण काव्य की सृजन-प्रक्रिया का सिद्धान्त है और साधारणीकरण उसकी आस्वाद-प्रक्रिया का। दोनों में समानता यह है कि वृहत्तर विश्व में, लोक-हृदय में अपने अहं का विलयन करने पर ही ये स्थितियां प्राप्त होती हैं। दोनों ही तैयारी की अवस्थायें हैं। एक काव्य-सृजन की पूर्व-स्थिति है और दूसरी काव्यास्वाद की। हम पहले देख चुके है कि साधारणीकरण-व्यापार में समस्त काव्य-व्यापार (कवि, काव्य-सामग्री, पाठक) समाहित कर दिया गया है और इस प्रकार निर्व्यक्तीकरण उसका एक अङ्ग बन जाता है। साधारणीकरण कहीं अधिक व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित है। वह आज के साहित्य की परीक्षा के लिये अपर्याप्त नहीं है।

अज्ञेयजी का प्रयोगवादी मत अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बन्ध रखता है और यह मत बहुत ही विचित्र कोटि का है। इससे काव्य अभूत-पूर्व चमत्कारों का भांडार बन जाता है। रचना की चमत्कारिक तीव्रता के विवेचन में, भाषा के नये-नये प्रयोगों में तथा प्रतीकों की व्याख्या आदि में इसी बात का प्रमाण मिलता है। यह सब साहित्य का बहिरङ्ग है, जो अज्ञेयजी की विवेचनाओं में प्रमुख हो गया है। इसका आधार बहुत कुछ पश्चिमी है। निर्व्यक्तीकरण टी० एस० इलियट से प्रभावित है तथा प्रतीकों के प्रसंग में अज्ञेयजी ने मैलार्मे, रिम्बो आदि के नाम लिए हैं। भारतीय समीक्षा में अलंकार, वक्रोक्ति और रीति को लेकर चलने वाले सम्प्रदाय काव्य के वाह्य उपकरणों को ही प्रधानता देते रहे हैं यद्यपि उनमें से अधिकांश उसके अंतरंग से भी परिचित थे। अज्ञेयजी का यह नवीन मत, इन्हीं के समान है और पश्चिमी चमत्कारवादियों की परम्परा में आता है। यह काव्यात्मा की अपेक्षा उसके वाह्य उपादानों के विवेचन में अधिक संलग्न है तथा वक्रोक्तिवाद के निकट होते हुए भी चमत्कारों की विचित्र बहुलता में उससे कहीं बढ़ा-चढ़ा है। काव्यात्मा की अपेक्षा काव्य चमत्कार की चर्चा सैद्धान्तिक प्रतिगामिता है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा तक हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा ने जितनी प्रगति कर ली है, उसे आगे न बढ़ाकर यह समींक्षा उसे पीछे की ओर धकेलती है।

अज्ञेयजी अब मूल्यों की भी चर्चा करने लगे हैं। उन्होंने सौन्दर्य के साथ ही शिव का प्रश्न भी उठाया है। वे अब नैतिकता के सम्बन्ध में भी विचार विमर्श करते हैं। परन्तु उनकी नैतिकता वैयक्तिक कोटि की प्रतीत होती है और उसमें अनिवार्य रूप से सामाजिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना दिखलाई पड़ती है। सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी अज्ञेयजी ने उनकी आत्यंतिक

अद्वयता प्रतिपादित नहीं की है। अज्ञेयजी के सैद्धांतिक निरूपण में भले ही थोड़ी-बहुत संगति प्रतीत हो, परन्तु उनके पात्रों के आचरण से वे जिस नीति का प्रतिपादन करना चाहते हैं, वह बहुत कम समझ में आती है।

अज्ञेयजी व्यक्तिवादी हैं। काव्य के वे प्रमुखत: दो ही उद्देश्य मानते हैं—व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति और चमत्कार-सृष्टि। यद्यपि अज्ञेयजी ने यह भी कहा है कि व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य तक पहुंचाना कवि का उत्तारदायित्व है, परन्तु यह दूसरा पक्ष उनके लिये प्राथमिक नहीं है। भारतीय काव्य-मत इसके विरुद्ध रहा है। वहां व्यक्ति-सत्य को कभी महत्व नहीं दिया गया, सदैव समष्टि-सत्य ही व्यक्त किया जाता रहा है। रस-भूमि सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं। चमत्कार-सृष्टि भी कोई बड़ा उद्देश्य नहीं माना गया। वस्तुत: चमत्कार को काव्य-संज्ञा भी नहीं दी गई, यह हम शुक्लजी के विवेचन में भली भांति देख चुके हैं। काव्य-शिल्प के प्रति अज्ञेयजी में सदैव आग्रह रहा है। तीसरे सप्तक की भूमिका में भी यह आग्रह बना हुआ है।

अज्ञेयजी का भाषा-सम्बन्धी मत उनकी प्रयोगवादिता का उदाहरण है। भाषा-संस्कार की चिन्ता में उन्होंने भाषा के अनेक अभेद्य क्षेत्रों का अन्वेषण किया है। इन पर हिन्दी समीक्षा में पर्याप्त चर्चा हुई है। तीसरे सप्तक में भाषा-प्रयोग सम्बन्धी मत को संयत अवश्य किया गया है, परन्तु उसकी मूल प्रकृति वही बनी हुई है। अज्ञेयजी यहां भी शब्द और वस्तु दोनों में नवीनता देखना चाहते हैं। यह नवीनता और मौलिकता का आग्रह चमत्कारवाद में ही परिणत होता है। अज्ञेयजी सिद्धान्तत: काव्य-भाषा और दैनिक जीवन की भाषा में अन्तर नहीं मानते। एक तो यह मत परम्परा-विरुद्ध है और अज्ञेयजी के काव्य-व्यवहार से असिद्ध भी।

अज्ञेयजी की निर्व्यक्तीकरण एवं साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यताएं उनके प्रयोग-वादी मत की उद्गम भूमियां है। अज्ञेयजीका साधारणीकरण सम्बन्धी मत तो उनकी भाषा-विषयक दृष्टि के लिए ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। काव्य-लक्ष्य या साध्य की अपेक्षा काव्य-साधन (भाषा) के रूप-निरूपण के लिए ही अज्ञेयजी ने उसका प्रयोग किया हैं। अज्ञेयजी की प्रयोग-सम्बन्धी मान्यताएं काव्य के बाह्यांगों से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। जो हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा काव्य के सूक्ष्मतम अंतरंग तत्व—काव्य-संवेदन—को सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित कर चुकी है, उसके आगे अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, उलटे-सीधे अक्षर, अधूरे वाक्य आदि को लाकर रखना हिन्दी-समीक्षा की सैद्धान्तिक प्रगति से अनभिज्ञता प्रदर्शित करना ही होगा। अपने मूल्य सम्बन्धी निरू-पणों में अज्ञेयजी अधिक तात्विक भूमि पर आये हैं और इसमें उन्होंमें अपने प्रयोग-सम्बन्धी मत की रक्षा के साथ ही, उसे एक वस्तु-परक भूमि पर भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया हैं। उनकी यह वस्तु-परक भूमि नैतिक और मानवीय कही जा सकती है। परन्तु उनकी नैतिकता और मानवीयता भी वैयक्तिक कोटि की है। उनमें सामाजिक मान्यताओं

के प्रति एक उपेक्षा-भाव सर्वत्र देखा जा सकता है। समष्टि-चेतना की अपेक्षा वे व्यष्टि-चेतना की ही प्रधान मानते रहे हैं।

श्री अज्ञेयजी की साहित्यक मान्यताओं पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक है। उनके अपर्याप्तता की अनुभूति वाले सिद्धान्त पर एडलर का स्पष्ट प्रभाव है, जिसमें व्यक्ति अपनी हीनता की ग्रंथि को मिटाने के लिए प्रयत्न करता है। अज्ञेयजी ने अपनी आरंभिक समीक्षाओं में ही इसका प्रयोग किया है, बाद में तो वे दूसरी मान्यताओं को अपना लेते हैं। अज्ञेयजी का निर्व्यक्तीकरण का सिद्धान्त टी० एस० इलियट से लिया गया है। परन्तु टी० एस० इलियट ने अपने मत में संशोधन कर लिया है। 'पोयट्री एंड पोयट्स' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने अपनी पूर्व मान्यताओं को नकार दिया है और नए मत की स्थापना की है। इसलिए अब अज्ञेयजी एक विचित्र स्थिति में पड़ गए हैं और उनके लिए भी अपने मत में संशोधन आवश्यक हो गया है। सम्भवतः इसीलिए अज्ञेयजी के नये निबन्धों में मूल्यों की चर्चा अधिक होने लगी है। जिस मनोविज्ञान और परम्परा को लेकर अज्ञेयजी ने अपने सिद्धान्त स्थिर किए थे उन्हीं के सम्बन्ध में अब उनका यह मत है कि रचना-प्रक्रिया न तो मनोविज्ञान से प्रशस्त होती है और न परम्परा के ज्ञान से पुष्ट ही हो सकती है [1]। वस्तुतः अज्ञेयजी व्यक्तिवादी हैं। व्यक्तिवाद की पोषक सामग्री उन्हें जहाँ भी मिलती है, उसे वे ग्रहण कर लेते हैं। अपर्याप्ता की अनुभूति के सिद्धान्त में अनुभूति किसी एक ही व्यक्ति की है, कलाकार की है। निर्व्यक्तीकरण का सिद्धान्त भी अनुभूतियों से मुक्त होने का लक्ष्य लेकर चला है वह भी मूलतः वैयक्तिक ही है। प्रयोगवादी मत में तो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिये मनमाना क्षेत्र अन्वेषण के लिए खुला हुआ है, वहां व्यक्ति पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। जिस नैतिक मूल्य की अज्ञेयजी ने चर्चा की है वह भी वैयक्तिक है, उसमें समाज की उपेक्षा का अनिवार्य भाव निहित है। अज्ञेय जी ने कई स्थानों पर सामाजिकता की या 'व्यापक सत्य' की चर्चा की है, पर वहां भी वे इस व्यापक सत्य को व्यक्ति के माध्यम से ही देखते हैं, उने व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में नहीं। या निरपेक्ष शब्द का प्रयोग न करें तो कहें कि वे व्यक्ति को ही प्रधान मानकर समाज पर विचार करते हैं, समाज को प्रधान मानकर नहीं।

अज्ञेयजी की मान्यतायें अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों की मान्यताओं से कई बातों में भिन्न हैं। अज्ञेयजी का अपर्याप्तता का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है और वैयक्तिक अनुभूतियों पर आधृत है। शुक्लजी का रस-सिद्धान्त साहित्यिक है और सामाजिक अनुभूतियों की अपेक्षा रखता है। यही रस-सिद्धान्त की वाजपेयीजी की समीक्षाओं में और भी अधिक गहराइयों में पहुंच गया है, यह हम पहले देख चुके हैं। अज्ञेयजी का निर्व्यक्तीकरण का

---

१ कल्पना (फरवरी १९६१)—रचना : एक नयी जिज्ञासा पृ० १०८

सिद्धान्त कवि–व्यक्तित्व को तटस्थ रखना चाहता है, परन्तु छायावादी समीक्षाओं में आत्माभिव्यक्ति ही सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुई है, कवि–व्यक्तित्व का प्रकाशन ही प्रमुख माना गया है। अपने इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत अज्ञेयजी ने परम्परा में अहं के विलयन की भी चर्चा की है। परन्तु अज्ञेयजी की व्याख्याओं से ऐसा आभासित होता है कि वहां भी परम्परा में अहं विलीन नहीं होता, वरन् परम्परा को ही वह अपने आप में विलीन कर लेता है। यह स्पष्ट ही शुक्लजी की लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की अवस्था से भिन्न स्थिति है। अज्ञेयजी ने अपर्याप्तता की या असमर्थता की अनुभूति लेखक में अनिवार्य मानी है। यह भी पूर्व-मत से भिन्न और विरुद्ध बात है। आचार्य शुक्ल, वाजपेयीजी एवं हजारीप्रसादजी की समीक्षाओं में अपर्याप्तता, असमर्थता आदि में काव्य का जन्म नहीं माना गया है, इन आचार्यों के अनुसार तो काव्य कवि की अजस्र शक्ति से पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति है। उसमें कवि–सामर्थ्य का विज्ञापन होता है, असमर्थता या विवशता की अभिव्यक्ति नहीं। अज्ञेयजी का यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भारतीय काव्य के लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि यहां पर लूले और लंगड़े कविता नहीं कर गये हैं। औसत से कुछ ऊपर के व्यक्ति भी कवि-कर्म के योग्य नहीं रहे हैं, प्रतिभा के धनी ही सच्चे कवि माने गये हैं। यदि अपर्याप्तता का ही प्रश्न हो तो, बौद्धिक दृष्टि से अपर्याप्त, कोई निरा शंख, भी कवि बन सकता है। परन्तु यह बात अज्ञेयजी को मान्य नहीं होगी। साहित्य के मूल्य शाश्वत नहीं हैं, अज्ञेयजी की यह मान्यता भी परम्परा की पंक्ति में नहीं है। जिस काव्य–संवेदन की वाजपेयीजी ने चर्चा की है, उसे केवल स्थायी ही नहीं कहा जा सकता, वह शाश्वत तत्व है और वही काव्य का आत्म-तत्व भी है। अज्ञेयजी ने काव्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में जो धारणायें व्यक्त की हैं वे व्यक्तिवादी ही है, उनमें व्यक्ति प्रथम और प्रमुख है। परन्तु परम्परा उस 'रस' को काव्य लक्ष्य मानती रही है, जिसमें व्यक्ति की उपेक्षा नहीं है, परन्तु समाज प्रमुख है। अज्ञेयजी का चमत्कार सम्बन्धी प्रयोगवादी मत भी रस या ध्वनि परम्परा के अनुकूल नहीं है। वह चित्र-काव्य की कोटि में ही आ सकता है। यदि शुक्लजी की शब्दावली का प्रयोग करें तो वह केवल कुतूहल उत्पन्न करने वाला, मनोरंजन के हलके उद्देश्य से लिखा हुआ, व्यक्ति वैचित्र्य की तृतीय श्रेणी का काव्य होगा। अज्ञेयजी ने काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से भिन्न निरूपित किया है। परन्तु इनके पूर्ववर्ती हिन्दी के आचार्यों को यह बात भी मान्य नहीं रही है। अज्ञेयजी ने बोलने और लिखने की भाषा को एकरूप बतलाने का प्रयास किया है, इस बात में भी वे परम्परा से अलग पड़ गये हैं। अज्ञेयजी का प्रकृति सम्बन्धी मत भी शुक्लजी से कुछ भिन्न लगता है। शुक्लजी ने प्रकृति के रूपों की चर्चा कर, काव्य के कुछ स्थायी विषय निरूपित कर दिये थे। अज्ञेयजी प्राकृतिक विषयों का स्थायित्व स्वीकार नहीं करना चाहते, परन्तु प्रकृति की जिन आत्यंतिक घटनाओं—सूर्यास्त, सूर्योदय आदि—की उन्होंने चर्चा की है, वे प्रकृति के मूल रूपों और काव्य के स्थायी विषयों से भिन्न प्रतीत नहीं होती। अज्ञेयजी ने मानव-मूल्यों की भी चर्चा की है, परन्तु उनके ये मूल्य भी व्यष्टिगत

हैं, आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के मानवतावादी समष्टिगत मूल्य के समान नहीं हैं। अज्ञेयजी ने जिन नैतिक मूल्यों की चर्चा की है, वे भी वैयक्तिक हैं और परम्परागत नीति के विरुद्ध हैं। अज्ञेयजी की पूर्ववर्ती समीक्षाओं के नैतिक मूल्य परम्परागत और सामाजिक हैं। इस प्रकार अज्ञेयजी का मत पूर्ववर्ती समीक्षा से कई बातों में भिन्न ही नहीं, विरुद्ध भी है। अज्ञेयजी की समीक्षा-दृष्टि में जो परिवर्तन हुआ है, वह भी अभी पूर्ववर्ती समीक्षा के बहुत समीप नहीं आया है। अज्ञेयजी का साहित्यिक मत परिवर्तनशील रहा है और इसलिए हम उसमें और भी परिवर्तन की आशा कर सकते हैं कि वह पश्चिम के अतिरिक्त प्रभावों से मुक्त होकर भारतीय परम्परा में अपना स्थान बनायें। अज्ञेयजी के मत में कई अंतर्विरोध हैं, जिनका यथा-स्थान संकेत किया गया है। यहां उनका पुनः उल्लेख अनावश्यक है। अज्ञेयजी का नवीन काव्य-मत—उनकी मूल्य सम्बन्धी चर्चा भारतीय काव्य-मत के अधिक समीप है और बहुत सम्भव है अज्ञेयजी भविष्य में इसी का विकास करें।

उपसंहार

यहां हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि हिन्दी की समीक्षा का विकास किस दिशा में हो रहा है, वह भारतीय समीक्षा के अनुरूप है या नहीं ? इस प्रबन्ध में रस–सिद्धान्त को इस देश के प्रतिनिधि साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया गया है तथा उसे प्रमुखत: राष्ट्रीय भावात्मक स्तर की वस्तु समझा गया है। रस–सिद्धान्त भारतीय वस्तु है। उसकी बड़ी पुरानी परम्परा है। उसका भरत मुनि से लेकर स्वच्छंदतावादी समीक्षकों तक अबाध विकास होता रहा है। उसके प्राचीन रूप में कई हेर-फेर हुए हैं और उसका नवीन रूप एक व्यापक साहित्यिक प्रतिमान बनने की क्षमता रखता है। व्यष्टि से लेकर समष्टि तक, स्रष्टा से लेकर भोक्ता तक उसका विस्तार है। यह रस-मत प्रमुखत: समाज-शास्त्र और नवीन मनोविज्ञान से परिपुष्ट भी हुआ है। आज हिन्दी के इस क्षेत्र में नई शब्दावली का अधिक प्रयोग हो रहा है, परन्तु शब्द कोई भी हो, उसमें अर्थ-भेद बहुत कम दिखलाई पड़ता है। हिन्दी की छायावादी समीक्षा तक विविध शब्दों के भीतर लगभग एक ही रसार्थ अंन्तर्व्याप्त है। भारतेन्दु-युग की समीक्षा में आरम्भ में हमें परम्परागत शास्त्रीय समीक्षा के भीतर रस के रूढ़ रूप के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की दृष्टि भी प्रमुखत: शास्त्रीय ही रही, परन्तु उनमें कतिपय नवीनताएं भी प्राप्त होती हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम रस को एक विशिष्ट आधार दिया है। द्विवेदीजी ने रस की उपयोगितावाद की भूमि पर प्रतिष्ठा की। द्विवेदीजी की समीक्षाओं में सामयिक उपकरणों का अधिक योग है। यह उनके समसामयिक अन्य 'नव–रीतिवादी' समीक्षकों में नहीं है। वस्तुत: ये समीक्षक रस के महत्व से परिचित थे, उन्होंने कतिपय नई बातें भी कहीं हैं, परन्तु उनकी दृष्टि रस के रूढ़िगत चमत्कार पर अधिक रही। रस का ऊर्जस्वित स्वरूप हमें सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में ही मिलता है। शुक्लजी का मत प्रमुखत: नीति-वाद पर आधारित है। शुक्लजी की नैतिकता सामाजिक है और उनका सामाजिक आदर्श बहुत कुछ तुलसीदासजी से प्रभावित है। यही रस-सिद्धान्त स्वच्छंदतावादी समीक्षा में भी ग्राह्य हुआ है। यहां रस की प्रतिष्ठा मनोवैज्ञानिक भूमि पर हुई है। उसका आधार शुद्ध संवेदन है—देश और काल की सीमाओं से मुक्त, एकदम निर्विशेष। यह रस समाज-शास्त्र के द्वारा भी परिपोषित हुआ है, जो उसे एक दृढ़ वस्तु निष्ठ और व्यापक आधार देता है। पर वस्तु एक ओर वैयक्तिक भूमि का स्पर्श करती है और दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय भूमि का भी। यह राष्ट्रीय वस्तु है। इस वस्तु का हिन्दी की समीक्षा में क्रमश: विकास हुआ है। हिन्दी के यूरोपीय समीक्षकों में इसका सर्वथा अभाव था। उनकी दृष्टि साहित्यिक होते हुए भी साम्प्रदायिक थी। भारतेन्दु युगीन समीक्षकों में

सर्वप्रथम इसका श्रीगणेश हुआ। परन्तु वहां भी समीक्षा-क्षेत्र में यह वस्तु पर्याप्त स्फुट नहीं हो पाई। साहित्य की अन्य विधाओं में भारतेन्दु-युग इस दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। द्विवेदी-युग में इसका सम्बन्ध सामयिक उपकरणों से जुड़ गया, परन्तु उसके अधिक व्यापक रूप की उपेक्षा होती रही। आचार्य शुक्ल ने इसके दूसरे पक्ष पर, उसकी सार्वभौमिकता पर विशेष बल दिया और उसके पुराने रूप के प्रति कुछ अधिक आग्रह दिखलाया। आचार्य पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी की समीक्षाओं में यह राष्ट्रीय वस्तु अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत की गई है। इसमें एक ओर सामयिक उपकरणों का भी सघन योग है और दूसरी ओर वह अपनी आंतरिक भाव-सत्ता के कारण शाश्वत और सार्वभौम भूमियों पर भी पहुंचती है। यह राष्ट्रीय वस्तु भावात्मक है और नैतिक तथा कलात्मक भी। डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी की मानवतावादी दृष्टि में उसके सार्वभौम पक्ष पर अधिक बल है और डा० नगेन्द्र की समीक्षाओं में मनःशास्त्र के माध्यम से उसका वैयक्तिक पक्ष अधिक उभरा है। नगेन्द्रजी में इस वस्तु का व्यष्टिनिष्ठ स्वरूप प्रमुख है और द्विवेदीजी में समष्टिनिष्ठ। वाजपेयीजी ने व्यष्टि और समष्टि दोनों को यथोचित महत्व दिया है, परन्तु दोनों पर राष्ट्र-तत्व की प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त ही स्वच्छंदता-वादी समीक्षा तक विकसित होता रहा है। यह सिद्धान्त पूर्णतः भारतीय है, परम्परा-प्राप्त है और नवीनताओं से युक्त भी।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के उपरान्त हिन्दी में प्रगतिवादी और मनोवैज्ञानिक समीक्षाएं प्रस्तुत की गईं। हिन्दी की नई समीक्षा के नाम से अधिकतर इन्हीं समीक्षाओं का बोध होता है। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य में सामाजिक पक्ष का आग्रह लेकर चलती है और मनोवैज्ञानिक समीक्षा वैयक्तिक पक्ष का। इन समीक्षाओं का विकास भारतीय परम्परा के अनुरूप नहीं किया जा रहा है, यद्यपि इन दोनों समीक्षाओं में परम्परा की पर्याप्त चर्चा की गई है। इस नई समीक्षा का सबल पक्ष यह है कि इसमें समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान को आधार बनाया गया है। परन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें मानव की भाव-सम्पति को उचित महत्व नहीं मिल पाता। समस्त ज्ञान-विज्ञानों से मनुष्य बड़ा है। वह सर्वोपरि है। मनुष्य का जीवन चिरंतन विकासशील है। किसी एक ही शास्त्र की भूमि से उस पर अन्तिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी एक ही आधार पर संपूर्ण मनुष्य की परीक्षा करना उचित नहीं है। इसलिए काव्य, जो मनुष्य के जीवन से घनिष्ठतः संबद्ध है, किसी विज्ञान का बंधुआ नहीं हो सकता। कोई भी शास्त्र—चाहे वह समाज शास्त्र हो या मनःशास्त्र—काव्य के समान नहीं कहा जा सकता। कोई भी विज्ञान काव्य की बराबरी नहीं कर सकता। आज पश्चिम में समीक्षाएँ विज्ञान-प्रधान हो गई हैं और अनेक वादों में उलझ गई हैं। इससे समीक्षा के मार्ग में अनेक बाधाएं आई हैं। हिन्दी की नई समीक्षा में सुनिश्चित सर्व स्वीकृत आदर्श नहीं दिखलाई पड़ता। प्रयोग-वादी (इसमें नकेनवाद भी सम्मिलित है) समीक्षाएं उत्तरदायित्य से रहित भी दिख-लाई पड़ती हैं। इन समीक्षाओं की सबसे बड़ी कमी यह है कि इनमें राष्ट्रीय तत्व का

ही लोप होता जा रहा है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा तक राष्ट्रीय तत्व क्रमशः विकसित और पुष्ट होता रहा है, वही यहां पर आकर अस्ति-नास्ति के बीच में पड़ गया है। जिस बात की हमें आज सबसे अधिक आवश्यकता है उसी का नई समीक्षा में अभाव हो यह बड़े आश्चर्य की बात है। प्रगतिवादी समीक्षा में बात-बात पर मार्क्स की दुहाई दी जाती है, रूस और चीन की प्रशस्तियां सुनाई जाती है तथा राष्ट्रवाद का विरोध भी किया जाता है। प्रगतिवादी अन्तर्राष्ट्रीय लोग हैं, राष्ट्र से इन्हें कोई मतलब नहीं। यह बात भारत की उत्तरी सीमा पर चीन के आक्रमण से बहुत स्पष्ट हो गई है। जो समीक्षा न केवल राष्ट्रीयता की उपेक्षा करे, वरन् उसके विरुद्ध भी आचरण करने लगे, वह अपने आप में कितनी ही मूल्यवान वस्तु क्यों न हो, कभी भी मान्य नहीं हो सकती। साहित्य की राष्ट्रीय चिन्ता एवं भाव-सम्पत्ति ही नई समीक्षा का लक्ष्य हो सकती है। इसकी उपेक्षा करके कोई भी समीक्षक यशस्वी नहीं हो सकता। प्रगतिवादियों या साम्यवादियों का साहित्यिक मत आज राष्ट्र-विरुद्ध लगता है। दूसरी ओर प्रयोगवादियों का मत कम से कम राष्ट्र-विरुद्ध तो नहीं है, परन्तु राष्ट्रीयता की ओर से वे पर्याप्त उदासीन हैं और धन की अच्छी-बुरी उलझनों को ऊटपटांग ढंग से व्यक्त भी करते हैं और विज्ञापन भी। यदि इनकी यही दशा रही तो प्रयोगवादी साहित्य को समझने के लिए, 'रीतिकाव्य' की कलात्मक ऊँचाई के अभाव में भी, एक 'रीति-शास्त्र' की आवश्यकता होगी। प्रयोगवादी समीक्षाओं में मनोविज्ञान को प्रमुख आधार बनाया गया है। यह समीक्षा व्यक्तिवादी है। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी समीक्षाएं भारतीय परम्परा से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकी हैं। इनमें यूरोपीय प्रभाव प्रमुख है। जब तक ये समीक्षाएं भारतीय परम्परा से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं सिद्ध कर देती तब तक वे व्यापक व्यवहार और विश्वास की वस्तु भी नहीं बन सकती। यह शुभ लक्षण है कि अब इन दोनों समीक्षाओं में भारतीय परम्परा से सम्बन्ध-स्थापन के प्रयास आरम्भ हो गए हैं।

सम्भवतः इस नई समीक्षा की गतिविधि को देखकर ही डा० इन्द्रनाथ मदान ने अपने 'आलोचना तथा काव्य' नामक ग्रंथ में आधुनिक समीक्षा के सम्बन्ध में कुछ शंकाएं प्रकट की हैं। उनका कथन है कि आलोचना के क्षेत्र में सिद्धांत और व्यवहार दोनों में अराजकता फैली हुई है। समीक्षकों के पास कोई विशिष्ट एवं व्यापक मानदंड भी नहीं है जिससे वे समस्त साहित्य की सम्यक परीक्षा कर सकें इसके साथ ही डा० मदान को व्यक्ति-चिन्तन एवं समाज-मंगल में समन्वय स्थापित करने वाले अवतारी आलोचक की अपेक्षा एवं प्रतीक्षा भी है। डा० मदान को यह समन्वय हिन्दी की समीक्षा में कहीं नहीं मिला। उनका विचार है कि शुक्लजी की सामाजिक पद्धति मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति में परिणत होती है (जिसमें 'व्यक्ति-चिन्तन' की उपेक्षा है) और सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति-विशेषकर श्री वाजपेयीजी की समीक्षा—के मूल में व्यक्तिवादी विचार-धारा है और

यही वैज्ञानिक और विकसित होकर मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का रूप धारण करती है (जिसमें समाज-मंगल को महत्व नहीं दिया गया)। डा० मदान के अनुसार सौष्ठववादी समीक्षा शुक्लजी की समीक्षा के विरोध का परिणाम है। परन्तु मेरा नम्र निवेदन है कि सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी समीक्षा शुक्लजी के विरोध का परिणाम नहीं है, उसी का विकास है। शुक्लजी का रस-सिद्धांत ही इस समीक्षा में और भी अधिक वैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ है तथा उसे और भी अधिक दृढ़ एवं व्यापक आधार दिया गया है। शुक्लजी के मत में जो कतिपय कमियां थीं वे यहां आकर दूर कर दी गई हैं। शुक्लजी और स्वच्छंदतावादी समीक्षकों में एक ही रस-सूत्र अन्तर्व्याप्त है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। द्विवेदी-युग और स्वच्छंदतावादी युग की अन्तरात्मा भी पूर्णतः भारतीय है। तब इनमें विरोध देखना उचित नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार शुक्लजी के मत की परिणति प्रगतिवाद में एवं वाजपेयीजी के मत की परिणति मनोविश्लेषणवाद में बतलाना भी अनुचित है। यह ठीक है कि शुक्लजी ने सामाजिक पक्ष के लिए आग्रह व्यक्त किया है, परन्तु इसीलिए उनका मत प्रगतिवाद का पूर्व-रूप नहीं बन जाता। हम जानते हैं कि शुक्लजी की दृष्टि राष्ट्रीय थी और प्रगतिवादी मूलतः राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं। इसी प्रकार यह ठीक है वाजपेयीजी ने 'काव्य-संवेदन' को अपनी समीक्षा का आधार बनाया है एवं अपनी समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सहायता ली है, परन्तु इसीलिए उनका मत मनोविश्लेषणवाद की परम्परा में नहीं आ जाता। शुक्लजी पर प्रगतिवादियों की ओर से अनेक आरोप लगाए गए हैं कि वे ब्राह्मणवादी हैं, उनकी समीक्षा में कई कमजोर पहलू हैं। कहीं-कहीं पर उनमें एकांगी समाजशास्त्र भी देखा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि शुक्लजी प्रगतिवादियों के मेल में नहीं हैं। शुक्लजी ने लेनिन पर जो मत दिया था, उसमे भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है। वाजपेयीजी ने भी मनोविश्लेषकों का कई स्थानों पर विरोध किया है। उनके मत में किसी शास्त्र की एकांगिता नहीं है और सबसे बड़ी बात यह कि उनकी समीक्षा-दृष्टि का निर्माण भारतीय परम्परा के मेल में है और देश की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। वाजपेयीजी की समीक्षा के मूल में व्यक्तिवादी विचार-धारा है, इस सम्बन्ध में यहां कुछ कहना उचित नहीं होगा। इन पंक्तियों के लेखक को इस प्रयास में जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, वे ठीक इस धारणा के विपरीत हैं। वाजपेयीजी ने वादों का इतना कड़ा विरोध किया है कि उन्हें किसी भी वाद के अन्तर्गत रखना उनकी धारणाओं के विपरीत जाना है। उन्हें राष्ट्रवादी कहने में भी मुझे भय है, तब उन्हें व्यक्तिवादी कहना सचमुच साहस का काम है।

हिन्दी की नई समीक्षा में सिद्धांत और व्यवहार के क्षेत्र में अराजकता है। इसमें एक ही सिद्धांत को मानने वालों में भी बड़ा मत-वैभिन्य है और व्यावहारिक धरातल पर पहुँचकर यह भेद और भी शतगुण हो जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि

हिन्दी की समग्र आधुनिक समीक्षा अराजकता से भरी हुई है। द्विवेदी-युग और स्वच्छन्दतावादी युग में प्रौढ़ सैद्धान्तिक आधार हैं और उसका दृढ़ता पूर्वक प्रयोग भी किया गया है। यहाँ पर कोई अराजकता नहीं है। रस–सिद्धान्त इन समीक्षाओं में व्यवहृत हुआ है। यह परम्परा-प्राप्त है और नए ज्ञान-विज्ञान से पुष्ट भी। इस सिद्धान्त की व्याप्ति एवं उसकी विशेषताओं का पहले परिचय कराया जा चुका है। उससे देश-विदेश के सभी कालों के साहित्य की सम्यक् परीक्षा की जा सकती है। उसमें जीवन के छोटे-बड़े सभी पहलुओं का समाहार हो जाता है। अपने नए रूप में वह साहित्य की विभिन्न विधाओं के परीक्षण में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। नई समीक्षा में इस व्यापक मानदण्ड की उपेक्षा एवं विरोध हुआ है तथा सीमित मानदण्डों की ओर अभिरुचि व्यक्त हुई है। इससे समीक्षा-क्षेत्र में अनेक समस्यायें उत्पन्न हुई और एक ही लेखक के सम्बन्ध में कई प्रकार के विरोधी मत व्यक्त किए गए।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में व्यक्ति–चिन्तन एवं समाज–मङ्गल दोनों में समन्वय हुआ है, यह बात हम भली–भाँति देख चुके हैं। यह समीक्षा व्यष्टि और समिष्ट, आनन्द और लोक--मङ्गल में एक सूत्रता स्थापित करती है। वह एक ओर समय के क्षितिज से सम्बद्ध है और दूसरी ओर चिरन्तन अनन्त में भी अपना प्रकाश फेंकती है, वह सामयिक भी है और शाश्वत भी। अनेक ज्ञान–विज्ञानों से सम्बद्ध होते हुए भी वह साहित्यिक है और साहित्य को सर्वोपरि मानती है। वह राष्ट्र की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक है तथा राष्ट्रीय जीवन की विचार-धारा का साहित्यिक प्रतिरूप भी कही जा सकती है। इस समीक्षा का आदर्श रूप हमें श्री नन्द दुलारे वाजपेयी की समीक्षाओं में उपलब्ध होता है। वाजपेयीजी ने रस–सिद्धान्त को राष्ट्रीय सवेदन से सम्बद्ध कर उसे एक व्यापक एवं प्रौढ़ आधार दिया है तथा हिन्दी के समीक्षा–क्षेत्र में फैली हुई अराजकता के अनुशासन के लिए एक सशक्त मान--दण्ड प्रस्तुत किया है।

हिन्दी की समीक्षा ने अब पर्याप्त प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। उसके पास व्यक्तित्वों की कमी नहीं है और न सिद्धान्त का ही अभाव है। इस सम्बन्ध में अब प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध है और बड़ी तेजी के साथ अभावों की पूर्ति भी की जा रही है। हमारे पास संस्कृत के साहित्य-शास्त्र की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा है, पश्चिम के नवीनतम ज्ञान के अध्ययन की हमें 'अशेष' सुविधाएं प्राप्त हुई हैं तथा मौलिक चिन्तन से दीप्त अनेक आचार्य-प्रतिभाओं के दिशा-निर्देश का हमें सौभाग्य प्राप्त है। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी-समीक्षा का वर्तमान समृद्ध हो और भविष्य उज्जवल हो, तो यह स्वाभाविक ही होगा।

———

ग्रन्थों की सूची

अंग्रेजी के ग्रन्थ

1.	The Modern Vernacular Literature of Hindustan.	G.A. Grierson-1888-89
2.	The Ramayan of Tulsidas	F.S. Grose— 1877
3.	The Ramayan of Tulsidas or the Bible of Northern India	J.M. Macfie— 1930
4.	Tulsidas—Poet and Reformer	G.A: Grierson-1903
5.	Some Bhojpuri Folk—Songs	—Do—
6.	The Theology of Tulsidas	Carpenter— 1918
7.	A Literary History of India	R.W. Frazer— 1898
8.	The Religious Quest of India	Farquhar— 1920
9.	A History of Hindi Literature	F.E. Keay— 1920
10.	One Hundred Poems of Kabir	Tagore & F. Underhill I915
11.	Kabir and his followers	F.E. Keay— 1931
12.	The Holy Lake of the Acts of Ram	W.D.P. Hill— 1952
13.	Medieval Mysticism of India	Kshitimohan Sen-1930
14.	The Ramayan of Tulsidas	A.G. Atkins—1950
15.	Critical Approaches to Literature	David Daiches Fst.Ed:
16.	Literature and Psychology	F.L. Lucas— First Ed.
17,	Humanism as a Philosophy	Corliss Lamont
18.	Encychlopaedia of Religion & Ethics	Vol. 6
19.	Encychlopaedia Britannica	Vol. 11
20.	What is Art	L. Tolstoy
21.	The Making of Literature	R.A. Scott James-1956
22,	On Poetry and Poets	T.S· Eliot—Second Ed.

हिन्दी के ग्रन्थ

१	नाटक	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	
२	पं० बालकृष्ण भट्ट (जीवन और साहित्य)	डा० राजेन्द्र शर्मा	
३	प्रतापनारायण ग्रंथावली (प्र० खं०)	श्री विजयशंकर मल्ल	
४	प्रेमघन सर्वस्व		
५	बालमुकुन्द निबन्धावली		
६	हिन्दी-नवरत्न	मिश्र बन्धु	
७	भूषण ग्रंथावली	,,	
८	मिश्र बन्धु-विनोद	,,	
९	देव और बिहारी	श्री कृष्णबिहारी मिश्र	
१०	मतिराम ग्रंथावली	श्री कृष्णबिहारी मिश्र	
११	बिहारी की सतसई	पं० पद्मसिंह शर्मा	(तृतीय संस्करण)
१२	रसज्ञ-रंजन	आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी	
१३	कालिदास और उनकी कविता	,,	
१४	संचयन	,,	
१५	विचार-विमर्श	,,	
१६	साहित्य-सीकर	,,	
१७	समालोचना-समुच्चय	,,	
१८	कालिदास की निरंकुशता	,,	
१९	द्विवेदी-पत्रावली	,,	
२०	भ्रमर-गीत-सार	आ० रामचन्द्र शुक्ल	सं० २००६
२१	जायसी ग्रंथावली	,,	सं० २००८
२२	गोस्वामी तुलसीदास	,,	
२३	चिन्तामणि भाग १	,,	सन् १९५०
२४	चिन्तामणि भाग २	,,	तृतीयावृत्ति
२५	हिन्दी-साहित्य का इतिहास	,,	सं० २००९
२६	रस-मीमांसा	,,	
२७	बुद्ध-चरित (भूमिका)	,,	
२८	हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी	आ० नन्ददुलारे वाजपेयी	सन् १९४९
२९	महाकवि सूरदास	,,	

३० आधुनिक साहित्य	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	सं० २००७
३१ नया साहित्य : नये प्रश्न	"	सं० २०११
३२ प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन	"	
३३ जयशंकर प्रसाद	"	सं० २००७
३४ आलोचना के सम्पादकीय	"	
३५ साहित्य का मर्म	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	
३६ विचार और वितर्क	"	१९४५ ई०
३७ अशोक के फूल	"	१९४८ ई०
३८ हिन्दी–साहित्य की भूमिका	"	१९४४ ई०द्वि० सं०
३९ सूर–साहित्य	"	१९५६ ई० संशोधित
४० कबीर	"	१९५५ ई० ५वां सं०
४१ हिन्दी-साहित्य	"	१९५२ ई०
४२ कल्प–लता	"	प्रथमावृत्ति
४३ हिन्दी-साहित्य का आदि काल	"	१९५७ ई० द्वि० सं०
४४ प्राचीन भारत का कला-विलास	"	प्र० सं०
४५ नाथ–सम्प्रदाय	"	१९५० ई०
४६ विचार और अनुभूति	डा० नगेन्द्र	द्वि० सं०
४७ विचार और विवेचन	"	प्र० सं०
४८ रीति–काव्य की भूमिका	"	तृ० सं०
४९ अरस्तू का काव्य-शास्त्र	"	प्र० सं०
५० काव्य में उदात्त तत्व	"	प्र० सं०
५१ भारतीय काव्य–शास्त्र की भूमिका	"	१९५५ ई०
५२ विचार और विश्लेषण	"	१९५५ ई०
५३ आ० हि० क० की प्रमुख प्रवृत्तियां	"	सं० २००८
५४ साकेत : एक अध्ययन	"	सं० २०१२
५५ सुमित्रानन्दन पन्त	"	सं० २०१२
५६ देव और उनकी कविता	"	१९५७ ई०
५७ सामयिकी	श्री शांतिप्रिय द्विवेदी	द्वि० सं०
५८ संचारिणी	"	प्र० सं०
५९ वृन्त और विकास	"	प्र० सं०
६० पद्मनाभिका	"	प्र० सं०
६१ धरातल	"	प्र० सं०
६२ साहित्य–संदीपिनी	श्री चन्द्रवली पांडे	१९४७ ई०
६३ हिन्दी-कवि–चर्चा	"	१९५३ ई०

६४ तुलसी की जीवन-भूमि	"	सं० २०११
६५ तुलसीदास	"	सं० २०१४
६६ वाङ्मय-विमर्श	श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	प्र० सं०
६७ घनआनन्द	"	सं० २००९
६८ रसखानि	"	सं० २०१०
६९ बिहारी	"	सं० २०१०
७० हिन्दी का सामयिक साहित्य	"	सं० २००८
७१ हिन्दी-साहित्य का अतीत (भक्ति काल)	"	सं० २०१५
७२ वक्रोक्ति और अभिव्यंजना का आरम्भ वचन	"	सं० २००८
७३ भूषण	"	सं० २०१०
७४ गद्य-मंजरी की भूमिका	"	प्र० सं०
७५ मकरन्द	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	प्र० सं०
७६ हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	"	सं० २००७
७७ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	तृ० सं०
७८ हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता	"	द्वि० सं०
७९ कहानी का रचना-विधान	"	द्वि० सं०
८० हिन्दी की गद्य-शैली का विकास	"	सप्तम सं०
८१ निराला	डा० रामविलास शर्मा	द्वि० सं०
८२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	"	प्र० सं०
८३ लोक-जीवन और साहित्य	"	प्र० सं०
८४ भारतेन्दु-युग	"	तृ० सं०
८५ प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें	"	द्वि० सं०
८६ प्रेमचन्द और उनका युग	"	द्वि० सं०
८७ संस्कृति और साहित्य	डा० रामविलास शर्मा	प्र० सं०
८८ भाषा साहित्य और संस्कृति	"	१९५९ ई०
८९ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य	"	प्र० सं०
९० प्रगति और परम्परा	"	प्र० सं०
९१ विराम-चिन्ह	"	प्र० सं०
९२ त्रिशंकु	अज्ञेय	द्वि० सं०
९३ आत्मनेपद	"	१९६० ई०

९४ आज का भारतीय साहित्य	अज्ञेय	प्र० सं०
९५ दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक	,,	
९६ पुष्करिणी (भूमिका)	,,	सं० २०१८
९७ रूपाम्बरा (भूमिका)	,,	१९६० ई०
९८ हिंदुई साहित्य का इतिहास (तासी)	अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	
९९ भारतीय साहित्य-शास्त्र (प्र०सं०)	डा० बलदेव उपाध्याय	
१०० हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास	डा० भगवत्स्वरूप मिश्र	
१०१ हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र	
१०२ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग	डा० उदयभानु सिंह	
१०३ आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत	डा० रामलाल सिंह	
१०४ समीक्षा-दर्शन (दो भाग)	,,	
१०५ मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य	डा० कमलाकांत पाठक	
१०६ आधुनिक काव्य-धारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल	
१०७ आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त	डा० सुरेशचन्द्र गुप्त	
१०८ आलोचना तथा काव्य	डा० इन्द्रनाथ मदान	
१०९ काव्यालोक द्वितीय उद्योत द्वि०सं०	पं० रामदहिन मिश्र	
११० संतुलन	श्री प्रभाकर माचवे	
१११ रस-कलस	श्री हरिऔध	

संस्कृत के ग्रन्थ

१ काव्य-प्रकाश	मम्मट
२ काव्यादर्श	दण्डी
३ साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ
४ नाट्य शास्त्र	भरत

पत्रिकाएं

१ सरस्वती	सन् १९०४ से १९१५ तक
२ आलोचना	१८, १९, २०, २१, २२
३ कल्पना	अक्टूबर १९५७, जनवरी १९६०, फरवरी १९६१मार्च १९६१, जून १९६१
४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका	वर्ष ६३, अङ्क १-४
५ अनुशीलन	धीरेन्द्र वर्मा, विशेषांक